कश्मीरी साहित्य का इतिहास

शशिशेखर तोषखानी

कश्मीरी साहित्य का इतिहास • शशिशेखर तोषखानी

कश्मीरी साहित्य का इतिहास

कश्मीरी साहित्य का इतिहास

डॉ० शशिशेखर तोषखानी



जे० एण्ड के० अकादमी आफ आर्ट, कल्चर एण्ड लैंग्वेजिज़



जे० एण्ड के० अकादमी ऑफ आर्ट,
कल्चर एण्ड लैंग्वेजिज़, नहर मार्ग, जम्मू
द्वारा प्रकाशित

मूल्य : Rs. 35/-

प्रथम संस्करण : १९८५
रूपाभ प्रिंटर्स, दिल्ली-३२
द्वारा मुद्रित

KASHMIRI SAHITYA KA ITIHAS
by Dr. Shashi Shekhar Toshakhani

पूर्व-शब्द

ग्यारहवीं शताब्दी के आसपास रचे गये 'छुम्म सम्प्रदाय' के साधना-सूत्रों की व्याख्या में कश्मीरी भाषा की प्रारम्भिक स्थिति का परिचय मिलता है। कश्मीरी साहित्यिक इतिहास का भी इसे प्रारम्भ-बिन्दु माना जा सकता है। इसके बाद अगला आलेख शितिकंठ द्वारा "सर्वगोचर देशभाषा" में रचित 'महानय प्रकाश' है जो तांत्रिक दर्शन पर आधारित है। इन दोनों कृतियों को केवल व्यापक अर्थ में ही काव्य कहा जा सकता है। इस प्रकार कश्मीरी भाषा में रचनात्मकता का पहला उन्मेष धर्म द्वारा प्रेरित रहा है। आध्यात्मिक अनुभव और चिन्तन को काव्य में गूंथने की इस रचना-प्रवृत्ति का चरमोत्कर्ष चौदहवीं शताब्दी की महान कवयित्री लल्लेश्वरी के 'वाखों' में नज़र आता है। उसी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में शेख नूरुद्दीन वली का काव्य-स्वर धार्मिक आस्था के धरातल से उभरकर लोक-मानस में प्रतिष्ठा पाता है।

पंद्रहवी शताब्दी में प्राकृत-अपभ्रंश चरित काव्यों के ढंग की कुछ राजस्तुति-परक कृतियां जैनुलाबिदीन बडशाह को लेकर लिखी गयीं और इन्हें भी 'चरित्', 'विलास' और 'प्रकाश' की संज्ञा दी गयी। ये कृतियां आज उपलब्ध नहीं, केवल श्रीवर द्वारा दिया गया उनका हवाला मिलता है। इनसे यह संकेत ज़रूर मिलता है कि कश्मीरी साहित्य के प्रारम्भिक विकास की दिशाएं भारतीय काव्य-परम्परा से जुड़ी रही हैं। यही तथ्य जैनुलाबिदीन के समय की एकमात्र उपलब्ध कश्मीरी काव्य-कृति 'बाणासुरकथा' में रेखांकित होता है। प्राचीन महाकाव्यों तथा पौराणिक आख्यानों के अनुवाद-अनुकृति की प्रवृत्ति, जो मध्यकालीन भारतीय साहित्य की एक प्रमुख विशिष्टता रही है, कश्मीरी कवि अवतार भट्ट की इस कृति में मौजूद है।

कुछ अन्य दृष्टियों से भी 'बाणासुरकथा' कश्मीरी साहित्य के आदिकाल के भारतीय साहित्यिक परम्परा से जुड़ने का संकेत देती है। उसका संरचनात्मक ढांचा संस्कृत और प्राकृत-अपभ्रंश के प्रबन्ध-काव्यों का-सा है, और उसका छन्द-विधान सीधा संस्कृत से गृहीत है, यद्यपि कश्मीरी के कुछ मौलिक छन्द रूपों की भी झलक उसमें मिलती है। यह साफ जाहिर होता है कि इन छन्दों के प्रयोग की कश्मीरी

में एक-सुनिश्चित परम्परा रही होगी। १५वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हम हसन शाह के समय में गणक प्रशस्त को 'सुखदुःखचरित्' में इन्हीं छन्दों का प्रयोग करते हुए पाते हैं। दोनों कृतियों में "थद्दो", "फ़ुरो", "दुक्कटिका", "कडोवड्या" आदि कश्मीरी छन्दों के व्यवहार का पता चलता है, जिसे कश्मीरी काव्य के इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है क्योंकि कश्मीरी के मौलिक छन्दों की पहचान अब तक "वाक" और "श्रुक" तक ही सीमित रही है। ऐसा प्रतीत होता है कि "वाक" और "श्रुक" धार्मिक-दार्शनिक विचारों की अभिव्यक्ति अथवा नैतिक उपदेश के माध्यम के रूप में विकसित हुए, जबकि 'बाणासुरकथा' और 'सुखदुखंचरित्' में आये छन्द इतिवृत्त अथवा वर्णन के लिये प्रयुक्त होते रहे।

कश्मीरी काव्य के गीतयुग की शुरुआत १६वीं शताब्दी की लोकप्रिय कवयित्री हब्बा खातून के प्रेम-गीतों से मानी जाती है। दो-ढाई शताब्दियों को समेटता हुआ यह युग १८वीं शताब्दी में अरणिमाल में उत्कर्ष को पहुंचकर शाह ग़फ़ूर तक आते-आते अपना वृत्त पूरा कर लेता है। कश्मीरी में गीत के बीज हब्बा खातून से पहले पड़ चुके थे—'बाणासुरकथा' तथा 'सुखदुःखचरितम्' में। लेकिन इन गीतों का रूप मनसपरक लिरिक अथवा वैयक्तिक भावनाओं को अभिव्यक्ति देने वाले गेय गीत का-सा नहीं था; ये इतिवृत्त में गुंथे हुए मिलते हैं—इनकी गीतात्मकता कथा-सूत्र का आश्रय लिये हुए है। भावानुभूति की सीधी अभिव्यक्ति के स्थान पर इन्हें पात्र की मनोदशा के द्योतन के लिए प्रयुक्त किया गया है। इनका जायज़ा लेने पर साफ प्रतीत होता है कि कश्मीरी गीत की परम्परा और भी पुरानी रही होगी—प्राकृत और अपभ्रंश गीतों से जुड़ी। हब्बा खातून और उसके अनुवर्ती कवियों के गीतों को 'वच़न' की संज्ञा दी गयी—क्यों और कब? इसके बारे में निश्चय से कुछ नहीं कहा जा सकता। यहां यह ध्यातव्य है कन्नड़ में भी गद्य-गीतों की संज्ञा 'वचन' ही है। कश्मीरी 'वच़न-गीतों' की एक विशेषता उनकी लोकगीतों की-सी भंगिमा है जो शायद इसलिए है कि हब्बा खातून आदि के गीत लिखित रूप से ज़्यादा मौखिक परम्परा से चले आये हैं।

इस्लाम के आगमन से न सिर्फ कश्मीरी काव्य की गति और दिशा में परिवर्तन हुआ, इस्लाम धर्म और संस्कृति-चक्र से जुड़े अनेक नये तत्त्वों के प्रवेश के कारण उसका सम्पूर्ण स्वरूप ही बदल गया। इस परिवर्तन की छाया यद्यपि शेख नूरुद्दीन के समय से ही पड़नी शुरू हुई थी, मुस्लिम राजशक्ति के उदय के दो-ढाई शताब्दी बाद इसके व्यापक प्रभाव के अन्तर्गत आकर कश्मीर अपनी पिछली सांस्कृतिक परम्परा से लगभग विछिन्न हो गया। भाषिक स्तर पर इसका परिणाम यह हुआ कि स्थानीय भाषा संस्कृत रूपों को सुरक्षित रखने वाली और फारसी के अधिकाधिक प्रभाव से युक्त—दो अलग-अलग शैलियों में बंट गयी। फ़ारसी के प्राबल्य के कारण संस्कृत से गृहीत छन्द-रूपों का ही नहीं स्थानीय छन्दों

का भी स्थान फारसी बहरों ने ले लिया और गज़ल, मसनबी, मर्सिया, नात आदि काव्य-रूपों को ऐसे अपनाया गया मानो वे कश्मीरी की अपनी ही विधाएं हों।

१८वीं-१९वीं शताब्दी तक के कश्मीरी साहित्य पर नज़र डालने से यह बात सामने आती है कि उसका विकास अविच्छिन्न नहीं रहा। शताब्दी-डेढ़ शताब्दी के बाद सृजन की एकाध चौंध और बस—आठ सौ वर्षों के सुदीर्घ फलक पर केवल कुछ गिनती के नाम ही उभरते हैं। बीच के व्यवधानों और अन्तरालों के कारणों के बारे में हम सिर्फ़ अन्दाज़ा लगा सकते हैं। शायद एक कारण यह रहा होगा कि इस्लाम के आगमन के बाद कश्मीर घाटी में जो भारी उथल-पुथल हुई उसमें प्रारम्भिक और मध्यकालीन कश्मीरी साहित्य का एक बड़ा अंश नष्ट हो गया। एक अन्य कारण यह कि अपने बीच अभिनवगुप्त और आनंदवर्द्धन, मम्मट और रुद्रट, सोमदेव और क्षेमेन्द्र जैसी प्रतिभाएं पैदा करने वाले लोगों ने संस्कृत में साहित्यिक अभिव्यक्ति को श्रेष्ठता का विषय मानकर अपनी मातृभाषा की उपेक्षा की। संस्कृत का स्थान फारसी ने लिया तो उसे भी इतना अधिक महत्त्व दिया गया कि कश्मीरी की स्थिति हीन से भी हीनतर होती गयी; उसके साहित्यिक विकास की गति अवरुद्ध हो गयी। इस उपेक्षा का इससे बड़ा क्या उदाहरण हो सकता है कि लल्लेश्वरी जैसी महान कवयित्री का किसी इतिहासकार ने उल्लेख तक करना उचित नहीं समझा। इस रवैये के कारण इस दौरान कश्मीरी में जो कुछ लिखा भी गया होगा, वह कुछेक अपवादों को छोड़कर सुरक्षित नहीं रह सका। इन अपवादों पर वस्तुतः आज कश्मीरी साहित्य का मध्यकालीन इतिहास खड़ा है।

कश्मीरी साहित्य के विकास को उसकी क्रमागत स्थितियों में उजागर करने के लिए शोध की जिस भावना और स्तर की ज़रूरत है, उसके बूह्लर के बाद बहुत कम दर्शन होते हैं। बूह्लर ने जिन पाण्डुलिपियों की खोज की उन्हें प्रकाश में लाने के लिये भी कोई समुचित कार्य नहीं किया गया है। वस्तुतः कश्मीरी में शोध की स्थिति इस सीमा तक निराशाजनक रही है कि पिछले पच्चास वर्षों में ऐसा बहुत कम सामने आ सका है जो अंधेरे-विस्मृत कोनों को आलोकित कर सके। कुछ लाल बुझक्कड़ ज़रूर हैं जो समय-समय पर कोई-न-कोई तुक्का मारते रहते हैं और कभी 'बृहत्कथा' तो कभी 'मिलिन्दपन्ह' का कश्मीरी भाषा से जबड़-जोड़ बिठाने की कोशिश करते हैं।

इतने लम्बे अन्तरालों के रहते, जिनके बारे में हमारे पास तथ्य उपलब्ध नहीं, कश्मीरी साहित्य के विकासक्रम को कटे-छंटे कालखण्डों में विभाजित कर देने भर से उसे सही परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। प्रो० पृथ्वीनाथ 'पुष्प' ने १२०० से १३५० ई० तक के समय को कश्मीरी साहित्य का आदिकाल, १३५० से १५०० ई० तक को प्रबन्धकाल, १५०० से १७५० ई० तक को गीतकाल, १७५० से १९०० ई० तक को प्रेमाख्यानकाल और १९०० से आज तक के दौर को

आधुनिक काल माना है। लेकिन नपे-तुले डेढ़ सौ वर्षों में हर साहित्यिक कालखंड को इस प्रकार विभाजित करने का आधार न तो स्पष्ट है, न संगत। क्षेमेन्द्र और बिल्हण ने अपने-अपने समय में स्थानीय भाषा में काव्यरचना के जो संकेत दिये हैं उन्हें अनदेखा नहीं किया जा सकता—यानी कश्मीरी साहित्य का इतिहास ग्यारहवीं शताब्दी से ही शुरू होता है। फिर १३५० ई० से १५०० ई० तक के कालखण्ड को केवल इस आधार पर 'प्रबन्धकाल' कहना कहां तक उचित रहेगा कि श्रीवर ने कुछ प्रबन्ध काव्यों की सूचना दी है। इसी कालखण्ड में लल्लेश्वरी और शेख नूरुद्दीन जैसे शीर्षस्थ कवि हुए हैं जिन्होंने किसी प्रकार की प्रबन्ध रचना न करके "वाक्" और "श्रुक" को भावाभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। इसी तरह १७५० से १९०० तक के समय को सिर्फ 'प्रेमाख्यान काल' के अन्तर्गत हांकना सही न होगा क्योंकि कश्मीरी काव्य १९वीं शताब्दी में सूफी काव्य, भक्ति काव्य, मसनवी, गज़ल आदि अनेक धाराओं में प्रवाहित हो चला था। और फिर, जैसा अवतार कृष्ण रहबर ने लिखा है, १७५५ ई० तक तो कश्मीरी में एक भी मसनवी लिखी नहीं गयी थी। ठीक सन् १९०० से सहसा आधुनिक काल की शुरुआत मानना भी भ्रामक होगा क्योंकि बीसवीं शताब्दी के तीसरे-चौथे दशक तक तो कश्मीरी साहित्य के मध्यकाल का ही विस्तार नज़र आता है।

प्रो० जियालाल कौल ने विभिन्न नरेशों के शासनकाल को आधार बनाकर कश्मीरी साहित्य के इतिहास को चार कालों में विभाजित किया है। तीसरे काल को, जिसे उन्होंने १७५८ से १९२५ ई० तक माना है, सुविधा के लिये तीन भागों में बांटा है। पर किसी के गद्दी पर चढ़ने या उतरने की तिथियों के अनुरूप न तो साहित्य के काल बदलते हैं, न साहित्यिक प्रवृत्तियां जन्म लेती हैं।

अवतार कृष्ण रहबर ने १२०० से १५५५ तक के समय को कश्मीरी-साहित्य के आदिकाल, १५५५ से १७७५ तक को मध्यकाल अथवा "पूर्व रोमाण्टिक युग", १७७५ से १९२५ तक को "द्विप्रवृत्यात्मक काल अथवा रोमाण्टिक तथा सूफी काव्य के युग" की संज्ञा दी है। आधुनिक युग की शुरुआत उन्होंने भी प्रो० जियालाल कौल की तरह १९२५ से मानी है। इस प्रकार के काल-विभाजन की भी अपनी असंगतियां हैं। जैसे यह कि १५५५ से १७७५ तक के काल को यदि पूर्व रोमाण्टिक युग कहा जाए तो हव्वाखातून और अरणिमाल के गीतों को कहां रखा जाए? फिर १७६५ से १९२५ तक के समय के लिये "द्विप्रवृत्यात्मक युग" की संज्ञा क्या विचित्र और भारी नहीं? उस युग में दो ही नहीं अनेक प्रवृत्तियां समानान्तर चल रही थीं, और इन सबको रोमानी या सूफी काव्य के अंतर्गत नहीं हांका जा सकता।

वस्तुतः केवल कालक्रम को आधार मान कर कश्मीरी-साहित्य के उद्भव और विकास का सही परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। ज़रूरत वास्तविक

स्थिति पर ध्यान केन्द्रित करके प्रवृत्यात्मक और विधात्मक संदर्भों को उजागर करने की है। ऐसी एक कोशिश नाजी मुनव्वर और शफी शौक ने "का'शिर अदबुक तवरीख" में की है। लेकिन इसमें आदिकाल और मध्यकाल सम्बन्धी विवेचन अनेक स्थानों पर प्रामाणिक नहीं। यद्यपि १५वीं शताब्दी से २०वीं शताब्दी तक का फलक बहुत विराट लगता है, उस पर कश्मीरी-साहित्य का जो परिदृश्य उभरता है वह अपेक्षाकृत सीमित और संकुचित है। इस परिदृश्य को सभी उपलब्ध तथ्यों के वस्तुपरक प्रकाश में देखने की ज़रूरत है। यही कोशिश प्रस्तुत पुस्तक में की गयी है।

सबसे पहले कश्मीरी भाषा की विकास यात्रा की झलक उसके वैदिक प्रारम्भ-बिन्दु से दिखायी गयी है, ताकि इस बारे में अनेक बद्धमूल भ्रांतियों को स्पष्ट किया जा सके। इस भाषा में रचनात्मकता के पहले उन्मेष पर अधिक प्रामाणिक प्रकाश डाला गया है और अनेक तथ्यों को पहली बार सामने रखने की कोशिश भी। लल्लेश्वरी और शेखनूरुद्दीन को आदिकालीन कश्मीरी काव्य के दो महानतम प्रतीकों के रूप में महत्त्व देकर उनकी रचनात्मक उपलब्धियों के विविध पक्षों को प्रस्तुत करते समय मैंने श्रद्धा-भक्ति की उस चमकीली धुंध को छांटना ज़रूरी समझा है जिससे उनके काव्य-व्यक्तित्व को प्रायः आच्छादित किया जाता है।

'बाणासुरकथा' १५वीं शताब्दी की एक शीर्षस्थ कश्मीरी काव्य-कृति है जो वर्षों भण्डारकर शोध संस्थान के ग्रन्थागार में अनछुई पड़ी रही। इसकी भाषिक तथा काव्यगत विशेषताओं का विस्तार से परिचय देने में मेरा उद्देश्य रचनात्मकता के एक खोये हुए लोक को आलोकित करना है। इसी शताब्दी में रची गयी एक और कृति 'सुखदुखचरित्', जिसका भाषिक दृष्टि से काफी महत्त्व है, पर भी पहली बार मैंने प्रकाश डाला है ताकि कश्मीरी काव्य के मध्यकालीन विकास की विभिन्न कड़ियों को प्रस्तुत किया जा सके। इन दोनों कृतियों के माध्यम से प्रारम्भिक कश्मीरी की भाषिक संरचना तथा काव्य-रूपों की वास्तविक स्थिति को उद्‌घाटित करने का मेरा प्रयास रहा है।

'वचनगीतों' के युग की विशेषताओं पर दृष्टिपात करने के बाद १९वीं शताब्दी की विभिन्न काव्य धाराओं को एक-दूसरे में गड्‌डमड्‌ड करने की आम प्रवृत्ति से हटकर उन्हें अपने-अपने सृजनात्मक संदर्भों में प्रस्तुत करने का मेरा आग्रह भी उस दृष्टि को प्रक्षेपित करता है जिसे मैंने प्रस्तुत इतिहास में महत्त्व दिया है। यह दृष्टि केवल कालक्रम को आधार बनाने वाले परम्परानुमोदित दर्रे के स्थान पर प्रवृत्यात्मक विकास पर अधिक केन्द्रित है। सूफी काव्य और 'लीला' अथवा भक्तिन काव्य का परिचय अलग-अलग शीर्षकों के अन्तर्गत प्रस्तुत करने के पीछे तर्क यह है कि आस्तिकता और आस्था के एक-से धरातल पर स्थित दिखायी देने पर भी दोनों का अंतःस्वर, दोनों की भंगिमाओं और विशेषताओं, प्रेरणा और पृष्ठ-

भूमि में अन्तर है। कश्मीरी सूफी काव्य का अवधारणात्मक स्वरूप इस्लामी विचार-परम्परा और हिन्दू चिन्तन धाराओं के गहरे अंतःसम्पर्क को दर्शाता है। रहस्य-वादिता इस काव्य की ऐसी विशिष्टता है जो अनुभव और अभिव्यक्ति दोनों के स्तर पर प्रकट हुई है। इस काव्य के बीजांकुर सब से पहले शेखनूरुद्दीन में प्रस्फुटित हुए, पर १९वीं शताब्दी में यह विशेष रूप से पल्लवित और विकसित हुई। २०वीं शताब्दी में भी इस धारा ने समद मीर और अहद ज़रगर जैसे समर्थ कवि दिये। अतः इस विशिष्ट धारा की परम्परा और विकास का एक ही स्थान पर आकलन करते हुए इसे गति देने वाले प्रमुख कवियों के सम्पूर्ण रचना-संसार में पाठक को ले जाने की कोशिश की गयी है। उधर 'लीला' अथवा वैष्णव-भक्ति काव्य कश्मीरी-साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण किन्तु उपेक्षित दिक् रहा है। रचनात्मकता के स्तर पर उसकी उपलब्धियों के उचित मूल्यांकन के लिये 'लीला', 'अवतार' और 'असुर' की अवधारणाओं की सही समझ तत्कालीन परिस्थितियों के संदर्भ में बहुत ज़रूरी है और साथ ही उसके काव्यगत मूल्यों की परख-पहचान भी। केवल 'धार्मिक काव्य' का बिल्ला चिपकाने से प्रकाशराम और परमानन्द, लक्ष्मणजू 'बुलबुल' और कृष्ण राज़दान जैसे कवियों की रचनाओं की विशिष्टताएं उजागर नहीं हो सकतीं। इस काव्य के ग़लत और सतही मूल्यांकन की प्रवृत्ति इतनी बद्ध-मूल है कि प्रकाशराम रचित रामायण जैसी वैष्णव-भक्ति प्रेरित कृति को केवल बाहरी रूपाकार के आधार पर रज़िमया मसनवियों में गिना जाता है। इस प्रकार की भ्रांतियों और विकृतियों से मुक्त परिप्रेक्ष्य में कश्मीरी भक्ति-काव्य को उसके मौलिक आयामों में प्रक्षेपित करने के लिये प्रस्तुत पुस्तक में 'लीला काव्य' शीर्षक से एक अलग अध्याय रखा गया है।

'लीला काव्य' ने ईश्वर की नरलीला को तत्कालीन सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियों से सम्बद्ध किया तो उसके समवर्ती मसनवियों के काव्य ने सामाजिक परिवेश से एकदम असम्पृक्त रह कर 'बज़्म' और 'रज़्म' (प्रेम और युद्ध) के किस्सों से लोगों का मनोरंजन किया। इस बात को स्वीकार करना पड़ेगा कि अधिकांश कश्मीरी मसनवियां फारसी से या तो सीधा या संक्षिप्त अनुवाद हैं या फिर अनुकृतियां। मौलिक प्रेरणा तथा काव्य-ऊर्जा उनमें दिखायी नहीं देती। फारसी बोझिल कृत्रिम भाषा में लिखी गयी इन अत्यलंकृत मसनवियों में नक्काशी और पच्चीकारी अधिक है। इस प्रवृत्ति की शुरुआत करने वाले महमूद गामी ने कश्मीरी में इश्किया ग़ज़ल का भी सूत्रपात किया जिसे कलात्मक अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में विकसित करने में रसूल मीर को विशेष सफलता मिली। फारसी से गृहीत इन दोनों विधाओं—मसनवी और ग़ज़ल—में रचित कश्मीरी काव्य के स्वरूप और स्थिति का भी एक अलग अध्याय में निरूपण किया गया है।

यह पुस्तक दो खण्डों में विभाजित है। पहले खण्ड में आधुनिक युग से पूर्व का और दूसरे में आधुनिक युग के प्रारम्भ से समकालीन युग तक का परिदृश्य प्रस्तुत है। गद्य के उद्भव और विकास का कुछ अंश आधुनिक युग के अंतर्गत दूसरे खण्ड में रखा जा सकता था लेकिन इसे पहले खण्ड में ही स्थान दिया गया है क्योंकि इसकी गति १९४७ तक बेहद धीमी रही है। बल्कि १९४७ तक के समय को उसका उद्भव काल ही कहा जा सकता है। अन्य भारतीय भाषाओं के गद्य की तरह विकास की वैसी ही परिस्थितियां मौजूद होने पर भी कश्मीरी गद्य आज़ादी मिलने तक आधुनिक विचारों की अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में उभर नहीं पाया।

कश्मीरी कविता में आधुनिक चेतना को सबसे पहले महजूर ने व्यक्त किया। पर सही मानों में उसका प्रथम उन्मेष आज़ाद की कविता में हुआ। आज़ादी के बाद एक अत्यन्त सशक्त साहित्यिक आंदोलन के रूप में प्रगतिवाद का उभरना अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ। सबसे बड़ी बात यह है कि कश्मीरी-साहित्य सामाजिक यथार्थ के निकट आया जिसकी अभिव्यक्ति कविता ही नहीं गद्य की प्रायः सभी विधाओं में भी हुई। कश्मीरी कहानी की तो शुरुआत ही इस युग में हुई और वह विकास की अनेक मंज़िलों को एक साथ पार करती हुई वहां पहुंच गयी है जहां उसे अन्य भारतीय भाषाओं में लिखी गयी कहानी के समकक्ष माना जा सकता है। यही बात अन्य गद्य-विधाओं के बारे में नहीं कही जा सकती। कश्मीरी नाटक, उपन्यास, आलोचना आदि का जायज़ा लेने पर यह बात ज़ाहिर होती है कि उनका पिछड़ापन अभी बना हुआ है। फिर भी नाटक के क्षेत्र में कुछेक रचनाओं को उपलब्धि के तौर पर ज़रूर गिना जा सकता है।

समकालीन कश्मीरी कविता प्रगतिवादी दौर से बहुत आगे निकल आयी है। विषय, वस्तु, रूप के परम्परागत ढांचों को तोड़ती हुई वह प्रयोग के नये धरातलों का स्पर्श कर रही है। यद्यपि आधुनिकवाद के स्वीकार-अस्वीकार को लेकर बहस अभी जारी है, कश्मीरी कविता में आधुनिक बोध की प्रतिष्ठा हो चुकी है। यह बोध विसंगति, अर्थहीनता, अजनबीपन और अकेलेपन की अस्तित्ववादी स्थितियों से जुड़ा है। लेकिन समवेदना के स्तर पर प्रकट न होकर केवल वैचारिक स्तर तक सीमित रहने के कारण आधुनिक बोध अनेक कवियों की रचनाओं में आरोपित-आयातित लगता है। यह बात नज़्म और ग़ज़ल दोनों के बारे में कही जा सकती है।

कश्मीरी-साहित्य का पाठक वर्ग बहुत सीमित है। अधिकांश रचनाएं रेडियो (या अब टी० वी०) के लिये लिखी जाती हैं। यहां तक कि अभी-अभी एक उपन्यास भी रेडियो से धारावाहिक रूप में प्रसारित हुआ है। बहुत कम रचनाएं पुस्तक की शक्ल में सामने आती हैं। हद से हद वे जम्मू-कश्मीर कल्चरल अकादमी की पत्रिका 'शीराज़ा' में छपती हैं। अतः जो कुछ लिखा जा रहा है उस सब पर नज़र

रखना मुश्किल है। फिर भी प्रस्तुत पुस्तक में यह कोशिश ज़रूर हुई है कि समकालीन कश्मीरी लेखन की नवीनतम रचना-प्रवृत्तियों से अध्येता को अवगत कराया जाए। पुस्तक के दोनों खण्डों में कश्मीरी भाषा में पिछले ९०० वर्षों में हुए सृजन और उसके संदर्भों की पहचान प्रस्तुत है। यह परिदृश्य मेरी नज़र की सीमाओं से मुक्त हो यह कैसे संभव हो सकता है, पर इन सीमाओं के भीतर जो कुछ प्रक्षेपित है उसकी तथ्यात्मकता को असंदिग्ध रखने की पूरी कोशिश मैंने की है।

—शशि शेखर तोषखानी

अनुक्रम

खण्ड १ : ११वीं शती से २०वीं शती के प्रारंभ तक

खण्ड २ : आधुनिक परिदृश्य

कश्मीरी ध्वनियां : लिपि चिह्न

कश्मीरी ध्वनियों को व्यक्त करने के लिए प्रस्तुत पुस्तक में मुद्रण की सुविधा को ध्यान में रखते हुए नीचे दिये गएं लिपि-चिह्नों का प्रयोग किया गया है—

विशिष्ट कश्मीरी स्वर-ध्वनियां

ध्वनि	प्रयोग	अर्थ
अ'	नॅ'र	बांह
आ'	ला'र	खीरा
उ़	तु़र	लीर
ऊ़	तू़र	ठंड
ऐॅ	हेॅरि	ऊपर
ओ'	दो'र	दृढ़

विशिष्ट कश्मीरी व्यंजन ध्वनियां

च़	च़म	चमड़ी
छ़	छ़ांडुन	ढूंढना
ज़	ज़र	बहरापन

खण्ड १

११वीं शती से २०वीं शती के प्रारंभ तक

: १ :

कश्मीरी भाषा की विकास यात्रा

विकास-यात्रा का प्रथम चरण—वैदिक युग

साहित्य और संस्कृति, दर्शन और कलाओं की भारतीय परम्पराओं से सम्बद्ध रहने पर भी कश्मीर घाटी का अपना एक अलग और विशिष्ट व्यक्तित्व है। विशिष्टता की यह छाप कश्मीरी भाषा भी लिये हुए है जो भारतीय आर्य परिवार की अन्य भाषाओं से निकटता से संबन्धित तो है, पर साथ ही अपनी अनेक ध्वन्यात्मक और रूपात्मक विशेषताओं के कारण इनसे कुछ भिन्न भी। प्राचीन आर्य भाषा के संश्लेषणात्मक गठन और आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के विश्लेषणात्मक रूप—दोनों के तत्त्व इस भाषा में विद्यमान हैं। वस्तुतः कश्मीरी भारतीय आर्य-भाषा की विभिन्न विकास-अवस्थाओं का रहस्य अपने में छिपाये हुए है। जैसा कि डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा का कथन है, अनेक भाषिक युगों—वैदिक, बौद्ध संस्कृत, चाली, खरोष्ठी प्राकृत—की विभिन्न परतों को यह भाषा दर्शाती है। इस दृष्टि से भारतीय भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन में इस भाषा का विशेष महत्त्व है।

कश्मीरी, जिसे स्थानीय लोग 'का'शुर' कहते हैं, जिस क्षेत्र में बोली जाती है वह उत्तर में उड़ी से मातृगाम तक, दक्षिण में वेरीनाग से लेकर वीर पाँचाल पर्वत-शृंखला तक, पूर्व में ज़ोजिला से कष्टवाड़ तक और पश्चिम में शुपियन से लेकर लगाम तक करीब १०,००० वर्ग मील क्षेत्र में फैला है। कश्मीर घाटी के अतिरिक्त कष्टबाड़, रामवन, रियासी, पुंछ आदि पर्वतीय स्थानों में भी इस भाषा को अथवा इसकी बोलियों को बोलने वाले लोग हैं। ये बोलियां हैं : कष्टवाड़ी, पोगली, सिराजी तथा रामबनी। घाटी में, विशेषकर श्रीनगर और उसके आसपास, बोली जानेवाली भाषा को ही कश्मीरी का शुद्ध और परिनिष्ठित रूप माना जाता है। शहर और गांव तथा घाटी के उत्तर पश्चिमी और दक्षिणी क्षेत्रों—कमराज़ और मराज़—की बोलियों में भी थोड़ा अन्तर है। १९७१ की जनगणना के अनुसार पाकिस्तान-अधिकृत क्षेत्र को छोड़कर कश्मीरी भाषा को बोलने वालों की संख्या २० लाख के करीब थी।

कश्मीरी एक अत्यन्त प्राचीन भाषा है—इतनी प्राचीन कि इसकी विकास-यात्रा का प्रारम्भ भारतीय इतिहास के वैदिक युग से मान लिया जाए। इसका प्रमाण है कश्मीरी में उन भाषिक तत्त्वों का अस्तित्त्व जो ऋग्वैदिक आर्यों की छान्दस भाषा में जीवित थे। जार्ज बूह्लर के अनुसार कश्मीरी उन बोलियों में से किसी एक से विकसित है जिनसे संस्कृत का निर्माण हुआ है। डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या भी इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि १००० ई०पू०से भी पहले भारतीय आर्यों की एक शाखा, जो ऋग्वेद की भाषा से साम्य रखनेवाली बोलियां बोलती थी, कश्मीर और उसके समीपवर्त्ती पहाड़ी क्षेत्रों में आ बसी थी।[१] स्वयं ऋग्वेद में उपलब्ध भौगोलिक तथ्य कश्मीर के पर्वतों और नदियों का प्राचीन आर्यों की गतिविधियों से स्पष्ट सम्बन्ध दर्शाते हैं। वैदिक नदी-स्तुतियां जिस भूखण्ड से हमारा परिचय कराती हैं उसका कश्मीर भी एक अंग रहा है। वैदिक साहित्य में अपनी भाषा की शुद्धता के लिए विख्यात उदीच्य जनों के उत्तरकुरु, उत्तरमद्र, मूजवन्त, महावृषस्, गांधारि, बाह्लीक, काशि, केकय और काम्बोज जनपदों का उल्लेख है। इनमें से उत्तरकुरु की, जिसे देवभूमि कहा गया है, ज़िम्मर कश्मीर में अवस्थिति मानते हैं।[२] बहुत सभव है कि इन्हीं उत्तरकुरु जनों या उनकी किसी शाखा-प्रशाखा की बोली ही वर्तमान कश्मीरी भाषा का आदि स्रोत अथवा-आदिरूप रही हो।

कश्मीरी के वैदिक मूल की ओर बूह्लर के अतिरिक्त मार्जेन्स्टिअर्न, ब्लॉक, टर्नर, सिद्धेश्वर वर्मा और श्रीकण्ठ तोषखानी प्रभृति भाषाविदों ने भी इंगित किया है। उसमें ऐसे अनेक शब्द-रूप आज भी जीवित हैं जिन्हें सीधे प्राचीन भारतीय आर्य-भाषा से सम्बन्धित माना जा सकता है और जो अन्य नव्य भारतीय आर्य भाषाओं में उपलब्ध नहीं होते। उदाहरण के लिए कश्मीरी शब्द 'योदवय' को लिया जा सकता है जिसके लिए आर्य मूल की अधिकांश भारतीय भाषाओं में 'यदि' शब्द प्रचलित है। दोनों शब्द प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के हैं पर कश्मीरी 'यो'दवय' वैदिक भाषा में 'यदुवय' के रूप में मिलता है और अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन है।[३] इसी भांति कश्मीरी 'अद', जिसका प्रयोग 'तब', तब फिर, 'तो' 'इसके बाद', 'अतः', आदि अर्थों में किया जाता है, ऋग्वैदिक भाषा में 'अधा' के रूप में विद्यमान है।[४] कश्मीरी 'अच़ुन' (आना, घुसना, प्रवेश करना) वैदिक 'अत्येति' (पा० अच्चेति) से विकसित है।[५] अन्य किसी नव्य भारतीय आर्यभाषा में यह शब्द नहीं मिलता। इसी भांति ऋग्वैदिक 'तक्ष' से विकसित कश्मीरी 'तछुन (खुरचना, कुरेदना) और 'छान' (बढ़ई, तरखान) शब्द अन्य भारतीय आर्य भाषाओं में नहीं मिलते।[६] 'धौंकनी' अथवा बकरी की खाल के अर्थ में व्यवहृत कश्मीरी शब्द 'बस्त' सीधे वैदिक 'वस्त' (बकरी) अथवा वस्ताजिन (बकरी की खाल) से यथावत् चला आया है।[७] ऐसे ही और अनेक शब्द हैं जिनमें मूल वैदिक

का अर्थ, स्वरूप और ध्वन्यात्मक विशेषताएं सुरक्षित हैं। प्राचीनता की छाप लिये इस प्रकार के कई शब्दों के उदाहरण डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा ने प्रस्तुत किये हैं।[८] उनके अनुसार वैदिक 'कुलाल' से विकसित कश्मीरी 'काल' (कुम्हार) शब्द इस भाषा का भारतीय आर्यभाषा की शब्दावली की एक प्राचीनतर परत से सम्बन्ध दर्शाता है। 'कुम्हार' के लिए अधिक प्रचलित संस्कृत शब्द 'कुम्भकार' वैदिक युग के बाद ही दृष्टिगोचर होता है। कश्मीरी ही एकमात्र नव्य भारतीय आर्य भाषा है जिसने प्राचीन 'कुलाल' के अवशेष को सुरक्षित रखा है। नेपाली 'कुमाले' और सिंहली 'कुम्बल' में भी 'ल' 'कुलाल' के प्रभावकी ओर संकेत करता है। अन्य नव्य भारतीय आर्यभाषाएं 'कुम्भकार'— से विकसित रूप ही दर्शाती हैं।

इसी प्रकार कश्मीरी कोछुवु (कछुआ) डॉ० वर्मा के अनुसार प्राचीन वैदिक रूप 'कश्यप' से व्युत्पन्न है।[९]

प्रो० श्रीकण्ठ तोषखानी कश्मीरी के इतिहास के वैदिक युग से प्राचीन होने की संभावना की ओर इंगित करते हैं। संदर्भ में वे कश्मीरी 'रोस्त' और 'सोस्त' शब्दों का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं जो सं० 'रहित' और 'सहित' के लिए प्रयुक्त होते हैं।[१०] 'रोस्त' और 'सोस्त' स्पष्टतया पूर्व-वैदिक शब्द हैं क्योंकि 'स' का 'ह' में परिवर्तन एक बाद की घटना मानी गयी है। हो सकता है कि कश्मीरी मूल भारोपीय भाषा से सम्बन्धित एक अति प्राचीन भाषा रही हो। प्रो० तोषखानी को उसमें कई ऐसे शब्द मिले हैं जो लिथुआनी से साम्य रखते हैं। कश्मीरी के कुछ ध्वन्यात्मक तत्त्व भी उसकी अति प्राचीनता को ध्वनित करते हैं। जर्मन भाषा की भांति कश्मीरी की एक प्रमुख ध्वन्यात्मक विशेषता है उसकी उम्लौट (umlaut) पद्धति—अर्थात् परवर्ती स्वर-ध्वनि के प्रभाव से पूर्ववर्ती स्वर अथवा व्यंजन ध्वनियों में परिवर्तन। कश्मीरी में यह परिवर्तन शब्दान्त में स्थित 'मात्रा स्वरों' (एक प्रकार से लगभग अनुच्चरित अथवा जपित स्वर) के प्रभाव से निश्चित नियमानुसार होते हैं; उच्च स्वर निम्न स्वरों में बदलते रहते हैं; कंठ्य ध्वनियां तालव्यों में और दन्त्य, दन्त्य-संघर्षी ध्वनियों में परिवर्तित हो जाती हैं। मात्रा-स्वरों के साथ-साथ इस परिवर्तन में लिंग का भी हाथ होता है। कंठ्य अथवा दन्त्य वर्ग के कठोर अल्पप्राण तथा महाप्राण व्यंजन क्रमशः कठोर अल्पप्राण और महाप्राण तालव्यों अथवा दन्त्य-संघर्षी ध्वनियों में बदलते हैं। कोमल ध्वनियों में भी इसी भांति परिवर्तन होता है।

कश्मीरी स्वर-ध्वनिलां ह्रस्व 'ए' और 'ओ' पहाड़ी तथा अन्य कुछ नव्य भारतीय आर्य भाषाओं में व पाली में भी मिलती हैं। कश्मीरी की विशिष्ट व्यंजन ध्वनियों में से कुछ मराठी, असमिया और उर्दू में मिलती हैं। ये ध्वनियां भी मूल भारोपीय भाषा से कश्मीरी के प्राचीन-सम्बन्ध को साक्ष्यांकित करती हैं।

मूल भारोपीय की भांति वैदिक भाषा के भी स्वराघात का बहुत महत्त्व था।

वैदिक शब्दों का उदात्त, अनुदात्त और स्वरित संगीतात्मक स्वराघात कश्मीरी ब्राह्मणों के यज्ञोपवीत तथा विवाह आदि के अवसरों पर स्त्रियों द्वारा गाये जाने वाले 'वनवुन' (मंगल-गीतों) में अब भी सुरक्षित है। वैदिक संगीतात्मक स्वराघात के ये रूप अन्य किसी नव्य भारतीय आर्यभाषा में नहीं मिलते।

कश्मीरी भाषा और वैदिक संस्कृत के सम्बन्धों को रेखांकित करने वाले और भी अनेक तत्त्व हैं। यहां केवल यह कहना अभिप्रेत है कि कश्मीरी भाषा के मूल वैदिक और पूर्व-वैदिक आर्यभाषा में खोजे जा सकते हैं।

ग्रियर्सन की स्थापनाएं

कश्मीरी में वैदिक-संस्कृत के तत्त्वों की विद्यमानता के बावजूद ग्रियर्सन ने उसे भारतीय आर्यभाषा परिवार से निष्कासित कर भारत-ईरानी परिवार के शिविर में रखा है। कश्मीरी को वियोगात्मक से पुनः संयोगात्मक रूप में परिवर्तित होती हुई आर्यभाषा का एकमात्र उदाहरण बताते हुए वे उसके मूल वैदिक से सम्बन्धित होने की संभावना की ओर इंगित तो करते हैं, पर उसका भाषिक वर्गीकरण करते हुए वे उसे दरदवर्ग की भारत-ईरानी भाषा मानते हैं। दरद भाषाओं को वे प्राचीन भारतीय आर्यभाषा से उस बिन्दु पर पृथक् हुआ भाषा-समूह मानते हैं जब आर्यों का भारत में आगमन हुआ था। इन भाषाओं की कुछ विशेषताएँ प्राचीन भारतीय आर्यभाषा से समानता रखती हैं, कुछ ईरानी से और कुछ इनकी अपनी मौलिक विशेताएं हैं। ग्रियर्सन इन भाषाओं के लिए 'पैशाची' संज्ञा उपयुक्त समझते हैं, पर इस शब्द के अप्रिय अर्थ के कारण 'दरद' शब्द का ही प्रयोग करते हैं।[11] कश्मीरी के वर्गीकरण के सन्दर्भ में उनका कहना है कि कश्मीर दो हजार वर्ष तक संस्कृत अध्ययन का पीठ रहा है और यह असंभव है कि इस अवधि में यहाँ की भाषा पर आयातित भारतीय संस्कृति का प्रभाव न पड़ा हो। इस भाषा पर भारतीय संस्कृत का इतना गहरा प्रभाव रहा है कि खास भारतीय भाषाओं के अनेक रूप और मुहावरे इसने आत्मसात् कर लिये। पर इस सारी अवधि में पिशाच आदिवासियों की प्राचीन बोली उसका सुदृढ़ आधार रही है।[12] कश्मीरी को शिणा, खोवारी आदि 'पैशाची' भाषाओं के वर्ग में रखते हुए ग्रियर्सन निष्कर्षित करते हैं : "उस भाषा (कश्मीरी) में वे सभी तत्त्व मौजूद हैं जो पिशाच भाषाओं की अपनी एक विशिष्टता हैं और वे भी जो पैशाची और ईरानी में समान रूप से विद्यमान हैं।"[13] यह मानकर भी कि ऋग्वेद की भाषा से साम्य रखने वाली कोई उपभाषा बोली (dialect) बोलने वाली आर्यों की एक उपशाखा ईसा-पूर्व १००० वर्ष कश्मीर में आ बसी थी, डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ग्रियर्सन की ही स्थापना का समर्थन करते हैं। उनके अनुसार वैदिक युग के बाद भी ब्राह्मण जाति के आर्य 'बोलचाल की संस्कृत' और तत्पश्चात् प्राकृत आदि को

लेकर आये और कश्मीर और समीपवर्ती हिमालय पर्वतीय प्रदेशों में बस गये। मध्यदेश और उत्तरी पंजाब के भारतीय आर्य प्राकृतों और अपभ्रंशों ने कश्मीरी की दरद आधार-भूमि को गहराई से परिवर्तित किया। इस प्रकार दरद आधार-भूमि पर भारतीय आर्यभाषा के तत्त्वों की परत बिछ जाने के फलस्वरूप कश्मीरी भाषा जनमी। पर कश्मीरी की यह दरद आधार-भूमि क्या थी इसके लिए संतोष-जनक भाषिक साक्ष्य न तो ग्रियर्सन ही जुटा पाये हैं और न चाटुर्ज्या ही। पर इन दो प्रतिष्ठित भाषा-तत्त्ववेत्ताओं द्वारा व्यक्त विचारों के व्यापक प्रभाव के कारण कश्मीरी को एक दरद भाषा मान लेने वाली धारणा बद्धमूल-सी हो गयी है।

ग्रियर्सन पैशाची, दरद और कश्मीरी के अपने समीकरण से इतने मोहाविष्ट हैं कि प्रमाण के लिए अप्रचलित शब्दों और अपवादों के उदाहरण प्रस्तुत करके वे जबर्दस्ती कश्मीरी पर पैशाची की ध्वन्यात्मक और रूपात्मक विशेषताएं आरोपित करने का हठ करते हैं। कश्मीरी भाषा के सम्बन्ध में उनका निष्कर्ष-बिन्दु यह है: "कश्मीरी एक मिश्र-भाषा है जिसका आधार पैशाची परिवार के दरद वर्ग की कोई ऐसी भाषा है जो शिणा से सम्बन्धित है। भारतीय संस्कृति और साहित्य का इस पर काफी प्रबल प्रभाव पड़ा है और इसकी शब्द-सम्पदा का अधिकांश भाग अब भारतीय मूल का है और उत्तर भारत की संस्कृत-वर्ग की भारती आर्य-भाषाओं से सम्बन्धित है। चूंकि इसकी आधार भूमि, दूसरे शब्दों में इसके ध्वनि-तत्त्व, इसके शब्द-रूप, वाक्य-विन्यास, इसका छन्द-विधान सब पैशाची है, इसका उसी के आधार पर वर्गीकरण किया जाना चाहिए।"[१४]

ग्रियर्सन के कश्मीरी भाषा सम्बन्धी विवेचन से तीन मुख्य बातें उभरकर आती हैं—(१) कश्मीरी संस्कृत वर्ग के भारती आर्य भाषा परिवार की सदस्य न होकर पैशाची अर्थात् दरद भाषा है; (२) इस नाते वह ईरानी से काफी साम्य रखती है, यद्यपि उसकी कुछ निजी विशेषताएं भी हैं और आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं से कुछ समानताएं भी; (३) संस्कृत वर्ग की आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं से उसकी ध्वनि तत्त्व, रूप तत्त्व, वाक्य-विन्यास, छन्द-विधान आदि के आधार पर असमानताएँ इतनी अधिक हैं कि उसे इस वर्ग के साथ नहीं रखा जा सकता। ग्रियर्सन की इन स्थापनाओं पर पुनर्विचार की बड़ी आवश्यकता है क्योंकि इनके कारण कश्मीरी के उद्गम और विकास को लेकर अनेक भ्रांतियां फैल गयी हैं।

कश्मीरी और पैशाची

सबसे पहले हम कश्मीरी और पैशाची—जिसका दूसरा नाम ग्रियर्सन के अनुसार दरद भाषा-समूह है—के सम्बन्धों का विवेचन करते हैं। पिशेल की भांति ग्रियर्सन भी हिन्दूकुश और भारत (अब पाकिस्तान) की पश्चिमोत्तर सीमा के बीच के क्षेत्र को प्राचीन पिशाच जनों का आदि निवास मानते हुए केकय (पश्चिमी पंजाब)

और ब्राचड़ (सिन्ध) में उनकी बस्तियों का उल्लेख करते हैं, जहां से वे "वर्तमान भील प्रदेश और गोआ तक फैल गये।"[15] कुछ प्राकृत वैयाकरणों ने भी पश्चिमोत्तर भारत (अब पाकिस्तान) और अफ़गानिस्तान से लेकर द्राविड़ प्रदेश तक पिशाचों को व्याप्त दिखलाया है। षड्भाषा चंद्रिकाकार ने पाण्ड्य, केकय, बाह्लीक सह्य, नेपाल, सुधेष्ण, भोज, गान्धार, हैव, कन्नोजन तक पिशाच भाषाओं का क्षेत्र माना है। मार्कण्डेय ने "केकेयं शौरसेनं पांचालमिति चा त्रिधा" कहकर इसके क्षेत्र को सीमित कर दिया। हार्नले पैशाची को स्वतंत्र भाषा मानने के पक्ष में नहीं। उनके मत से द्रविड़ों द्वारा आर्यों की भाषा के विकृत उच्चरण का ही रूप है पैशाची। इस प्रकार पैशाची के क्षेत्र के विषय में निश्चय से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। यदि इस सम्बन्ध में ग्रियर्सन की बात को मान भी लिया जाय तो भी यह प्रश्न अनुत्तरित रहता है कि क्या दरद और पिशाच एक ही जाति के नाम हैं? दरदों का न तो कोई लिखित इतिहास उपलब्ध है और न कोई साहित्य, जबकि पैशाची भाषा ने 'बृहत कथा' जैसा ग्रन्थ दिया है जो 'बृहत्कथामंजरी' और 'कथासरित्सागर' जैसी कृतियों में अब भी सांस ले रहा है। स्वयं ग्रियर्सन कहते हैं कि एक बार अपने पर्वतीय निवास में बस जाने के बाद दरद जाति के लोगों को सिकन्दर (३२७ ई० पू०) और तैमूर (१३९८ ई०) के आक्रमणों को छोड़कर इतिहास ने प्रायः अकेला छोड़ दिया,[16] तो फिर समय के किस बिन्दु पर उनकी बस्तियां केकेय और ब्राचड से लेकर मध्यदेश और गोआ तक फैल गयीं? कुछ क्षण के लिए 'दरद' और 'पिशाच' को एक मान भी लें तो क्या पैशाची की वे ध्वन्यात्मक विशेषताएं कश्मीरी में मिलती हैं जिन्हें प्राकृत वैयाकरणों ने गिनाया है? ग्रियर्सन ने अपने तर्क के पक्ष में जो उदाहरण बटोर लाये हैं वे एक तो सब के सब कश्मीरी के नहीं अपितु दरदिस्तान की अनेक भाषाओं से लिये गये हैं, दूसरे कश्मीरी में दो-तीन फारसी शब्दों के उच्चारण को सम्पूर्ण भाषा की ध्वन्यात्मक प्रवृत्तियों का प्रतिनिधि बना दिया गया है, और तीसरे अपवादों को नियम मान लिया गया है। वररुचि, हेमचन्द्र आदि प्राकृत वैयाकरणों के अनुसार पैशाची में स्पर्श वर्गों के तीसरे और चौथे घोष व्यंजन पहले और दूसरे अर्थात् अघोष हो जाते हैं। कश्मीरी में एकाध अपवाद को छोड़कर ग > क, घ > ख, द > त नहीं होता। इसी प्रकार संस्कृत 'ज' कहीं 'ज़' उच्चरित होता है तो कहीं सुरक्षित रहता है, और फारसी से आये शब्दों में 'ज' पूर्णतया सुरक्षित रहता है। 'श' का 'स' नहीं होता। 'र' > 'ल' के भी बस दो-चार उदाहरण मिल सकते हैं, 'र' और 'ल' के अभेद की स्थिति अन्य भारतीय भाषाओं की-सी नहीं। 'र' को सुरक्षित रखने की प्रवृत्ति ही अधिक प्रबल है। 'ध' का कश्मीरी में अल्पप्राण 'द' होता है पैशाची की भांति 'थ' नहीं।

प्राकृत व्याकरण ग्रन्थों में वर्णित पैशाची की रूपात्मक विशेषताएं, भी

कश्मीरी में देखने को नहीं मिलतीं। उसमें अकरान्त शब्दों की पंचमी का एक वचन 'आतो' और 'आतु' नहीं होता, न 'त्वा' के स्थान पर 'तून', 'त्थून' अथवा 'दून' होते हैं। इसके विपरीत कश्मीरी की जो ध्वन्यात्मक और रूपात्मक विशेषताएं हैं उनका पैशाची के संदर्भ में कहीं उल्लेख नहीं मिलता।

कश्मीरी और दरद भाषा परिवार : सम्बन्धों की पुनर्परीक्षा

अब रही कश्मीरी की एक दरद भाषा होने और उस नाते ईरानी और भारतीय आर्यभाषा के मध्य में स्थित होने की बात। टर्नर, ब्लॉक, एमनो, मोर्जेन्स्टिअर्न प्रभृति भाषाशास्त्रियों ने तथाकथित दरद भाषाओं और ईरानी के सम्बन्ध की धारणा को ही ग़लत सिद्ध कर दिया है। उन्होंने मत व्यक्त किया है कि ये भाषाएं भी भारतीय आर्यभाषा परिवार के अन्तर्गत रखी जा सकती हैं। उनमें वैदिक संस्कृत के अनेक शब्द-रूप पूर्णतया सुरक्षित हैं। यही नहीं उनकी शब्दावली का मूलाधार भी वही है जो नव्य भारतीय आर्य भाषाओं का है। ग्रियर्सन ने दरदिस्तान कहे जाने वाले क्षेत्र की भाषाओं और काफिर वर्ग की भाषाओं को एक ही नाम से हांका है। उनके मत से असहमति प्रकट करते हुए मार्जेन्स्टिअर्न लिखते हैं :

"....वास्तविक काफिर वर्ग की तुलना में दरद भाषाएं शुद्ध भारतीय आर्य मूल की हैं और वैदिक से साम्य रखने वाली पूर्वकाल की किसी भाषा तक चली जाती हैं। इस वस्तुस्थिति को यह तथ्य बदल नहीं सकता कि दरद भाषाओं में ऐसे अनेक प्राचीन रूप सुरक्षित हैं जो बाद की भारतीय आर्य भाषाओं में लुप्त हो गये हैं, न महाप्राणीकरण का व्यापक स्तर पर हुआ लोप ही उसे बदल सकता सकता है।"[१७]

एमनो मार्जेन्स्टिअर्न से सहमत हैं कि दरद भाषाएं (कश्मीरी, शिणा, सिंधु की कोहिस्तानी, खोवार, कलाश, पशइ तथा तिरही) भारतीय आर्य भाषाएं हैं, किन्तु ये भारतीय आर्य भाषाओं की मध्यकालीन विकास-अवस्थाओं से नहीं गुज़री हैं, जबकि दूसरी ओर काफिर भाषाओं (कती, बैगली, अश्कुन, प्रसुन और कुछ सीमा तक दमेली) की एक प्रकार से विशेष स्थिति है।[१८]

जहां तक कश्मीरी का सम्बन्ध है, उसकी और भारतीय आर्य भाषाओं की मध्यकालीन विकास-अवस्थाएं कुछ सीमा तक एक-सी रही हैं। कश्मीरी में दरद भाषाओं के कुछ शब्द अवश्य आ गये हैं, पर शिणा आदि दरद भाषाओं में भी कश्मीरी के अनेक शब्द आ गये हैं। ग्रियर्सन ने शिणा और कश्मीरी में साम्य दर्शाने के लिए जिन शब्दों को उदाहरणार्थ प्रस्तुत किया है, उनमें से अधिकांश संस्कृत मूल के हैं और दोनों भाषाओं को प्राचीन भारतीय आर्य भाषा से दाय के रूप में प्राप्त हुए हैं। इस दृष्टि से शिणा आदि दरद भाषाएं कश्मीरी ही नहीं अन्य

नव्य भारतीय आर्य भाषाओं से भी काफी साम्य रखती हैं। लेकिन दरद भाषाओं ने प्राचीन आर्य भाषाओं के जिन शब्दों को ग्रहण किया है उनमें से अधिकतर कश्मीरी शब्द-सम्पदा के अंग नहीं।

कश्मीरी और दरद बोलियां : असमानताएं

कश्मीरी और शिणा आदि दरद भाषाओं में ध्वन्यात्मक अंतर भी काफी हैं, जिनमें प्रमुख ये हैं—

(१) कश्मीरी की कुछ विशिष्ट स्वर-ध्वनियां शिणा तथा अन्य दरद बोलियों में नहीं हैं, न कश्मीरी की 'उम्लॉट' पद्धति ही उनमें है।

(२) दरद बोलियों में ङ, ण, ञ,न, म् सभी नासिक्य विद्यमान हैं, कश्मीरी में केवल 'ञ', न और म् हैं।

(३) दरद बोलिलयों में श, ष, स तीनों ऊष्म मिलते हैं, कश्मीरी में केवल 'श' और 'स'।

(४) शिणा में सभी तथाकथित तालव्य ध्वनियों के दो वर्ग मिलते हैं—स्पर्श और संघर्षी; कश्मीरी में केवल च़, छ़, ज़ उपलब्ध हैं, ज़ (ष् का अघोष रूप', ज्ह तथा मूर्द्धन्य 'ज' नहीं।

(५) अन्य भारतीय आर्य भाषाओं की तरह शिणा (तथा अन्य दरद बोलियों) में 'ट', 'ड', 'ड़' मूर्द्धन्य व्यंजन ध्वनियाँ मिलती हैं; कश्मीरी में 'ड़' केवल ग्रामीण बोली में परिनिष्ठित कश्मीरी में 'र' के स्थान पर प्रयुक्त होता है।

(६) शिणा में अर्द्ध-स्वर 'य' की स्थिति काफी दुर्बल और ह्रस्व 'ए' के निकट है। कश्मीरी के 'य' की स्थिति दृढ़ है।

(७) कश्मीरी और दरद बोलियों में ध्वनि-परिवर्तन की दिशाएं भी एक-सी नहीं हैं। संस्कृत 'श', 'ष', 'स' कश्मीरी में प्रायः 'ह' में परिवर्तित हो जाते हैं; किन्तु दरद भाषाओं में सुरक्षित रहते हैं। 'संस्कृत 'त्र' का शिणा में 'च़' हो जाता है, जबकि कश्मीरी में वह प्रायः सुरक्षित रहता है। संस्कृत 'द्र' का शिणा में 'ज़' हो जाता है, किन्तु कश्मीरी में 'द्र' का 'द' प्रायः सुरक्षित रहता है। संस्कृत 'भ्र' भी शिणा में 'ज़' में परिवर्तित होता है, किंतु कश्मीरी में नहीं। शिणा में अन्य नव्य भारतीय आर्य भाषाओं की भांति संस्कृत 'व' प्रायः 'ब' में बदल जाता है। किंतु कश्मीरी में 'व' की स्थिति सुदृढ़ है। अन्त्य 'ब' शिणा में 'प' की भाँति और 'द' (ध) 'त' की भांति उच्चरित होता है।

(८) शिणा में पूर्वकालिक कृदन्त तथा भाववाचक संज्ञाओं में जिसके अन्त में 'आर' अथवा 'अर' हो, निम्न उठ रही तान का प्रयोग होता है, कश्मीरी में इस प्रकार की कोई ध्वन्यात्मक विशेषता नहीं।

रूप-रचना की दृष्टि से तो कश्मीरी और दरद भाषाओं में विशेष अन्तर है,

उदाहरणतया :

(१) शिणा के उत्तम पुरुष तथा मध्यम पुरुष सर्वनामों के बहुवचन पर कश्मीरी का प्रभाव है। प्रश्नवाचक 'को', 'के' को छोड़कर शिणा और कश्मीरी के शेष सर्वनामों में काफी अन्तर है। सबसे उल्लेखनीय है शिणा में अनिश्चय-वाचक तथा सम्बन्धवाचक सर्वनामों का अनस्तित्व। इनके स्थान पर प्रश्नवाचक सर्वनामों का प्रयोग होता है या कभी-कभी संकेतवाचक सर्वनामों का। कश्मीरी में अनिश्चयवाचक और सम्बन्धवाचक सर्वनामों का पृथक् अस्तित्व है।

(२) कश्मीरी में विशेषण विशेष्य के लिंग, वचन, कारक के अनुरूप होते हैं। शिणा में लिंग और वचन की अनुरूपता है, किन्तु कारक की नहीं।

(३) क्रमसंख्यावाचक विशेषण कश्मीरी में 'म' प्रत्यय लगाकर बनते हैं, शिणा में पुल्लिग में 'ओ' तथा स्त्रीलिंग में 'यँ' प्रत्यय जोड़े जाते हैं। पूर्ण संख्या-वाचकों में शिणा में बीस के बाद के अंक 'ग' संयोजक अव्यय जोड़ने से बनते हैं, यथा 'बी ग एक (इक्कीस) 'बी ग दई' (बीस और दस अर्थात् तीस), दिब्यो (दो बीस अर्थात् चालीस) आदि। कश्मीरी पूर्ण संख्यावाचक विशेषणों में हिन्दी आदि नव्य भारतीय आर्य भाषाओं की भांति 'इक्कीस' के लिए 'अक'वुह' तीस के लिए 'त्रृह', 'चालीस' के लिए 'चतजी' आदि प्रयोग चलते हैं।

(४) शिणा में कर्मकारक के दो प्रकारों का प्रयोग होता है। एक सामान्य और दूसरा मारने या पीटने (हाथ, छड़ी, चाकू आदि से) की क्रियाओं के साथ प्रयुक्त। इसे 'द्वितीय कर्मकारक' कहा जा सकता है। प्रथम कर्मकारक मारने-पीटने की क्रियाओं के साथ व्यवहृत नहीं होता। कश्मीरी में अन्य भारतीय भाषाओं की भांति एक ही कर्मकारक है।

(५) हिन्दी, पंजाबी आदि की तरह कश्मीरी में भी कर्तृवाचक संज्ञा पुल्लिग में 'वोल' (=वाला) लगाकर बनती है। स्त्रीलिंग में वाज्येँन (=वाली) का प्रयोग होता है। लेकिन दरद बोलियों में ऐसा नहीं होता। शिणा में इसके लिए सहायक क्रिया का प्रयोग होता है। कर्तृवाची संज्ञा बनाने के लिए शिणा में 'साती' (=साथ, सहित) का भी प्रयोग होता है।

(६) शिणा में अधिकांश क्रियाएं 'थोइकि' (=करना), बोइकि (=होना) और 'दोइकि' (=देना) लगाकर बनाई जाती हैं। सकर्मक क्रियाओं में 'थोइकि' और अकर्मक क्रियाओं में 'बोइकि' का प्रयोग होता है। कश्मीरी में इनकी समाना-र्थक 'करुन', 'आसुन' और 'द्युन' क्रियाओं का इस प्रकार और इतना व्यापक प्रयोग नहीं होता।

(७) सार्वनामिक प्रत्ययों का कश्मीरी की तुलना में बहुत कम प्रयोग शिणा में होता है। कश्मीरी में सिंधी की भांति सार्वनामिक प्रत्यय काफी विकसित हैं।

(८) कश्मीरी की 'छ'-वर्गीय सहायक क्रिया के रूप शिणा आदि दरद बोलियों

में नहीं मिलते। शिणा में इसके स्थान पर हिन्दी 'हूँ', 'है', 'हैं' के समान ही 'हानुस', 'हान', 'हानु' आदि सहायक क्रियाएं प्रयुक्त होती हैं।

(९) शिणा में किसी क्रिया के भाव को प्रकट करने के लिए क्रिया + संज्ञा अथवा क्रिया + विशेषण का प्रयोग करना पड़ता है। यह बात हिन्दी, पंजाबी आदि जैसी भारतीय आर्य भाषाओं में भी पायी जाती है, किन्तु कश्मीरी में यह अपेक्षाकृत कम प्रचलित है।

(१०) इन असमानताओं के अतिरिक्त कारक-रूपों तथा काल रचना आदि की दृष्टि से भी कश्मीरी और दरद भाषाओं में अन्तर है।

ऊपर के विश्लेषण से स्पष्ट है कि पैशाची-दरद-ईरानी का कश्मीरी के साथ जो समीकरण प्रस्तुत किया जाता है, वह भाषा वैज्ञानिक निकष पर खरा नहीं उतरता। इस संभावना से इनकार नहीं किया जा सकता कि कश्मीरी में कुछ दरद शब्द उधार लिये गए हों, पर केवल इसी आधार पर उसे दरद भाषा नहीं माना जा सकता, न भारतीय आर्य भाषा परिवार से उसे बहिष्कृत ही किया जा सकता है।

कश्मीरी : भारतीय आर्य-भाषा परिवार में स्थान

भारतीय आर्य भाषा परिवार में कश्मीरी को कई दृष्टियों से एक विशिष्ट भाषा माना जा सकता है। इस विशिष्टता का एक पक्ष तो यह है ही कि इसमें छान्दस से तो लेकर पाली-प्राकृत तक की अनेक भाषिक परतें स्पष्ट दृष्टिगोचर होती हैं, साथ ही अन्य भारतीय आर्य भाषाओं की विकास-दिशाओं को स्पष्ट करने में इसका भाषा वैज्ञानिक अध्ययन बहुत सहायक सिद्ध हो सकता है। किसी भाषा की स्थिति के सम्बन्ध में शब्दावली पूर्णतया निर्णायक नहीं होती पर सामान्य व्यवहार में आने वाली शब्दावली कश्मीरी की भारतीय-आर्य प्रकृति को स्पष्टतया प्रतिबिम्बित अतः प्रमाणित करती है। शरीर के अवयवों, निकट के सम्बन्धियों, दैनिक व्यवहार से सम्बन्धित वस्तुओं तथा सामान्य पशु-पक्षियों और कृमि-कीटों, किसी को भी लिया जाए, कश्मीरी में उनके लिए प्रयुक्त शब्द संस्कृत अथवा प्राचीन भारतीय आर्य भाषा से विकसित हैं—मनुष्य के कपाल से लेकर केंचुए तक के लिए। इसे केवल संस्कृत का गहरा प्रभाव कहकर टाला नहीं जा सकता, क्योंकि इस प्रकार के शब्दों के उधार लिये जाने की गुंजाइश बहुत कम है।

संस्कृत और कश्मीरी में यह जो असामान्य समानता है, वह केवल शब्दावली तक ही सीमित नहीं है; ध्वन्यात्मक विशेषताओं और रूप-संघटना की दृष्टि से भी कश्मीरी को संस्कृत से दाय में बहुत कुछ प्राप्त हुआ है। यह ठीक है कि कश्मीरी में कुछ स्वर और कुछ व्यंजन-ध्वनियां अन्य नव्य भारतीय आर्य भाषाओं से अधिक हैं, पर जैसा प्रारम्भ में इंगित किया गया है, ये ध्वनियाँ संभवतः मूल भारोपीय

भाषा से ही चली आई हैं। अन्द नव्य भारतीय आर्य भाषाओं की तुलना में कश्मीरी शब्द-रूपों में प्राचीन भारतीय आर्यभाषा की अनेक ध्वनियाँ प्रायः सुरक्षित मिलती हैं : 'तोर', 'तोमुल', 'प्रंग', 'प्रिच्छ़' आदि कश्मीरी शब्दों की व्युत्पत्ति के सन्दर्भ में डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा ने इस बात को स्पष्ट किया है।

कश्मीरी संख्यावाचक शब्द आश्चर्यजनक रूप से प्राचीनता की परतों को सहेजे हुए हैं, जबकि ग्रियर्सन उन्हें पैशाची से विकसित ठहराते हैं। नव्य भारतीय आर्यभाषाओं में केवल कश्मीरी ने ही संख्यावाचकों में संस्कृत 'द्वि' को 'दु' के रूप में सुरक्षित रखा है—जैसे दुहा'ठ (संस्कृत 'द्वाशष्ठि', पाली 'द्वास्सठी', प्राकृत 'बासट्ठी', हिन्दी 'बासठ'), 'दुसतथ' (सं० 'द्विसप्तति', पा० 'द्वासत्तति', हिन्दी 'बहत्तर'), 'दुनमथ' (सं० द्वानवति, हि० बानवे)। प्राकृत सहित अन्य सभी भारतीय आर्यभाषाओं में द > ब हो जाता है। कश्मीरी 'शुनमथ' में सं०षण्णवति की ऊष्म ध्वनि सुरक्षित है जबकि अन्य भारतीय आर्यभाषाओं में ब > छ हो गया है। इस संख्यावाचक शब्द में भारतीय आर्यभाषाओं में 'अ' के स्थान पर 'आ', का प्रवेश हो गया है, किन्तु कश्मीरी में मूल संस्कृत की 'अ' ध्वनि बनी हुई है। 'सतथ' (=सत्तर) में भी कश्मीरी, डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा के शब्दों में, "संस्कृत-पाली योजना" के निकट है न कि प्राकृत के जिसमें 'त' 'र' में परिवर्तित हो गया है। अन्य भारतीय भाषाओं में भी त>र मिलता है—प्रा० सत्तरि नेपाली, सिंहली 'सत्तरि', बंगला, हिन्दी, पंजाबी, मराठी 'सत्तर'।

कश्मीरी 'द'ह' (मुस्लिम कश्मीरी 'दाह') तथा 'हथ', जो सं० 'दश' और 'शत' के पर्याय हैं, को लेकर ग्रियर्सन ने एकदम कश्मीरी के ईरानी (उनके शब्दों में 'पैशाची') होने की घोषणा तो कर दी पर वे ये भूल गए कि 'दश' का 'दह' प्राकृत में भी होता है (उदाहरणार्थ दशमुखो > दहमुहो) और मराठी में भी 'दहा' शब्द मिलता है। इसके विपरीत अधिकांश दरद भाषाओं में सं० 'दश' का 'दश' रूप ही मिलता है—कलश 'दश', ग्वरबती 'दश', गरवी 'दश', तोरवाली 'दश', शिणा 'दइ', मैंया 'दश'। इसी भांति कश्मीरी में 'सौ' के लिए 'हथ' और(सात सौ से ऊपर की संख्याओं के लिए 'शत' (थ) दोनों का प्रयोग होता है जबकि दरद भाषाओं में 'श' प्रायः सुरक्षित रहता है अथवा हिन्दी आदि भाषाओं की भांति उसका 'स' हो जाता है।

रूप-संघटना की दृष्टि से भी कश्मीरी प्राचीन भारतीय आर्यभाषा से अपने विकास को प्रकट करती है। कश्मीरी सर्वनाम विशेष रूप से इस विकास-दिशा की ओर इंगित करते हैं। कश्मीरी संज्ञारूप बहुत कुछ संस्कृत विभक्तियों के अवशेषों का परिचय देते हैं। उदाहरणार्थ पुल्लिग संज्ञाओं में करण कारक की विभक्ति 'अ', संस्कृत 'एन', 'एण' से विकसित है—चू़रन<सं० चौरेण। इसी प्रकार कर्म और सम्प्रदान में विभक्तिक प्रत्यय 'अस्'> सं० 'अस्य'> पा० 'अस्स' का अवशेष है।

यद्यपि इन भाषाओं में इसका प्रयोग संबन्धकारक के रूप में होता है। अधिकरण की विभक्ति 'इ' है जो सं० 'इ' अथवा 'ए' का ही रूप है—कश्मीरी 'वति', संस्कृत 'पथि'(=रास्ते में)। बहुवचन में करणकारक की विभक्ति 'अव' वैदिक 'एभिः' से निःसृत है—च़ूरव < सं० चौरेभिः। कर्मकारक की बहुवचन की विभक्ति 'अन' सं० 'आणाम्' से विकसित मानी जा सकती है। इसी प्रकार ईकारान्त स्त्रीलिंग शब्दों में करणकारक एकवचन की विभक्ति 'य' सं० 'या' का अवशेष है—दीवियि < सं० देव्याः। बहुवचन में कर्मकारक की विभक्ति 'यि' सं० इ का विकास है तथा करणकारक की विभक्ति 'यन्' सं० 'ईभिः' का—दीविय < सं० देविः, दीवियव < सं० देवीभिः।

अधिकांश कश्मीरी क्रियाएं संस्कृत धातुओं से विकसित हैं। बूह्लर के अनुसार कश्मीरी क्रियारूप क्रिया की धातु से संस्कृत के अनुसार ही विकसित होते हैं, "कश्मीरी के द्वारा उनकी स्थिति स्पष्ट नहीं की जा सकती।" यह स्थिति कश्मीरी क्रियापदों को काल-रचना में सर्वत्र मिलती है। कश्मीरी पूर्वकालिक कृदन्त 'इत्(थ्)' स० 'त्वा' के अवशेष को सुरक्षित रखे हुए है। कश्मीरी क्रियार्थक संज्ञा 'उन्' का विकास सं० 'अनं' अथवा 'अणं' से माना जा सकता है—सं० 'मरणं' > क० 'मरुन' स० वपणं > क० 'ववुन', सं० तरणं > क० तरुन, सं० पेषणं > क० 'पिहुन' इत्यादि। कश्मीरी क्रियाविशेषण और संयोजक अवयव भी एकदम संस्कृत की प्राचीन गन्ध लिये हुए है।

कश्मीरी और अन्य नव्य भारतीय आर्य भाषाएं : समानता के सूत्र

इस सारी विवेचना से इतना तो साफ हो ही जाता है कि कश्मीरी का प्राचीन भारतीय आर्यभाषा से निकट का सम्बन्ध है। इस नैकट्य को दृष्टि-वृत्त में लाना आवश्यक है। ग्रियर्सन का कथन कि कश्मीरी का ध्वन्यात्मक विकास अन्य भारतीय आर्यभाषाओं से नितान्त भिन्न दिशाएं ग्रहण करता है, भ्रामक अर्द्ध-सत्य है। कश्मीरी जैसा कि ऊपर स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है, संस्कृत-पाली के कई ध्वनि-तत्त्वों को सुरक्षित रखे हुए है और कुछ उसकी अपनी ध्वन्यात्मक विशेषताएं भी हैं, पर अन्य भारतीय आर्यभाषाओं से इस दृष्टि से भी उसकी अनेक समानताएं हैं। कश्मीरी में पंजाबी और सिंधी की तरह स्वरों का क्षतिपूर्ति-दीर्घीकरण प्रायः नहीं होता। सघोष महाप्राण 'घ', 'ध', 'भ', 'झ' व्यंजनों के अल्पप्राणीकरण की प्रवृत्ति कश्मीरी में मिलती है, पर इसे सिन्धी, राजस्थानी आदि में भी देखा जा सकता है और सिंहली में भी।

जहां तक रूप-रचना का सम्बन्ध है कश्मीरी और अन्य भारतीय आर्यभाषाओं में समानता के कई बिन्दु हैं। कर्मकारक बहुवचन के रूप कश्मीरी में, जैसा पहले बताया गया है, 'न्' अथवा 'अन्' विभक्तिक प्रत्यय लगाकर बनते हैं। हिन्दी की

बोलियों में भी विकारी रूप के साथ इस कारक में 'अन' का प्रयोग होता है, यथा 'सखियन को', 'लोगन को' आदि। गुजराती में 'ने' और पंजाबी में 'नूं' का प्रयोग होता है। करणकारक के लिए भी कश्मीरी में सं० 'एण' से व्युत्पन्न विभक्तिक प्रत्यय 'अन' ही है, जो हिन्दी में 'ने', मराठी में 'ने' या 'एं' के रूप में प्रयुक्त होता है। अधिकरण कारक का परसर्ग 'मंज़' (< प्रा० मज्झ < सं० मध्य), हिन्दी 'में' की याद दिलाता है। इसी भांति 'प्यठ' की हिन्दी 'पर' और 'तलु' की हिन्दी 'तले' और पंजाबी 'थले' से समानता द्रष्टव्य है। सम्बन्ध कारक में हिन्दी 'का' 'के' 'की' तथा मराठी 'च्या' 'चीं' की कश्मीरी 'उक', 'इक्य' और 'इच्य' से समानता देखी जा सकती है। इसी कारक के लिए पुल्लिग 'सुन्द' और 'हुन्द' का प्रयोग होता है, जबकि पंजाबी में 'हुन्दा' और सन्दा' मिलते हैं और सिंधी में 'सन्दो'। इसी कारक के लिए कश्मीरी में मनुष्यों के संदर्भ में 'उन' विभक्तिक प्रत्यय का व्यवहार होता है ('उक्' अप्राणियों और वस्तुओं के साथ प्रयुक्त होता है)। इसके समानान्तर गुजराती में 'नो' मिलता है। कहा जा सकता है कि नव्य भारतीय आर्यभाषाओं में कारक-परसर्गों के अनेक रूप कश्मीरी में विभक्तिक प्रत्ययों अथवा परसर्गों के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। कश्मीरी और सिन्धी में रूप-संघटना विषयक एक और समानता है और वह है दोनों भाषाओं में सार्वनामिक प्रत्ययों का प्रयोग।

क्रियार्थक संज्ञा बनाने के लिए कश्मीरी में 'उन्' प्रत्यय मूल क्रिया के साथ जोड़ा जाता है। सिंधी में 'अण', मराठी 'णें' राजस्थानी 'णे', गढ़वाली 'अणू', हिंदी 'ना' के साथ इसका साम्य स्पष्ट देखा जा सकता है। कश्मीरी की छ-वर्गीय सहायक क्रिया अनेक भारतीय आर्यभाषाओं से उसका सम्बन्ध-सूत्र जोड़ती है, जिनमें उड़िया बंगला, मैथिली, कुमांऊंनी, गढ़वाली, पूर्वी-राजस्थानी, गुजराती आदि सम्मिलित हैं। कश्मीरी में इसका प्रयोग केवल वर्तमान काल के लिए होता है। कश्मीरी भूत-कालिक सहायक क्रिया के 'अस्' से विकसित रूप मराठी में भी देखने को मिलते हैं।

कश्मीरी और इब्रानी

कश्मीरी भाषा की व्युत्पत्ति और विकास के बारे में कुछ लोगों का यह मत है कि यह इब्रानी यानी हिब्रू से निकली है। इसके समर्थन में जो तर्क प्रस्तुत किए गए हैं, वे एकदम ऊलजुलूल लगते हैं। मसलन् यह कहा जाता है कि कश्मीरी में नाम के आगे 'जू' लगाने की प्रथा है, अत: कश्मीर के लोग 'जिव' (Jew)यानी यहूदी नस्ल के हैं। इन लोगों को यह ज्ञात नहीं कि 'जी' के अर्थ में आदरसूचक 'जू' का प्रयोग हिन्दी क्षेत्र में व्यापकता से होता है। फिर कौन यहूदी अपने नाम के आगे 'जिव' (Jew) लगाता है ?

इसी तरह यह कहा जाता है कि कश्मीरी स्थानवाची परसर्ग 'होम' यहूदियों के खोये कबीले की कश्मीर में बस जाने की स्मृति लिये हुए हैं—लोगों ने जहां भी

अपनी बस्तियां बसाईं उस स्थान के आगे 'होम' जोड़ दिया। तथ्य यह है कि यह परसर्ग सं० 'आश्रम' से निकला है। मुसलमानों के आगमन के बाद अरबी के कुछ शब्द कश्मीरी में आ गये—इन्हें भी कश्मीरी के इब्रानी से विकसित होने के सबूत के रूप में पेश किया गया। ध्वनि-साम्य के आधार पर भी कुछ शब्दों को इब्रानी-मूल का कहा जाता है। कहना न होगा कि इस प्रकार के तर्क भाषा विज्ञान पर आधारित नहीं, न इतिहास द्वारा समर्थित हैं। दरअसल इनके पीछे अनुसंधान की भावना काम नहीं करती—जैसे-तैसे कश्मीरी को आर्य परिवार से सम्बन्ध न रखने वाली भाषा साबित करने का हठ है। कश्मीरी और इब्रानी का जबड़जोड़ बिठाने वाले इन लोगों में अग्रणी हैं मुहोउद्दीन हाजिनी जो पाली अथवा संस्कृत शब्दों का उच्चारण तक नहीं जानते, पर वे कभी यह ज़िद करते हैं कि कश्मीरी यहूदियों की भाषा से विकसित है, तो कभी कश्मीर कें आदिवासी नागों का नागालैण्ड के वासियों से सम्बन्ध जोड़कर तुक्का मारते हैं कि उन्हीं की भाषा से कश्मीरी निकली है।[१७] कठिनाई तो यह है कि इस प्रकार की बेबुनियाद बातों को गम्भीर शोध के रूप में लिया जाने लगा है।

कश्मीरी भाषा : विकास का लिखित साक्ष्य

किस युग विशेष में कश्मीरी भाषा का अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व विकसित हुआ, इस पर प्रकाश डालने के लिए पर्याप्त सामग्री आज उपलब्ध नहीं है। कश्मीर के जयन्त भट्ट द्वारा लिखित ९वीं शताब्दी की एक नाट्यकृति उपलब्ध हुई है 'आगमडम्बर' (जिसे डॉ० राघवन और प्रो० अनंतलाल ठाकुर ने सम्पादित किया है) जिसमें संस्कृत के साथ-साथ प्राकृत का भी प्रयोग है। कुछेक स्थलों पर समानता की प्रतीति के बावजूद (जैसे, बालिए वण्णेहिं', सं० 'बालिके' वर्णय', आधुनिक कश्मीरी 'बा'लिए वन', 'बिइए', सं० 'द्वितीय', आधुनिक कश्मीरी 'बे'यि', 'मए', सं० 'मया', आधुनिक कश्मीरी म्यें" आदि), इस प्राकृत से कश्मीरी का सम्बन्ध नहीं। दसवीं शताब्दी के महान् दार्शनिक और सौंदर्यशास्त्री अभिनवगुप्त के 'तंत्रसार' में प्राकृत के तैंतीस पद्य मिलते हैं जो कहीं-कहीं १३वीं शताब्दी की कश्मीरी कृति 'महानय प्रकाश' की भाषा से साम्य रखते प्रतीत होते हैं, पर 'होहि', 'दिक्खइ' 'जं', 'जो' जैसे अनेक प्रयोग सिद्ध करते हैं कि उसकी भाषिक प्रकृतियां—ध्वन्यात्मक और रूपात्मक—कश्मीरी से मेल नहीं खातीं। इसी आधार पर महेश्वरानन्द की 'महार्थ मंजरी' की प्राकृत को भी वह भाषा नहीं माना जा सकता जिससे कश्मीरी का विकास हुआ है। बूह्लर ने रानी दिद्दा के समय (९८०-१००० ई०) के एक शिलालेख का उल्लेख किया है। लाहौर संग्रहालय में रखे इस शिलालेख को बहुत समय तक कश्मीरी भाषा का लिखित साक्ष्य माना जाता रहा।[२१] लेकिन आगे चलकर स्वयं बूह्लर ने स्पष्ट किया कि ग़लती से इससे

संलग्न पत्र में इसे कश्मीरी कहा गया है जबकि यह संस्कृत में है।[22]

कश्मीर सरकार के शोध विभाग (रिसर्च डिपार्टमेंट) की ओर से प्रो० जगद्धर जाडू के सम्पादन में प्रकाशित 'उड्डामरेश्वर तंत्र' में, जो संभवतः इसी काल का है, एक डाकिनी मंत्र मिलता है : "दमन सर्वलंग एभिलिस मंज वन्ध निशि नागपाश।" इस मंत्र का ठीक अर्थ क्या है यह समझ में नहीं आता, पर इसमें प्रयुक्त कुछ शब्द कश्मीरी के लगते हैं।

ग्यारहवीं शताब्दी में क्षेमेन्द्र ने अपनी कृतियों में 'देश भाषा' के अस्तित्व की ओर संकेत किया है। बिल्हण ने भी अपनी जन्मभूमि की उन स्त्रियों का उल्लेख किया है जो मातृभाषा के साथ-साथ संस्कृत और प्राकृत बोल लेती थीं। जाहिर है कि दोनों का इशारा कश्मीरी की ओर है।

छुम्म सम्प्रदाय के सूत्रों की भाषा

कश्मीरी भाषा का पहला लिखित साक्ष्य 'छुम्म सम्प्रदाय' शीर्षक पांडुलिपि के ७० सूत्रों और उनकी व्याख्या-वर्तिका में देखा जा सकता है। यह पाँडुलिपि कश्मीर के शोध और प्रकाशन विभाग (रिसर्च एंड पब्लिकेशन्स डिपार्टमेंट) में रखी हुई है। इसके कुछ अंश छापे भी गये हैं। संभवतः इसकी रचना १०वीं-११वीं शताब्दी में हुई थी। इसमें एक तांत्रिक—हठयोगी सम्प्रदाय की साधना-पद्धति की व्याख्या की गयी है। 'कश्मीरी' का प्रयोग बीच-बीच में व्याख्या-वर्तिका के रूप में हुआ है, सर्वत्र नहीं। व्याख्या के पद्यों की भाषा अपभ्रंश की-सी भंगिमा लिये हुए हैं। इसमें कश्मीरी की वे ध्वन्यात्मक और रूपात्मक विशेषताएँ दृष्टि-गोचर होती हैं जो आगे चलकर 'महानय प्रकाश', 'बाणासुर कथा' और 'सुख-दुःख-चरित्' में अधिक स्पष्ट रूप धारण करती हैं। ये पद्य साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं कि कश्मीरी अपने विकास के क्रम में प्राकृत-अपभ्रंश की अवस्था से भी गुज़री है।

राजतरंगिणी के वाक्यांश

छुम्म-सम्प्रदाय के सूत्रों के बाद बारहवीं शती में इतिहासकार कल्हण की 'राज-तरंगिणी' में कश्मीरी का एक वाक्यांश मिलता है—"रंगस हेलु दिण्णा" (अर्थात् रंग नाम के व्यक्ति को हेलु ग्राम दिया गया)।[23] अब्दुल अहद आज़ाद दो अन्य कश्मीरी वाक्यांशों का उदाहरण देते हैं। ये हैं : "हर्ष दीवस ह्यू (अर्थात् हर्षदेव जैसा) तथा "स्नानपट ति छुय ना" (अर्थात्—तुम्हारे पास स्नानपट यात्री लंगोट भी नहीं है क्या ?)।[24] इन वाक्यांशों में कश्मीरी भाषा की तत्कालीन स्थिति के संकेत मिलते हैं। इसके बाद का आलेख "महानय प्रकाश" है।

महानय प्रकाश की 'सर्वगोचर देश भाषा'

"महानय प्रकाश" १३वीं शती की एक कृति है जिसमें इसके रचयिता शितिकण्ठ के शब्दों में 'सर्वगोचर देशभाषा' में नुति रची गयी है—"अथोचित रुचितां नुतिं सर्व गोचरया देश भाषया विचारयितुमाह।"[२५] यहाँ 'देश भाषा' शब्द विशेष रूप से ध्यातव्य है। आगे चलकर 'बाणासुरकथा' के लेखक अवतार भट्ट भी अपनी भाषा को 'देश्य' कहते हैं। वस्तुतः नववीं शताब्दी से ही प्राकृत-अपभ्रंश के ग्रंथकार 'देशी भाषा' का प्रयोग अपनी कृतियों में प्रयुक्त स्थानीय भाषा या बोली के लिए करते आये हैं। पाद लिप्त ने 'तरंगावई कहा' की प्राकृत को 'देसीवयण' कहा है।[२६] 'पउमचरिउ' के रचयिता स्वयंभू'[२७], महापुराणकार पुष्पदन्त,[२८] पासनाह चरिउ के लेखक पद्मदेव[२९] और नेमिनाह चरिउ के कृतिकार लक्ष्मणदेव[३०] ने अपनी-अपनी कृतियों की भाषा को 'देसी' कहा है। 'लीलावई कहा' की महाराष्ट्री प्राकृत भी उसके रचयिता को ऊहल के शब्दों में 'देशी भाषा' ही है।[३१] इसी प्रकार तेरहवीं शताब्दी के महाराष्ट्री के कवि ज्ञानेश्वर भी अपनी भाषा को 'देशी' मानते हैं।[३२] इस संदर्भ में डॉ० तगारे का मत उद्धरणीय है कि 'देशी भाषा' सामान्यतया प्रान्त विशेष में बोली जाने वाली भाषा को कहा जा सकता है, वह चाहे महारष्ट्री हो, प्राकृत हो अथवा अपभ्रंश या फिर कोई नव्य भारतीय आर्य भाषा ही क्यों न हो।[३३] 'अट्ठारस देसभासा' का उल्लेख 'कुवलयमाल कहा', 'राज प्रश्नीय सूत्र', 'औपपातिक सूत्र', 'विवाक सूत्र' आदि में मिलता है। कश्मीरी भी निश्चय से उनमें से एक थी, और शितिकण्ठ द्वारा प्रयुक्त 'देश भाषा' शब्द का यही अर्थ लिया जा सकता है। उनकी कृति 'महानय प्रकाश' तत्कालीन कश्मीरी की भाषिक स्थिति को द्योतित करती है है। प्रो० पुष्प और डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या इसे १३वीं शताब्दी की मानते हैं, जबकि ग्रियर्सन इसे १५वीं शताब्दी में खींच ले जाते हैं। वास्तव में "महानय प्रकाश" का भाषिक स्तर काफी पुराना मालूम पड़ता है और इसे तेरहवीं शताब्दी के आस-पास रचित माना जा सकता है। 'महानय प्रकाश' की भाषा कश्मीरी के प्रारंभिक विकास के अन्वेषण के लिए बहुत महत्व रखती है। उससे यह संकेत मिलता है कि प्राचीन भारतीय आर्यभाषा से कश्मीरी का विकास स्वतंत्र रूप से हुआ है। उसे वैयाकरणों द्वारा लक्षित प्राकृत-अप्रभ्रंश के सुपरिचित भेदों के अंतर्गत नहीं रखा जा सकता। 'महानय प्रकाश' के विषय में विस्तार से चर्चा आगे की जायेगी। यहाँ इतना अभिप्रेत है कि यह ग्रन्थ कश्मीरी को उस अवस्था में दर्शाता है जब वह प्राकृत-अपभ्रंश की झिल्ली से बाहर आने को थी। एक उदाहरण—

देवत अक्क किशी परुराजि
जग घस्मरु भैरु भक्षेत।

नन्त शत्त गासक नेराजि
शमवाञी आशय तक्षेत ॥१।३॥

ग्रियर्सन ने इसकी भाषिक प्रवृत्तियों का 'दि लैंग्वेज ऑफ महानय प्रकाश' में विस्तृत विवेचन करते हुए निष्कर्षित किया है कि इसमें प्रयुक्त शब्दावली शुद्ध रूप से भारतीय आर्य है।

लल्लेश्वरी के वाक्

शितिकण्ठ के 'महानय प्रकाश' के बाद १४वीं शताब्दी की महान कवयित्री लल्लेश्वरी के 'वाखों' अर्थात पदों में कश्मीरी काव्य की पहली धड़कन सुनाई पड़ती है। लल्लेश्वरी की भाषा को 'पुरानी कश्मीरी' का नाम दिया जाता है, पर उनके 'वाखों' का वास्तविक स्वरूप कदापि वह नहीं हो सकता जिसमें वे आज उपलब्ध हैं। यह स्वरूप क्या था इसे आलोकित करने को आज कोई आधार हमारे पास नहीं है, पर १५वीं शताब्दी की कृति 'बाणासुर कथा' से एक शताब्दी पुराना तो वह था ही। अपने वर्तमान रूप में इन पदों का भाषा-स्तर बहुत आगे का है—आधुनिक कश्मीरी के काफी निकट। कारण यह है कि ये पद श्रुति-परम्परा से पीढ़ी-दर-पीढ़ी चले आये हैं। हर पीढ़ी अनजाने में इन पर अपने भाषिक प्रभाव लादती रही है, जिससे आज इनका मौलिक रूप शताब्दियों की भाषिक परतों के नीचे दब गया है। परिवर्तन की यह प्रक्रिया इतनी सूक्ष्म और धीमी रही है कि वह कब शुरू हुई और समय के किन बिन्दुओं पर उसने नये रूप ग्रहण किये—इसका संधान आज संभव नहीं। लल्लेश्वरी का समय कश्मीर में मुस्लिम राजशक्ति के उदय का समय था, पर उनकी भाषा संस्कृत के अधिक निकट है, यद्यपि बाद में कुछ प्रक्षिप्त पदों में अरबी और फारसी के कुछ शब्द भी आ गये हैं। १८वीं शताब्दी में राजानक भास्कराचार्य ने ६० वाखों का संस्कृत में अनुवाद किया—इन्हें लल्लेश्वरी के पदों का पहला लिपिबद्ध रूप माना जा सकता है। इन पदों की भाषा बाद में प्रक्षिप्त पदों की भाषा से स्पष्टतया बहुत प्राचीन है। रूपात्मक दृष्टि से यह भाषा यद्यपि 'महानय प्रकाश' और 'बाणासुर कथा' के काफी बाद की है, संस्कृत की तत्सम्-तद्भव शब्दावली ने इसे एक विशिष्ट भंगिमा प्रदान की है। साथ ही वह लोक जीवन से सीधी सम्पृक्ति के कारण जीवन्त भी लगती है। शायद यही कारण है कि कश्मीर की लोक-सांस्कृतिक परम्परा में इन पदों का विशिष्ट महत्व है। एक उदाहरण है—

रव मत थलि-थलि ता'पितन
ता'पितन उत्तम देश
वरुण मत लोक गर अ'चितन
शिव छुय क्रूठ ता'य च़े'न उपदेश

शेख नूरुद्दीन के 'श्लोक'

लल्लेश्वरी के पश्चात् कश्मीरी भाषा का अगला उपलब्ध आलेख १४वीं शताब्दी के ही उत्तरार्द्ध के लोकप्रतिष्ठित कवि शेख नूरुद्दीन के पदों को माना जा सकता है। 'रिशिनामा' के नाम से इस कवि-संत के शिष्यों द्वारा संकलित इन पदों की भाषा का रंग लल्लेश्वरी के 'वाखों' सा है। उनमें संस्कृत-मूल के शब्दों की बहुलता विशेष रूप से ध्यातव्य है, और ध्यातव्य है यह बात भी कि इन्हें 'श्लोक' की संज्ञा दी गयी है। शेख नूरुद्दीन ने कश्मीर में मुस्लिम 'ऋषि' परम्परा की स्थापना की थी, अतः इस्लामी संस्कृति से ग्रहीत शब्द भी उनकी भाषा में व्यवहृत हैं, पर ऐसे शब्दों की संख्या अधिक नहीं। शेख नूरुद्दीन के 'श्लोक' लिपिबद्ध रूप में अवश्य मिलते हैं, पर सबसे पहला 'ऋषिनामा' १६वीं शताब्दी से पूर्व संकलित नहीं हुआ था। अतः इनकी भी भाषा का वास्तविक रूप उससे काफी भिन्न रहा होगा जिसमें वे आज उपलब्ध हैं।

१५वीं शताब्दी में कश्मीरी की स्थिति और स्वरूप को अवतार भट्ट की 'बाणासुर कथा' और गणक प्रशस्त की 'सुख-दुख मोहमाया जाल-चरितं' कृतियों में देखा जा सकता है। इन दोनों के अध्ययन से भाषाशास्त्रीय दृष्टि से महत्वपूर्ण अनेक ऐसे तथ्य उपलब्ध होते हैं जिसे कश्मीरी के उद्गम और विकास की बेहद उलझी (और उलझायी गयी) गुत्थियों को समझने-सुलझाने में काफी सहायता मिलती है, और साथ ही पुरानी कश्मीरी का व्याकरणिक ढांचा भी बहुत कुछ स्पष्ट होता है।

१५वीं शती की भाषिक स्थिति

'बाणासुर कथा' प्रारम्भिक कश्मीरी काव्य की एक शीर्षस्थ उपलब्धि है। इतिहास के ऐसे संक्रमण युग में रचित जब कश्मीर का सांस्कृतिक क्षितिज ईरानी-पश्चिम एशियाई रंगों में रंगा जा रहा था, यह कृति एक ऐसा दर्पण प्रस्तुत करती है जिसमें कश्मीरी भाषा को अपने विकास के उस क्रम में देखा जा सकता है जब वह प्राकृत अपभ्रंश की झिल्ली से बाहर निकल रही थी—या कह सकते हैं निकल चुकी थी। इस अवस्था को हम 'पुरानी कश्मीरी' का नाम दे सकते हैं। जैन-उल-आबिदीन का शासन काल (१४२०-१४७०), जिसमें इस काव्य-कृति की रचना हुई थी, कश्मीर में फारसी के अभ्युदय का काल था। फारसी कचहरी और दरबार में दृढ़ता से प्रतिष्ठित हो चुकी थी। कश्मीर में संस्कृत की यह अवसान बेला थी। फिर भी दो-एक शब्दों को छोड़कर इस काव्य-कृति में फारसी के शब्द प्रायः नहीं मिलते। इसका कारण यह नहीं कि कृति का विषय धर्म से सम्बन्धित है या यह कि स्वयं कवि संस्कृत का विद्वान था, अपितु यह कि तत्कालीन कश्मीर के जन-

साधारण की मातृ-भाषा पर अभी फारसी का विशेष प्रभाव नहीं पड़ा था। १८वीं शताब्दी के कवि प्रकाशराम कुरिगामी अपनी रामायण में, जो स्पष्टतया एक धार्मिक काव्य है, फारसी शब्दों की भरमार करते हैं। इसके विपरीत 'वाणासुर कथा' की भाषिक संरचना में संस्कृत के तत्सम्-अर्द्धतत्सम् शब्दों का अंश सर्वाधिक है जिससे यह द्योतित होता है कि तत्कालीन कश्मीरी की स्थिति बहुत कुछ ऐसी ही थी। इस कृति में प्रयुक्त प्रायः हर शब्द का विकास प्राचीन भारतीय आर्य भाषा स्तर से नवीन भारतीय आर्य भाषा के प्रारम्भिक स्तर तक विभिन्न अवस्थाओं में देखा जा सकता है। कवि अवतार भट्ट ने इसकी भाषा को 'देश्य' कहा है—'देश्यो' अवतार भट्टे विरचोन रमणी आख्य···।" उनसे पूर्व शितिकण्ठ ने 'महानय प्रकाश' की भाषा को 'सर्वगोचर देश भाषा' कहा था। दोनों की अनेक ध्वन्यात्मक और रूपात्मक विशेषताएं एक-सी हैं, यद्यपि 'महानय प्रकाश' का भाषा-स्तर अपेक्षाकृत प्राचीन है—प्राकृत-अपभ्रंश रूप के काफी निकट— जबकि 'बाणासुर कथा' की भाषा में नव्य भारतीय आर्य भाषा के रूप में कश्मीरी का प्रारम्भिक स्वरूप निखर उठा है। इस काव्य कृति में ग्रामीण कश्मीरी के भी कुछ प्रयोग दृष्टिगोचर होते हैं जैसे 'प्राड' (प्रतीक्षा कर), 'खाड़ेत' (चढ़ाकर), (किधर), 'दपवान' (कहते हैं) आदि।

'बाणासुर कथा' की भाषिक प्रवृत्तियाँ, जैसा कि पहले संकेत किया गया है, गणक प्रशस्त के 'सुख-दुःख-मोह मायाजाल चरितम्' (संक्षेप में 'सुखदुःख चरित्') से, जिसकी रचना पन्द्रहवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में सुलतान हुसनशाह के समय (१४७२-८४ ई०) में हुई थी, काफी साम्य रखती हैं। पर वैद्यक, ज्योतिष्य आदि से सम्बन्ध रखने वाली दैनिक व्यवहार की शब्दावली का 'सुखदुःखचरित' में अपेक्षाकृत अधिक प्रयोग हुआ है। इस दृष्टि से वह बोलचाल की भाषा के अधिक निकट है। दोनों कृतियों में व्यवहृत अनेक शब्द आज की कश्मीरी में भी उन्हीं रूपों में अथवा थोड़े-बहुत परिवर्तित रूप में प्रचलित हैं। ऐसे शब्द प्रयोगों की संख्या भी बहुत है जो आज बिलकुल अप्रचलित और विस्मृत हैं। जैसे आज 'शीघ्र' के अर्थ में कोई 'जवे' का प्रयोग नहीं करता, न 'अत्यन्त' अथवा 'अत्यधिक' के लिए 'भुत' का। इसी प्रकार 'कङ्गत' (=किस प्रकार, कैसे), 'एङ्गत' (=ऐसे, इस प्रकार), या खेत (=जैसे), काखेत (=कैसे), 'कलेत', 'कलो' (= देखकर, देखा) जैसे प्रयोग वर्तमानकालीन साहित्यिक अथवा बोलचाल की कश्मीरी से सर्वथा विलुप्त हो गये हैं।

एक ही क्रिया के लिए अनेक समानार्थक शब्दों का प्रयोग 'वाणासुर कथा' की एक प्रमुख प्रवृत्ति है। 'कहता है' के अर्थ में प्रयुक्त 'वदिस', 'निगदिस', 'दप्पि', 'वाचि', 'गिरि', 'वनो' आदि शब्द इसका अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। 'सुखदःखचरित्' में भी 'वदि', 'वन्नो', 'दप्पि' आदि प्रयोग मिलते हैं। इनमें से

आज की कश्मीरी में 'दप्पि' और 'वनो' किंचित् परिवर्तन के साथ विभिन्न रूपों में प्रयुक्त होते हैं। 'सब' अथवा 'सारे', 'सभी' के लिए वर्तमानकालीन कश्मीरी शब्द है 'सा'री'; किन्तु 'बाणासुर कथा' और 'सुखदुखचरित्' में प्राकृत प्रभावापन्न 'सब्ब' का व्यवहार हुआ है, जो आज की कश्मीरी में 'कहीं' प्रयुक्त नहीं होता। 'सुन' के लिए व्यवहृत 'शुन' और 'भुज्ज' (उच्चरित रूप 'बुज़्ज़') में से केवल दूसरा 'बोज़' के रूप में प्रचलित है।

अनेक आधुनिक कश्मीरी शब्दों के पूर्वरूप इन कृतियों में उपलब्ध होते हैं, जिससे उनकी व्युत्पत्ति और विकास पर प्रकाश पड़ता है। कश्मीरी की सहायक और अस्तित्ववादी क्रिया 'छु' के रूप इन में क्षो, क्षि, क्षे आदि 'क्ष' वाले रूपों में मिलते हैं जिससे स्पष्ट हो जाता है कि यह सहायक क्रिया सं० 'क्षि' से विकसित हुई है। इसी भांति कालवाचक अव्यय 'ताव' अथवा 'ताम्' और 'याव', 'ताव' (<तावत्) और 'याव' (<यावत्) के रूप में मिलते हैं; जो संस्कृत मूल रूपों के अधिक निकट हैं। प्राकृत-अपभ्रंश रूप में आये अनेक शब्द आज अपने संस्कृत मूल के फिर से निकट पहुंच गये हैं। तत्सम् रूपों में पुनः परिवर्तित इन शब्दों में बाद में भी परिवर्तन हुए, पर उन नियमों के आधार पर नहीं जो प्राकृतों के युगमें प्रचलित थे।

'छुम्म सम्प्रदाय' के पद, 'महानय प्रकाश', 'बाणासुर कथा' तथा 'सुखदुख-चरित्' कश्मीरी भाषा के मध्यकालीन विकास को उसकी क्रमागत स्थितियों में प्रस्तुत करते हैं। 'महानय प्रकाश' की अनेक ध्वन्यात्मक और रूपात्मक विशेषाएँ 'बाणासुर कथा' और 'सुखदुःखचरित्' में उन्हीं या तनिक परिवर्तित रूपों में सुरक्षित हैं। उदाहरण के लिए कर्ताकारक स्त्रीलिंग एक वचन में-आ-—अ, ई—अ; अधिकरण एकवचन के रूपों में ए > अ, इ, मध्यम, 'च' का लोप और 'य' की श्रुति ⋌ —ठ>-ड, अन्त्य 'त' का 'लोप', 'द' का लोप और 'य' की श्रुति, —म> -व, -प्त, >त, न्+म् >म्म, द्य>ज्ज, ध्य>ज्ज, संयुक्ताक्षरों में 'रेफ', लोप की प्रवृत्ति, ऋ>इ, अ आदि ध्वन्यात्मक परिवर्तन इन सभी में समान रूप से मिलते हैं। इसी भांति रूप-रचना के क्षेत्र में भी कुछ साम्य है। करण-कारक पुल्लिग एकवचन की विभक्ति तीनों कृतियों में 'ए' है—यही विभक्ति अधिकरण पुल्लिग एकवचन के लिए भी प्रयुक्त हुई है, करण कारक स्त्रीलिंग एक वचन के अन्त्य 'आ' वाले प्रातिपदिकों के साथ 'इ' विभक्तिक प्रत्यय जोड़ा गया है। अपादान कारक पुल्लिग एक वचन के रूप 'अ'-अन्त्य प्रातिपादिकों में 'आ' प्रत्यय जोड़ने से बने हैं जो संस्कृत 'आत्' का घिसा हुआ रूप है। कतिपय सर्वनामों के रूप भी एक-से हैं : मि, वि, सु, सो, सा, ते, तेन, इह, यो, कु, कुसो इत्यादि। क्रियापदों में भी काफी समानता दृष्टिगोचर होती है। यद्यपि यह स्पष्ट हो जाता है कि 'महानय प्रकाश' का भाषा-स्तर अपेक्षाकृत प्राचीन और

प्राकृत अपभ्रंश रूप लिये हुए हैं, 'बाणासुर कथा' तथा 'सुख दुःखचरित्' की तुलना में उसका संहिति-प्रधान रूप ही अधिक उभरा है। 'बाणासुर कथा' में नव्य भारतीय आर्य भाषा कश्मीरी का प्रारम्भिक रूप निखरा हुआ है, जबकि 'सुख दुख-चरित्' उससे आगे का पदक्षेप है।

धर्मवर्ग पर आधारित बोली-भेद

सोलहवीं शताब्दी की कवयित्री हब्बाखातून और १८वीं शताब्दी की अरणिमाल ने कश्मीरी गीतकाव्य का पुनर्विकास किया; पर यहीं से कश्मीरी ने फारसी के छन्द-विधान को अपनाना शुरू किया। भाषा भी धीरे-धीरे संस्कृत रूपों को सुरक्षित रखनेवाली 'हिन्दू कश्मीरी' और फारसी के गहरे प्रभाव से युक्त 'मुस्लिम कश्मीरी' का रूप धारण करती जा रही थी। १९वीं शती के महमूद गामी की ग़ज़लें और परमानंद के 'राधा स्वयंर', 'सुदाम चरित्' और 'शिवलग्न' आदि काव्यों में इन दोनों भाषा-शैलियों के दो ध्रुवान्तों को देखा जा सकता है। आज भी ये भेद बने हुए हैं।

'मुस्लिम कश्मीरी' की विशेषता केवल फारसी शब्दों का बाहुल्य नहीं—संस्कृत-मूल के कुछ शब्द मुसलमानों में अधिक प्रचलित हैं और फारसी से गृहीत कुछ शब्दों का हिन्दू प्रयोग करते हैं। हिन्दुओं और मुसलमानों द्वारा बोली गयी बोलियों को कुछ उच्चारणगत अंतर भी पृथक् करते हैं। यह पार्थक्य केवल थोड़े शब्दों तक सीमित है, व्यापक नहीं।

संदर्भ-संकेत

१. डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या : लैंग्वेजिज़ एण्ड लिट्रेचर्स ऑफ मॉडर्न इण्डिया (कलकत्ता), पृ० २५६।
२. 'दि वैदिक एज' में ए० डी० पुलस्कर द्वारा अपने 'आर्यन सैट्लमैण्ट्स इन इण्डिया' शीर्षक निबन्ध के पृ० २४१ पर उद्धृत।
३. द्रष्टव्य—मोनियर विलियम्स : संस्कृत डिक्शनरी, पृ० ४८८, वा० ३०।
४. उषरिवत् : पृ० १९, वा० ३।
५. द्रष्टव्य—टर्नर : ए कम्पैरिटिव डिक्शनरी आफ मॉडर्न इण्डो-आर्यन लैंग्वेजिज़।
६. उपरिवत्।
७. उपरिवत्।
८. डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा : दि एण्टिक्विटीज़ आफ कश्मीरी—ऐन एप्रोच 'ट्रान्ज़ेक्शन्स आफ दि लिंग्विस्टिक सर्कल आफ इण्डिया का पुनर्मुद्रण, पृ० ४।
९. उपरिवत्।

१०. 'दि लाला रुख', अगस्त १९६७ : 'सम इम्पॉर्टेण्ट आस्पैक्ट्स ऑफ कश्मीरी एज़ ए लैंग्वेज, पृ० ५०।
११. ग्रियर्सन : लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इण्डिया (खण्ड ८, भाग २—१९६८, पुनर्मुद्रण, भूमिका, पृ० १।
१२. लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इण्डिया (खण्ड ८, भाग २) पृ० २४१।
१३. उपरिवत् : पृ० २४२।
१४. लैंग्वेजिज़ एण्ड लिट्रेचर्स ऑफ माडर्न इण्डिया, पृ० २५६।
१५. लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इण्डिया (खण्ड ८, भाग २)।
१६. उपरिवत् : भूमिका, पृ० ३।
१७. उपरिवत् : प० ८।
१८. ब्रजबिहारी काचरू द्वारा अपनी पुस्तक (माइमोग्राफ) 'ए रेफ़ेन्स ग्रैमर ऑफ कश्मीरी' में प० १५ पर उद्धृत।
१९. उपरिवत् : प० १५-१६ पर उद्धृत।
२०. द्रष्टव्य : मकालात—मुहीउद्दीन हाजिनी।
२१. डिटेल्ड रिपोर्ट ऑफ टूर इन सर्वे ऑफ संस्कृत मैन्युस्टिक्रप्स मेड इन कश्मीर, राजपुताना एण्ड सैण्ट्रल इण्डिया, प० ३१।
२२. उपरिवत् : पाद टिप्पणी; प० ३१।
२३. कल्हण : राजतरंगिणी ५/३९९।
२४. अब्दुल अहमद आज़ाद : कश्मीरी ज़वान और शायरी, भाग १, जम्मू व कश्मीर राज्य कल्चरल अकादमी द्वारा प्रकाशित : प० १८-१९।
२५. महानय प्रकाश : (जम्मू-कश्मीर राज्य रिसर्च डिपार्टमेण्ट) : सम्पादन—पं० मुकुन्दराम शास्त्री : प० ६।
२६. याकोबी : सनत्कुमार चरित् की भूमिका, प० १७ पर उद्धृत।
२७. दीह समास पवाहा बंकिय / सक्कय पायय पुलिनालंकिय / देसी भासा उभय तडुज्जल / कवि दुक्कर घण सद्द सिलायल /—(पउम चरिउ)
२८. महापुराण :पुष्पदन्त : १/८/१०।
२९. वायरणु देसि सद्दत्थ गाढ/छन्दालंकार बिसाल पौढ—(पउम चरिउ)
३०. णा लक्कय पायउ देस-भास णउ सद्द वण्णु जाणामि समास—(नेमिनाह चरिउ)।
३१. लीलावई कहा (गाहा ४१)।
३२. ज्ञानेश्वरी (१८/१७२१)।
३३. दि हिस्टॉरिकल ग्रैमर ऑफ अपभ्रंश, प० ७।

: २ :

रचनात्मक उन्मेष का प्रारम्भ

उपलब्ध साक्ष्य की विरलता

साहित्यिक अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में कश्मीरी भाषा का प्रयोग कब प्रारम्भ हुआ इस विषय में उपलब्ध साक्ष्य की विरलता के कारण निश्चय से कुछ नहीं कहा जा सकता। कल्हण अपनी राजतरंगिणी में तत्कालीन कश्मीरी का एकाध नमूना तो प्रस्तुत करते हैं, पर लोकभाषा के किसी समवर्ती य पूर्ववर्ती कवि का उल्लेख नहीं करते। उन्हीं के समकालीन मंख ने 'श्रीकंठचरित' में अपने समय में हुई एक वृहत् कवि गोष्ठी का उल्लेख किया है जिसमें भाग लेने वाले कवियों में कदाचित् कश्मीरी के भी कुछ कवि रहे होंगे। इससे पूर्व क्षेमेन्द्र 'देश भाषा' में लिखने वाले अपने समकालीन कवियों की ओर संकेत करते हैं। लेकिन चौदहवीं शती में मुस्लिम राजशक्ति के उदयकाल तक संस्कृत के एक प्रमुख पीठ के रूप में कश्मीर का प्रभामंडल ऐसा सशक्त और चुंधियाने वाला रहा है कि स्थानीय भाषा में हुए रचनात्मकता के प्रयास प्राय: उपेक्षा के अंधेरों में लुप्त हो गए। फिर कश्मीरी में साहित्य-रचना को एक-दो अपवादों को छोड़कर कभी राजसंरक्षण या कोई प्रोत्साहन भी तो नहीं मिला कि मम्मट, रुद्रट, भट्टलोलट्ट, बिल्हण, क्षेमेन्द्र, कल्हण आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त जैसी प्रतिभाओं की टक्कर का कोई कृतिकार उसका हाथ थामता। कलाओं का महान संरक्षक होने पर भी राजा हर्ष, १०८९-११०१ ई०) ने लोकभाषा के किसी लेखक का समादर किया हो—इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता। उधर मध्ययुग में हुई व्यापक राजनीतिक उथल-पुथल, (हर्ष के समय से ही हिन्दू शासन के पतनकाल में अव्यबस्था, अस्थिरता और असुरक्षा का वातावरण, जुलचा की बर्बर सेनाओं द्वारा किया गया विध्वंस, डामरों की लूट, भौट्ट राजकुमार रिंचन के इस्लाम-स्वीकार और राज्यारोहण के बाद से ही दो संस्कृतियो के बीच रक्तरंजित संघर्ष) भी कश्मीरी में रची गयी प्रारम्भिक कृतियों के नष्ट होने का एक प्रमुख कारण बनी। अनुसंधान का अभाव भी इन कृतियों की अनुपलब्धि के लिए उत्तरदायी माना जा सकता है। जो हो, प्राप्त आलेखों के

आधार पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि कश्मीरी में रचनात्मकता का प्रथम उन्मेष नवमीं-दसवीं शती के आसपास हुआ होगा जब इस भाषा का अपने प्राकृत अपभ्रंश रूप से भिन्न एक स्वतंत्र व्यक्तित्व उभरने को था। अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्यों की भांति कश्मीरी में भी इस उन्मेष का स्वरूप अधिकतर धार्मिक और दार्शनिक ही रहा। मौलिक धार्मिक चिन्तन की भाषा तो संस्कृत ही नहीं रही, पर उसके सूत्रों को सामान्य जनों के लिए बोधगम्य बनाने में लोकभाषा की भी संभवतः सहायता ली गई होगी। इसके साथ ही लोक-काव्य की भी एक धारा अवश्य प्रभावित रही होगी, यद्यपि उसका कोई आलेख प्रस्तुत करना असंभव है।

'छुम्म-सम्प्रदाय' के सूत्र

यदि आग्रह शुद्ध साहित्यिक अभिव्यक्ति पर न रहे तो 'छुम्म सम्प्रदाय' के साधना-सूत्रों और उसकी व्याख्या वर्तिकाओं में आए पद्यों को कश्मीरी की प्राचीनतम उपलब्ध रचना माना जा सकता है। ये पद्य कब लिखे गए, इसकी ठीक तिथि निश्चित करने का कोई ठोस आधार अभी उपलब्ध नहीं। आंतरिक साक्ष्य अर्थात् वक्तव्य- विषय और भाषिक संरचना का सहारा लेकर यह अनुमान लगाना असंगत न होगा कि इनकी रचना दसवीं-ग्यारहवीं शती के आस-पास हुई होगी। यह वह समय था जब कश्मीर में शैव तथा शाक्त तंत्रों पर आधारित धर्ममत लोकप्रियता ग्रहण कर रहे थे। यह ज्ञात नहीं कि 'छुम्म-सम्प्रदाय' छुम्म नाम के किसी व्यक्ति द्वारा प्रवर्तित धर्म-सम्प्रदाय था अथवा किसी विशिष्ट साधना-पद्धति में आस्था रखने वाले समुदाय का नाम, किन्तु ये सूत्र और उन्हें व्याख्यायित करने वाले पद्य (जो संस्कृत और कश्मीरी दोनों भाषाओं में रचे गए हैं) दर्शन की रंगच्छाया लिये हुए हैं—एक ऐसा दर्शन जो 'अपूज पूजा' 'अक्रमक्रमु' 'अदृष्ट-दर्शन' 'अनाहार-तृप्ति' जैसी विरोधाभासीयशब्दावली में बात करता है। ऐसा प्रतीत होता है कि 'छुम्म-सम्प्रदाय' की साधना-पद्धति में बाह्याकार से अधिक अंतर्मुखता पर बल था।

'छुम्म-सम्प्रदाय' के सूत्र जम्मू-कश्मीर राज्य के शोध-विभाग (रिसर्च डिपार्ट-मेन्ट) के पुस्तकालय में पाण्डुलिपि के रूप में सुरक्षित हैं। प्रो० पृथ्वीनाथ 'पुष्प' ने, जब वे इस विभाग के निर्देशक थे, इन पद्यों के प्रकाशन की व्यवस्था की थी, पर किन्हीं कारणों से यह कार्य पूरा न हो सका। पाण्डुलिपि कुल मिलाकर ७४ सूत्रों और पद्य में उनकी व्याख्या-वर्तिका पर आधारित है। इस व्याख्या का कश्मीरी अंश कश्मीर के किसी धार्मिक मत और उसके दर्शन के रहस्यों को स्थानीय भाषा में प्रस्तुत करने का शायद पहला प्रयास है। कृति का दार्शनिक संदर्भ जो भी हो इसका महत्त्व साहित्यिक न होकर कश्मीरी भाषा की प्रारम्भिक स्थिति के उद्‌घाटन की दृष्टि से ही अधिक है। संस्कृत मूल के अकरान्त शब्दों का उकरान्त

रूपान्तर व्याख्या के पदों की भाषा को अपभ्रंश का-सा स्वरूप प्रदान करता है, यद्यपि प्राकृत के तत्त्व भी प्रचुर हैं। दो पद्य उदाहरण के लिए नीचे दिए जा रहे हैं।

भाव सभावे सव अविनाशी,
सपन सभावन वि उत्पन्न।
ते अज निरवधि अगम प्रकाशी,
इदस्स दिष्टि कालि विपच्छन्न ॥[1]

विलगनि शुञ्जि आशुञ्ज स्वरूपा
विविध पदार्थ साथु कवलेत
आशयु चित्ति सदा नीरूपा,
विची विजू विर्थ प्रघटेत ॥[2]

चार-चार पंक्तियों के छन्द में रचे गए ये कश्मीरी पद्य सम्भवता 'वाख' का ही प्रारम्भिक रूप हैं। इस प्रकार के पद्य रूप आगे चलकर 'छुम्म' नाम से ही प्रचलित हुए जिससे इनकी लोकप्रियता का परिचय मिलता है।

महानय प्रकाश : सर्वगोचर देशभाषा में 'नुति'

कश्मीरी काव्य की विकास कथा में अगला नाम है 'महानय प्रकाश', जिसे शितिकंठ ने संभवत: १३वीं शती में रचा था। यह वह समय था जब कश्मीर में हिन्दू राजसत्ता के क्षीण होने के लक्षण दिखायी देने लगे थे। हर्ष की हत्या के बाद यह प्रक्रिया तीव्र हो चली थी और तेरहवीं शती के अंत में सिंहदेव के शासन-काल में अव्यवस्था और अस्थिरता ने व्यापक रूप धारण कर लिया था। शासकों के अन्याय और लम्पटता के विरुद्ध हुए जन-विद्रोह जिसमें विशेषकर ब्राह्मण वर्ग सक्रिय रहा, इस कालखण्ड के राजनीतिक परिदृश्य का एक महत्वपूर्ण पक्ष प्रस्तुत करते थे। अयोग्य और भ्रष्ट शासन के प्रति लोगों के अविश्वास के बावजूद कोई वैकल्पिक व्यवस्था राजनीतिक स्तर पर नहीं हो पायी थी। यह थी कश्मीर में इस्लाम के आगमन की पीठिका। लेकिन धार्मिक-सांस्कृतिक परिदृश्य अभी विच्छृखलता का ऐसा रूप प्रस्तुत नहीं कर रहा था। आठवीं-नवबीं शती में विकसित कश्मीर शैवमत और तांत्रिक शाक्त दर्शन अभी भी लोकमानस को प्रेरित प्रभावित करने में एक विशिष्ट वैचारिक क्षमता प्रदर्शित कर रहे थे। 'महानय प्रकाश' में शितिकण्ठ ने 'सर्वगोचर देशभाषा' के माध्यम से तांत्रिक साधना के सूत्रों को सर्वसाधारण के लिए बोधगम्य बनाने का जो प्रयास किया उसका महत्त्व इसी संदर्भ में है। एक ऐसे समय में जब संस्कृत की साहित्यिक आर वैचारिक

अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में विशेष प्रतिष्ठा थी, जनभाषा में दार्शनिक विचारों के सम्प्रेषण को निःसंदेह काफी साहस का परिचायक माना जा सकता है।

शितिकंठ के जीवन के बारे में तथ्य उपलब्ध नहीं हैं। केवल इतना ही ज्ञात हो सका है कि वे अपने समय के एक मेधावी दार्शनिक और विद्वान थे और उनके गुरु का नाम जयरथ था। नाजी मुनव्वर और शफीशौक ने कश्मीर विश्वविद्यालय के कश्मीरी विभाग द्वारा १९७८ में प्रकाशित अपने 'कश्मीरी साहित्य के इतिहास' में लिखा है कि शितिकंठ श्रीनगर से सात-आठ किलोमीटर दूर पाम्पुर नाम के स्थान में रहते थे, उनके पिता का नाम सौदख पण्डित था तथा योद्ध पण्डित और सिद्ध श्रीकण्ठ (लल्लेश्वरी के गुरु) उनके दो पुत्र थे।[3] लेकिन उनकी इस 'जानकारी' का स्रोत या आधार क्या है, इसका उन्होंने कोई उल्लेख नहीं किया है। अतः इसे प्रामाणिक तथ्य के रूप में स्वीकार करना कठिन है। इन लेखकों ने यह भी लिखा है कि 'महानय प्रकाश' की रचना शितिकंठ ने किन्हीं महाराजा संग्रामसिंह के अनुरोध पर की थी।[4] कश्मीर में इस नाम का कौन राजा कब हुआ है—यह कम-से-कम कश्मीर के इतिहास के अवलोकन से ज्ञात नहीं होता।

ग्रियर्सन 'महानय प्रकाश' के लेखक शितिकंठ और कवीन्द्र जगद्धर के संस्कृत व्याकरण ग्रन्थ 'बालबोधिनी' की—बाल-बोधिनी-न्यास नाम से व्याख्या लिखने वाले शितिकंठ को एक मानते हैं, और इस प्रकार 'महानय प्रकाश' के रचनाकाल को १५वीं शती के उत्तरार्द्ध में ठेल देते हैं, जब कश्मीर पर हसनशाह का शासन था। लेकिन हसनशाह के समय में लिखी गयी कश्मीरी कृति 'सुखदुःखचरित्' और 'महानय प्रकाश' की भाषा का तुलनात्मक अध्ययन करने पर यह बात एकदम गलत प्रमाणित होती है। 'महानय प्रकाश' का भाषास्तर 'सुखदुःखचरित्' से स्पष्टतया काफी पुराना है। कश्मीरी साहित्य के इतिहास में 'महानय प्रकाश' का महत्व उसकी भाषिक विशेषताओं के आधार पर ही है। 'दि लैंग्वेज ऑफ महानय प्रकाश' में ग्रियर्सन ने इन विशेषताओं का काफी अच्छा और गम्भीर अध्ययन प्रस्तुत करते हुए उस कश्मीरी भाषा की उस स्थिति का आलेख माना है जब वह प्राकृत और अपभ्रंश की अवस्था से आगे निकल चुकी थी। लेकिन उन्होंने इस कृति की तत्सम्‌बहुल और उन्हीं के शब्दों में 'शुद्ध भारतीय आर्य शब्दावली' का कारण इसके विषय की प्रकृति और कृतिकार के संस्कृत पण्डित होने में खोजा है, जो सही प्रतीत नहीं होता।[5] शितिकंठ ने 'सर्वगोचर देश भाषा' प्रयोग करने का दावा केवल पण्डित-मण्डली की भाषा के अर्थ में किया होगा, इसमें संदेह है। जो हो, कृति की भाषिक विशेषताओं पर पहले विचार किया गया है। यहां केवल यह कहना अभिप्रेत है कि 'महानय प्रकाश' के रचियता शितिकण्ठ का जीवनकाल

१३ वीं शती से बाद का होने की संभावना, आंतरिक साक्ष्य को देखते हुए, बहुत कम है।

'महानय प्रकाश' में प्रतिपादित दर्शन तांत्रिक है और उसका उद्देश्य, लेखक के ही शब्दों में, 'महार्थ प्रकाश' है—सत्य के महत् अर्थ का उद्‌घाटन। यह अर्थ वाणी की चार अवस्थाओं—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी तथा पांच दैवी सत्ताओं के माध्यम से एक क्रम में प्रकट होता है, अतः इसे 'क्रमार्थ' भी कहा गया है। ये पांच देवियां हैं: वामेशी, खेचरी, भूचरी, सम्बर् भक्ष्मा और रन्ध्रेश्वरी, जो उन सांधकों की इष्ट हैं जो ज्ञानसिद्धि, मंत्रसिद्धि, मिलापसिद्धि, शाक्तोपाय अथवा शाम्भवोपाय द्वारा जीवन का चरम लक्ष्य प्राप्त करना चाहते हों। ये दैवी सत्तायें वस्तुतः उन पांच अवस्थाओं की प्रतीक हैं जिन्हें साधक को आध्यात्मिक अनुभव के स्तर पर पार करना पड़ता है। ज्ञान सिद्धि का अर्थ है स्वात्म का पूर्णज्ञान; मंत्र-सिद्धि का अर्थ है सम्यक् विचार; मिलापसिद्धि का अर्थ है ज्ञाता और ज्ञेय का मिलाप; शाक्तोपाय से तात्पर्य उस प्रक्रिया से है जिसके द्वारा ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान का भेद समाप्त हो और 'शाम्भवोपाय' वह अवस्था है जब यह प्रक्रिया भी अवशिष्ट नहीं रहती। 'शाम्भवोपाय' की ओर ले जाने वाले पथ का प्रदर्शन ही 'महानय प्रकाश' का मूल प्रतिपाद्य है। इस प्रकार के दर्शन और उससे सम्बद्ध आचारविधियों को साहित्यिक अभिव्यक्ति के अंतर्गत स्थान देना और 'महानय प्रकाश' को एक काव्य-कृति के रूप में मूल्यांकित करना 'काव्य' शब्द के अर्थ को काफी खींचने का प्रयास होगा। 'महानय प्रकाश' की तांत्रिक अर्थों और अभिप्रायों से बोझिल क्लिष्ट शब्दावली में वह रचनाशीलता कहीं दृष्टिगोचर नहीं होती जो काव्य-भाषा को परिभाषित करती है।

महार्थ मंजरी

साहित्यक रचना हो या भाषा के विकास का आलेख, शितिकण्ठ के 'महानय प्रकाश' के पश्चात् लगभग एक शती तक कश्मीरी में लिखी कोई कृति उपलब्ध नहीं होती। यह संभव नहीं कि जिस 'सर्वगोचर देश भाषा' में निगूढ़ दर्शन के रहस्यों तक को सुलभ बनाने के प्रयास की 'महानय प्रकाश' और उससे भी पूर्व 'छुम्म सम्प्रदाय' के सूत्रों से शुरूआत हुई थी, उसमें इस लम्बे अन्तराल में कुछ भी न रचा गया हो; लेकिन आज वह सब उपलब्ध नहीं है। कारण केवल प्राकृतिक नहीं। जैसे कि पहले भी संकेत किया गया है तेरहवीं शती के अंत से जिस व्यापक उथल-पुथल ने कश्मीर की राजनीतिक और धार्मिक परिस्थितियों को बदल डाला उसने एक सम्पूर्ण सांस्कृतिक मूल्यचक्र को अपनी लपेट में ले लिया और अपनी उग्रता द्वारा अनेक साहित्यिक कृतियों को भी विनष्ट कर दिया। लेकिन इस युग की एक कृति अवश्य मिलती है—महेश्वरागनंद की 'महार्थ-मंजरी', जिसका विषय कश्मीर

शैवदर्शन से सम्बन्धित है। मगर रचियता के इस आग्रह के वावजूद कि यह स्थानीय प्राकृत में लिखी गयी है, इसकी भाषा का कश्मीरी से कोई सम्बन्ध जोड़ने से पूर्व पर्याप्त अनुसंधान की आवश्यकता है। बहुत संभव है कि महेश्वरानंद ने अपने समय में प्रचलित अथवा उससे पुरानी किसी साहित्यिक प्राकृत का प्रयोग किया हो।

इस प्रकार कश्मीरी काव्य लल्लेश्वरी के युग के प्रवेश द्वार तक पहुंचता है। लल्लेश्वरी की कविता कश्मीरी साहित्य के प्रारम्भ काल की सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि ही नहीं, एक तरह से सम्पूर्ण कश्मीरी काव्य की महानतम उपलब्धि है। लल्लेश्वरी ने एक नए काव्य-युग का सूत्रपात किया अथवा वे कश्मीरी काव्य के आदिकाल के चरमोत्कर्ष को उद्घाटित करती हैं, इस विषय पर बहस करना तभी संभव होगा जब उस समय की काव्याभिव्यक्ति के कुछ अन्य उदाहरण भी उपलब्ध हों। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि जिस काव्य-रूप 'वाक्' को उन्होंने विकसित किया, उसकी परम्परा उनसे पूर्व 'छुम्म-सम्प्रदाय' के 'छुम्मों' और शितिकण्ठ के पदों में अपनी झलक दिखाती है।

संदर्भ-सूत्र

१. 'छुम्म-सम्प्रदाय'—सूत्र ६१ की वर्तिका।
२. उपरोक्त—सूत्र ५२ की वर्तिका।
३. नाजी मुनव्वर, शफी शौक : का'शरि अदबुक तवारीख, पृ० २४।
४. उपरोक्त।
५. दि लैंग्वेज ऑफ महानय प्रकाश, परिच्छेद २७४।

: ३ :

लल्लेश्वरी और शेख नूरुद्दीन वली

लल्लेश्वरी : अंधेरे में खोया जीवन-वृत्त

कश्मीरी साहित्य के प्रारम्भकाल की सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि लल्लेश्वरी का काव्य है। चौदहवीं शती की इस महान कवयित्री को वस्तुतः सम्पूर्ण कश्मीरी काव्य का गौरव शिखर कहा जा सकता है। लल्लेश्वरी ने कश्मीरी काव्य के प्रारंभिक विकास को ही गति और दिशा ही नहीं दी, कश्मीरियों के सामूहिक मानस को उसकी अंतरंग गहराइयों तक प्रभावित किया। पद्य और कविता के अन्तर को यदि ओझल न होने दिया जाए तो उन्हें, अन्य साक्ष्य मिलने तक, कश्मीरी की आदि कवयित्री भी कहा जा सकता है।

लेकिन अपने व्यक्तित्व की समस्त गरिमा और कवित्व की अपार महिमा के बावजूद लल्लेश्वरी का जीवन-वृत्त अपरिचय के अंधेरों में खोया हुआ है। श्रद्धा-प्रेरित जनश्रुतियों और दन्तकथाओं के आधार पर जो चित्र उभरता है वह धुंधला, अस्पष्ट और अधूरा है। इतिहास-ग्रन्थों में उनके समकालीनों—सैयद अली हमदानी, शेख नूरुद्दीन आदि—के नाम तो लिए गए हैं, पर लल्लेश्वरी के विषय में एक दीर्घ मौन ही है। न तो जोनराज, श्रीधर, शुक और प्राज्ञभट्ट की राजतरंगणियों में उनका कहीं कोई उल्लेख है और न 'तारीखे रशीदी' से लेकर 'मुन्तखिब-उल-तवारीख' तक किसी फारसी इतिहास-ग्रंथ में उनका कोई जिक्र। जोनराज ने शाहमीरी वंश के शहज़ादा शहाबुद्दीन की जंगल में एक योगिनी से मिलने की कथा अवश्य दी है[1] जिसे बाद में दाऊद मश्काती ने 'इसरार-उल-अब्रार' में ललद्यद से सम्बद्ध किया है।[2] पर यह कथा कथा है, ऐतिहासिक तथ्य नहीं। सन् १७३० ई० में जाकर कहीं ख्वाजा मुहम्मद आज़म द्यदमरी साहब 'वाकातें-कश्मीर' में 'अरिफा-कामिला लल्ला' का कुछ स्पष्ट उल्लेख करते है और लिखते हैं कि सुल्तान अलाउद्दीन के राज्यकाल (१३४४-५५) में वे जीवित थीं। इसके बाद १९वीं-२०वीं शती के कश्मीरी इतिहास-लेखक कुछ और विवरण देते हैं, पर प्रामाणिक तथ्य कम और अद्भुत वृतान्त अधिक। इन वृतान्तों से लोक-चित्त में

कवयित्री की कितनी प्रतिष्ठा है इसका संकेत तो मिलता है, पर उनके जीवन की वास्तविक घटनाओं पर प्रकाश नहीं पड़ता।

इधर-उधर बिखरे संकेत-सूत्रों से बस यही ज्ञात होता है कि लल्लेश्वरी का जन्म श्रीनगर के निकट पांद्रेन्ठन, या शायद सिहपुर गांव में एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। कब—तिथि ठीक से निश्चित करना कठिन है, पर १३१८ ई० से १३४८ ई० तक कभी भी। मृत्यु सम्भवतः सुल्तान कुतुबुद्दीन के समय (१३७३ ई०-१३८९ ई०) में हुई थी। विवाह बचपन में ही पाम्पुर में हुआ जो केसर की खेती के लिए प्रसिद्ध है, पर विवाहित जीवन, जनश्रुतियों के अनुसार, एक व्यथा-कथा मात्र रहा। लल्लेश्वरी पर सास और पति के अत्याचारों से सम्बन्धित अनेक कथाएं प्रचलित हैं। सास का उन्हें भात परोसते समय चुपके से नीचे सिलवट्टा रख देना—ताकि थोड़ा-सा भात कुछ अधिक नज़र आए—कश्मीरी भाषा को सास-बहू सम्बन्धों के बारे में एक लोकोक्ति प्रदान कर गया है। घर में उत्सव होते, भेड़-बकरे मारे जाते, दावतें उड़तीं, पर लल्लेश्वरी के लिए सिवा सिलबट्टे के लिए धरा ही गया था। वे महीन से महीन सूत कात लेतीं, पर सास उसे भी मोटा कहकर उन्हें दण्ड देती। पति बात-बेबात झगड़ पड़ता। संवेदनशील मन जब अधिक न झेल सका तो लल्लेश्वरी घर छोड़कर विरागिनी हो गयीं। गुरु मिले सिद्ध श्रीकंठ जो महान शै दार्शनिक वसुगुप्त की शिष्य परम्परा में थे और स्वयं भी अपने समय के प्रख्यात विद्वान। उनसे शैव-दर्शन और साधना की दीक्षा लेकर लल्लेश्वरी सामाजिक मर्यादाओं और विधि-निषेधों की उपेक्षा करती हुई गांव-गांव गली-गली घूमने लगीं, अपने अटपटे पद सुनाती हुईं, प्रशंसा और उपहास दोनों के प्रति सर्वथा उदासीन—

हासा बोल प'डिन्यम सासा
म्ये॑ मनि वासा ख़ेद न ह्यो॑ये
यो'दवय शंकर बख॒च् आसा
मुकरिस स्वासा मल क्या प्येये॑।

[मुझ पर वे चाहे हंसें, हजारों बोल कसें
हंस लेने दो—पर होगा इसका खेद किसे?
मैं होऊं शिव की सच्ची भक्त अगर मन से
क्या मैला होता मुकुर राख के गिरने से?]

रूढ़ि-मर्यादित आचरण के प्रति लल्लेश्वरी की उदासीनता के कारण ही शायद ये कथाएं चल पड़ीं कि वे बावरी-सी नग्न-निर्वसन घूमा करती थीं। इस

प्रकार की कथाओं के साक्ष्य के रूप में स्वयं लल्लेश्वरी के ही इस 'वाख' को बार-बार उद्धृत किया जाता रहा है—

ग्वरन क्षे'पनम कुनुय वचुन
नयबरतु वो'ननम अन्दर अचुन
मुये म्ये' ललि गोम वाख तु वचुन
तवय ह्यो'तुम नंगय नचुन
[गुरु ने मुझसे कह दिया
यही तो एक वचन
तू बाहर से आकर
प्रवेश करले भीतर
मेरी निष्ठा, मेरा आदेश गया यह बन
बस तब से ही तो मैं नाची निर्वसन-नगन]

यह 'वाख' इस ओर स्पष्ट संकेत करता है कि लल्लेश्वरी की साधना बाहर से भीतर प्रवेश करने की साधना थी, साथ ही यह भी दर्शाता है कि उनका व्यक्तित्व कितना विद्रोही था। पर हुआ यह कि इस संकेत की अनदेखी करके इसका बस सीधा-सपाट शब्दार्थ ही लिया गया और इसी को लेकर गढ़ डाली गयीं कितनी ही असंभव कथाएं। जैसे यह कि वे नंगी घूमने लगीं तो उनके पेट का अधोभाग कुछ और नीचे उतर आया और इस प्रकार उनकी 'लज्जा' को ढंक लिया। चूंकि पेट के अधोभाग को कश्मीरी में कहते हैं 'लल', इसलिए उनका भी नाम पड़ गया 'लल'। इस तथा अन्य अनेक 'वाखों' में लल्लेश्वरी ने अपने आपको 'लल' कहकर संबोधित किया है। पेट के अधोभाग के लिए प्रयुक्त शब्द का वे स्वयं अपने नाम के रूप में प्रयोग करें—क्या इसे विश्वसनीय माना जा सकता है? 'लल' संभवत: उस समय लड़कियों का एक प्रचलित घरू या पुकारू नाम रहा होगा—आज भी है—जो 'ललिता' का संक्षिप्त रूप है। इसी पुकारू नाम 'लल' के आगे बाद में आदरसूचक 'द्यद' जोड़ दिया गया जिससे 'ललद्यद' बना। 'लल्लेश्वरी' या 'लला आरिफा' इसके श्रद्धाप्रेरित संस्कृतीकृत तथा फारसीकृत रूप हैं।

लल्लेश्वरी के नाम को लेकर शायद यह विषयांतर हो गया। जो 'वाख' ऊपर उद्धृत किया गया है उसे उनके काव्य का एक कुंजी 'वाख' माना जा सकता है। लल्लेश्वरी को समझने के लिए इस 'वाख' की गहराइयों में उतरना ज़रूरी है। लेकिन इसकी अंतिम पंक्ति को संदर्भ से काटकर कुछ इस तरह प्रस्तुत किया जाता है मानो यह 'नंगा नाचने' के बारे में उनकी स्वीकारोक्ति हो। इसका सही संदर्भ तभी स्पष्ट हो सकता है जब इस पंक्ति को अन्य पंक्तियों के साथ रखकर पढ़ा जाए। पंक्ति में 'तवय' (तभी, इसी कारण, इसी से) शब्द

का प्रयोग महत्वपूर्ण है जो 'नंगा नाचने' को गुरु के कहे वचन से जोड़ता है। 'नग्न' नाचना लल्लेश्वरी के लिए गुरु के इस आदेश का पालन है कि "तू बाहर से हटकर अपने भीतर प्रवेश कर।" अपने भीतर प्रवेश करने का अर्थ है सभी आवरणों को उतार फेंककर वास्तविक स्वरूप में प्रकट होना। इसे कश्मीर शैव-दर्शन के संदर्भ में समझा जा सकता है जिसका लल्लेश्वरी पर गहरा प्रभाव था। इस दर्शन के अनुसार कला, विद्या, राग, काल और नियति—ये पंच कंचुक हैं, आवरण हैं, जिन्हें उतारकर ही आत्मा को अपने शिवस्वरूपत्व का बोध होता है। इसलिए अपने 'नग्न' होने की बात करते समय लल्लेश्वरी का इंगित आत्मा की इसी निरावरण अवस्था की ओर रहा होगा, शारीरिक नग्नता की ओर नहीं। आनन्द का उन्मादक नृत्य इस 'नग्न' होने की प्रक्रिया की चरम परिणति है।

लेकिन एक आध्यात्मिक स्तर पर ही नहीं, अन्य स्तरों पर भी 'वाख' का अर्थ खुलता है। समाज द्वारा स्वीकृत जड़ आचरण—रूढ़ियों, अर्थहीन विधियों और अनुष्ठानों के प्रति कवयित्री का विरोध और विद्रोह भी इसमें व्यक्त हुआ है। विद्रोह का यह तेवर उनके काव्य में ही नहीं जीवन में भी मिलता है— इसलिए यह खरा है, सच्चा है। 'नंगा नाचने' में आध्यात्मिक उन्माद की स्थिति की ओर ही संकेत नहीं, सामाजिक वर्जनाओं—विशेषकर वे जो नारी के हिस्से में आती हैं—को चुनौती देने की कोशिश भी है। जो लोग चुनौती के इस स्वर को सुनने-समझने में समर्थ न होकर केवल सतह पर ही भटकना चाहते हैं, उनके हाथ भोंडे निष्कर्षों के अतिरिक्त और क्या लग सकता है? लल्लेश्वरी को उनके विचार की गहराइयों में उतरकर समझने का अर्थ है यह समझना कि उन्होंने सत्य को अनावृत्त ही स्वीकार किया है।

लल्लेश्वरी का युग : परिदृश्य और परिस्थितियां

लल्लेश्वरी जिसकी साहित्यिक-बौद्धिक उपलब्धियों की प्रतीक-प्रतिमा थीं, कैसा था वह युग? क्या थीं उस युग की राजनीतिक-सामाजिक-धार्मिक परिस्थितियां जिनके बीच लल्लेश्वरी का काव्य-व्यक्तित्व ढला, विकसित हुआ? इस पर दृष्टिपात कर लेना उनके काव्य की सही समझ और परख के लिए जरूरी है। कश्मीर के अन्तिम हिन्दू शासक उदयनदेव से लेकर कुतुबुद्दीन के समय तक करीब एक शताब्दी को अपने डग में भरता है उनका जीवन-काल। यह समय उथल-पुथल का—संक्रमण और संकट का समय था। राजनीतिक षड्यन्त्र, गृह-युद्ध, साधारण जनता का शोषण-उत्पीड़न, अशांति और अव्यवस्था—हिन्दू शासन के पतनकाल की तस्वीर के कुल मिलाकर यही रंग थे। समाज में असुरक्षा और निराशा की भावना व्याप्त थी। राजमहलों में विलास और सामान्य लोगों में संत्रास का वातावण था। भौट्ट राजकुमार रिंचन के इस्लाम-स्वीकार और राज्यारोहण के

साथ ही मुस्लिम राजशक्ति का उदय हुआ, जिसकी स्थिति धीरे-धीरे सुदृढ़ होती गई। रिंचन का शासनकाल केवल तीन वर्ष का रहा। उसकी मृत्यु के पश्चात् उदयनदेव के समय में कश्मीर ने पुनः कुछ समय (१३२३-३९) तक हिन्दू शासन देखा, लेकिन हिन्दू राजशक्ति के लिए, जो बेहद जर्जर, असमर्थ और भ्रष्ट हो चुकी थी, उदयनदेव का अयोग्य और अनुत्तरदायित्वपूर्ण शासन ताबूत की आखिरी कील साबित हुआ। १३३९ ई० में शाहमीर ने शमसुद्दीन का विरुद धारण करके अपने नाम से सुल्तानशाही की नींव डाली जो अकबर की कश्मीर पर विजय तक टिकी रही।

मुसलमान कश्मीर में इससे पूर्व भी आए थे। इस्लाम से कश्मीर घाटी का परिचय सर्वप्रथम ग्यारहवीं शताब्दी में हुआ जब मुहम्मद गज़नी अपनी सेनाएं लेकर दो बार कश्मीर पर चढ़ आया था। तुर्कों के ये आक्रमण सैनिक दृष्टि से सफल नहीं थे, पर इनका यह परिणाम तो ज़रूर हुआ कि इस्लाम की विचारधारा का कश्मीर में प्रवेश हुआ। हर्ष (१०८९-११०१ ई०) के बारे में कहा जाता है कि उसने अपनी सेना में मुसलमान सैनिकों को भर्ती करना शुरू किया। इस काल में अनेक उत्साही धर्मप्रचारक कश्मीर आए। उन्हें अधिक सफलता तो नहीं मिली, पर इस्लाम के प्रचार-प्रसार को उनके प्रयत्नों से गति अवश्य मिली। मुसलमान जब तक केवल धर्म प्रचार के उद्देश्य से ही आते रहे, कश्मीर के हिन्दू समाज ने उन्हें गंभीरता से नहीं लिया, प्रत्युत उनके साथ उदारता का व्यवहार किया। हिन्दुओं का दार्शनिक दृष्टिकोण ही कुछ ऐसा था। लेकिन १४वीं शताब्दी में जब यहां मुस्लिम शासन की स्थापना हुई, तो यहां के समाज में भारी हलचल पैदा हुई। वैचारिक, सांस्कृतिक, सामाजिक धरातल पर तो एक भूचाल ही आ गया जिसके झटके से शताब्दियों से चली आ रही एक पूरी की पूरी जीवन-पद्धति लड़खड़ा गई। मुसलमान अपने साथ एक नया धर्म, एक नयी संस्कृति और जीवन और जगत के बारे में एक नितान्त भिन्न दृष्टिकोण लेकर आये। धर्म और राजशक्ति चूँकि एक दूसरे से जुड़े थे, नये मुसलमान शासकों ने अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाने के लिए ज़रूरी समझा कि इस्लाम धर्मावलम्बियों की संख्या में वृद्धि की जाए। अतः उन्होंने मुस्लिम देशों से बड़ी संख्या में प्रचारक बुलवाए। इस प्रकार दो विरोधी संस्कृतियों के बीच एक टकराव शुरू हुआ। राजसत्ता जिन लोगों के हाथ में आ गई थी, उन्होंने उस संघर्ष को केवल वैचारिक स्तर तक ही सीमित नहीं रखा, बल प्रयोग, दमन और आतंक के तरीके भी अपनाए। फिर भी सामाजिक जीवन की प्रथाओं और परम्पराओं पर शुरू-शुरू में कोई खास असर नहीं पड़ा। कुतुबुद्दीन के शासन के प्रारम्भिक वर्षों तक तो वेष-भूषा, खान-पान या रहन-सहन की दृष्टि से हिन्दू और मुसलमान में भेद करना मुश्किल था।[४] स्वयं कुतुबुद्दीन हिन्दू पहनावा पहनता और हिन्दू मन्दिरों में पूजार्थ जाया

करता। अकाल निवारण के लिए एक बार उसने एक यज्ञ का भी आयोजन किया था, जिसकी समाप्ति पर ब्राह्मणों को दान दिया गया।[5] इस प्रकार सामाजिक जीवन का केवल बाह्यावरण ही बदला था, भीतर से उसका स्वरूप पूर्ववत् था। पर यह स्थिति अधिक देर तक बनी न रह सकी। कट्टरपंथी प्रचारकों ने उसे बदलने का हर सम्भव प्रयत्न किया। तैमूर के कोप के कारण ईरान से भागे सैयद, तो कश्मीर के सामाजिक जीवन को अरब-ईरानी सांचों में ढालने की दिशा में विशेष रूप से सक्रिय रहे। जो सैयद कश्मीर आए उनमें सबसे महत्वपूर्ण नाम है सैयद अली हमदानी का, जिन्हें कश्मीरी मुसलमान श्रद्धावश 'शाह हमदान' कहते हैं। इन्हें कश्मीर में इस्लाम का सबसे बड़ा स्तम्भ माना जाता है। नक्शबन्दी सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखने वाला हमदान का यह अति उत्साही धर्मप्रचारक तीन बार कश्मीर आया—पहली बार १३७२ ई० में, फिर १३८१ ई० में और अंतिम बार १३८३ ई० में।[6] कश्मीर में बड़ी संख्या में लोगों को इस्लाम धर्म के अनुयायी बनाने और स्थानीय संस्कृति के इस्लामीकरण में शाह हमदान की विशेष भूमिका रही है। इन्हीं सैयद अली हमदानी से लल्लेश्वरी की भेंट को लेकर अनेक कथाएं प्रचलित हैं। एक कथा के अनुसार वे बावरी-सी नग्न-निर्वसन घूम रही थीं कि हमदानी आते दिखाई दिए। लल्लेश्वरी लाज ढंकने के लिए पहले तो किसी बनिये की दूकान में जा छिपीं और बाद में एक नानवाई के धधकते तन्दूर में, क्योंकि उन्होंने "पहली बार किसी पुरुष को देखा था।" तन्दूर से बाहर निकलीं तो वे चमकते हुए दिव्य परिधान पहने हुए थीं। ये ही परिधान पहनकर वे सैयद अली शाह हमदानी से मिलीं।

इस प्रकार की कोई भेंट कभी हुई भी है, इसका कोई ऐतिहासिक साक्ष्य नहीं मिलता। यह ज्ञातव्य है कि भेंट सम्बन्धी कोई भी कथा १९वीं शताब्दी से पहले के किसी वृत्तान्त में नहीं मिलती। यह भेंट हुई हो अथवा नहीं, सैयद अली शाह हमदानी और अन्य सैयदों का तत्कालीन शासकों की धर्म-नीति पर विशेष प्रभाव था।

हिन्दू और इस्लामी संस्कृति का यदि एक स्तर पर टकराव हुआ तो अनेक स्तरों पर मिलन भी। परस्पर आदान-प्रदान की प्रक्रिया भी शुरू हुई और दोनों जीवन पद्धतियों ने एक-दूसरे से प्रभाव ग्रहण किए। इस्लाम और वेदान्त के मेल के लिए सूफियों ने भूमि तैयार की, जिस पर खड़े होकर शेख नूरुद्दीन जैसे संत-कवियों ने आदमी और ईश्वर के बीच रागात्मक सम्बन्धों के सेतु रचे। इस प्रकार एक ओर से संघर्ष और एक ओर से एक नये सामंजस्य का युग था लल्लेश्वरी का युग। इस युग का संकट या संघर्ष लल्लेश्वरी के काव्य में सीधे प्रतिबिम्बित नहीं होता। लेकिन अपने समाज के अंतर्विरोधों और विकृतियों को उन्होंने पहचाना

और उघाड़ा, अपने समय के संकट का समाधान उन्होंने आध्यात्म में खोजा। बहुत कुछ वैसे ही जैसे हिन्दी के भक्तिकालीन कवियों ने।

लल्लेश्वरी के काव्य का वैचारिक परिप्रेक्ष्य : शैव-दर्शन

लल्लेश्वरी के काव्य के वैचारिक आधार को कश्मीर के शैव-दर्शन में खोजा जा सकता है, जिसके सूत्र उनके 'वाखों' में अपनी चौंध दिखा जाते हैं। आठवीं-नवमी शताब्दी में वसुगुप्त द्वारा प्रतिपादित इस दर्शन-निकाय ने ग्यारहवीं शती में अभिनवगुप्त के रूप में अपना शीर्ष व्याख्याता पाया। चौदहवीं शती तक उसका प्रभाव-वृत्त इतना व्यापक हो गया कि वह लोक-साधारण की जीवन दृष्टि का एक महत्वपूर्ण अंग बन गया। बौद्ध-दर्शन और वेदान्त की छाया इस दर्शन पर कहीं-कहीं दिखाई देती है, पर मूलतया यहएक मौलिक और विशिष्ट चिन्तन-धारा के रूप में विकसित हुआ जिसके केन्द्र में ईश्वर और संसार और प्रकृति और आत्मा के सम्बन्धों की एक काव्यात्मक परिकल्पना है। कश्मीर शैव-दर्शन के अनुसार यह संसार असत्य या असार नहीं, शिव का आत्मप्रकाशन हैं, उसका काव्य है। जैसे काव्य कवि की कल्पना में अन्तर्हित रहता है, वैसे ही संसार भी शिव में अंतर्हित था, और पुनः अंतर्हित हो जाएगा। जो कुछ दृश्यमान है वह शिव की शक्ति का ही स्पन्द है। शिव में विलीन या उससे एकाकार होने की ललक लल्लेश्वरी के मन में उन भाव-स्थितियों को जन्म देती हैं जिनकी व्यंजना काव्य में ही संभव थी। किन्तु धार्मिक या तत्त्वदार्शनिक अवधारणाएं लल्लेश्वरी के काव्य की प्रेरक शक्तियां भले ही हों, उसकी श्रेष्ठता का मापदण्ड कदापि नहीं हैं। लल्लेश्वरी जब कहती हैं—

हम ही थे, होंगे भी हम ही
औ' विगत युगों से चले आ रहे हैं हम ही
शिव का जीना-मरना होगा न समाप्त कभी
आना-जाना सूरज का बना रहेगा ही

तो वे केवल आत्मा की नित्यता और आवागमन की संध्या-भाषा नहीं बोलतीं, समस्त मानव-परम्परा को एक निरन्तर, अछिन्न प्रवाह के रूप में देखती हैं—जन्म और मरण वे एक अनवरत क्रम के रूप में जिससे स्वयं शिव को गुज़रना पड़ता है। यह आध्यात्मिक मानववाद, मानव-जीवन के नैरन्तर्य की यह परिकल्पना, श्रेष्ठ कविता है। इसी दृष्टि के कारण वें शिव को भी एक सामान्य 'हंसते-छींकते, खांसते-जम्हाई लेते' सजीव मनुष्य के रूप में देखती हैं—

हंसता है, छींकता है
खाँसता है, जम्हाई लेता है
तीर्थों में नित्य स्नान करता है

वर्ष के वर्ष नग्न-निर्वसन रहता है
वह तो तुम्हारे पास में है—
उसे पहचानो !

मानव आत्मा में शिव की पहचान का यह संदर्भ लल्लेश्वरी के अध्यात्म को कविता के धरातल पर लाता है, फिर चाहे वे प्राण-अपान की बात करें या 'चन्द्रकला' की, योग-साधना के रहस्यों को उद्घाटित करें या शैव-दर्शन के विचारसूत्रों का कविता में रूपान्तर।

लल्लेश्वरी के 'वाख' पद्य में शैव-दर्शन के दृष्टांतिक रूपान्तर मात्र नहीं। दार्शनिक विचारधारा या योग साधना तो वह अमूर्त चौखटा भर है, एक परिप्रेक्ष्य है, जिसके भीतर कवयित्री का जीवन-बोध अपने विभिन्न आयामों में प्रकट हुआ है। दुर्भाग्यवश लल-वाखों का मूल्यांकन अधिकतर चौखटे को ही वास्तविक वस्तु मानकर किया गया है, जिससे उनमें निहित काव्य-मूल्यों की उपेक्षा हुई है और रचनाशीलता का पक्ष गौण हो गया है। दूसरे शब्दों में, इस संत-कवयित्री को संत के रूप में अधिक और कवि के रूप में अपेक्षतया कम प्रतिष्ठा मिली है। उसे भक्ति-विह्वल भाव से 'माता लल्लेश्वरी' या 'योगेश्वरी लल्ला' कहकर संबोधित करनेवालों और उसके काव्य में आई योग तथा साधना-सम्बन्धी शब्दावली को लेकर उसे एक न्यारे आध्यात्मिक पंथ की प्रतिपादिका माननेवाले श्रद्धालुओं की भीड़ 'वाखों' को एक मानसिक तीर्थ-यात्रा का पर्याय बना देने को उतारू है।

संवेदना और अनुभूति के संदर्भ

वस्तुतः दार्शनिक विचार लल-वाखों में अनुभूत सत्य के रूप में प्रकट होता है। प्रायः ऐसा होता है कि विचार सीधे कहीं भी केवल विचार के रूप में नहीं आता, बल्कि कवयित्री के मन में उत्पन्न भावात्मक प्रतिक्रियाओं से ध्वनित होता है। ये भावात्मक प्रतिक्रियाएं बिम्ब-विधान, प्रतीक-योजना और उपमानों का सहारा लेकर उद्घाटित होती हैं। प्रायः विषय अप्रस्तुत होता है और (प्रस्तुत) बिम्ब उसका संकेत करते हैं। इस प्रकार विचार, अनुभूति और भाव लल्लेश्वरी की अभिव्यक्ति में परस्पर अनुस्यूत रहते हैं। अनुभूति कभी-कभी सीधे पूरी तीव्रता और गहराई के साथ भी लल-वाखों में व्यक्त हुई है—विशेषकर ऐसे स्थलों पर जहां कवयित्री अपने मन के गहरे अवसाद का उद्भावन चाहती हैं। पर यहां भी अनुभूति अक्सर भाव या विचार-दृष्टि को अपने स्थानापन्न रखती प्रतीत होती है। लल्लेश्वरी के काव्य की एक बड़ी विशेषता यही तो है कि उसे पढ़ने पर हम एक सहभोक्ता के तौर पर इस जीवन्त अनुभव को संवेदना के स्तर पर अपने मन में प्रतिस्पंदित पाते हैं जो कवयित्री के मन में एक विशिष्ट

भाव-स्थिति की सृष्टि करता है। इस भाव-स्थिति का उद्घाटन उत्तम पुरुष में होता है, प्रायः लोकजीवन के किसी पहलू या दृश्य से ग्रहीत रूपक या बिम्ब के माध्यम से, वर्णन के द्वारा नहीं। इससे लल्लेश्वरी की अभिव्यक्ति में एक सघनता आती है और अर्थ के आध्यात्मिक के अतिरिक्त भी कई स्तर एक साथ उद्घाटित होते हैं—

मैं आई कि कपास के सफेद फूल-सी खिलं
पर धुनिये और जुलाहे के प्रहार ने
मुझे बस धुनकर ही रख डाला
तार-तार, रेशा-रेशा बन डाला गया मुझे
लटका दिया गया जुलाहे के करघे पर!

तार-तार धुने और बुने गए कपास के श्वेत फूल का यह बिम्ब अपने अंदर सभी रंगों का सौंदर्य समेटे हुए कबीर की 'झीनी चदरिया'-सा लहरा उठता है और निर्वेद के पीछे छिपे दर्द की परत की ओर इंगित करता प्रतीत होता है।

आध्यात्मिक अवसाद के गैरिक वसन तले मन के घाव की झलक दिखाता हुआ लल्लेश्वरी का एक और पद है—

कंधे पर लदी हुई
मिश्री की गठरी की गांठ हुई ढीली
टेढ़ा हो गया मेरी देह का बाण
मैं सहूं तो कैसे?
गुरु ने कुछ ऐसा कहा
कि फफोले-सा सालने लगा
अहसास कुछ खो जाने का
बिन चरवाहे के रेवड़-सा हाल हुआ मेरा
मैं सहूं तो कैसे?

अंतर्मन की गहराइयों से विषाद का स्वर लल्लेश्वरी के वाखों में अनेक स्थानों पर आध्यात्मिक संकेतवत्ता के बीच से फूट पड़ता है—

मिला मुझे काठ के धनुष के लिए
घास का बाण
राजमहल बनाने को उजबक तरखान
खुली रही यहां बीच बाजार में जो—
मेरी ही थी बिना ताले की वह दूकान
कौन समझेगा दर्द—
भटकती रही मेरी यह देह
बिना तीर्थ, बिना स्नान

ऐसे ही नितान्त मौलिक और अछूते बिम्ब, ऐसी ही सरल किन्तु अंतरतम की परत खोल देनेवाली अभिव्यक्ति लल्लेश्वरी के काव्य को अपने युग की ही नहीं विश्व-साहित्य की एक शीर्षस्थ उपलब्धि बना देती है। एक अन्य बहु-उद्धृत पद को लें : एक अकेली स्त्री और सामने अथाह महासमुद्र का अनंत विस्तार। कच्चे धागे से नौका खेकर उसे पार करने का असंभव प्रयत्न और ऐसे में तारने वाले को गुहार। 'घर' जाने को भरमता हुआ बेचैन मन और मिट्टी के कच्चे सकोरों के बीच पानी-सा पच जाने का अनुभव, ये केवल एक आध्यात्मिक तड़प नहीं, अस्तित्व के अकेलेपन के गहन दर्द, व्यक्ति की विवशता के तीखे एहसास के बिम्ब हैं जो कवयित्री की चेतना की गहराइयों तक ले जाने वाले एक 'वाख' में आए हैं। अस्तित्व की समस्याएं, मृत्युबोध, मन पर छाया हुआ एक आध्यात्मिक अवसाद, व्यक्ति और विराट के बीच रागात्मक संबंधों की क्रीड़ा—लल्लेश्वरी में सृजन और संवेदना के ये कुछ संदर्भ हैं।

रहस्यानुभूति

लल्लेश्वरी के काव्य का एक और पक्ष है : रहस्यानुभूति जो एक लोकोत्तर प्रेमी—शिव—से मिलन की उत्कंठा, उसकी खोज और प्राप्ति का संकल्प, उसके प्रति आत्म-समर्पण और उससे अभेद की भावना से सम्बद्ध है। एक आध्यात्मिक प्रणय-लोक की सृष्टि, आत्मा और परमात्मा, व्यक्ति चेतना और विराट के बीच प्रेम की विभिन्न रहस्यमय स्थितियों के संकेत—लल्लेश्वरी के 'वाखों' में यह सब सूक्ष्म रंगच्छायाओं में अंकित मिलता है। यह रहस्य-भावना स्त्री-पुरुष के रागात्मक संबंधों से प्रेरित रूपकों और प्रतीकों के माध्यम से व्यंजित हुई है जिसने ललवाखों की गंभीर दार्शनिक विचारभूमि को हृदय की स्निग्ध संवेदनाओं से सरस किया है। उदाहरण के लिए लल्ला का यह वाक लें—

लल बो' द्रायस लोलरे
छ़'डा़न लूस्तुम द्यन क्योहो राथ
बुछुम पं'डिथ पन॒नि गरे
सुय म्ये॑ रोटमस न्यछ'तर त॒ साथ

जिसका भावानुवाद हिन्दी में यों हो सकता है—

पिया को खोजने में निकली
सुध न रही कब यह दिन बीता
कब यह रात ढली !
मिले अन्त में घर में ही तो
मेरे कंत छली !

मेरे उनके स्नेह-मिलन को
थी यह घड़ी भली।

प्रिय की खोज में निकली लल्ला का हठ दर्शनीय है। हारकर जब अन्त में प्रिय का आवास मिला भी तो द्वार पर सांकल चढ़ी हुई थी। लेकिन प्रिय-दर्शन की ललक ऐसी कि वह इसी द्वार पर ताक में बैठ गईं कि कभी न कभी तो खुलेगा ही—

सखी री, मैं तो खोज थकी घर प्रिय का
झेल हजारों कष्ट अंत में मिली कंत की नगरी
झांका मैंने—बंद द्वार थे, कांपे उत्सुक पग री
कच्ची मेरी प्रीत न समझे किन्तु कभी यह जग री—
बैठ गई मैं द्वार पिया के नेह जताने हिय का !

प्रेम का यह दर्द रात के पिछले पहर में, डूबते हुए चन्द्रमा की बेला में, कवयित्री को जगाता और तड़पाता है—

रात के पिछले पहर
चांद ढलने की बेला में
जागकर मैंने पागल मन को समझाया
रात भर प्रेम की पीर को सहलाती रही—
'लल', 'लल' पुकारते हुए मैंने
जगा ही दिया अपने प्रिय को
उससे मिलन होने पर—
यह देह-मन पवित्र हो गया।

यह मिलन 'सलिल और लवण' का मिलन है। यह पथ सहज साधना का पथ है, जिसमें शम और दम का कोई प्रयोजन नहीं रहता। सहज होकर यह फिर भी कितना दुर्लभ है। केवल इच्छा मात्र से ही मुक्ति का द्वार तो मिल नहीं सकता।

लल्लेश्वरी की रहस्य-साधना आंतरिक है। पूजन अर्चन के बाह्य आधारों का उसमें पूर्ण अस्वीकार है और है विराट की व्यापकता का निरन्तर रहने वाला बोध—

गगन च़्ॖय भूतल च़्ॖय
च़्ॖय द्यन पवन त राथ।
अर्घं-च़न्दुन-पोश-पोञ् च़्ॖय
च़ सकल त लांग्यजि क्याह॥

जिसको हिन्दी में यों रूपान्तरित किया जा सकता है—

देव फिर पूजा कैसी आज ?
तू ही गगन-पवन-भूतल तू,
तू ही दिन तू रात !
तू ही अर्घ्य पुष्प-जल-चंदन
तू ही सब कुछ तात
व्यर्थ ये पूजा के सब साज
देव फिर पूजा कैसी आज ?

लल्लेश्वरी साधना की उस अवस्था की ओर संकेत करती हैं जहां वाक्, मानस, कुल-अकुल नहीं, जहां मौन और मुद्रा का भी प्रवेश संभव नहीं, जहां शिव-शक्ति भी नहीं (क्योंकि नाम और रूप का वहां अस्तित्व ही नहीं)। इसके, सब के परे, जो है उसी की ओर उनके उपदेश का इंगित है—

"वाख मानस क्वल अक्वल ना अते

छ्विप मुद्रि अति ना प्रवीश

रोज़ान शिव-शक्त ना अते

म्वचि़य कुंह त सुय व्वपदीश !"

सूक्ष्म से सूक्ष्मतर तत्त्व की ओर ले जाता हुआ उसका चिन्तन अंत में वहां पहुंचाता जहां शून्य शून्य में मिल जाता है—

तंत्र का अस्तित्व न रहने पर,
मंत्र अवशिष्ट रह जाता है,
और मंत्र के न रहने पर चित्त ।
चित्त के भी न रहने पर
कुछ भी नहीं रहता—
शून्य में शून्य मिल जाता है !

दार्शनिक शून्यवाद का यह सूक्ष्म विचार निश्चय से कश्मीर शैव-दर्शन के चिन्तन-सूत्रों की काव्यात्मक व्याख्या है जिसे सामान्य व्यक्ति के लिए बोधगम्य बनाने का प्रयत्न किया गया है। पर उसकी पकड़ के लिए असाधारण पात्रता की आवश्यकता है। योग और दर्शन की इन ऊंचाइयों को जब लल्लेश्वरी का विचार स्पर्श करता है, तो शायद काव्य और दर्शन की सीमाएं बिल्कुल धुंधली पड़ जाती हैं ।

समाज-चेतना और चुनौती का तेवर

लल्लेश्वरी केवल आध्यात्म के ऊर्ध्व-लोक में ही नही विचरती रहतीं। उनकी दृष्टि धार्मिक बाह्याकारों और आडम्बरों पर, सामाजिक विषमताओं और अन्यायों पर भी पड़ती है। उसका रूप मूर्ति-पूजा हो या तीर्थाटन या कोरा पुस्तकीय ज्ञान

का हो या जीव बलि का—सब पर वे खुलकर ऐसे कड़े प्रहार करती हैं कि कबीर का ध्यान आना अनिवार्य है—

दीव वटा, दीवर वटा
प्यठ ब्वन छुय एकवाठ।
पूज कस करख हूट बटा
कर मनस त॒ पवनस संघाठ ॥

यह देवता भी पत्थर ही है
और देवालय भी—
उपर-नीचे सब कुछ
पत्थर ही पत्थर है
मूर्ख पंडित ! तू पूजा करेगा, तो किसकी ?
मान ले, मन और पवन को एक कर दे।

शिला पीठ में जो कि, वही तो पट में है
चलती चक्की में वह, वही रहट में है
वही शिला उत्तम स्थानों में सजी, सुनो !
शिव दुर्लभ है, पहले यह उपदेश गुनो !

पोथी पर पोथी रटते
रहते कोरे के कोरे !
ये पण्डित, ये अविचारी, कुछ ज्ञान न इनमें गड़ता।
राम नाम का पाठ—
कि ज्यों पिंजड़े का तोता पढ़ता।
दिखलावे को पढ़ते गीता, धिक् रे इनकी जड़ता !
पढ़ी-गुनी गीता मैंने भी,
लेकिन ये मति भोरे—
पोथी पर पोथी रटते, रहते कोरे के कोरे।

चुनौती का ऐसा ही तेवर कबीर में भी है। लल्लेश्वरी में यह तेवर उनके नारी होने के कारण और भी महत्वपूर्ण हो जाता है। सामाजिक विषमताओं के प्रति उन जैसा सचेत कवि शायद ही मध्ययुग में कोई रहा होगा। यह 'वाख' इस तथ्य का एक उदाहरण प्रस्तुत करता है—

बुद्धिमान को एक भूख से मरते देखा
हिमबयार में उसे पात-सा झरते देखा

मैंने ऐसे निपट मूढ़ को भी देखा जो—
गुस्से में आ पीट रहा था बावर्ची को
तब से इसी प्रतीक्षा में बैठी हूं निशि-दिन
इस विभ्रम से मुक्ति मिलेगी मुझको किस दिन

भूख से मरता हुआ और पतझड़ के पत्तों-सा झरता हुआ बुद्धिमान और बढ़िया भोजन के लिए रसोइए को पीटता हुआ धनी-मूढ़—विषमता का यह बिम्ब कितना ज़ोरदार है। चीथड़े पहने हुए इस औरत ने जिस तरह से अन्यायाश्रित मध्ययुगीन समाज व्यवस्था को उसके अंतर्विरोधों, पूर्वाग्रहों और जकड़ावों सहित चीथड़े-चीथड़े कर दिया, वह उसे अपने समय के सबसे बड़े क्रान्तिकारी व्यक्तित्व के रूप में स्थापित करता है। लल्लेश्वरी सही मानों में अपने युग के सांस्कृतिक-नैतिक संकट की शीर्ष व्याख्याता हैं, जिसे दूर करने के लिए उन्होंने एक संत, बौद्धिक-सांस्कृतिक नेता तथा कवि की दोहरी भूमिका निभायी है।

मध्यकालीन भारतीय संत-मन अस्तित्व की समस्याओं में उलझा और मृत्यु के संत्रास से पीड़ित मन है—मानवीय नियति के सवालों से सरोकार रखने वाला मन जो इन समस्याओं के समाधान के लिए आध्यात्मिक परिकल्पनाएं करता है। लल्लेश्वरी के लिए शिव के साथ अभेद की स्थिति मृत्यु से मुक्ति और अकेलेपन के विसर्जन की संभावनाएं लिए हुए है—एक विराट चेतना में आत्म-विसर्जन। उन्होंने जिस दृष्टि से मानवीय समस्याओं को देखा है उसमें बौद्ध करुणा का भी एक अंश है और उनके समाधान की तलाश में भी वे बौद्धों के 'मज्झम निकाय' से प्रभावित हैं। लेकिन एक बात जो लल्लेश्वरी को अन्य मध्ययुगीन संत-कवियों के रूढ़ तेवरों और मुद्राओं से काफी ऊपर उठाती है, वह है विचार के बने-बनाये सांचों से अधिक उनकी स्वयं अपने विवेक और दृष्टि में आस्था। उनमें एक प्रबल आत्मविश्वास है जिसके कारण वे कह बैठती हैं कि, "मैं वन से केसरी को सियार-सा पकड़कर लायी हूं।"

भाषा के रचनात्मक आयाम

लल्लेश्वरी की भाषा को भाषाशास्त्रीय कोण से प्रस्तुत करके उसकी विशेषताओं का विवेचन हम पहले कर चुके हैं। यहां एक कवि के रूप में उनकी भाषा के रचनात्मक आयामों पर तनिक दृष्टिपात करना उचित होगा। शब्द और अर्थ की आन्तरिक संगति के गहरे रहस्यों से उनके साक्षात्कार का पता उनके धीर-संयत शब्द-विन्यास से चलता है जो गंभीर विचार की गति और यति का अनुसरण करता हुआ-सा उनके 'वाखों' को एक विशिष्ट गरिमा से युक्त करता है। दार्शनिक चिन्तन को दैनिक जीवन से लिये गए शब्दों के माध्यम से सामान्य जन

के लिए संप्रेषित करने और बोधगम्य बनाने में उनकी भाषा की भी एक विशिष्ट भूमिका है ।

शैव-दर्शन और साधना से संबंधित शब्दावली कहीं-कहीं रहस्यात्मक प्रतीकवत्ता लिए हुए है, जो धार्मिक भाषा के धरातल पर संप्रेषणीय है । लेकिन ऐसे प्रतीकों के संदर्भ प्रायः स्पष्ट हैं । धार्मिक भाषा में दृष्टान्तों, रहस्यात्मक संकेतों, प्रतीकों का प्रयोग सामान्य यथार्थता से भिन्न एक यथार्थता के उद्घाटन के लिए किया जाता है । पर अनुभूतियों को व्यंजित करने के लिए या अपने मन की परतों को खोलने के लिए लल्लेश्वरी जिस शब्द-योजना को अपनाती हैं उसमें एक तरल संवेदन-शीलता मिलती है,—

मैं सीधे पथ से ही आयी
पर लौट न उस पथ से पायी
इस (स्वमन) सेतु पर चलते-चलते दिवस ढला
मैंने जब जेब टटोली कौड़ी थी न वहां
नदिया से पार उतरने को
अब कहो तरावा दूं तो क्या ?

ये पंक्तियां सांकेतिकता की अनेक तहों को समेटे हुए हैं ।

अनेक प्राचीन शब्द-रूपों की विद्यमानता लल्लेश्वरी की भाषा को एक विशेष स्वरूप, एक विशेष भंगिमा प्रदान करते हैं । कई शब्द ऐसे भी हैं जो परवर्ती युगों में प्रक्षिप्त किये गए हैं और कवयित्री के पदों की भाषिक संरचना और शैली की समग्र योजना में साफ बेमेल नजर आते हैं ।

कश्मीरी भाषा की मौलिक ध्वन्यात्मकता को उनसे बढ़कर शायद ही किसी ने पहचाना है । यही कारण है कि उनके 'वाखों' में तत्काल प्रभावित करने की ज़बर्दस्त शक्ति है और साथ ही एक सूक्ष्म संवेदनशीलता और सांकेतिकता भी जो अर्थ के अनेक आयाम उद्घटित करती है । सूत्रात्मक संक्षिप्तता के कारण उनके प्रभाव की तीव्रता अधिक सघन हो जाती है ।

'वाख' की संभावनाओं का विकास

काव्य-रचना के लिए लल्लेश्वरी ने जिस छन्द-रूप को चुना है वह कश्मीरी का अपना मौलिक छन्द 'वाख' है । यह छन्द कश्मीरी भाषा की प्रकृति के सहज अनुकूल है । लल्लेश्वरी से पूर्व भी इस विधा का प्रयोग 'छुम्मों' और शितिकण्ठ के 'महानय प्रकाश' में हुआ है, पर इसका संस्कार और इसकी संभावनाओं का पूर्ण विकास लल्लेश्वरी में ही मिलता है । 'वाख' के साथ जो गरिमा और प्रतिष्ठा सम्बद्ध है, वह उसे लल्लेश्वरी की ही दी हुई है । उनके बाद हम शेख नूरुद्दीन वली, ज़ययद और रूप भवानी को भी इसी छन्द का प्रयोग करते हुए पाते हैं, यद्यपि

शेख नूरुद्दीन के काव्य के संदर्भ में इसे 'श्रुक' या 'श्लोक' की संज्ञा दी जाती है। 'वाख' शब्द का प्रयोग स्वयं लल्लेश्वरी ने अपनी एक पंक्ति में किया है—'सुय म्यें ललि गोम वाख त वचु न', अर्थात्—"मुझ लल के लिए (गुरु का) कहा 'वाक्' और 'वचन हो गया।' इस पंक्ति में कश्मीरी के एक और काव्य-रूप 'वचन' का संकेत है, जिसका विकास परवर्ती युगों में हब्बाखातून और अरणिमाल ने किया। 'वाख' शब्द की व्युत्पत्ति के बारे में दो मत हैं। एक यह कि 'वाख' संस्कृत 'वाक्य' से बना है और दूसरा यह है कि, यह शब्द 'वाक्' का ही कश्मीरी रूपान्तर है। इनमें से दूसरा मत भाषा शास्त्रीय आधार पर अधिक संगत प्रतीत होता है। कश्मीरी भाषा में संस्कृत शब्दों के अन्त्य 'क' 'ख' के रूप में उच्चरित होता है, अतः 'वाक्' शब्द 'वाख' के रूप में यहां उच्चरित हुआ। यहां यह ध्यातव्य है कि यह ध्वनि-परिवर्तन केवल कर्त्ता कारक के रूपों में होता है, अन्य विभक्तिक रूपों में 'क्' सुरक्षित रहता है।

'वाख' की योजना ऋग्वेद के छन्दों पर हुई है अथवा प्राकृत अपभ्रंश के छन्दों पर, इस विषय में अन्तिम रूप से कुछ कहना कठिन है। प्रो० पृथ्वीनाथ पुष्प का मत है कि 'वाख' का आधार संस्कृत के विषम वर्णवृत्त छन्द, प्राकृत के 'आर्या' और अपभ्रंश के 'गाथा' छन्द हैं। पंक्तियां छोटी-बड़ी होने का यह अर्थ नहीं कि उसकी संरचना वैदिक छन्दों के ढांचे पर हुई है, बल्कि इससे यह संकेतित होता है कि 'वाख' लोकगीतों की परम्परा से संबन्धित है। प्रो० पुष्प के विचार से सहमत होने की बहुत गुंजाइश होने पर भी इस बात की ओर ध्यान जाता है कि लल्लेश्वरी के वाखों का विषम छन्दों का-सा ही रूपाकार नहीं, अर्द्धसम और समछन्दों की-सी संरचना भी है। वस्तुतः 'वाख' कश्मीरी का नितान्त अपना मौलिक और लाड़ला छन्द है जिसे लल्लेश्वरी जैसी महान कवयित्री ने अपनी सृजनात्मक प्रतिभा के सर्वोत्तम अंश प्रदान करके उत्कर्ष के उस शिखर पर पहुंचा दिया जहां से उसे और आगे ले जाने की क्षमता रखने वाला कोई अन्य कवि नहीं हुआ।

शेख नूरुद्दीन वली

लल्लेश्वरी के बाद १४वीं शती के उत्तरार्द्ध में कश्मीरी काव्य के उत्कर्ष के प्रमुख प्रतिनिधि संत-कवि शेख नूरुद्दीन वली (१३७६—१४३८) थे। लोक मानस में आज छः शती बाद भी उनके प्रति विशेष सम्मान की भावना विद्यमान है। आध्यात्मिक रहस्यानुभव की अभिव्यक्ति, आचरण की शुद्धता और सरलता का उपदेश, धार्मिक बाह्याचार का विरोध—उनके काव्य के विषय और संदर्भ बहुत कुछ वही हैं, जो भारतीय सिद्ध, संत और सूफी कवियों के हैं। भक्ति की उसी रहस्यवादी भाव-भूमि पर हमें शेख नूरुद्दीन खड़े मिलेंगे जिस पर लल्लेश्वरी ने अपने अंतर का प्रकाश बाहर छिटकाया था।

जीवन वृत्त : कुछ बिखरे सूत्र

शेख नूरुद्दीन को अपने युग में ही विशेष प्रतिष्ठा मिली। नुन्दऋषि, सहजानंद जैसे विशद हिन्दुओं में उनकी लोकप्रियता के प्रमाण हैं। लेकिन यह प्रतिष्ठा उनके कवि-रूप से कहीं अधिक उनके संत व्यक्तित्व पर आधारित है और प्राय: उससे भी कहीं ज्यादा उनकी इस्लाम-प्रचारक छवि पर। वे कश्मीर में इस्लाम के प्रकाश-स्तम्भ माने जाते हैं। लोक समुदाय में उनके बहुत अधिक पद प्रचारित नहीं हैं, पर उनके आध्यात्मिक चमत्कारों और करिश्मों के किस्सों का कोई अंत नहीं। यही कारण है कि उनके जीवन के बारे में उपलब्ध प्रामाणिक तथ्य बहुत कम है। बाबा दाऊद खाकी, बाबा नसीबुद्दीन गाज़ी, बहारुद्दीन मत्तू, बाबा कमाल आदि उनके शिष्यों और अनुयायियों द्वारा संग्रहीत 'ऋषिनामे' तथा सैयद अली मागरे की 'तारीखे कश्मीर', 'बहारिस्तानि शाही', बाबा दाऊद मस्काती की 'अस्रार-उल-अब्रार', ख्वाजा मुहम्मद आलम द्यदमरी की 'वाकाते-कश्मीर', शेख अब्दुल वाहब की 'फतूहाते कुब्रविया' आदि फारसी इतिहास-ग्रन्थों में चामत्कारिक घटनाओं का कुछ ऐसा घटाटोप है कि वास्तविकता स्पष्ट नहीं होती। शेख के जीवन और काव्य के विषय में वस्तुत: श्रद्धा प्रदर्शन ही अधिक हुआ है, ऐतिहासिक तथ्यान्वेषण कम।

ऋषिनामे—और लोक परम्परा भी, कवि का संबंध कष्टवाड़ के एक क्षत्रिय राजवंश से जोड़ते हैं। उनमें दिए विवरण से पता चलता है कि कवि के पूर्वज हिन्दू थे। राजनीतिक उथल-पुथल के कारण उनके दादा उग्रदेव या उग्रसेन राज छोड़कर कश्मीर घाटी भाग आये। उनके पिता सालारदीन ने इस्लाम स्वीकार किया और कयमूह गांव में रहने लगे। मां सोदरमोज्य राजपूत राजवंश की थी, और कविता करती थीं। पत्नी जयद्यद भी। मां की इच्छानुसार शेख जुलाहे का धन्धा सीखने तो गए, पर मन न रमा और कृषि-कर्म को ही जीविकोपार्जन का साधन बनाया।

मुसलमान ऋषि-परम्परा का प्रवर्तन

शेख नूरुद्दीन उस युग में हुए थे जब कश्मीर में इस्लाम की स्थिति को सुदृढ़ करने के लिए मतान्ध सुल्तान सिकन्दर बुतशिकन ने हिन्दू-उत्पीड़न की नीति पूरे ज़ोर से अपनायी थी। अधिसंख्य हिन्दू जनता पर उसने धार्मिक अत्याचारों और बर्बरताओं के द्वारा लोकमानस में इस्लामी शासन का भय और आतंक स्थापित किया। इस कट्टरपंथी शासक के नाम के साथ मंदिरों के विध्वंस, प्रतिमाओं के खण्डन और तलवार द्वारा धर्म-परिवर्तन की सिहरा देने वाली कथायें जुड़ी हैं। प्रसिद्ध इस्लाम प्रचारक सैयद मुहम्मद हमदानी (सैयद अली हमदानी का पुत्र)

और अन्य उलमाओ के प्रभाव और प्रेरणा के फलस्वरूप सिकन्दर ने हिन्दू जनता को मूलभूत नागरिक तथा मानवीय अधिकारों तक से वंचित किया और उनके लिए जीने तक को एक प्रश्न-चिह्न बना दिया। कत्लेआम, लूटपाट, आगज़नी के लोमहर्षक अभियान में बादशाह और उसके नव-मुस्लिम मंत्री सुहभट्ट ने जैसे सैडिस्टिक आनंद का अनुभव किया। इस नीति के परिणामस्वरूप, लॉरेन्स के शब्दों में, "बहुत सारे (हिन्दू) कश्मीर छोड़कर भाग गए, बहुतों का धर्म परिवर्तन किया गया, और अनेक मार डाले गए।" हिन्दू धर्म और संस्कृति से संबंधित जो कुछ भी सामने आया उसे धार्मिक कट्टरता के उन्माद में ध्वस्त कर दिया गया। साहित्यक ग्रन्थों तक को नहीं छोड़ा गया। नृत्य-संगीत, नाट्य तथा चित्रकला सब पर कड़ा प्रतिबन्ध लगा, केवल सैनिक-वाद्य बजते रहे। हज़ारों की संख्या में ब्राह्मणों के कश्मीर छोड़कर भागने से प्रतिभा और पाण्डित्य को देश-निकाला मिला। इस दृष्टि से सिकन्दर 'बुतशिकन' के युग की प्रायः औरंगज़ेब के युग से तुलना की जाती है।

धार्मिक क्षेत्र में उलमाओं, विशेषकर सैयदों का खासा आतंक था, जो प्रायः राजनीतिक मामलों में भी हस्तक्षेप किया करते थे। मुफ्ती, काज़ी और 'शेख-उल-इस्लाम' आदि को प्रायः इन्हीं में से चुना जाता था। सैयदों के अतिरिक्त सूफियों की भी इस्लाम के प्रचार-प्रसार में एक विशिष्ट किन्तु लोकप्रिय भूमिका रही है। इनका हथियार आतंक या हिंसा न होकर आचरण की शुद्धता या सादगी था। इनके कुब्रवी, नक्शबन्दी, कादिरी, सुहारवर्दी और नूरबख्शी, ये पांच सम्प्रदाय जो ईरानी और तुर्की मूल के थे, कश्मीर में अपने पांव जमा चुके थे। कश्मीर में स्थानीय (मुसलमान) ऋषि सम्प्रदाय, जिसका शलाकापुरुष शेख नूरुद्दीन को माना गया है, को इसी वर्ग के अन्तर्गत रखा जा सकता है। अपने एक पद में शेख ने पूर्ववर्ती प्रतिष्ठित ऋषियों का नामोल्लेख करते हुए स्वयं को सातवां ऋषि घोषित किया है। लोक श्रुतियों का हवाला देते हुए नॉविलस ने 'ख्वाजा उवैस' को इसका बानी माना है। लेकिन ऋषि शब्द साफ संस्कृत का है। यह ऋषि परम्परा कश्मीर में बहुत प्राचीन काल से चली आ रही प्रतीत होती है और इस्लाम के आगमन के बाद भी यथावत् चलती रही है। 'ऋषियों' का धर्म परिवर्तन भले ही हुआ हो, परम्परा का मूल स्वरूप नहीं बदला। इस बात का साक्ष्य स्वयं शेख नूरुद्दीन के पद्य प्रस्तुत करते हैं। कबीर और अन्य संत-कवियों की भांति ये ऋषि 'वेद-कतेब' में निर्देशित धार्मिक रीति-नीतियों के अक्षरशः पालन के प्रति उदासीन रहे और धार्मिक मिथ्याचार का विरोध करते हुए इन्होंने धर्म के लोकप्रिय-सर्वग्राह्य रूप को ही प्रचारित-प्रतिष्ठित किया। व्यक्तिगत उदाहरण द्वारा लोगों को आचरण की शुद्धता की ओर प्रेरित करने की दिशा में ये विशेष आग्रहशील रहे। इनकी जीवनचर्या विरक्ति, त्याग और कठिन तपस्या की थी। मुसलमान

बनने के बाद भी इनके द्वारा अपने लिए संस्कृत 'ऋषि' संज्ञा को बनाये रखना संकेतित करता है कि धार्मिक कठमुल्लाओं के जुनूं पर आधारित इस्लाम का रूप इन्होंने स्वीकार नहीं किया। जो धार्मिक भाषा ये लोग बोलते-समझते थे उसके व्याकरण के मुख्य तत्त्व थे सरल जीवन, लोकोपकार, तितिक्षा, 'ज़िक्र' और 'फ़िक्र' (नामोच्चारण और ध्यान)। इनकी लोकप्रियता का कुछ अनुमान अबुल फ़ज़ल और जहांगीर के विवरणों द्वारा हो सकता है। इन मुसलमान ऋषियों के विचार-चिन्तन पर निश्चय से वेदान्त, शैव तथा बौद्ध दर्शनों की प्रतिच्छाया है। मुसलमान ऋषियों ने परम्परा को यथावत् रखते हुए उसमें सूफ़ीमत के वहदत-उल-वजूद का फलसफा जोड़ दिया। मांस-त्याग और वन्यशाकों का आहार, गुहावास, इन्द्रिय-दमन आदि अनेक बातें इस परम्परा के हिन्दू अतीत को सूचित करती हैं।

अपने पूर्ववर्ती ऋषियों का उल्लेख करते हुए शेख नूरुद्दीन ने इस परम्परा का सम्बन्ध सीधे हज़रत मुहम्मद से जोड़ा है—"अवल रिषी अहमद रिषी !" पर ऐसा केवल पैगम्बर के प्रति श्रद्धाभाव के कारण। इसी पद में उन्होंने 'रुमऋषि' और 'डण्डकवन' के ज़ुल्कार अथवा ज़नकार ऋषि का नाम लिया है। रुमऋषि के बारे में कुछ का विचार है कि उन्हें कश्मीर के रोमूह गांव में दफनाया गया था तो कुछ उन्हें इस्लामी विश्वासों के एक मिथकीय पुरुष हज़रत खिज्र से सम्बद्ध करते हैं। लेकिन कश्मीर के हिन्दू पुराण-प्रसिद्ध लोमष ऋषि को ही रुमऋषि कहते हैं और उनकी-सी लम्बी आयु का आशीर्वाद देते हैं। इसी भांति डण्डकवन अथवा दण्डकवन भी हिन्दू पौराणिक भूगोल का एक परिचित स्थल है, यद्यपि कुछ लोग कश्मीर के एक गांव के साथ उसकी पहचान स्थिर करते हैं। कैसे ये नाम कश्मीर के मुसलमान ऋषियों के साथ सम्बद्ध हुए, निश्चय से कहा नहीं जा सकता। संभव है कि इन पौराणिक हिन्दू ऋषियों और स्थलों की कश्मीर के ऋषि सम्प्रदाय में प्रारम्भ में अत्यधिक प्रतिष्ठा रही हो और बाद में अन्य व्यक्तियों और स्थानों को भी उनके-से नाम दे दिये गये हों। जो हो, इतना निशिचित है कि इस्लाम-स्वीकार के बाद भी इन ऋषियों ने अपने नामों का इस्लामीकरण नहीं किया—उनके कश्मीरी (हिन्दू) रूपों को ही बनाये रखा—सुह ऋषि, लछम ऋषि, स्वन् ऋषि, र्‌वप ऋषि सिद्ध ऋषि आदि। कहते हैं कि शेख मख्दूम हम्ज़ा के समय में हरद (शरद) ऋषि ने अपना नाम बदलने से साफ इनकार किया था। इस प्रकार इन ऋषियों ने इस्लाम का उससे पृथक् और लोक-स्वीकार्य बिम्ब प्रस्तुत किया, जैसा कि तलवार के धनी सुल्तानों ने किया था। कश्मीरियों को इनके प्रचार में अपने परम्परा- प्रचलित धर्म-विश्वासों और आचारों से कोई भिन्नता प्रतीत नहीं हुई। इस्लाम को भी इन्हीं स्थानीय रंगों में रंगा गया तो वह अधिक ग्राह्य हुआ।

तेरहवीं शताब्दी के पश्चात् जिन इस्लामी सांस्कृतिक- वैचारिक तत्त्वों का प्रवेश भारत में हुआ, इस्लामी मिथक-कथाओं तथा आचरण के नैतिक-सामाजिक मानों के साथ-साथ सूफी आध्यात्मिक संस्कृति और विचार-दर्शन भी उसके अंग थे। सूफीमत ने उदार-हृदय मुसलमानों और हिन्दुओं के लिए एक ऐसा साझा मंच प्रस्तुत किया जिस पर वे स्वतंत्रता पूर्वक मिला करते थे। सूफी दर्शन पर हिन्दू रहस्यात्मकता का काफी गहरा प्रभाव था। वैचारिक प्रभाव-प्रक्षेपन की यह प्रक्रिया कश्मीर में उल्लेखनीय रूप से गतिशील रही और हिन्दू धार्मिक विचार-धाराओं के प्रभाव के अन्तर्गत रहस्यात्मक प्रवृत्तियों से परिपूर्ण एक नये विचार-निकाय का उदय हुआ।

शेख नूरुद्दीन वली इसी निकाय के प्रमुख प्रतिनिधि के रूप में हमारे सामने आते हैं। धर्म के जिस लोक-ग्राह्य रूप का प्रतिपादन शेख नूरुद्दीन ने किया, उसके कारण उन्हें आलिमों, सादातों और मुल्लाओं का विशेष विरोध सहना पड़ा। अरबी-फारसी वे विशेष पढ़े लिखे न थे, इस बात को लक्ष्य करते हुए सादात लोगों ने उन्हें अनपढ़ तक कह डाला है। अपनी कविता में शेख ने भी इन लोगों पर कसकर और खुलकर प्रहार किए हैं। लल्लेश्वरी और कबीर की भांति उन्होंने भी कोरे पुस्तकीय ज्ञान की खिल्ली उड़ायी है, साधनाहीन आलिमों को भारवाही गधे कहकर पुकारा है और लोगों को सावधान किया है कि ये गधे कहीं उनकी केसर की बगिया को न चर जायें। मुल्लाओं को भी कवि ने बख्शा नहीं है, और जहां-तहां उपहास का लक्ष्य बनाया है—

> मुल्लाओं की पगड़ी भी क्या शानदार है—
> कैसे चलते अकड़-अकड़कर उसको पहने !
> पांव ज़री की जूती डाले, तन पर चोगा
> और कांख में खाने की तश्तरी पंसेरी
> दुर्गम पर्वत लांघ कमाने जाओ रोज़ी
> और रोज़ी से मुल्लाओं को भोज खिलाओ

व्यंग्य का यह स्वर शेख नूरुद्दीन की कविता की एक विशेषता है, जो उनके समाज-चेता होने का साक्ष्य प्रस्तुत करता है। सामाजिक विषमताओं के प्रति उनका व्यंग्य धारदार इसलिए है कि आर्थिक कठिनाइयों और अभावों का अनुभव उन्होंने स्वयं अपने जीवन में किया था। 'तप्त धातु की चादर' पर चलने की पीड़ा उन्होंने ज़िंदगी भर झेली। लेकिन दरिद्रता में ईश्वरीय महिमा को देखने और उसके दंश की मनोवैज्ञानिक क्षतिपूर्ति की प्रवृत्ति अन्य मध्ययुगीन संतों की भांति उनमें भी है। उस समाज-व्यवस्था के प्रति शेख क्षुब्ध हो उठते हैं जिसमें धनी मूढ़ तुरग पर चढ़े-चढ़े ऐंठते हैं और सामान्य जनों के घर बस सांय-सांय रहती है।

यहां मांस पुलाव उड़ता है तो वहां भरपेट खाना भी मयस्सर नहीं। लेकिन अंत में वे यह कहकर संतोष कर लेते हैं कि—

दुनिया है मिली अरे दुनियादारों को
मत गवां गांठ की, गिन मत दीनारों को !
प्रभु को सुमिरेंगे, श्रेय वही पाएंगे,
और नैया अपनी पार लगा जाएंगे !

मृत्यु का संत्रास

शेख में उस विद्रोह का प्रस्फुटन नहीं होता जो हमें लल्लेश्वरी में मिलता है। उसके स्थान पर आध्यात्मिकता में शरण लेने की प्रवृत्ति ही अधिक दृष्टि-गोचर होती है। शेख नूरुद्दीन की काव्यानुभूति के एक छोर पर 'लामकां' तक जा पहुंचने का रोमांच है तो दूसरे पर संसार की क्षणभंगुरता और मृत्यु का संत्रास। मृत्यु और उसका भय शेख की कविता का एक केन्द्रीय विषय है जिसकी आवृत्ति अनेक बार हुई है। मृत्यु के सम्बन्ध में वह वैचारिक या दार्शनिक दृष्टिकोण शेख में नहीं जो लल्लेश्वरी की कविता में है। लल्लेश्वरी स्पष्ट लिखती हैं कि शास्त्रों ने मृत्यु के भय को अधिक भयावह रूप में प्रस्तुत किया है, अन्यथा मृत्यु या अनस्तित्व की स्थिति केवल शुन्य का शून्य में मिलन भर है। शेख बार-बार उदाहरण देकर इस भय की ओर संकेत करते हैं —मृत्यु एक खूंख्वार सिंह के रूप में उनके काव्य में बिम्बित हुई हैं—

काल सिह है उससे दूर कहां भागोगे,
झुण्ड बीच वह खींच पकड़ ले जाएगा ही।

या,

हाथ भर दूर सर्प से भगो भाई,
सिंह से दूर कोई कोस भर भागो,
दूर ही दूर भागो धर्म-ध्वजाधारी से
मौत से दूर न किन्तु निमिष भर भागो।

दोजख की आग और रोज़े महशर का भय भी उन्हें त्रस्त करता प्रतीत होता है—

तुम रोज़े-महशर कहो करोगे क्या आखिर
होंगे घबराए वहां अरे, सब आम-खास
बेटों को बाप न पूछेंगे उस रोज़े कहर
पीरों नबियों पर तक छायेगा घोर त्रास।

या, हड्डियां अरे ! अंजर-पंजर हो जाएंगी,
मैं याद तुम्हें वह अन्तिम रात दिलाता हूं।

मृत्यु को जीवन की परिणति के रूप में स्वीकारने के स्थान पर प्राय: जीवन और यौवन की क्षणभंगुरता का एहसास उनके मन को उद्वेलित-आंदोलित करता है।

'नफ्स' का दमन

शेख के काव्य में एक अन्य अवधारणा की आवृत्ति भी मिलती है और वह है 'नफ्स'। 'नफ्स' को शेख ने सूफी परम्परा के अनुसार एक शत्रु के रूप में प्रस्तुत किया है जिससे सजग रहने का वे बार-बार उपदेश देते हैं। 'नफ्स' को मारने अथवा इन्द्रिय-दमन के उपदेश की प्रवृत्ति उनकी कविता में स्थान-स्थान पर झलकती है। 'नफ्स' को वे प्राय: एक मदमस्त हाथी के रूप में प्रस्तुत करते हैं, जिसका दमन करना अत्यन्त कठिन है।

कृषक कवि की काव्य-कृषि

जीवन के दैनिक अनुभवों और परिचित दृश्यों से कवि ने अपने उपमान और प्रतीक चुने हैं—विशेषकर कृषक जीवन से। कृषि-कर्म से सम्बन्धित शब्दावली और रूपकों की उसके काव्य में आवृत्ति है। इस शब्दावली में गूढ़-गाढ़ गहरे अर्थों को ढूंढ़ निकालने वालों की कमी नहीं, पर वास्तविकता यह है कि शेख नूरुद्दीन मूलतय: उलटबांसी के कवि नहीं थे। इनकी अभिव्यक्ति पर भी इनके किसान-व्यक्तित्व की छाया है। उसमें हल और कोल्हू में जुते बैल की नीरस ज़िंदगी की ऊब का बिम्ब उभरता है, जिससे त्राण केवल 'ज़िक्र और फ़िक्र' (ध्यान और चिन्तन) से ही मिल सकता है, और निरन्तर कर्मरत कृषक का बिम्ब भी जो समय पर हल चलाकर, बीज बोकर गोड़ी और निराई करके 'मीठे फल' की आशा करता है।

रहस्यवादी भाव-चेतना

शेख नूरुद्दीन के काव्य में एक स्वर आध्यात्मिक रहस्यवाद का भी मुखर है। मनुष्य और ईश्वर के पारस्परिक सम्बन्धों को लोकोत्तर प्रेम के रूपकों द्वारा उन्होंने जहां उद्घाटित किया है, वहां मार्मिक कविता बन पड़ी है—

प्रेम, कि ज्यों मां का इकलौता पुत्र मरे
वह पलभर पलकें झपकाए तो कैसे ?
....

प्रेम, तीक्ष्ण करवाल-वार को सह लेना
चोट नहीं उस जन को आये तो कैसे ?

बाद के कश्मीरी सूफी कवियों में इश्के-हकीकी की जो पीर मिलती है, उसका आस्वाद शेख नुरुद्दीन के पद १४वीं शताब्दी में ही कराते हैं। ओखली में कलेजा देकर उसे स्वयं पीस डालना इस प्रेम की एक शर्त है। लेकिन कहीं-कहीं रहस्यमय प्रेमानुभूति जन्नत में स्थान मिलने और सुन्दर हूरों की आकांक्षा के कारण सपाट भी होकर रह जाती है—

आशिक है वह जो दामन पाक रखेगा
(सुन्दर हूरें उसकी सेवा रत होंगी)
सबसे पहले जन्नत में स्थान मिलेगा—
इसको कि प्रेम में जो रातों जागेगा।

शेख नूरुद्दीन और लल्लेश्वरी : तुलना के सूत्र

शेख नूरुद्दीन के काव्य की भंगिमा बहुत कुछ वैसी लगती है जैसी लल्लेश्वरी की। उनके चिन्तन और अभिव्यक्ति पर भी लल्लेश्वरी की गहरी छाया है। जिस समय शेख तरुणाई को प्राप्त हुए उस समय लल्लेश्वरी एक प्रतिष्ठित तथा वयः प्राप्त संत-कवयित्री थीं। इससे एक समस्या उठ खड़ी हुई है। शेख और लल्लेश्वरी के अनेक पद परस्पर गड्ड-मड्ड कर दिए गए हैं। यह प्रामाणिक रूप से स्थिर करना काफी मुश्किल है कि कौन-से पद किसके हैं। इसका एक कारण यह भी है कि शेख नूरुद्दीन के कलाम का वैज्ञानिक पाठानुसंधान अभी तक नहीं हुआ है। इस कलाम के प्राचीनतम उपलब्ध हस्तलेख शेख की मृत्यु के दो ढाई सौ वर्ष बाद के हैं। इस बीच वह भी लल्लेश्वरी के पदों की तरह मौखिक परम्परा से ही चला आ रहा था और उसका भी काफी अंश प्रक्षिप्त है। अतः इस संभावना से इनकार नहीं किया जा सकता कि 'नूर-नामों' और 'ऋषि-नामों' में शेख के नाम से सम्बद्ध किए गए पद सब के सब उनके नहीं। अनेक पद तो स्पष्ट रूप से सोदर-मोज्य और जय-ग्रद के हैं और कुछेक शेख के शिष्यों के भी। लल्लेश्वरी से शेख इतने अधिक प्रभावित थे कि उन्होंने अपने एक पद में उन्हें अवतार तक घोषित कर दिया है। ऐसी स्थिति में शेख के कलाम में लल्लेश्वरी के कुछ पदों का आ जाना काफी संभव है—अनेक स्थलों पर तो लल्लेश्वरी की छाया इतनी स्पष्ट है कि संदेह की गुंजाइश नहीं रहती। इसी प्रकार भाषिक तथा शैली विज्ञान की दृष्टि से लल्लेश्वरी से सम्बद्ध किए गए कुछ पद उनके न होकर शेख नूरुद्दीन के हो सकते हैं, क्योंकि सूफी कवियों की शब्दावली के स्थान पर लल्लेश्वरी ने शैव-दार्शनिक शब्दावली का प्रयोग किया है।

दोनों कवियों में ईश्वर उस चिरंतन सत्य के रूप में व्यक्त हुआ है जिसका

प्रकाश जीवन के हर अंग को प्रकाशित करता है। लेकिन लल्लेश्वरी की जीवन-दृष्टि और दर्शन अधिक गहरा तथा सूक्ष्म है, जब कि शेख नूरुद्दीन दैनिक बोलचाल के मुहावरे में उसकी व्याख्या करते हैं। उनके पदों में काव्यात्मकत गौण और नैतिक उपदेश की मुद्रा प्रमुख है।

अब्दुल अहद आज़ाद के अनुसार, "ललवाख कविता है और शेख के लिए धार्मिक संदेश को व्यक्त करने के लिए कविता एक माध्यम भर है।"[११] शेख की तुलना में लल्लेश्वरी दर्शन को कविता की मंजिल तक पहुंचाती हैं। इसके लिए लल्लेश्वरी मानवीकरण, प्रतीकों, रूपकों, नये बिम्बों आदि का प्रयोग करती हैं। इस सम्बन्ध में रहमान राही का विचार यह है कि "शेख-उल-आलम के नाम पर जो 'श्रुख' मिलते हैं, बाह्य रूप-रंग से वे भी 'लल-वाखों' से मिलते-जुलते हैं, विषय की दृष्टि से भी दोनों में समानता है, और भेद है तो केवल इतना कि एक दहकता हुआ अंगारा है तो दूसरा राख में लिपटी चिंगारी।"[१२]

ऋषि के 'श्लोक'

यह बात विशेष रूप से ध्यातव्य है कि शेख नूरुद्दीन के पदों को 'श्रुख' अर्थात् श्लोक कहा जाता है। इससे प्रारम्भिक कश्मीरी की छन्द-प्रवृत्ति पर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। नुन्द ऋषि के श्लोक संस्कृत के श्लोक छन्द की शास्त्रीय परिभाषा के अक्षरशः अनुरूप न होकर भी आप्त वाक्यों की-सी गरिमा लिए हुए हैं। प्रारंभिक कश्मीरी के एक अन्य लोकप्रिय छन्द रूप 'वचन' की-सी संरचना भी कवि के कुछ पदों में दृष्टिगोचर होती हैं। संस्कृत छन्दों का प्रयोग कश्मीरी काव्य में शेख नूरुद्दीन के बाद भी 'बाणासुर कथा' और 'सुख-दुख चरित्' की रचना तक जारी रहा।

शेख नूरुद्दीन के 'श्लोक' कश्मीरी भाषा की एक प्राचीन परत को उद्घाटित करते हैं। उनमें संस्कृत-मूल के शब्दों की प्रचुरता तत्कालीन कश्मीरी के वास्तविक स्वरूप की गुत्थी को सुलझाने में सहायक सिद्ध हो सकती है। लोक-जीवन से निकटता से संपृक्त यह भाषा ग्राम-गिरा का माधुर्य लिए है। शताब्दियों की जो भाषिक तहें उस पर चढ़ी हैं, वे उसके वास्तविक स्वरूप को फिर भी ठीक से प्रस्तुत करने में बाधक है। इस्लाम के आगमन के परिणामस्वरूप जो भाषिक परिवर्तन हुआ उसकी कुछ-कुछ झलक भी शेख के पदों में देखी जा सकती है।

शेख नूरुद्दीन के 'श्लोकों' के विषय में प्रो० रहमान राही ने अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा है: "ललवाखों की तुलना में शेख साहब के 'श्रुख' (श्लोक) जीवन्त अनुभव व्यक्त करनेके स्थान पर साधकको संबोधित एक संस्मरणात्मक या अनुभवजन्य शिक्षाप्रद नुक्ता प्रस्तुत करते हैं। शेख उल आलम के अधिकांश 'श्रुख' हमारी बुद्धि को तो अवश्य छू लेते हैं, परन्तु मन में घर नहीं कर सकते। इन

श्लोकों में जो उपमा और लक्षणा है, सर्जनात्मक से अधिक व्याख्यात्मक है। वह दृष्टान्त प्रस्तुत करती हैं, परन्तु प्रतीक नहीं बन सकतीं।"[13]

संदर्भ-सूत्र

१. जोनराज कृत 'द्वितीय राजतरंगिणी' : सम्पादन श्रीकण्ठ कौल (विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर), श्लोक ३४८।

२. प्रो० जियालाल कौल : लल द्यद (जम्मू एण्ड कश्मीर अकादमी ऑफ आर्ट कल्चरल एण्ड लैंग्वेजिज़), पृ० १५६ पर उद्धृत।

३. वही : पृ० २५८ पर उद्धृत।

४. मुहीब-उल-हसन : कश्मीर अण्डर दि सुल्तान्स, पृ० ५६।

५. वही : पृ० ५६।

६. वही : पृ० ५५।

७. वाल्टर आर० लारेन्स : दि वैली ऑफ कश्मीर (केसर पब्लिशर्स, श्रीनगर द्वारा १९६७ में पुनर्मुद्रित), पृ० १९९।

८. बहारिस्तानि शाही : २६वां पन्ना।

९. मुहीब-उल-हसन : कश्मीर अण्डर दि सुल्तान्स, पृ० २२१।

१०. नॉवेल्स : डिक्शनरी ऑफ कश्मीरी प्रॉवर्ब्स एण्ड सेइंग्स : पृ० २३।

११. अब्दुल अहद आज़ाद : कश्मीरी ज़बान और शायरी (जम्मू कश्मीर राज्य कल्चरल अकादमी द्वारा प्रकाशित)।

१२. प्रो० रहमान राही : का'शुर समाचार, (लल द्यद अंक, १९७०-७१) हिन्दी भाग, पृ० ८।

१३. उपरिवत्।

: ४ :

कश्मीरी काव्य : १५वीं शती

कश्मीर में रचनात्मक उन्मेष

पंद्रहवीं शती में कश्मीर जिस संक्रमण की स्थिति से गुज़र रहा था उसका एक पक्ष लोकभाषाओं का उदय भी था, जिससे साहित्य-रचना का एक अपूर्व उत्साह उस युग में दृष्टिगोचर हुआ। यह बात अत्यंत महत्वपूर्ण है क्योंकि उस समय मुस्लिम राजसत्ता के प्रोत्साहन-संरक्षण के कारण फारसी दरबार, कचहरी और बौद्धिक-व्यवहार की भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी थी और संस्कृत तथा उससे सम्बद्ध सांस्कृतिक परिवेश का प्रभाव-वृत्त सिमट रहा था। ऐसी स्थिति में कश्मीरी को अपनी सृजनात्मक संभावनाओं को लेकर सामने आने का अवसर मिला और अनेक कवियों ने उसकी साहित्यक अभिव्यक्ति के माध्यमक के तौर पर सार्थकता पहचानी। इस दिशा में रचनात्मक गतिविधि को विशेष प्रोत्साहन बडशाह ज़ैन-उल-आबिदीन (१४२०-७०) ने दिया, जिसने स्वयं भी कश्मीरी में लिखा और इस भाषा में काव्य-सृजन करनेवालों को संरक्षण व सम्मान दिया। उसके राज्यकाल के प्रारम्भिक लगभग दो दशकों तक तो शेख नूरुद्दीन वली अपने 'श्लोक' रचते ही रहे, काव्य के अन्य रूपों और विधाओं में भी, इस युग में रचना के प्रयास हुए। जोनराज और श्रीवर ने बडशाह के समय के जिन कृती साहित्य-कारों का उल्लेख किया है उनमें तीन शीर्षस्थ नाम हैं—योधभट्ट, नोत्थसोम और भट्टावतार। योधभट्ट ने कश्मीरी में ज़ैन-उल-आबिदीन पर एक नाटक लिखा, 'ज़ैन-प्रकाश'। नोत्थसोम ने 'ज़ैनचरित्' नाम से जीवनी लिखकर बडशाह का चरित्-गान किया, और भट्टावतार ने ज़ैन-उल-आबिदीन के राजादेशों को ज़ैनविलास' में पद्यबद्ध किया तथा हरिवंश पुराण पर आधारित एक कथाकाव्य 'बाणासुर कथा' की रचना की। 'देशभाषा' कश्मीरी में और भी अनेक कृतियां इस युग में रची गयी होंगी, पर बडशाह के सभा पण्डित श्रीवर ने अपनी राजतरंगिणी में केवल राजस्तुतिपरक रचनाओं का ही उल्लेख किया है, यहां तक कि 'बाणासुर कथा' जैसी महत्वपूर्ण काव्यकृति भी उससे छूट गयी है। शेख नूरुद्दीन के श्लोकों को

छोड़कर इस युग की तमाम साहित्यिक कृतियों में आज वही एक उपलब्ध है। उसके बाद जैन-उल-आबिदीन के पौत्र सुल्तान हसनशाह के समय (१४७२-८४) में गणक प्रशस्त द्वारा लिखी गयी 'सुखदुःखचरित्' मिलती है। यहां यह ध्यातव्य है कि प्राकृत और अपभ्रंश के राजस्तुतिपरक चरित्काव्यों की परम्परा के अनुरूप कश्मीर में भी इस प्रकार की कृतियों को 'चरित् प्रकाश' अथवा 'विलास' की संज्ञा दी जाती थी।

भट्टावतार और उनकी 'बाणासुर कथा'

'बाणासुर कथा' के रचयिता भट्टावतार अथवा अवतार भट्ट कश्मीरी कविता के आदिकाल के एक सशक्त और महत्त्वपूर्ण कवि हैं। उनसे पूर्व लल्लेश्वरी तथा शेख नूरुद्दीन ने अपने आध्यात्मिक अनुभव और भावदृष्टि को कश्मीरी भाषा के माध्यम से लोक-संवेद्य बनाया। अवतार भट्ट ने मुहीब-उल-हसन के शब्दों में, कश्मीरी भाषा को उसका 'प्रथम लौकिक काव्य' दिया।[1] 'बाणासुर कथा' एक लघु कथा-काव्य है जिसे हरिवंश पुराण के ख्यात् उषा-अनिरूद्ध तथा कृष्ण-बाणासुरयुद्ध के प्रसंगों से बुना गया है। इस कृति में तत्कालीन कश्मीरी काव्यरूप, छन्दविधान और भाषा-स्थिति का एक खोया हुआ लोक आलोकित हो उठता है। काव्यगत मूल्यों के अतिरिक्त, जो निःसंदेह काफी उत्कृष्ट हैं, प्रारम्भिक कश्मीरी के भाषिक तत्वों के अन्वेषण की दृष्टि से भी इसका विशेष महत्त्व है। राजस्थान में संस्कृत पाण्डुलिपियों की खोज में निकले बूह्लर को इसकी पाण्डुलिपि बीकानेर में प्राप्त हुई। दूसरी कोई पाण्डुलिपि आजतक उपलब्ध नहीं हो सकी है। भण्डारकर शोध संस्थान, पूना के पुस्तकालय में कश्मीरी पाण्डुलिपियों के बीच यह पुस्तक अब तक लगभग अनदेखी-अनछुई पड़ी हुई थी। बूह्लर ने कुछ पण्डितों से इसे पढ़वाने का प्रयत्न किया था, पर उन्हें विशेष सफलता न मिली। उन्होंने इस पाण्डुलिपि की सूचना 'बाणासुर वध' के नाम से दी[2] जबकि स्वयं इसके रचयिता अवतार भट्ट ने इसका समापन करते हुए इसे 'बाणासुर कथा' कहा है—"इति लहरे सृगालपुरी बाणासुर कथा समाप्ता।" लिपिकार ने पाण्डुलिपि के आवरण पृष्ठ पर फारसी में भी स्पष्ट लिखा है—"हिकायते बाणासुर" जिससे इसके 'बाणासुर कथा' नाम की ही पुष्टि होती है। लेकिन बूह्लर के बाद ग्रियर्सन ने भी बिना पाण्डुलिपि को पढ़ने का कष्ट किए 'बाणासुर वध' नाम से ही उसका उल्लेख किया।[3] तब से अब तक 'बाणासुर कथा' को प्रायः 'बाणासुर वध' के रूप में ही जाना गया।

'बाणासुर कथा' की पाण्डुलिपि के ९३ पन्नों में से कुल ८० पन्ने उपलब्ध हैं; २५ वें से ६७ वें तक चौदह पन्ने और ८६ वां पन्ना अनुपलब्ध है। उपलब्ध पद्यों की कुल संख्या ३९० है। प्रारम्भिक कुछ पन्नों पर संस्कृत और कहीं-कहीं

कश्मीरी में भी पंक्तियों के बीच अथवा हाशिये पर टीका अर्थात् कुछेक शब्दों के अर्थ दिये गए हैं। पाण्डुलिपि का काल फारसी लिपि में दिया गया है—मुहर्रम उल-अहराम १०२० ई०, जो ईस्वी सन् का १६०१ वां वर्ष ठहरता है।

जीवन वृत्त और काव्य-व्यक्तित्व

अवतार भट्ट के जीवन के विषय में आंतरिक और बहिर्साक्ष्य के आधार पर जो तथ्य प्राप्त होते हैं वे काफी विरल हैं। कवि का जीवन-काल ज़ैन-उल-आबिदान 'बडशाह' के समय (१४२०-१४७० ई०) में अवस्थित था। उस काल के विख्यात् इतिहासकार और राजसभा के मान्य पण्डित श्रीवर ने अपने इतिहास ग्रन्थ 'जैन राजतंरगिणी' में संक्षेप में कवि का उल्लेख किया है जिससे पता चलता है कि अवतार भट्ट बडशाह कालीन प्रमुखतम साहित्यक प्रतिभाओं में गिने जाते थे। संस्कृत और फारसी भाषा के अच्छे विद्वान थे। श्रीवर ने उन्हें शाहनामदेश-ग्रंथाब्धिपारगः—'शाहनाम' के देश के ग्रन्थ सागर को पार करनेवाला कहा है, जिससे ज्ञात होता है कि अवतार भट्ट ने फारसी के अनेक ग्रन्थों का गहरा अध्ययन किया था।[४] संस्कृत और फारसी के प्रतिष्ठित विद्वान होने पर भी उन्होंने 'देशभाषा' को ही अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम चुना। इससे अपनी मातृभाषा के प्रति कवि का प्रेम द्योदित होता है।

जहां तक कवि के कृतित्व का सम्बन्ध है, श्रीवर ने 'बाणासुर कथा' का कहीं उल्लेख नहीं किया है, किन्तु उसकी अन्य रचना 'जैन विलास' के आधार पर उसे अपने समय के प्रतिष्ठित कृतिकारों में गिना है। 'जैन विलास' आज उपलब्ध नहीं है, पर श्रीवर के अनुसार उसमें ज़ैन-उल-आविदीन बडशाह के आदेश संग्रहीत थे।[५] ऐसा बादशाह के कहने पर ही किया गया होगा क्योंकि 'बाणासुर कथा' में अवतार भट्ट ने यह संकेत दिया है कि वे राज कवि थे। श्रीवर 'बाणासुर कथा' के बारे में संम्भवतः इसलिए चुप हैं कि यह कृति उनकी नजरों से गुजरी नहीं होगी, या फिर दरबारी इतिहासकार होने के कारण उन्होंने 'जैनराजतंरगिणी' में कवि की केवल उस कृति का उल्लेख किया जो राजस्तुतिपरक थी। जो हो, बडशाह के समय रचित् कश्मीरी कृतियों में से अवतार भट्ट के काव्य-व्यक्तित्व का प्रकाशन करने वाली कृति 'बाणासुर कथा' आज सुरक्षित है और इस कवि की प्रतिभा का एक शक्तिशाली बिम्ब उभारती है। कृति का परिचय देते हुए कृतिकार ने स्वयं उसकी रचनातिथि का संकेत किया है—

जैननि पाने विमले राज्ये
षड्विंशे वर्षे कतकिय
दिव सरस्वथ पूज्यते आज्ये
हरिवंशस अन्दर वंथिय

अर्थात्, स्वयं ज़ैन-उल-आबिदीन के विमल राज्य के छब्बीसवें वर्ष कार्मिक मास में सरस्वती की पूजा के उपरान्त हरिवंश पुराण की कथा के आधार इस काव्य-कृति की रचना हुई। ज़ैन-उल-आबिदीन का शासन काल सन् १४२० ई० से शुरू होता है; इस दृष्टि से ग्रन्थ की रचना तिथि १४४६ ई० ठहरती है। कवि की जन्म और मरण तिथियों का कहीं उल्लेख नहीं, पर इतना तो कहा जा सकता है कि बडशाह के युग में उनके जीवन का अधिकांश व्यतीत हुआ होगा;

'बाणासुर कथा' की पुष्पिका में कवि ने उसके रचना स्थान का भी उल्लेख किया है—

इति लहरे सृगालपुरीय बाणासुरकथा समाप्ता

संभवतः यही कवि का जन्म-स्थान भी था। संस्कृत इतिहास-ग्रन्थों में वर्णित 'लहर' क्षेत्र वर्तमान लार परगना है जो सिन्धु घाटी के पश्चिम में स्थित है। सृगालपुरी संभवतः वर्तमान शालपुर है। मध्ययुगीन कश्मीर के इतिहास में हिन्दू राजशक्ति के पतन और मुस्लिम सत्ता के उदय में लार की भी एक भूमिका रही है।

कथा-काव्यों की चिराचरित परिपाटी का पालन करते हुए कवि ने अपने गुरु का नामोल्लेख और वन्दना की है—

नमेत रसाय सलहन आचार्यस
बहुशास्त्रज्ञस यश येन नेव
ज्ञान समुद्रस ता अतिचार्यस
अवतारे बाणासुर केय।

अर्थात् बहुथास्त्रज्ञ, यशस्वी, ज्ञानसमुद्र सलहन आचार्य को नमन करके कवि अवतार ने 'बाणासुर (कथा)' की रचना की। इन सलहन आचार्य के बारे में अन्यत्र कोई प्रकाश नहीं पड़ता।

इन कुछ रेखाओं और बिन्दुओं से कवि अवतारभट्ट के जीवन-वृत्त का कोई आकार तो स्पष्ट नहीं होता, केवल उनके व्यक्तित्व-बिम्ब का एक धुंधला-सा आभास मात्र मिलता है। 'बाणासुर कथा' का वक्तव्य-विषय उनके रूमानी भाव-संस्कारों और रुचि का संकेत देता है। अवतार भट्ट ने अपनी इस कृति को 'रमणी आख्य' कहा है, जिससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि कवि के रूप में अपनी शक्ति से परिचित वे एक स्वाभिमानी व्यक्ति थे। कृति से इस बात का भी संकेत मिलता है वे शाक्त आस्था के कवि थे।

इतिहास के आलोक में कवि का युग

अपने युग और समाज के विषय में दो-तीन विशेषणों को छोड़कर कवि ने कोई टिप्पणी नहीं की है, 'बाणासुर कथा' में उसने अपने समय के शासक ज़ैन-उल-

आबिदीन के शासन को 'विमल' और 'सुशुद्ध धर्मराज्य' कहा है। ये विशेषण इस ओर इंगित तो अवश्य करते हैं कि 'बाणासुर कथा' जैसा प्रेम और शौर्य-परक कथा- काव्य शांति और सुव्यवस्था के युग में ही रचा जा सकता था, भले ही इस कृति में समसामयिक जीवन-स्थितियों का प्रतिबिम्ब न हो। बडशाह के समय में, जिसमें कवि अवतार भट्ट जीवित थे, कश्मीर का मध्ययुगीन हिंदू सामान्तीय समाज अपना रूप और वेष बदलकर मध्ययुगीन मुस्लिम समाज में रूपान्तरित हो रहा था। प्रारम्भ में इन दो समाजों में भिन्नता के तत्त्व अधिक प्रबल नहीं थे जिससे एक सांस्कृतिक सम्मिलन और समन्वय का दृश्य उपस्थित होता था। पर धीरे-धीरे एक संस्कृति के टूटकर ढह जाने और दूसरी संस्कृति द्वारा उसका स्थान लेने की प्रक्रिया पूरी हो रही थी। अधिकांश जन-संख्या मुसलमान बन चुकी थी—विशेषकर निम्न वर्गों के लोग।[२] केवल ब्राह्मण अपनी सांस्कृतिक-साहित्यिक-धार्मिक-सामाजिक परम्पराओं से जैसे-तैसे अपना सम्बन्ध जोड़े हुए थे।

इस्लामी विचार-दृष्टि, कला-शिल्प, भाषा-लिपि सबकी ध्वजाएं वातावरण में फहरा रहीं थीं। फिर भी उदारता, सुव्यवस्था और न्याय के आधारों पर स्थित 'बडशाह ज़ैन-उल-आबिदीन के शासन ने कश्मीर के इतिहास को शांति और स्थिरता का इक स्वर्णयुग प्रदान किया। इससे पूर्व उसके पिता सिकन्दर 'बुतशिकन' ने घोर मतान्धता का परिचय देते हुए कश्मीरी हिन्दुओं पर नृशंस अत्याचार किए थे। कट्टरपंथी उलमाओं के प्रभाव में आकर उसने कश्मीर में इस्लाम के प्रसार के लिए तलवार का भरपूर प्रयोग किया था और यहां के अधिसंख्य लोगों के लिए आतंक और भय का ऐसा वातावरण उत्पन्न किया था कि उनका जीना असंभव हो गया। सुमित्रानंदन पंत के शब्दों का प्रयोग करें तो उसने 'नग्न नगर कर भग्न भवन, प्रतिमाएं खण्डित' की प्रक्रिया द्वारा इस्लामी शासन को सुदृढ़ करने का प्रयत्न किया। कश्मीर के औरंगज़ेब की इस उत्पीड़न-नीति के परिणाम-स्वरूप हज़ारों की संख्या में हिन्दू, विशेषकर ब्राह्मण, कश्मीर छोड़कर चले गए। हजारों कत्लेआम और आगज़नी के शिकार हुए और हज़ारों ने धर्म-परिवर्तन करके अपनी जान बचायी। इसके विपरीत ज़ैन-उल-आबिदीन का समय कश्मीर के इतिहास में एक नये मोड़ का सूचक है। दमन, आतंक और भेद-भाव की नीतियों को एकदम पलटकर ज़ैन-उल-आबिदीन ने गैर मुस्लिमों के प्रति उदारता दिखलायी और उन्हें स्वतंत्रता और सम्मान के साथ जीने के मूलभूत मानवीय अधिकार पुनः प्रदान किए। उसने निष्कासित ब्राह्मणों को वापस बुलाया और धार्मिक सहिष्णुता की सार्वजनिक घोषणा कर दी। परिणाम यह हुआ कि अनेक विद्वान और प्रतिभा के धनी हिन्दुओं और बौद्धों से उसका दरबार भर गया। हिन्दुओं पर लागू अनेक अन्यायपूर्ण कानून उसने समाप्त कर दिए और महाभारत आदि हिन्दू-धर्म ग्रन्थों का फारसी अनुवाद अपने निजी अध्ययन के लिए करवाया।

इन्हीं कारणों से जोनराज और श्रीवर जैसे हिन्दू इतिहासकारों ने बडशाह के गुण गाए हैं और उसे 'नारायण का अवतार' तक घोषित किया है। उसके युग में लोगों को अनावश्यक युद्धों और उनके परिणामों का बोझ नहीं ढोना पड़ा। प्रत्युत कला संगीत, नृत्य, साहित्य, नाटक सभी क्षेत्रों में नवोत्थान और नव-विकास की एक लहर आयी। बादशाह ने ललित कलाओं और साहित्य आदि के विकास-प्रसार में व्यक्तिगत रुचि दिखायी और उन्हें विशेष संरक्षण प्रदान किया। लेकिन इस सबके बावजूद यह समय कश्मीर में ब्राह्मण-संस्कृति के ह्रास और पश्चिम व मध्ये-शियाई इस्लामी संस्कृति के अभ्युदय का था। सिकन्दर 'बुतशिकन' ने तलवार की नोक पर इस्लाम का प्रसार किया था, इस ज़माने में तलवार के स्थान पर अन्य साधनों द्वारा कश्मीर में इस्लाम फैलाया गया। लेकिन कश्मीरी मुसलमान हिन्दू संस्कारों को सम्पूर्णतया त्याग नहीं सके और इस्लाम का यहां वहीं रूप नहीं रह सका जो अरब, ईरान अथवा तुर्की में था। मुहीब-उल-हसन के अनुसार यद्यपि कश्मीर के लोगों ने अपना धर्म बदल लिया पर वे अतीत से अपने आप को बिल्कुल विछिन्न नहीं कर सके और अनेक पुराने विश्वासों और प्रथाओं को अपने साथ अपने नए धर्म इस्लाम में भी ले आये। कहने का आशय यह है कि जिस युग में कवि अवतार भट्ट का जीवन काल अवस्थित था, अधिसंख्य जनता के धीरे-धीरे इस्लाम को स्वीकार करने के बावजूद कश्मीरी समाज का बुनियादी ढांचा कुछ खास बदला नहीं, यद्यपि उसके बाह्य रूप में काफी परिवर्तन आ चुका था।

ज़ैन-उल-आबिदीन के समय में कलाएं राजकीय प्रोत्साहन पाकर पुनर्प्रचलित अवश्य हुईं, पर उनकी प्रकृति धीरे-धीरे परिवर्तित होती गई—भारतीय तत्व गौण होते गए और मध्येशियाई और ईरानी तत्त्वों का प्राबल्य रहा। इस युग में संगीत का जो विशेष विकास हुआ, उसमें यह प्रक्रिया स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर हुई। सुल्तान ने मुस्लिम देशों से कई संगीतकारों को अपने दरबार में आमंत्रित किया था। विभिन्न पद्धतियों के सम्मिश्रण से एक विचित्र प्रकार के संगीत का विकास हुआ जिसे आजकल 'कश्मीरी संगीत' या 'सूफियाना कलाम' कहा जाता है। इसमें ईरान और तुर्किस्तान की संगीत-धाराओं की प्रधानता है, यद्यपि भैरवी, ललित और कल्याण जैसी भारतीय राग-रागिनियों का भी उसमें समावेश है। इसी प्रकार नृत्य का स्वरूप भी भारतीय नहीं रहा। धीरे-धीरे भारतीय शास्त्रीय नृत्य का स्थान हाफिज़ नग्मा ने लिया जिसका बीज इसी युग में पड़ा। संगीत-नृत्य ही नहीं सांस्कृतिक गतिविधि के प्रायः हर क्षेत्र में ईरानीकरण और मुस्लिमीकरण की प्रवृत्ति प्रबलतर होती गई। मुहीब-उल-हसन लिखते हैं कि १४वीं शती तक कश्मीर की संस्कृति में प्रमुख स्वर भारतीय रहा है। सुल्तानशाही की स्थापना के बाद ईरानी-इस्लामी सांस्कृतिक केन्द्रों के साथ कश्मीर के सुदृढ़ और स्थायी

सम्बन्ध जोड़े गए और परिणामस्वरूप "भारतीय प्रभाव का स्थान धीरे-धीरे ईरानी-इस्लामी तत्व लेते गए, यद्यपि पूर्ण रूप से उसे कभी समाप्त नहीं किया जा सकता।"[८] भट्टावतार कालीन इस सांस्कृतिक-सामाजिक-धार्मिक फलक पर दृष्टिपात करने के बाद कहा जा सकता है कि अरब-ईरानी संस्कृति का आधार लिए हुए एक अलग प्रकार की कश्मीरी संस्कृति का विकास इस युग में हुआ, जिसमें भारतीय तत्व अनुपस्थित तो नहीं थे, पर गौण अवश्य थे। कश्मीरी भाषा में साहित्यिक-उन्मेष को इस युग की एक विशिष्ट घटना माना जा सकता है। इस परिदृश्य को प्रस्तुत करने का उद्देश्य उस परिप्रेक्ष्य को स्पष्ट करना है जिसमें आदिकालीन कश्मीरी काव्य का विकास हुआ और जिसमें अवतार भट्ट जैसे कवि का काव्य-व्यक्तित्व पनपा।

बाणासुर कथा : स्रोत और दिशान्तर

'बाणासुर कथा' मध्यकालीन कश्मीरी काव्य की एक उत्कृष्ट और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कृति है। प्रेम और युद्ध की युगल धुरियों पर गतिमान इसका कथावृत्त हरिवंश पुराण से गृहीत है। स्वयं कवि ने कृति के प्रारम्भ में इस कथा-स्रोत का संकेत दिया है: 'हरिवंशस अंधर वंथिय'—कथा हरिवंश में कही जा चुकी है। लेकिन कवि ने आधार-ग्रन्थ के कथा-सूत्र को आंखें मूंदकर नहीं पकड़ा है, गृहीत कथा को कुछ नये कोण भी दिए हैं। ख्यात् इतिवृत्त को लेकर विश्व की अनेक शीर्षस्थ काव्य-कृतियां रची गई हैं। उन्हीं की भांति 'बाणसुर कथा' में भी कथा से अधिक कथन-भंगिमा और चारित्रिक बिम्ब महत्वपूर्ण हो उठे हैं। उसमें ऐसे चित्र अनेक हैं जो मूल से भिन्न रेखाकृतियों अथवा रंगच्छायाओं के कारण विशिष्ट हो उठे हैं। कई प्रसंग परिवर्तित रूप में आए हैं और कई नये तत्त्व जुड़ गए हैं जिनसे कथा का स्वरूप प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका है। इस प्रक्रिया के पीछे एक सचेत और जागरूक कवि का रचना-कौशल है जो कृति के कला-शिल्प का निर्देश तो करता ही है, कवि की दृष्टि, बोध, प्रतिभा और मौलिकता के स्तर भी उद्घाटित करता है। यह केवल संयोगमात्र अथवा आकस्मिक नही कि कवि भट्टावतार जहां 'हरिवंशस अंधर वंथिय' द्वारा कथा-स्रोत की ओर इंगित करता है वहां 'पाने रचोम इह काव्य-पबन्ध'—इस काव्य-प्रबन्ध की रचना स्वयं मैंने की है—कहकर अपनी सृजनात्मक मौलिकता को भी रेखांकित करना चाहता है। रूप की दृष्टि से 'बाणासुर कथा' हरिवंश-वर्णित प्रसिद्ध पौराणिक आख्यान की अनुकृति अथवा कश्मीरी रूपान्तर मात्र नहीं, एक स्वतन्त्र काव्य कृति है जिसमें बाणासुर सम्बन्धी मिथक को प्रणय और प्रतिशोध के ललित काव्य में गूंथा गया है। कवि का प्रयास एक परिचित कथा में नयी बात जोड़ने का नहीं, नयी बात पैदा करने का प्रतीत होता है।

कथाकाव्य का रूपाकार

जैसा खपर कहा जा चुका है 'बाणासुर कथा' का रूपाकार एक लघु आख्यानक अथवा कथाकाव्य का है। स्वयं कवि अवतार भट्ट ने कृति का परिचय देते हुए उसे 'काव्य पबन्ध' अर्थात् 'प्रबन्ध काव्य' कहा है। किन्तु प्रबन्ध काव्य का-सा सर्ग अथवा अध्याय में विभाजित रूप उसका नहीं है—उसमें विभिन्न कथा-बिन्दु विविध छन्दों की लय पर उभरते हैं और घटना-वृत्तों का सृजन करते हैं। मुख्य कथा-बिन्दु तीन अथवा चार हैं जो इतिवृत्त को गति और यति दोनों प्रदान करते हैं। ये हैं—बाणासुर की वर-प्राप्ति, उषा द्वारा अनिरुद्ध का स्वप्न में दर्शन और अनिरुद्ध-हरण, अनिरुद्धबाणासुर युद्ध, अपहृत अनिरुद्ध की यादवों द्वारा खोज और कृष्ण-बाणासुर युद्ध। इस दृष्टि से "बाणासुर कथा" में कथा का स्वरूप इकहरा है और वह बिना अवान्तर प्रसंगों में अधिक भटके युद्ध के चरम नाटकीय क्षण की ओर धावित होती है।

संस्कृत के काव्य-शास्त्रियों ने कथाकाव्य वे जो पारिभाषिक सूत्र प्रस्तुत किए हैं, उन्हें न्यूनाधिक रूप में अवतार भट्ट की 'बाणासुर कथा' में लक्षित किया जा सकता है। इच्छित सुन्दरी के लिए नायक का युद्ध में शौर्य-प्रदर्शन और अन्त में उसकी प्राप्ति का रोमांस इस कृति में व्याप्त है, लेकिन कन्या-हरण के स्थान पर नायक-हरण का प्रसंग एक भिन्न रंग लिए है। कथाकाव्य का रूपाकार होने पर भी 'बाणासुर कथा' सपाट इतिवृत्तात्मकता से ऊपर उठी है। उसमें सर्वत्र एक नाटकीय संवेदना परिव्याप्त है।

इत्तिवृत्त में गुम्फित काव्य-गीतियां

अवतार भट्ट ने अपनी कृति में कुछ मर्म-मधुर भावगीतियों का समाबेश किया है जिनमें लोकगीतियों का-सा रस है। इतिवृत्त में गुम्फित इन गीतियों का स्वरूप मनसपरक लिरिक का-सा तो नहीं, पर इनमें पात्र की मनोदशा का द्योतन, वर्णन और विवरण के सपाट विस्तार में नहीं गेय-गीत की सघन-बिम्बात्मकता द्वारा हुआ है। 'पिया म गच्छ मारने'; 'कर इय सो पिय मि निकटे' आदि इन चार-पांच गीतियों में प्रणयाकुल मन की अधीरता, सौंदर्याकर्षण तथा विरह-दग्ध मनोदशा का मार्मिक अंकन है। इनमें कश्मीरी गीत का प्रारम्भिक स्वरूप और सौंदर्य अपने सभी आयामों में उद्घाटित हुआ है। सामूहिक तथा वैयक्तिक प्रार्थनाएं और स्तुतियां भी इस कृति में कथांश के रूप में प्रस्तुत की गई हैं जो एक धार्मिक काव्य की शिल्प-छाया दर्शाती हैं। गणेश और सरस्वती की वन्दना तथा कुछ अन्य स्तुतियां केवल परिपाटी निभाने के लिए आई हैं। लेकिन अन्य प्रार्थनाओं में पात्र की कोमल और गूढ़ तथा नितान्त निजी भावनाओं के लोक

से कवि अंतरंग परिचय स्थापित करता है। ये प्रार्थनाएं उसे एक अत्यंत कमज़ोर मनोवैज्ञानिक क्षण में प्रस्तुत करती हैं और उसकी किसी गहरी मनोव्यथा अथवा विवशता से निःसृत होती हैं। पात्र का अपनी सम्पूर्ण असाहयता में ईश्वर को पुकारना उसके धार्मिक मनोविज्ञान को उद्घाटित करता है। नागपाश में बंधे अनिरुद्ध की दुर्गा से की गई प्रार्थना का यही स्वरूप है।

वर्णन का शिल्प कौशल

वर्णन तथा अलंकरण का शिल्प-कौशल 'बाणासुर कथा' में विशेष रूप से लक्ष्य है। नाटकीय संवेदना के साथ-साथ उसमें देश-कालगत वस्तु-स्थितियों के बीच परिस्थिति के विस्तार को बर्णनों द्वारा चित्रित किया गया है। ये वर्णन तीव्र गति से धावित घटना की गति को थोड़ा रोक लेते हैं और पाठक को बाह्य स्थितियों में तनिक भटकाकर कथा के कुछ अंशों में तथा कार्य-व्यापार में उसके मन को कुछ देर रमाते हैं। पात्र के रूप, वेष-भूषा, मुद्रा, गतिविधि आदि को बिम्ब-विधान अथवा विवरण द्वारा उस रूप में प्रस्तुत करते हैं कि वे पाठक के मनोभावों को प्रभावित करते हैं और कथानक की गति को तनिक विश्रान्ति देते हैं। कृति में परिपाटी के अनुसार सबसे पहले संक्षेप में शोणितपुर नगर का वर्णन हुआ है। इसके बाद नायिका उषा की देह-छवि के वर्णन, युद्ध की सूचना देने वाले अपशकुनों के वर्णन, हर-गौरी और अप्सराओं-गंधर्वों के उन्मुक्त रति-विलास का वर्णन, उषा के स्वप्न और कौमार्य-भंग तथा उससे उत्पन्न स्थिति का वर्णन, कृष्ण के ज्वर, अग्नि, शिव, कार्तिकेय, बाणासुर और वरुण के साथ हुए युद्धों के वर्णन, द्वारिकावासियों और देवताओं द्वारा कृष्ण के लौटने पर स्वागत का वर्णन आदि हैं जिनमें घटना से सीधी टक्कर से बचाकर कवि पाठक को दृश्यों की चित्रशाला में ले जाता है। सबसे अधिक संवेदक वर्णन हैं उषा के दैहिक रूपाकर्षण, सौंदर्य विलास और रतिराग के वर्णन जिनमें कवि ने संस्कृत के श्रृंगारिक कवियों के-से सौंदर्य-बोध का परिचय दिया है। इन वर्णनों की शब्दावली संस्कृत काव्य के नारी की देह-छवि सम्बन्धी उत्कट श्रृंगारिक वर्णनों से काफी साम्य रखती है। लेकिन इन्हें शुद्ध रूप से पारम्परिक नख-शिख वर्णन न कहकर नारी-रूप का प्रभावकारी बिम्बांकन कहना अधिक उचित है। अवतार भट्ट की दृष्टि एक सौंदर्य-आखेटक कवि की है, जो आदि से अंत तक कथा की गति को प्रभावित करती है। इसलिए 'शशिवदना' 'मधुकरवयना' जैसे पारम्परिक उपमानों के साथ-साथ नवयौवना उषा के देह-संभार का एन्द्रिक आकर्षण कुल मिलाकर काफी ललित शब्दावली में वर्णित है। उषा के अतिरिक्त अप्सराओं की मादक रूप चर्चा से भी 'बाणासुर कथा' की पंक्तियां सरस हैं। हर और पार्वती की अप्सराओं-गंधर्वों सहित शोणितपुर के 'वर-उपवन' में 'नर-नाट केलि' के वर्णन

में प्राकृतिक सौंदर्य तथा संगीत की दृश्य-नादमय पृष्ठिका प्रस्तुत की गई है। इन वर्णनों में उपमेय और उपमान के दो समानान्तर सौंदर्य-लोकों की सृष्टि की गई है जिनमें पाठक का मन एक साथ विहार करता है। रणोत्सुक असुर सेना का वर्णन भी काफी प्रभावित करता है। अनिरुद्ध के प्रत्याक्रमण से घबराकर रक्त वमन करते हुए भाग रहे असुर सैनिकों का वर्णन भय और बीभत्स की सीमाओं का स्पर्श करता है। कृष्ण का विचित्र त्रिपद-त्रिशिर ज्वर से युद्ध करना अद्भुत की सृष्टि करता है। बाणासुर की 'माया' का वर्णन, जादू-वृत्त का समावेश करता है जिसमें स्पष्टतया अद्भुत के तत्त्व हैं।

पात्र-मण्डल और चरित्र-शिल्पन

'बाणासुर कथा' में पात्रों की बहुलता नहीं, अतः इस दृष्टि से कोई उलझाव नहीं। किन्तु दिक् और काल की मिथकीय चेतना ने दैवी, आसुरी और मानवीय पात्रों को एक ही कथा-मंच पर उपस्थित किया है और उन्हें पारस्परिक सम्बन्धों में गूंथ दिया है। मानवीय भाव-सामंजस्य के कारण यह पात्र-मण्डल मानवीय और अमानवीय का दोहरापन एक साथ वहन किए हुए है। भारतीय दार्शनिक परम्परा की कर्म, नियति, काल, पुरुषार्थ आदि की धारणाओं ने काव्यगत पात्रों के चरित्र में 'घटनात्मक क्रियाशीलता' को सीमित कर दिया है। स्वभाव अथवा प्रकृति के निश्चित और विशिष्ट गुणों के आधार पर नायक का धीरललित, धीर प्रशान्त, धीरोदात्त और धीरोद्धत वर्गों में विभाजन काव्यगत पात्र से स्वतंत्र चारित्रिक विकास का अवसर छीनकर उसके आचरण को पूर्व-निश्चित दिशाओं की ओर मोड़ता है। इससे चरित्रों के रूढ़ हो जाने और सपने स्वभाव गुणों के सुनिश्चित व्यवहार-पैटर्न से निर्देशित होने का भय रहता है। डॉ० रघुवंश के शब्दों में कहें तो भारतीय (संस्कृत) परम्परा के काव्यों में "घटना केवल चरित्र की व्याख्या करती है।"[१०] 'बाणासुर कथा' भी इसी परम्परा का काव्य हैं, अतः उसके पात्रों का चरित्र-शिल्पन भी इन्हीं दिशाओं को ग्रहण करता है। फिर भी एक महत्वपूर्ण बात यह है कि अतिप्राकृतिक और अतिमानवीय चरित्रवत्ता को अधिक न खींचकर जहां भी सम्भव हो अधिक लौकिक और प्राकृतिक बनाने का प्रयास अवतार भट्ट ने किया है।

नायकपक्ष में कृष्ण 'चतुर्धीर नेतावर्ग' से ऊपर निर्बाध दैवी नायक हैं। 'बाणासुर कथा' में उनके शौर्यपरक, असुर-संहारक तथा लोक-रक्षक रूप की प्रतिष्ठा की गई है। कहीं-कहीं उनका दिव्य-अलौकिक रूप तिरोहित हो जाता है और शूरनायक का रूप उभरता है। लेकिन शोणितपुर पर आक्रमण करते समय कवि ने उन्हें हजार सिरों, आठ भुजाओं वाले विराट-पुरुष के रूप में प्रस्तुत किया है। इस रूप में कृष्ण को प्रस्तुत करके उनके अवतारवादी प्रयोजन को संलग्न

करने का अवतार भट्ट ने प्रयत्न किया है। इसके अतिरिक्त कृष्ण के पौरुष की प्रबलता ओर तेज की अलौकिकता को भी प्रक्षेपित किया गया है। यहां कृष्ण के साथ मुरली का अवदान नहीं शंख और भेरी जुड़े हैं। अकेले ही वे ससैन्य आह्वनीय अग्नियों, ज्वर, शिव, कार्तिकेय, बाणासुर सबको परास्त कर देते हैं। यह अद्भुत पराक्रम निश्चय से उनके निजंधरी मिथकीय बिम्ब के अनुरूप है। बाणासुर के साथ युद्ध में उनका प्राकृत शूर-रूप फिर उभारा गया है।

कृति के प्रमुख नायक हैं अनिरुद्ध—शौर्य-रोमांस वृत्त के नायकों की भाँति प्रेम और युद्ध दोनों से जुड़े। प्रारम्भ में वे स्वप्न में देखी गई उषा के रूप-बाण से विद्ध काम-विकल पुरुष के रूप में उभरे हैं। लेकिन शोणितपुर के हर्म्यरक्षकों और बाणासुर के साथ युद्ध में रतिलोलुपता नहीं उनके चरित्र का शौर्य पक्ष उभारा गया है। लगभग निहत्थे, हाथों में द्वार की अर्गला लिये क्रुद्ध अनिरुद्ध का असुरवाहिनी पर टूट पड़ना शूरवीर नायक के आदर्शों के अनुरूप है। आकुलता से युद्ध निहार रही रूपसी के प्रेम की प्रेरणा उनके अतुल पराक्रम का रहस्य है। बाणासुर की माया-शक्ति द्वारा नागपाश में बन्द होने पर उन्हें शारीरिक पीड़ा से कहीं अधिक पराजय की मानसिक पीड़ा सालती है। अन्त में कथा-काव्य की परिपाटी अनुसार उन्हें इच्छित सुन्दरी की प्राप्ति होती है। शूर-नायकों की भाँति अनिरुद्ध को भय नहीं व्यापता। वे भोग और युद्ध दोनों में मन की समूची शक्ति लगा देते हैं। भोग, साहस, वीरता, धैर्य, विनय—इन कुछ आदर्श गुणों से उनका व्यतिक्त्व चित्र "बाणासुर कथा" में अंकित है।

प्रारम्भ से अन्त तक असुर बाण 'बाणासुर कथा' में अकेले और सबल प्रतिनायक के रूप में अपनी छाप छोड़ता है। वह अनेक रूपों में पाठक के सामने आता है। यद्यपि उसका मुख्य रूप एक दुर्दमनीय, मदान्ध, युयुत्सु, देव-विरोधी वीर का है। कृष्ण अतिमानवीय दिव्य-शक्तियों के प्रतीक हैं तो वह आतंककारी अतिप्राकृतिक शक्तियों का प्रतिनिधि। उसे कृष्ण के विलोम के रूप में कथामंच पर लाया गया है। 'असुर' नाम से सम्बद्ध क्रूरता, निरंकुशता और स्वैराचार के गुणों के भारी परिमाण से उसके व्यक्ति का निर्माण किया गया है ताकि कृष्ण के सशक्त प्रतिद्वंद्वी के रूप में उसका बिम्ब विशेष प्रभावी बन सके। कृष्ण के असुर-संहारक बिम्ब को पुष्ट करने के लिये और सत् पर असत् की विजय के भारतीय आदर्श को अन्यापदेशिक ढाँचा प्रदान करने के लिये बाणासुर को एक भीमकर्मा असुर के रूप में हरिवंश पुराण में प्रस्तुत किया गया है। पर 'बाणासुर कथा' में एक असुर और खलनायक से सम्बद्ध सभी धारणाओं के बावजूद वह अपने आचरण में काफी हद तक मानवीय है। उसके चरित्र में कई तत्त्व अंतर्विरोध के भी हैं। उसका एक रूप शिव के अनन्य भक्त का भी है। कृष्ण से युद्ध के बाद अपनी हजार बाँहें

कट जाने पर वह विराट व्यक्तित्व वाला युयुत्सु वीर नहीं रहता, एक दीन भक्त मात्र रह जाता है।

उषा 'वाणासुर कथा' में भारतीय शृंगारिक काव्यों की एक प्रतिनिधि नायिका है, जिसका रूप-सौंदर्य उसकी सबसे बड़ी विशेषता है। चरित्र से अधिक उसका नख-शिख महत्त्वपूर्ण है। इस काव्य-कृति में उसका कामिनी रूप ही प्रमुख है, पर इसका यह अर्थ नहीं कि कवि ने उसे व्यक्तित्वहीन देहमात्र रचा है। देह-कान्ति को महत्त्व देते हुए भी कवि ने उसे एक संवेदनशील सचेतन इकाई के रूप में भी अनेक स्थलों पर प्रस्तुत किया है। स्वप्न में सहसा अनिरुद्ध द्वारा बलात् अपना कौमार्य भंग होते देख उसका अपराध भावना और नैतिक द्वन्द्व से ग्रस्त हो जाना, अनिरुद्ध के असुर सेना से घिर जाने पर उसकी चिंता और आशंका तथा अनिरुद्ध को युद्ध में जाने से रोकने का उसका प्रयास, नागपाश में बंधे अनिरुद्ध को उसका अपनी स्नेह-छाया प्रदान करना—ये कुछ ऐसे बिंदु हैं, जिससे उसके चरित्र का रेखाचित्र अधिक विश्वसनीय और उजला प्रतीत होता है। हरिवंश पुराण के विपरीत अवतार भट्ट ने ऐसे स्थलों पर उसे कामिनी के स्तर से उठाकर एक प्रिया का रूप दे दिया है।

कुम्भाण्ड खलनायक पक्ष का एक प्रमुख पात्र होते हुए भी उससे बाहर है। असुर होने पर भी उसे अतिप्राकृत पात्र-मंडल में सम्मिलित नहीं किया जा सकता। कौटिल्य के अर्थशास्त्र के पृष्ठों से अवतरित एक मंत्री वह प्रतीत होता है। तीव्र अनुभवी बुद्धि जो तुरन्त वस्तुस्थिति को भांप लेती है, स्थिति के अनुसार कार्य की मंत्रणा, दूरदर्शिता और विचारशीलता—ये उसके विशेष चारित्रिक गुण हैं। कुल मिलाकर एक कुशल मंत्री का रूढ़ चरित्र उसे प्रदान किया गया है।

अन्य पात्रों में शिव और पार्वती दैवी पात्र-मंडल के सदस्य हैं। कथा में उनकी भी महत्त्वपूर्ण भूमिका है। शिव कथानक के आदि और अंत दोनों से सम्बद्ध हैं। बाणासुर को वरदान देकर वे ही युद्ध का कथा-बीज बोते हैं और इस प्रकार कथानक को गति प्रदान करते हैं। नारद भारतीय पुराणों के चिरपरिचित समाचार-वाहक स्थिर (स्टॉक) पात्र है। वरुण, ज्वर, अग्नि आदि भी अति-मानवीय पात्र हैं। गरुड़ और मयूर को भी मानवीय आत्मा और चेतना से युक्त दिखाया गया है। वे पशु (पक्षी) में अंतर्हित शक्ति अथवा गुण के प्रतिनिधि हैं। 'बाणासुर कथा' में चरित्र-शिल्पन की ये दिशाएं स्पष्ट करती हैं कि उसमें अलौकिक और अतिप्राकृतिक पात्र भी मानवीय गुणों से संचालित और मानवीय भूगोल के अन्तर्गत अस्तित्वमान दिखाये गये हैं। वस्तुतः देवता अथवा असुर की कल्पना मानवीय संदर्भों के बाहर हो ही नहीं सकती।

काव्य-सौन्दर्य के धरातल

एक कथाकाव्य होने के कारण 'बाणासुर कथा' में कवि का ध्यान प्रबन्धात्मकता की सीमाओं के कारण वस्तु-रूप काव्य-विषय के कलात्मक प्रस्तुतीकरण की ओर विशेष गया है। काव्यगत सौंदर्य में हम उसकी संवेदनात्मक मानसिक स्थिति का प्रक्षेप पा सकते हैं, जो हाशियों में प्रकट हुई है। उसकी सौंदर्य चेतना कथानक की परिस्थितियों और घटना-स्थितियों के अंकन में व्यक्त हुई है। घटनाओं तथा भाव-स्थितियों का चयन स्वयं में एक कलात्मक कार्य है जिसमें सुन्दर और असुन्दर का बोध बना रहता है। 'बाणासुर कथा' में रूप, भाव तथा शब्द के माध्यम से काव्य-सौंदर्य के जो धरातल उभरते हैं, वे अवतार भट्ट को एक सौंदर्य-लोलुप कवि के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं। प्रेम और युद्ध का काव्य होने के कारण उसमें प्रेम के केन्द्र में स्थित नारी-सौंदर्य के रूपायन में कवि की प्रतिभा विशेष रूप से व्यक्त हुई है। नारी के मांसल शरीर-सौंदर्य, उसकी अंग-भंगिमाओं और यौवन-चांचल्य को उसने ऐन्द्रिक धरातल पर उपस्थित किया है। उसकी काम्य देह-छवि के रति-उद्दीपक संस्कारों की मदिरता में इस काव्यकृति की पंक्तियां डूबी हुई हैं। दैहिक सौंदर्य के प्रति उसमें जो रस-लुब्ध दृष्टि मिलती है, वह सहसा संस्कृत के उत्कट शृंगार-चित्रों की याद दिलाती है। नायिका उषा के ऐसे ही 'ऐन्द्रिय ऊष्मा' से परिपूर्ण सुषमांकन उसमें देखे जा सकते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि स्वयं कवि अवतार भट्ट उषा की काव्य-काया की मदिर सौंदर्य-कल्पना से रोमांचित-उत्तेजित हैं। सुखद स्पर्श संवेदनों की एक अकुलाहट-सी इन रूपचित्रों में दौड़ती है। कामशास्त्रीय आधार पर किये गये इन सौंदर्यांकनों को पुरुष की लुब्ध-दृष्टि से प्रस्तुत किया गया है। नारी रूप-वर्णन में कवि ने सौंदर्यवाची विशेषणों का काफी प्रयोग किया है।

पुरुष सौंदर्य का भी नायक अनिरुद्ध के माध्यम से शोभांकन हुआ है। यहां स्त्री के दृष्टि-बिन्दु से पुरुष रूप की प्रभाव-स्थिति दर्शाई गई है। पर यहां दैहिक आकर्षण के साथ भावात्मक सौंदर्य भी चित्रित हुआ है और पुरुष की देह-सुषमा के साथ उसके शील और गुणवत्ता में उसका सौंदर्य दर्शाया गया है। कृष्ण, शिव, पार्वती आदि के माध्यम से अतिमानवीय रूप का भी भावन हुआ है। कृष्ण के वीर और रौद्र रूप में अतिमानवीय और अतिप्राकृतिक का समतोलन है। कृष्ण का मुरलीवादक, नारीजनवल्लभ, पीताम्बरधारी रूप 'बाणासुर कथा' में नहीं मिलता। असित आभा से युक्त उनका सहस्रमुखी अष्टभुजा युक्त आतंककारी वीर रूप ही अधिक उभरा है। विराट स्वरूप की यह योजना कृष्ण के अवतारत्व का प्रक्षेप करती है और आश्चर्य, रहस्य, आतंक, श्रद्धा आदि के भाव उत्पन्न करती हैं।

प्राकृतिक सौंदर्य का चित्रांकन

मानवीय भावों की पार्श्वभूमि और मानवीय कार्यों की रंगभूमि के रूप में प्राकृतिक सौंदर्य का चित्रांकन कुछेक स्थलों पर 'बाणासुर कथा' में हुआ है। मनः स्थिति का उपयुक्त वातावरण उपस्थित करती हुई प्रकृति शोणितपुर के उद्यान में कामकेलि-रत शिव -पार्वती और गंधर्वों-अप्सराओं के वर्णन में चित्रांकित हुई है। कथा के अन्त में कृष्ण के बाणासुर को पराजित कर द्वारका लौटने के बाद उषा और अनिरुद्ध को नगरोद्यान में मुक्त पवन के सरस झोंकों के बीच क्रीड़ा करते हुए, 'कामदेव के गीत' गाते हुए दिखलाया गया है। पर ऐसे चित्रों में प्रकृति के सौंदर्य की झलक भर मिलती है, आभास भर होता है। कहीं-कहीं तो बस प्राकृतिक स्थलों को एकाध विशेषण से युक्त कर उनका उल्लेख मात्र किया गया है।

प्रकृति के शकुन-परक, अनिष्ट सूचक, भयंकर रूप के भी 'बाणासुर कथा' में अनेक चित्र अंकित हैं। प्रकृति द्वारा दैवी संकेतों के रूप में शकुनों और लक्षणों का कृति में विधान किया गया है। प्रकृति की विभिन्न दशाओं को भावी युद्ध की पूर्व सूचना के रूप में प्रस्तुत करके कवि ने भावी कथा-स्थिति का पूर्व निर्देश किया है। प्रकृति के सौंदर्य कोश से मानवीय रूप के लिये विपुल उपमान भी उसने बटोरे हैं और मानवीय सौंदर्य में प्राकृतिक सौंदर्य को प्रतिबिम्बित करके अनेक रूप चित्रों की सृष्टि की है। प्रकृति का उसने उपमान-योजना और भाव व्यंजना दोनों के लिये व्यवहार किया है। उषा और अनिरुद्ध दोनों के शोभांकन में प्रकृति से ग्रहीत उपमानों को संजोया गया है। इन रूप-चित्रों में रूढ़ उपमान का प्रयोग अधिक है। कई स्थलों पर रूप के साथ-साथ मुद्रा, भाव स्थिति आदि के चित्रण के लिये भी प्रकृति कोश से उपमान लिये गये हैं। प्रकृति का एक और सौंदर्यतात्त्विक उपयोग 'बाणासुर कथा' में काव्यात्मक कल्पित विश्वासों अर्थात् कवि समयों के रूप में हुआ है।

भाव दशाओं के चित्र

रूप-सौंदर्य के चित्रांकन के साथ-साथ 'बाणासुर कथा' में पात्रों की भाव दशाओं, मनःस्थितियों, संवेदना आदि की भी व्यंजना हुई है। पात्रों के भावलोक की ये झांकिया सामूहिक और व्यक्तिगत, पारम्परिक और मौलिक दोनों रूपों में मिलती हैं। प्रेम और युद्ध की धुरी पर गतिमान कथावृत्त के कारण प्रेम और युयुत्सा से सम्बन्धित विभिन्न भावदशाएं ही इस कृति में अधिक चित्रांकित हैं। प्रेम की मनोदशा में नारी और पुरुष के मन के चित्र अनेक रंगों में सृजे गये हैं। किशोरी रूपसी के मन में पुरुष के संग की कामना का उदय शिव और पार्वती तथा अप्सराओं-गंधर्वों के रस विलास और काम प्रमोदों को देखकर उषा की मनः

स्थिति के माध्यम से दिखाया गया है। स्वप्न में अनिरुद्ध द्वारा वलात् यौन संसर्ग से उषा के मन में अपराध भावना और नैतिक द्वन्द्व का उदय दिखाया गया है। स्वप्न पुरुष की उत्कट कामना से विह्वल उषा की काम विकलता को कवि ने 'काम दुखिय' (कामं दुखिंया) मनोवस्था की संज्ञा दी है। अनिरुद्ध को भी इसी प्रकार की काम-दशा में बेचैन दिखाया गया है। लेकिन उसके बारे में यह कहा जा सकता है कि उसकी यह रूपासक्ति जीवस्तरीय अधिक है और प्रायः भोगेच्छा का पयार्य मात्र बन जाती है। प्रेम-तृप्ति अर्थात् संयोग शृंगार का कोई विशेष चित्र नहीं मिलता। कथानक की इस स्थिति से सम्बन्धित अनेक पन्ने हस्तलेख से गायब हैं। फिर भी एक ऐसा पद्य अवश्य है जिसमें कवि ने नायक-नायिका वो रस-विलास की मुद्रा में सरस मदिरापान करते और 'पंचशर के गीत' गाते प्रस्तुत किया है।

प्रेम के विरह-पक्ष का भावांकन दो स्थलों पर हुआ है। इनमें से प्रथम में 'पूर्वराग' की अवस्था में एक दूसरे की अनुपस्थिति के कारण उत्पन्न विकलता और नैकट्य कामना की अभिव्यक्ति। दूसरा स्थल है अनिरुद्ध के अपहरण के बाद उसकी पत्नियों का विरह-विलाप। इस विलाप में प्रिय-पात्र की सहसा अनुपस्थिति का मानसिक आघात तथा उससे उत्पन्न विषण्णता की स्थिति दिखलायी गयी है। विरहदग्ध-युवतियों की चेष्टाओं और भावस्थितियों—शास्त्रीय शब्दावली में कायिक और सात्विक अनुभावों—का वर्णन बहुत कुछ काव्यशास्त्रीय पद्धति पर ही किया गया है। अंत में विरह शोक को उन्माद की दशा तक पहुंचाया गया है। इस प्रकार यहां मानसिक आघात, दुःख स्मरण, गुण-प्रशंसा, आशंका, अस्तव्यवस्तता, उन्माद आदि की भाव स्थितियों में नारी मन की विरह-पीड़ा को व्यंजित किया गया है। प्रेम के इस पक्ष का भावांकन दैहिक संस्कारों से मुक्त नहीं तो उसका अतिक्रमण अवश्य करता है। काम-बुभुक्षा से अधिक यहां प्रणय का भावात्मक धरातल उभरा है।

हृदय राग के रूप में प्रणय-भाव की व्यंजना एक और स्थल पर हुई है। उषा के प्रेमालिंगन में बद्ध अनिरुद्ध को सहसा असुर सेना घेर लेती है तो वह 'मस्त हाथी-सा उठकर' निहत्था ही उससे युद्ध करने को चल पड़ता है। उषा उसे यों निरस्त्र युद्ध में जाने से रोकने की कोशिश करती है। यह स्थिति कृति को उसका संभवतः सबसे सुन्दर गीत दे गयी है—"पिया म. गच्छ मारने।" यहां प्रेम-पात्र के लिये प्रेमिका की चिन्ता, दुश्चिन्ता, व्याकुलता, अनुराग आदि भावनाओं की तहें खुली हैं। कामिनी के कचों का पाश जब अनिरुद्ध को रोक नहीं पाता और वे भारी संख्या में असुर सैनिकों को हताहत कर विजयी होकर लौटते हैं तो गर्व और हर्ष की मिश्रित भावना उषा के मन में दौड़ जाती है। यह भावना उषा द्वारा गले के मणिहार की लड़ी तोड़कर अनिरुद्ध पर वारने और उसे अपनी कुसुमलता-सी भुजाओं में बांध लेने की प्रतिक्रिया में संकेतित हुई है—

उषि चतुरोय चट्ठेत गलहार मणिलचू
दयतिस आलवेत परिहार्य नतिकरणे
भुजयुग नाल बन्नेत ता रट्ठू कुसुमलचू !

प्रेम के इन्द्रधनुषी रंग अपनी अनेक छायाओं में 'बाणासुर कथा' में खिले हैं—उत्कण्ठा से लेकर दुश्चिन्ता, हर्ष और गर्व तक।

कृति के कथातन्तु यदि एक छोर पर प्रेम से स्पन्दित हैं तो दूसरे छोर पर युद्धोत्साह से। काव्य के अथ में ही बाणासुर की उत्कट युयुत्सा सहसा उबलती हुई दिखायी गयी है। शिव से एक महायुद्ध का वरदान पाने पर असुर का आह्लाद शुद्ध रूप से वीरत्व की भावना नहीं, युद्धोन्माद मात्र है। वीरत्व की सही भाव-भूमि पर अनिरुद्ध और कृष्ण स्थित दिखाये गये हैं। उषा के परिरम्भन में बंधे अनिरुद्ध की सहसा खूंख्वार असुर सैनिकों से घिरने पर जो प्रतिक्रिया दिखायी गयी है, उसकी संज्ञा है। 'वीरता' द्वार पर शत्रु खड़ा ललकारता हो और वह गलबांही में, वनिता के कचों में उलझा रहे, यह उससे नहीं हो सकता। स्वकर्म को नमन कर वह तो निहत्था ही शत्रु से जा भिड़ेगा—

धिक्-धिक् ग्यानेस यादव जम्मस
वनति अचा मज्ज कचान
युद्ध करा नमेत स्वकम्मस
उषे अथच्छोन इह थान !

—धिक्कार हो मेरे यादव जन्म को ! री वनिता, मैं कचों में उलझा रहूं क्या (इस समय) या स्वकर्म को नमन कर निहत्था ही युद्ध करूं ? हाथ में बस द्वार की अर्गला लिये अनिरुद्ध का सम्पूर्ण शत्रु वाहिनी पर टूट पड़ने का वीर-बिम्ब काफ़ी प्रभावशाली है। अनिरुद्ध के युद्धोत्साह के पीछे निर्भयता की मनोभूमि दिखायी गयी है।

कृष्ण में उत्साह और क्रोध—जिसे काव्यशास्त्र रौद्र का केन्द्रीय भाव मानता है—दोनों का समतोलन है, दोनों एक साथ उबल पड़ते हैं। क्रुद्ध बाणासुर के भी अनेक बिम्ब कृति में हैं। भय की स्थिति अनिरुद्ध के प्रहारों से विचलित भाग रही असुर सेना के गति-चित्रों में अंकित है। चिन्ता और आशंका की सीमा-रेखाओं का स्पर्श करता हुआ भय अनिरुद्ध को अकेले और निहत्थे असुर सेना से युद्ध न करने के उषा के अनुनय-अनुरोध में व्यंजित हुआ है। प्रणयी के अमंगल की संभावना से भयभीत एक सुकुमार प्रेमी-हृदय की धड़कन यहां सुनी जा सकती है।

बिम्ब-योजना

काव्य बाह्य जगत् के प्रति हमारे संवेदनों को स्पन्दित करता है, अतः बिम्ब-विधान कवि की सौंदर्य-चेतना का निकष बन जाता है। 'बाणासुर कथा' में

अनेक शब्द-चित्रों को बिम्बों का धरातल प्राप्त हुआ है। विस्तार की दृष्टि से उसमें आये अधिकांश बिम्ब सान्द्र हैं। वस्तु बिम्बों के अन्तर्गत प्रतिचित्रात्मक' और 'व्याप्ति व्यंजक' दोनों प्रकार के बिम्बों को 'बाणासुर कथा' में युद्ध वर्णनों में देखा जा सकता है। गत्यात्मक बिम्ब के द्वारा गतियुक्त वस्तुओं, स्थितियों अथवा दृश्यों का अंकन किया जाता है। भय के कारण युद्ध-भूमि से भाग रहे असुर सैनिकों का गति-चित्र है—

> चल्ले नाद रचेत त्रावेत रथि गौड़े तदतेक्षण
> श्वा कौच जानुबान्ध करते नानास्त्र भय्येकरा
> भडे भारव देन प्रवान गने ऐषेन युद्धि पुना
> हेलि चाय वनान गुहान् महावीरेन्द्र नष्टे पुना

दानव चीखते-चिल्लाते हुए भागे—रथ, घोड़े, कवच, जानुबन्ध तथा अनेक भयंकर अस्त्रों को छोड़कर वे वनों-गुहाओं में घुस गये और जब वे चिल्लाते हुए पुनः युद्ध करने आये तो उस महावीरेन्द्र ने उन्हें पुनः नष्ट कर दिया।

कृति में विभन्न राग-बोधों को संवेदित करने वाले बिम्बों में प्रधानता चाक्षुष बिम्बों की है—उनमें दृष्टि द्वारा वस्तु अथवा रूप का भावन हुआ है। ऐसे अनेक बिम्ब उषा की रूपाभा का सुन्दर प्रभाव-चित्र प्रस्तुत करते हैं, जैसे—

> रूप चड़ू सकलि जगि अन्दर
> वैशाख भाशू शयनि निज मन्दर
> कौमुद जन काशू

यहाँ वैशाख की द्वादशी को अपने महल में सोई हुई उषा के संसार भर में सर्व प्रशंसित रूप-सौंदर्य को चन्द्रज्योत्सना में रूपायित किया गया है। एक अन्य स्थल पर नायिका का रूपांकन 'फूलों से लदी हुई लता' के बिम्ब द्वारा हुआ है। इसी भांति अनिरुद्ध की रूप-शोभा का चाक्षुष-बिम्ब अंकित करती हुई ये पंक्तियां हैं—

> कमलय इ कमलय रचू शोभाले
> रजन कारि दिशो कमलय इ कमलय

अर्थात् उसकी दृष्टि ने सब ओर कमलों ही कमलों की सृष्टि की। शत्रुओं से घिरे अनिरुद्ध का दृश्य-गुण पर आधारित एक बिम्ब है—

> परिध क्षो वक्षस दित तदि कोनोय सुमतेक्षण
> उष आकलिस अभ्रा जन भान बलो।

शत्रु की शर-वृष्टि के बीच परिघ लिये हुए अनिरुद्ध उषा को ऐसे लगते हैं कि सूर्य को मेघों ने ढंक लिया हो। एक स्थल पर युद्ध के लिये प्रयाण कर रही असुर सेना को "शरद काल में बह रहे गरल नद" के रूप में चित्रांकित किया गया है—

> गरल नद जन शरद बहि...

'बाणासुर कथा' में अधिकांश चाक्षुष बिम्ब तुलनात्मक हैं। इनमें तुलना के लिये विभिन्न पशु-पक्षियों, प्राकृतिक दृश्यों आदि को लिया गया है। विलाप करती हुई अनिरुद्ध की पत्नियों की दशा की व्यंजना एक सुन्दर बिम्ब द्वारा की गई है—

वदन रजनी पंकज सर फुलिते
तत्क्षण नयनु जला पूरेण !

—अश्रुपूर्ण नयनों वाली उन वनिताओं की दशा ऐसी हो गई थी जैसे सरोवर में खिले हुए कमल की रात्रि में। युद्ध में असुरों का आचरण पानी उछालते हुए समर्थ गजराज के बिम्ब द्वारा दर्शाया गया है—

याखेत ते घमाते तोय गजेन्द समत्थे !

नाद अथवा ध्वनि सम्बन्धी कुछेक बिम्ब भी 'बाणासुर कथा' में मिलते हैं। अन्य राग-बोधों को स्पर्श करने वाले अनेक बिम्ब भी उसमें भाव-व्यंजक हैं। रस को संवेदित करने वाले एक बिम्ब में अनिरुद्ध की स्वप्न में देखी छवि से रोमांचित उषा की मनोदशा मूर्तित हो उठी है—

बुय यो ऋदय जन अमृत घंटा !

—अमृत के घट की भांति मधुर है अनिरुद्ध का रूप उषा के लिये।

संगीत चेतना

अवतार भट्ट अत्यंत सूक्ष्म संगीत-चेतना से युक्त एक जागरूक कलाकार थे—'बाणासुर कथा' में शब्दों के उत्कृष्ट ध्वनि-मूल्य यह साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं। इस काव्य-कृति में बिम्बात्मकता और संगीतात्मकता का दृश्य-नादमय संगम है, पर उसकी संगीत योजना उसके कलात्मक सौंदर्य का मुख्य आधार प्रस्तुत करती प्रतीत होती है। स्वर मैत्री तथा व्यंजन-साम्य पर आधारित कोमल संगीत के अतिरिक्त वर्णसमूहों की आवृत्ति में स्वर और व्यंजन दोनों के आंतरिक श्रावणिक मूल्यों को उद्घाटित करने वाला नाद-माधुर्य उसमें अंकित है। भावों का अनुसरण-सा करता हुआ यह संगीत उसमें सर्वत्र विद्यमान है। जिन स्थलों पर प्रेम अथवा किसी कोमल भावना की व्यंजना है, वहाँ संगीत की लहरियों-सा उतार-चढ़ाव है जो स्वर और व्यंजन दोनों की मैत्री का प्रभाव है; जहां वीर तथा रौद्र भावनाओं का प्राबल्य है वहाँ स्वर और व्यंजनों का साहचर्य स्वयं अनुकूल लय ताल की सृष्टि करता है। शिव-पार्वती के केलि-विलास को चित्रांकित करने वाली इन पंक्तियों को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है—

कर तावत हर भयहर सरसे गिरिज सहितो
शोणितपुर वर-उपवन अन्दर नर-नाट केलि
क्षणस रहो शशि शत-मुख धारेत तपना सहितो

वरवनितन शत-गंघर निपवर रहे तत् वेलि
अति वीणा वर वज्जन बहुशत तत्थल सरसे
मुरज, मिदंग, पटह, कलहागण, पुषशर सरनी ।

इन पंक्तियों में व्यंजन-आवृत्ति पर आधारित अनुप्रास तथा अंतर्वर्ती तुक का नाद-सौंदर्य है। 'आ' ध्वनि की आवृत्ति से एक ऐसे संगीत प्रवाह की सृष्टि हुई है जो रति-भाव के अनुकूल वातावरण प्रस्तुत करता है। स्वर-आवृत्ति द्वारा तरल संगीत की सृष्टि इन पंक्तियों में हुई है—

गजगमना शशिदनना रुचिरा तेमा अच्छारचा
नचन तनि अलसो हरिणदिशा मधुकर वयना

बहिर्संगीत के साथ-साथ शब्दों की आंतरिक संगति भी 'बाणासुर कथा' के शब्द-चयन में देखने को मिलती है। इस काव्य-कृति में सर्वत्र संस्कृत के शब्द-न्यास की मधुरता, मृसणता और सुघरता है। संगीतात्मक मूल्यों के प्रति विशेष चेतना ने प्रबन्ध काव्य होते हुए भी 'बाणासुर कथा' को गीति की-सी गुंजरणशीलता प्रदान की है।

अवतार भट्ट ने 'बाणासुर कथा' में छन्द-विधान द्वारा जो लयात्मक विविधता उत्पन्न की है, वह पाठक पर सम्मोहिनी-सी डालकर उसे कवि के रंगमय भावलोक में ले जाती है। 'बाणासुर कथा', जैसा पहले कहा जा चुका है, सर्गों, अध्यायों अथवा उच्छ्वासों आदि में विभक्त नहीं है। प्रसंग के किसी नये मोड़ पर अथवा नये प्रसंग के बिन्दु पर छन्द परिवर्तित हो जाता है। भाव अथवा प्रसंग की दिशा में छन्द का यह स्वरूप परिवर्तन इतिवृत्त की एकरसता का परिहार करता है।

छन्द-विधान

'बाणासुर कथा' की एक बड़ी विशेषता है कवि द्वारा संस्कृत के वर्णवृत्त छन्दों तथा कश्मीरी के कुछ मौलिक छन्दों का प्रयोग। अपने कला-सामर्थ्य का परिचय देते हुए अवतार भट्ट ने इस काव्य में मालिनी, मंदाक्रांता, स्रग्धरा, नरकटका, मत्तमयूर, शार्दूल, चतुष्खण्डिका, पंचपाजा, द्रुतविलम्बित, प्रहर्षिणी, तोटक, फुरो, तनुमध्या, पुष्पिताग्रा, चर्या, विषमचर्या, दत्तविधान, षट्पदा, बैताली, हरिणी, अचला, दुक्कटिका, थद्दो और कडोकड्या को व्यवहृत किया है। इन छंदों के प्रयोग की कश्मीर में निश्चय से एक परम्परा रही होगी। इनमें थद्दो, फुरो और शायद दुक्कटिका तथा कडोकड्या कश्मीरी के अपने छन्द प्रतीत होते हैं—इनकी खोज कश्मीरी काव्य के इतिहास में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना मानी जा सकती है क्योंकि अब तक कश्मीरी के मौलिक छन्दों की पहचान नही हो पाई थी। इन छन्दों का संस्कृत छन्दविधान से साम्य भी महत्त्वपूर्ण है।

'थद्दो', यदि उसके नाम से संकेत ग्रहण किया जाए, ऊंचे स्वर में पढ़े जाने के लिये है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह कभी नाटकों अथवा गेय-रूपकों में प्रयुक्त होने वाला छन्द रहा होगा। 'बाणासुर कथा' का रूपगठन है भी एक गेय-रूपक अथवा गीत-नाट्य का-सा। 'फुरो' का प्रयोग केवल एक बार हुआ है।

कृति में छन्द की संगीतात्मकता अर्थ के साथ-साथ प्रवाहित होती है। कई स्थानों पर संस्कृत छन्द के आधारभूत ढाँचे के साथ टेक और अन्तरा के प्रयोग से अत्यन्त सुन्दर गीतों की सृष्टि हुई है। ये गीत कश्मीरी गीतों के प्रथम नमूने माने जा सकते हैं।

भाषिक संरचना

जहाँ तक 'बाणासुर कथा' की भाषिक संरचना का सम्बन्ध है उसकी शब्दावली संस्कृत श्रृंगारिक काव्यों की-सी ललित-मृसण और श्रवण-मधुर है। इसका कारण विषय-वस्तु के रोमांसीय तत्त्वों में देखा जा सकता है। तत्कालीन बोलचाल के कितने निकट इस कृति की भाषा रही होगी, इस विषय में कुछ भी स्पष्ट से नहीं कहा जा सकता क्योंकि इसमें प्रयुक्त अधिकांश शब्द एकदम संस्कृत के तत्सम-अर्द्धतत्सम-तद्भव शब्द हैं। बीच-बीच में 'लिच्चे', 'टिंग', टंज्ज', 'सुचानी', श्यूरेत', 'फरोस' आदि देशज शब्द भी टांके गये हैं। 'कोड', 'प्राड', 'खाडेत' आदि शब्द ग्रामीण भाषा के तत्त्वों का समावेश करते हैं। एक ही अर्थ के द्योतक अनेक शब्दों के प्रयोग की प्रवृत्ति विशेष रूप से प्रबल है।

गणकप्रशस्त और उनका 'सुखदुःख चरित्'

भट्टावतार की शीर्षस्थ काव्यकृति 'बाणासुर कथा' के बाद १५वीं शती के आठवें दशक तक कश्मीरी भाषा में लिखी कोई भी रचना उपलब्ध नहीं होती। ज़ैन-उल-आबिदीन के पौत्र हसनशाह (१४७५ से १४८७) के समय में गणकप्रशस्त नाम के कवि द्वारा लिखित अवश्य एक काव्यकृति 'सुखदु.ख मोह माया जाल चरितम्' के लम्बे नाम से मिलती है, जिसकी पाण्डुलिपि बूह्लर को 'बाणासुर कथा' के साथ ही बीकानेर से प्राप्त हुई थी। यह पाण्डुलिपि आज भंडारकर शोध संस्थान पूना के ग्रन्थागार में सुरक्षित है। इस कृति को विशुद्ध रचनात्मक लेखन नहीं कहा जा सकता। संक्षेप में 'सुख दुःख चरित्' नाम से सूचित इस कृति के रचनाकार गणकप्रशस्त में न तो भट्टावतार जैसी विकसित सौंदर्य चेतना है न उनके पूर्ववर्ती कवियों, ललद्यद और शेख नूरुद्दीन की जैसी दार्शनिक ऊर्ध्व-दृष्टि। रचनाकार के अन्य कुछ नाम भी इस लघु-कलेवर ग्रन्थ में मिलते हैं जैसे संख्येश, कलनेश तथा गणपति। अतः उसका सही नाम क्या था, इसका निर्णय करना कठिन है। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि हसनशाह के दरबार में एक गणक

अथवा लेखाकार रहा होगा और 'प्रशस्त' उसका उपनाम। जो हो, 'सुखदुःख चरित्' का महत्त्व उसकी काव्यात्मक गरिमा या रचनाशीलता में नहीं है। उसमें एक प्रबन्धकाव्य का रूपाकार अवश्य है जिसके अन्तर्गत कहीं-कहीं कुछ गीतात्मक संरचनाएं भी गुम्फित मिलती हैं—यद्यपि उनमें शुद्ध गीत का भाव-स्तर नहीं उभरता। सम्पूर्ण ग्रन्थ चार पादों में विभक्त है। प्रत्येक पाद में रचनाकार ने अपने समय में प्रचलित ज्योतिष, गारुड़, वैद्यक आदि शास्त्रों का सार किसी कल्पित सखा के माध्यम से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। कवि ने अपने प्रयत्न को हँस की भांति जल में से दूध ग्रहण करने की प्रवृत्ति की संज्ञा दी है।

क्षे शास्त्र गने काते को मो बुज्जि
वैद्यक गारुड ज्योतिष बुद्ध
सार-सार गाहेनस पज्जि
हँस यखेत जलो मज्जा दुद्ध।

काव्यात्मक दृष्टि से किसी उच्च शिखर का स्पर्श न कर पाने के बावजूद 'सुख-दुख-चरित्' भाषिक तथा अन्य अन्येक दृष्टियों से अपने समय की एक महत्त्वपूर्ण कृति मानी जा सकती है। ग्रन्थ का प्रारम्भ प्रबन्ध काव्यों की चिरा-चरित परिपाटी के अनुसार उस समय के नरेश हसनशाह की स्तुति से होता है। कवि ने अपने आश्रयदाता के गुणों को विभिन्न अतिशयोक्तियों में पद्यबद्ध किया है और उसे नववय में ही कश्मीर 'जनपद' का रक्षक और अतुल प्रतापयुक्त एक नरपति कहा है, जिसकी कीर्ति और बल की गाथा देश-देश और दिगन्तर में दूर-दूर तक फैली हुई है—

सुकित कथा युन भुजेत् क्षण-क्षण इन्दे दिवि हलवाने
अतिविमलो यश पश्येत् दिन-दिन क्षो चन्द नभा गलवाने
नरपत हसन शाह जयि, यो नववय जनपद रक्षिक्षय

अर्थात् जिसकी सुकीर्ति की कथा सुनकर क्षण-क्षण इन्द्र की स्थिति डांवाडोल होती है और जिसके अतिविमल यश को देख-देखकर चांद नभ में दिन-दिन गलता जाता है, उस नरपति हसनशाह की जय हो, जिसने नयवय में ही जनपद की रक्षा की। इस प्रशस्ति में नववय सुल्तान के जन-रक्षक बिम्ब को प्रस्तुत किया गया है और सचिव सहित उसके सुख की कामना व्यक्त की गई है। प्रशस्तियों का यह सिलसिला रूढ़ि से अलग कुछ नहीं। ग्रन्थ के अन्त में भी कवि ने पुनः अपने संरक्षक का प्रशस्ति-गीत गाते हुए अपने जन्म तथा ग्रन्थ-रचना की तिथि की ओर संकेत किया है—

वर्षे चन्द्रेन्द्रियाँके गुणगण निरतो लब्ध संख्येश जन्मा
सम्पूर्णे पुस्तके अस्मिन्न हमिति सुकृतौ ग्रन्थकारम् प्रशस्तः

लेकिन 'चन्द्रेन्द्रियाँके' से कवि का तात्पर्य किस वर्ष से है यह स्पष्ट नहीं

होता। संवत् ७२ से तात्पर्य सप्तर्षि संवत् से है अथवा अन्य किसी संवत् से यह कहना मुश्किल है। केवल इतना कहा जा सकता है कि हसनशाह के १४७५ ई० से १४८७ ई० तक के बारह-वर्षीय राज्यकाल में किसी भी समय इस ग्रन्थ की रचना हुई होगी। इन स्तुतियों में बीच-बीच में जैन-उल-आबिदीन की भी प्रशंसा की गई है।

'सुख-दुख चरित्' का मूल कथ्य

ग्रन्थ रचना का उद्देश्य प्रकट करते हुए कवि ने लिखा है कि शरीर पर विपत्तियां आने पर उसे यह पता चला कि यह संसार असार है और इसी प्रेरणा से उसने 'सुख-दुख-चरित्' की रचना की अन्यथा उसका काव्य-सृजन 'हृदय से उत्पन्न नहीं', न उसे यह 'बोध किसी विज्ञान से हुआ है। संसार की अस्थिरता और असारता के बीच जीवन कैसे व्यतीत किया जाये—यह इस ग्रन्थ का मूल कथ्य प्रतीत होता है। इसी उद्देश्य से कवि ने अपने समय में प्रचलित विभिन्न शास्त्रों और विद्याओं ा निचोड़ प्रस्तुत करने की कोशिश की है।

ग्रन्थ के पहले पाद का प्रारम्भ ज्योतिष शास्त्र के परिचय से होता है जिसे लेखक ने 'परमज्ञान' कहा है। किस सप्ताह में किस दिन कौन-कौन सा काम उचित है और किस-किस लग्न में उत्पन्न बालक का भविष्य किस प्रकार का हो सकता है—यह सब बातें ऋषियों की दुहाई देकर बता दी गई है। इसके बाद 'गारुडिकम्म' का ज्ञान अपने कल्पित सखा को दिया गया है। इसके अन्तर्गत विभिन्न विषों के लक्षण और प्रभाव बताये गये हैं और उनके उपचार की विधियां तथा अन्न के रक्षण की युक्तियां भी सुझा दी गयी हैं। साथ ही अनेक विषहर वस्तुओं की एक सूची प्रस्तुत की गयी है। इसके बाद लेखक 'भुजंगम-शास्त्र पर' आता है और सर्पाण्डों से लेकर सर्पों के विभिन्न प्रकार, उनके दंशों के प्रभावों तथा विष निवारण के उपायों आदि के बारे में अपना ज्ञान प्रकट करता है। इस संदर्भ में एक दिलचस्प बात यह है कि गणक प्रशस्त ने मनुष्यों की तरह सर्पों की ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जातियां गिनायी हैं, और उनके गुणों का परिचय दिया है। इसके बाद 'वैद्यक' शास्त्र का वर्णन है जिसके अन्तर्गत विभिन्न शारीरिक रोगों के लिए तत्कालीन प्रचलित औषधियों के नुस्खे बताये गये हैं, और नाड़ी देखने के ज्ञान का भी संक्षेप में वर्णन है। साथ ही यह भी बताया गया है कि किस ऋतु में कौन-सा भोजन उपयुक्त रहता है। यह ज्ञान अपने 'सखा' पर रचनाकार ने इस प्रकार प्रकट किया है जैसे उसके गुरुवर ने अपने शिष्य पर। यहां तक ग्रन्थ में छन्द-रचना के अतिरिक्त काव्य कही जाने वाली कोई भी चीज़ कहीं नजर नहीं आती। लेकिन इसके बाद अचानक 'मदन शास्त्र' और योग आदि का वर्णन करते समय लेखक के मन मे सहसा संसार की

असारता का बोध प्रकट होता है और शंकराचार्य के-से विरागी स्वर में वह इस नाशवान जीवन की सारहीनता का परिदृश्य प्रस्तुत करता है। बहुत संभव है कि ग्रन्थ के इन अंशों पर निर्वेद की जो परत दृष्टिगोचर होती है, वह शंकराचार्य अथवा शैव या बौद्ध ग्रन्थों से ली गयी हो।

'मदनशास्त्र' के अन्तर्गत काम अथवा रूपाकर्षण के रति-उद्दीपक चित्रों से अधिक भवसर में डूबने की ग्लानि ही उभरी है। रमणियों के साथ सुख-विलास की लीला की निस्सारता को उद्घाटित करते हुए लगता है कवि को शंकराचार्य के 'नारी स्तनभर नाभि निवेषं; मिथ्यामाया मोहावेषं' वाले विचार ने विशेष प्रभावित किया है। इस सुख की क्षणभंगुरता को स्वप्नवत् मानते हुए कवि लिखता है—

उपवनन् वर कामिन्यू विरमोह मधुपाना
ऊँय स्वपने गव कामन्यू नुति भुज्जेत पाना

अर्थात् वर- कामिनियों के साथ उपवनों में मधुपान और सुख-भोग मात्र एक स्वप्न है। भोगेच्छा का परिणाम वास्तविक सुख न होकर संसार के मोह-मायाजाल में बुरी तरह से फंसने के अतिरिक्त और कुछ नहीं।

'विपज्जराविग्रोग वर्णन' नाम के तृतीय पाद के अन्तर्गत निर्वेद और वैराग्य के बारे में लिखी गयी पंक्तियां संकेत देती हैं कि कवि में काव्य-बोध और प्रतिभा की चिनगारी विद्यमान है, जो यहां-वहां चमक उठती है। जरा आदि विपत्तियों' से क्षुब्ध कवि का मन इस निर्णय पर पहुँचा है कि यह संसार उद्भव से ही असार है, अस्थिर है, और ज्ञान ही यहां 'सारातिसार' है, जिसके बिना कोई त्राण नहीं। वाणिज्य द्वारा धन-संचय भी एक वंचना है जो यमपाश से छुड़ा नहीं सकती। 'कुकर्मों' की तीव्र अनुभूति के कारण कवि को अपना मन धूप में पिघल रहे हिम-सा लगता है—

हिम जन तापे विगलोस पापे शापे कुकरम चित्तो

भोगों के विषफल से पीड़ित तथा संसार की अस्थिरता और रूप तथा धन की नश्वरता से क्षुब्ध कवि के मन को योग में ही मुक्ति का आश्वासन मिलता है। इस दुनिया में तो धन के नष्ट होने पर सेवक भी स्वामी को घोर श्मशान में छोड़ देने से हिचकते नहीं, नवयौवन का 'ललना-स्नेह' और 'पूनमचन्द्र-सा मुख' क्षणभर में क्षार हो जाता है।

गर्भवास के समय से ही देह की यातनाओं का क्रम शुरू हो जाता है। नवजात शिशु का मोह और नवयौवन का नेह यम के प्रहार द्वारा खण्डित हो जाता है। ऐसी स्थिति में केवल योगी ही चित को स्थिर रख सकता है और देह के इस 'विष-कुम्भ' को मथकर अमृत उत्पन्न कर सकता है। इसलिए कवि ऐसे योगियों को नमन करता है। यह बोध कवि को जिससे मिला है उस अपने गुरु चेतननाथ का

भी उसने बार बार उल्लेख किया है। इसके बाद हठयोग के विभिन्न आसन, ध्यान, प्राणायाम, धारणा आदि साधनाओं के वर्णन में फिर वही साधारण पद्यों की सपाटता दृष्टिगोचर होती है। 'पवन विचार' नाम के शास्त्र का सार प्रस्तुत करके कवि गणक प्रशस्त अपना यह ग्रन्थ समाप्त करता है जिसका मूल कथ्य अंत में जाकर इन्द्रिय दमन और चित्त का वैराग्य प्रतीत होता है। मन 'पारे-सा चंचल' है, लेकिन योग-साधना द्वारा 'दीपशिखा-सा निष्कम्प' हो जाता है। अन्त में कहीं-कहीं दार्शनिकता का हल्का-सा स्पर्श भी मिल जाता है। कवि के लिए यह संसार मीठे विष से भरा एक कुम्भ है जिसका मधुर स्वाद जीवन हर लेता है—

भक्षह क्यात सविषस मधु कुम्भस
जूव हरि मधुरो कित स्वाद

कवि का कहना है कि 'भक्ति के जल से योगलता को सींचने' से ही 'अति विषम भवताप' का शमन सम्भव है। उसके अनुसार शुभ और अशुभ कर्मों को छोड़कर मोक्षपद की प्राप्ति का एकमात्र मार्ग योग द्वारा समाधि ग्रहण करना है। इसीके विभिन्न साधनों और लक्षणों का उसने 'सुखदुःख चरित्' में उल्लेख किया है। गणकप्रशस्त अपने इन धार्मिक उपदेशों को 'ज्ञानकथा' की संज्ञा देता है, जो "जननीसुत मन लगाकर इसे सुनेगा वह निश्चय से एक अमरण जीवन जियेगा"— ऐसा उसका विश्वास है। विभिन्न योग-विद्याओं और साधनाओं से सम्बन्धित जो उपदेश 'सुखदुःख चरित्' में दिये गये हैं, उनमें एकता का सूत्र बस यही विचार प्रतीत होता है। इस 'बोध में भेद' करना 'मतिहीनता' का परिचय देना है, क्योंकि यह बोध अखण्ड है—

बोधस भेद् मा कर मतिरस्ता

मध्ययुगीन कश्मीर के जीवन-बिम्ब

गणकप्रशस्त ने 'सुखदुःख चरित्' में काव्यानुभूति के नाम पर इन्हीं मध्य-कालीन विश्वासों को प्रस्तुत किया है। इनमें दर्शन की एक रूढ़ मुद्रा है, कोई गहराई नहीं। कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि अपने समय में प्रचलित विभिन्न शास्त्रों के ज्ञान का प्रदर्शन मात्र 'सुखदुःख चरित्' की रचना का उद्देश्य रहा है। जो हो, 'सुखदुःख चरित्' में अनेक स्थानों पर तत्कालीन जीवन और रहन-सहन और विश्वास-विचारों के बिम्ब उभरते हैं।

पन्द्रहवीं शती के अन्तिम चरणों में कश्मीर में हिन्दू मध्ययुग का अवसान हो रहा था और इस्लाम ने अपने पाँव दृढ़ता से जमा लिए थे। पर संसार की अस्थिरता, भोग-लिप्सा की व्यर्थता और योग द्वारा जीवन के लक्ष्य की प्राप्ति आदि पर विश्वास हिन्दू जन-संख्या में यथावत् बना हुआ था। उनके लिए संसार गणकप्रशस्त के शब्दों में मात्र 'इन्द्रजाल' था। फिर भी गणकप्रशस्त ने अपने

समय के नरेश के सिंहासन ग्रहण करने तथा ज़ैन-उल-अबिदीन की मृत्यु आदि की घटनाओं का उल्लेख करके इस विचारधारा के साथ इतिहास का विचित्र मेल प्रदर्शित किया है। 'सुखदुःख चरित्' में मध्ययुगीन कश्मीर में प्रयुक्त भोजन और औषधियों आदि का भी विस्तृत वर्णन है और साथ ही उन अन्ध-विश्वासों का जो अब तक चले आये हैं।

'सुखदुःख चरित्' की रचना 'बाणासुर कथा' की ही भांति संस्कृत के वर्णवृत्त छन्दों में हुई है। ये छन्द हैं—युगलकम्, शार्दूलम्, चतुष्खण्डिका, वसन्ततिलकम्, रथोद्धतम्, मालिनीवृत्तम् तथा प्रमलकम्। इनके अतिरिक्त 'थद्धो', 'फुरो', 'द्विफुरो', 'दुक्कटिका' आदि स्थानीय प्रतीत होने वाले छन्दों का प्रयोग भी किया गया है। इनमें से अनेक छन्द 'बाणासुर कथा' में भी प्रयुक्त हुए हैं। कश्मीरी के अपने मौलिक छन्दों में 'द्विफुरो' नाम का छन्द 'बाणासुर कथा' में नहीं मिलता। अनेक छन्दों के इस प्रयोग ने एक वैविध्यपूर्ण लय की सृष्टि की है। 'थद्दो' छन्द का प्रयोग किसी बात पर विशेष बल देने के लिए किया गया है।

ग्रन्थ में यद्यपि काव्यात्मक कल्पना अथवा सौंदर्य-चेतना का अभाव है और अधिकतर साधारण बातें पद्यबद्ध की गयी हैं, कवि में शब्दों के संगीत के प्रति एक चेतना दृष्टिगोचर होती है जो अनुप्रास तथा अन्य संगीताश्रित प्रयोगों में स्थान-स्थान पर प्रकट हुई है। इस दृष्टि से कवि एक कुशल छन्द और शब्द-शिल्पी है।

पन्द्रहवीं शती की भाषा स्थिति और 'सुखदुःख चरित्'

'सुखदुःख चरित्' में प्रयुक्त भाषा (प्रशस्तिगीतों और योगादि विषयों से सम्बन्धित शब्दावली को छोड़कर) पन्द्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध की बोलचाल की कश्मीरी की स्थिति की परिचायिका है। अनुलेखन-पद्धति की सीमाओं को ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि उसमें प्रयुक्त अनेक शब्द, विशेषकर सामान्य भोज्य वस्तुओं और औषधियों तथा शारीरिक अंगों के नाम, आज की कश्मीरी में भी लगभग यथावत् प्रयुक्त होते हैं। यह भाषा तत्कालीन बोलचाल की भाषा के काफी निकट है। अनेक शब्दों का आज कुछ भिन्न रूप में प्रयोग होता है और अनेक शब्द आज की कश्मीरी से लुप्त हो गये हैं। लेकिन कुल मिलाकर 'सुखदुःख चरित्' की भाषा 'बाणासुर कथा' से कुछ डग आगे आधुनिक कश्मीरी की ओर बढ़ती हुई भाषा प्रतीत होती है।

गणकप्रशस्त अपने युग के एक शीर्षस्थ कवि तो नहीं पर एक ख्यात् विद्वान अवश्य रहे होंगे, जिनकी अनेक विषयों के बारे में जानकारी 'सुखदुःख चरित्' से प्रकट होती है। काव्य रचना से अधिक उनका उद्देश्य इन 'ज्ञातव्य' बातों को अपने समकालीन पाठकों तक पहुँचाना रहा होगा। कई स्थानों पर भाषा को

प्राचीनता का रंग भी दिया गया है। पर मूलतयः वह अपभ्रंश के कलेवर से बाहर निकलती हुई भाषा का स्वरूप ही प्रस्तुत करती है।

'सुखदु:ख चरित्' में संस्कृत वर्णवृत्त छन्दों में टेक और अन्तरा के सहारे कुछ गीतों की रचना के प्रयास भी हुए हैं। इनमें यद्यपि कवि की व्यक्तिगत अनुभूति की तीव्रता प्रकट नहीं होती, पर कश्मीरी में गीत-रचना की परम्परा को आगे बढ़ाने में इनका भी योग माना जा सकता है।

संदर्भ-संकेत

१. कश्मीर अण्डर दि सुलतान्स (ईरान सोसाइटी, कलकत्ता, १९५९); पृ० २५९।
२. बूह्लर : डिटेल्ड टूर इन सर्च ऑफ संस्कृत मैन्युस्क्रिप्टस मेड इन कश्मीर, राजपुताना एण्ड सेण्ट्रल इण्डिया (रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, बम्बई, १९७७); पृ० ६०।
३. लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इण्डिया (खण्ड ८, भाग २); पृ० २३७।
४. श्रीवर तथा शुक कृत 'जैन राजतरंगिणी' : सम्पादन—श्रीकण्ठ कौल; पृ० ५५, ४/३६।
५. वही : ४/३९।
६. मुहीब-उल-हसन : कश्मीर अण्डर दि सुलतान्स : पृ० २२६।
७. दि हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ दि इण्डियन पीपुल (भाग ६) : पृ० ३८२ पर उद्धृत।
८. देखिये मोतीलाल कपूर : ए हिस्ट्री ऑफ मेडीवल कश्मीर (ए० आर० वी० पब्लिकेशन्स, जम्मू, १९७१) : पृ० ६८।
९. कश्मीर अण्डर दि सुलतान्स : पृ० ६६।
१०. प्रकृति और काव्य (संस्कृत खण्ड), पृ० १८६।

: ५ :

प्रगीतात्मक काव्य-धारा

परम्परा और विकास

कश्मीरी काव्य का मध्यकालीन विकास सोलहवीं शती के उत्तरार्द्ध से शुरू होता है, जब गीत-विधा को अभिव्यक्ति के एक प्रमुख माध्यम के रूप में अपनाया गया। इस विशिष्ट विधा की प्रमुखता के आधार पर इस काव्य-युग को गीतकाल भी कहा जा सकता है। गणकप्रशस्त के 'सुखदुःख चरित्' से लेकर हब्बाखातून के प्रेम-गीतों तक शताधिक वर्षों के अन्तराल में कश्मीरी काव्य-धारा एकदम सूख गयी हो ऐसी बात नहीं, लेकिन हब्बाखातून के आगमन तक किसी ऐसे महत्त्वपूर्ण साहित्यिक व्यक्तित्व के उभरने का कोई उल्लेख नहीं मिलता जो इसे एक सार्थक दिशा देता। राजकीय व्यवहार और साहित्य तथा विद्वत्ता की भाषा के रूप में फारसी की विशिष्ट प्रतिष्ठा इसका एक कारण हो सकता है। लेकिन लोक-भाषा में जो कुछ इस काल-खण्ड में रचा गया होगा वह ऐतिहासिक और अन्य कारणों से नष्ट होने के फलस्वरूप आज उपलब्ध नहीं।

'बाणासुर कथा' तथा 'सुखदुःख चरित्' में गुम्फित काव्य-गीतियाँ इस बात का साक्ष्य प्रस्तुत करती हैं कि कश्मीरी में गेय गीतों की एक पुष्ट परम्परा अवश्य विद्यमान रही होगी। इस परम्परा का सम्बन्ध प्राकृत और अपभ्रंश की उस गीत-धारा से भी रहा होगा जो राजनीतिक उथल-पुथल के बावजूद एक अन्तःसलिला नदी की भाँति अमन्द बहती आ रही थी और लोक-हृदय को सींच रही थी। लेकिन जहाँ तक प्रबन्ध-काव्यों में समाविष्ट गीतियों का सम्बन्ध है, उनका स्वरूप व्यक्तिगत अथवा मनसपरक लिरिक का नहीं। वे प्रबन्धात्मकता के आवरण के बीच से उभरती हैं और उनकी गीतात्मकता कथा-सूत्र का आश्रय लेती है। सोलहवीं शती के उत्तरार्द्ध में हब्बाखातून ने जो प्रेम गीत लिखे उन्हें एक बदलाव का सूचक माना जा सकता है, क्योंकि उनमें वैयक्तिक अनुभूतियों की सीधी अभिव्यक्ति है।

'वच़न' विधा की विशेषताएँ

'वच़न' नाम से अभिहित यह विशिष्ट गीत-विधा कश्मीरी का एक नितान्त निजी काव्य रूप है। 'वचन' कन्नड़ आदि दक्षिण भारतीय भाषाओं की भी एक विशिष्ट काव्य-विधा है, लेकिन यह गद्य-गीत का-सा स्वरूप लिए हुए है, जबकि कश्मीरी 'वच़न' लोक-गीतों की लय और ताल पर आधारित टेक और अन्तरा का विधान लिये हुए है। इसमें प्रायः तीन-तीन पंक्तियों के अन्तर पर टेक मिलती है और इसका विस्तार प्रायः छः या नौ पंक्तियों से अधिक नहीं होता। लोक-तत्त्व के संयोग और प्रेरणा से विकसित हुए ये गीत कश्मीरी काव्य को आत्माभिव्यक्ति के नये धरातल पर स्थापित करते हैं। लोकगीतों का-सा उन्मुक्त वातावरण इन 'वच़न' गीतों को एक जीवन्त और प्राणवान विधा का रूप देता है।

कश्मीरी 'वच़नों' के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए उनके विकास की पृष्ठभूमि पर कुछ अधिक विस्तार से विचार की आवश्यकता है। लल्लेश्वरी और शेख नूरुद्दीन के ऐसे अनेक पद मिलते हैं जिनमें अनुभूति की कुछ ऐसी तीव्रता है और अभिव्यक्ति की ऐसी भंगिमा जो 'वच़न गीतों' से बहुत मिलती है। लेकिन उन पर आध्यात्म और वैराग्य का गैरिक रंग चढ़ा है, जबकि 'वच़नगीत' दैहिक आकर्षण और लौकिक प्रेम का रागरंजित धरातल प्रस्तुत करते हैं।

धार्मिक भावों से प्रेरित एक और गीति-विधा पन्द्रहवीं-सोलहवीं शती में विकसित हुई—मर्सिया अर्थात् शोकगीत। शेख नूरुद्दीन की मृत्यु पर उनकी शिष्या शामबीबी द्वारा लिखा हुआ शोकगीत कश्मीरी का पहला मर्सिया माना जाता है, पर चक बादशाहों के शासनकाल में इमाम हुसैन और उनके भाई हसन की कर्बला में हुई दर्दनाक शहादत पर मर्सिया (शोकगीत) लिखने की प्रथा प्रचलित हुई। शाहमीरी वंश के अन्तिम राजाओं की अयोग्यता, अकर्मण्यता और पारस्परिक कलह से उत्पन्न स्थिति का लाभ उठाते हुए दरदिस्तान के अली चक ने सन् १५५५ ई० में अपने भाई गाज़ी चक को कश्मीर का शासक बनाया। चक बादशाह शिया मतावलम्बी थे, अतः उनके सत्ता में आने के कारण यहाँ इस मत का विशेष प्रचार-प्रसार हुआ। इस मत के अनुयायी कवियों ने मर्सिये लिखकर कश्मीरी गीत-काव्य में शोक और विषाद के तत्त्वों को जोड़ा। इन शोक-गीतों में काव्यमूल्यों की खोज करना व्यर्थ है, लेकिन कश्मीरी गीत के स्वरूप-विकास में इनका भी हाथ रहा है।

कश्मीरी 'वच़न' गीतों के विकास को अवतार कृष्ण रहबर, चक बादशाहों के दरबार के विलास, नृत्यसंगीत और मद्यपान में डूबे वातावरण का भी एक परिणाम मानते हैं। उनके अनुसार अय्याशी और मस्ती के इस नये युग ने कश्मीरी साहित्य को भी एक नया स्वर, एक नया यौवन और उत्साह दिया।[1] मानवीय

प्रेम की प्रेरणा ने इन गीतों में एक नई आत्मा फूंक दी और उसे एक विशिष्ट माधुर्य और संगीत प्रदान किया। रहबर के अनुसार इस गीत विधा के भीतर पहली बार कला का प्रस्फुटन हुआ और उसने उन साहित्यिक ऊंचाइयों का स्पर्श किया जिनसे कश्मीरी गीतों का प्रारम्भकाल बिल्कुल अछूता और खाली था।[२] रहबर की इस स्थापना को स्वीकार किया जा सकता था यदि 'बाणासुर कथा' में संस्कृत छन्दों में पिरोई गई काव्यगीतियों की मर्म-मधुर झंकार न होती। इतना अवश्य है कि हब्बाखातून के आगमन तक इस गीत-विधा को एक विशिष्ट माध्यम के रूप में नहीं चुना गया था।

मर्सियों तथा तस्सवुफ से प्रेरित गीतों की अपील एक विशिष्ट वर्ग तक ही सीमित रही, जब कि हब्बाखातून और अरणिमाल जैसी कवयित्रियों द्वारा प्रेम जैसे व्यापक विषय पर लिखे गये मार्मिक गीतों ने लोक-चित्त को सीधे और गहराई तक प्रभावित किया।

यह एक नया काव्योन्मेष था। भाव और अभिव्यक्ति के स्तर पर 'वचनगीतों' में जो सरलता और सहज संगीतमयता है उस पर, जैसा कि हम कह चुके हैं, लोकगीतों की छाया है लेकिन इस कारण एक कठिनाई भी उत्पन्न होती है—शैली में बहुत अधिक समानता के कारण विभिन्न गीतकारों की रचनाओं की पृथक् पहचान सरलता से नहीं हो पाती। प्रायः यह असमंजस बना रहता है कि कहाँ लोकगीत समाप्त होता है और कहाँ 'वचनगीत' की सीमारेखा शुरू होती है। दोनों के बीच का यह अन्तर इतना धुंधला है कि प्रायः लोकगीतों को 'वचनगीत' लेखकों की रचनाओं से और 'वचनगीतों' को लोकगीतों के साथ सम्बद्ध कर दिया जाता है।

'वचन' यद्यपि कश्मीरी की अपनी लाड़ली गीतविधा है, इसे ईरानी गज़ल और संगीत से जोड़ने के प्रयत्न भी किये गये हैं। पर संरचना की दृष्टि से फारसी गजल और कश्मीरी वचन में जो मौलिक अन्तर है, वह इतना स्पष्ट है कि उसे आँखों से ओझल नहीं किया जा सकता। 'वचन' का स्वरूप और प्रकृति हिन्दुस्तानी गीत से साम्य रखती है, या फिर मूड अथवा मनोदशा पर आधारित होने के कारण अंग्रेजी लिरिक से। फारसी गज़ल रदीफ और काफिये की बंदिशों से नियमित है जब कि 'वचन' में एक ऐसी उन्मुक्तता है जो काव्य-शास्त्रीय नियमों के चौखट में समा नहीं सकती। यह ठीक है कि सूफियाना संगीतकारों ने अपनी सुविधा के लिए अनेक 'वचनगीतों' को संकलित किया था जिससे ये गीत सूफियाना संगीत की विभिन्न रागों में भी गाये जाते रहे हैं। इसका अभिप्राय यह नहीं कि 'वचनगीतों' का उत्स ईरानी संगीत है। अधिकतर 'वचनगीतों' को मौखिक साहित्य के अन्तर्गत रखा जा सकता है। इनमें ही लोकपरक रचनाओं के अभिप्राय और विषय ही अभिव्यक्ति पाते हैं। इन गीतों की व्यापक लोकप्रियता का यह

एक वड़ा कारण है। हब्बाखातून और अरणिमाल इस धारा की सबसे बड़ी प्रतिनिधि हैं।

इन दो कवयित्रियों के बीच लगभग सवा दो सौ वर्ष का दीर्घ अन्तराल है, जिसमें कुछ पुरुष कवियों के छिटपुट स्वर भी सुनाई पड़ते हैं, पर उनमें चेतना की गहराइयों से निःसृत अनुभूति की वह तीव्रता नहीं, न रिसती हुई पीड़ाओं की वह टीस या रूमानी स्वप्नों के वे इन्द्रधनुष मिलते हैं जो उन दो नारियों के गीतों में झलमलाते हैं। इन पुरुष कवियों ने, जिनमें हबीबुल्लाह नौशहरी, याकूब सरफी, गनाई, मिर्जा अक्मलुद्दीन कामिल वगैरह शामिल हैं, अधिकतर फारसी भाषा में लिखा है। इनकी फारसी रचनाओं के बीच ही यत्र-तत्र इनके कुछ कश्मीरी वचन भी मिलते हैं, जिनमें प्रेम भावना अवश्य अभिव्यक्त हुई है पर लौकिकता और अलौकिकता दोनों धरातलों को छूती हुई। सूफी रहस्यवाद का रंग इन पर अधिक प्रगाढ़ रूप से छाया है। अठारहवीं शती के कवियों, साहिब कौल, शाह गफूर और पुनः एक कवयित्री रूपभवानी—जिन्होंने कश्मीरी में ही लिखा है—के बारे में भी यही कहा जा सकता। इस प्रकार 'वचनगीतों' का सर्वश्रेष्ठ अंश नारी मन की सुकुमार भावनाओं की ही अभिव्यक्ति है। इन गीतों में व्यक्त प्रेम किसी कल्पित आध्यात्मिक सत्ता के प्रति निवेदित न होकर हाड़-माँस से बने और मानवीय भावनाओं से उद्वेलित वास्तविक मनुष्यों के प्रति व्यक्त हुआ है। रूपाकर्षण, प्रेम-बिद्ध मन की तड़पन, प्रियपात्र के सामीप्य की उत्कट अभिलाषा, उसकी अनुपस्थिति से उत्पन्न उद्वेग, नीर-भीगे नैनों की अपलक प्रतीक्षा और देह-मन के समर्पण की आतुरता—कितने ही स्वर मिलकर इन गीतों में एक इन्द्रधनुषी सरगम की सृष्टि करते हैं।

हब्बाखातून : एक रानी के प्रेमगीत

इस पृष्ठिका के साथ हम हब्बाखातून (१५५३-१६०५) के काव्य की विशेषताओं का अध्ययन करेंगे। हम कह चुके हैं कि हब्बा के गीतों का अन्तः सम्बन्ध विषय, शैली और संगीतात्मकता तीनों दृष्टियों से लोक गीतों से है। इस वात से भी इनकार नहीं किया जा सकता कि हब्बा के अनेक गीत या तो लोक-गीतों के ही रूपान्तर हैं या कहीं-कहीं लोकगीतों को ही उसके नाम पर प्रचलित कर दिया गया है। जो हो, हब्बाखातून कश्मीरी कविता में एक नया स्वर, एक नई भंगीमा और नया मिजाज लेकर आई। उसका सम्पूर्ण काव्य उसके वैयक्तिक जीवन से सीधे संबंधित है, बल्कि कश्मीरी कविता में आत्माभिव्यक्ति का वह प्रथम उदाहरण प्रस्तुत करती हैं। उसके गीत या तो मौखिक परम्परा द्वारा हमें प्राप्त हुए हैं, या कश्मीरी सूफियाना संगीत के गायकों के माध्यम से इन गीतों को कवियत्री के जीवन के सन्दर्भ में ही समझा जा सकता है। हब्बा का प्रथम उल्लेख,

नाजी मुनव्वर और शफी शौक के अनुसार, अब्दुल वाहब शायिक ने किया है।[४] मोहम्मद दीन फौक और बीरबल काचरू ने उन्नीसवीं-बीसवीं शती में जाकर हब्बा खातून के जीवन के विषय में कुछ विवरण प्रस्तुत करने के प्रयत्न किये हैं।[५] उसे प्रेमी की खोज में बेचैन एक रूमानी व्यक्तित्व के रूप में प्रस्तुत करने के उद्देश्य से अनेक रंगीन कथायें गढ़ी गई हैं। इस प्रक्रिया में कल्पना को भी उड़ान का मुक्त अवसर दिया गया है। इन कथाओं तथा अनुश्रुतियों के अनुसार हब्बाखातून का जीवन (१५५३-१६०५ ई०) चकों द्वारा शासन संभालने से कुछ पूर्व शुरू होता है और मुगलों के कश्मीर पर छा आने के समय में उसका अवसान होता है। इन्हीं कथाओं (हब्बा के जीवन पर कोई खास शोध या अनुसंधान अभी तक नहीं हुआ है), जिसमें उसे लोकवार्ताओं की एक रूमानी सुन्दरी के रूप में प्रस्तुत किया गया है, के अनुसार उसका असली नाम जून था। हब्बाखातून नाम उसे बाद में मिला है। फौक के अनुसार यह नाम एक सूफी बुजुर्ग ख्वाजा मसूद का दिया हुआ है, लेकिन यह बात विश्वसनीय नहीं प्रतीत होती। रहबर[६] ने इस संदर्भ में हब्बाखातून की निम्न पंक्तियां उद्धृत की हैं—

मालिन्य म्या'नी अरबाब आ'सी
तवय द्राम हबखोतून नाव।

हब्बाखातून के गीतों को तीन वर्गों में रखा जा सकता है। ये तीन वर्ग उसके जीवन की तीन अवस्थाओं से सम्बद्ध हैं। पहली अवस्था वह है जब कवयित्री चंद्रहार गांव में गीत गाती हुई एक किशोरी के रूप में हमारे सामने आती है। अपने (पहले) पति अज़ीज़ लोन और उसके घरवालों के अत्याचारों से दुःखी होकर वह गीत-संगीत में खो जाना चाहती है, लेकिन यह संगीत-प्रेम ही उसके जी का जंजाल बन जाता है और इसी के कारण उसे ससुराल में यातनायें सहनी पड़ती हैं। दुख की इस मनस्थिति में मैके को सम्बोधित करती हुई वह दर्द-भरे गीत लिखती है। इन गीतों में मन में मचल रहे अरमानों के घुटने की पीड़ा है और है मैके से सहायता की गुहार। केसर की बगियाओं में, खेतों में, हरे मैदानों में, चीड़वनों में, गाँव की अल्हड़ किशोरियों के बीच उसने इन गीतों की रचना की है। बचपन की यादों, ससुराल की यातनाओं, यौवन के टूट चुके सपनों से सम्बन्धित ये गीत बिल्कुल लोक गीतों की-सी बानगी लिए हैं—बल्कि कई गीत तो उनके साथ गड्डमड्ड भी हो गए हैं। घड़ा फूट जाने पर ससुराल में मिली यातना से सम्बन्धित उसका एक प्रसिद्ध गीत ऐसा ही है। इन गीतों में कवियत्री मैके पर जी-जान से न्योछावर हो जाने के लिए तैयार नज़र आती है।

हब्बाखातून और युसुफशाह का प्रणय-प्रसंग

हब्बाखातून के जीवन की दूसरी अवस्था कश्मीर के चक सुल्तान यूसुफशाह से उसके प्रेम प्रसंग से सम्बन्धित हैं। इस अवस्था में उसने जो गीत रचे उनमें मदीले सपनों की महक और प्रेम की तृप्ति और उल्लास की मधुर अभिव्यक्ति है। कहा जाता है कि यूसुफशाह केसर के बाग़ में गा रही हब्बाखतून की सुरीली आवाज़ और सुन्दर रूप पर मोहित हो गया। एक अन्य जनश्रुति के अनुसार यूसुफशाह के कुछ दरबारी उसका सौन्दर्य देखकर इतने चकित-विस्मित हुए कि उन्होंने उसे दरवार में बुलवाकर सुल्तान के सामने पेश किया और यूसुफ उसपर मुग्ध हो गया। हब्बाखातून और यूसुफशाह चक यद्यपि कुछ ही वर्ष एक दूसरे के साथ रह सके, पर इस अल्पकाल में हब्बाखातून ने अपने सर्वश्रेष्ठ प्रेम-गीतों की रचना की। यद्यपि आम धारणा यही है कि यूसुफशाह से उसका विवाह हुआ था, इस सम्बन्ध में संदेह अभी बना हुआ है। मसलन हसन खोयहामी और बीरबल काचरू ने अपने इतिहास ग्रन्थों में इतना ही लिखा है कि उसके नशीले सौन्दर्य को देखकर यूसुफशाह मुग्ध हो गया और उसे "हमविस्तरी का शर्फ बख्शा।"[९] इसके विपरीत फौक[१०] और बाद के कुछ इतिहासकार—जिनमें प्रेमनाथ बज़ाज़ और अब्दुल अहद आज़ाद[११] शामिल हैं—यह मानते हैं कि हब्बाखातून यूसुफशाह की विवाहिता पत्नी थी। लेकिन इसका वे कोई ठोस प्रमाण प्रस्तुत नहीं करते। जो भी सच हो, इस रंगीले बादशाह के साथ उसने अपने जीवन के सर्वोत्तम क्षण प्रकृति की नयनाभिराम स्थलियों में, खुली वादियों में बिताए। यह एक आदर्श रूमानी माहौल था जिसमें हब्बा के हृदय में प्रेरणा सुगबुगा उठी। इस मनस्थिति में यह स्वाभाविक था कि उसके गीत अधिक संगीतमय, अधिक प्रेमोल्लासपूर्ण हो जाते।

यह सपष्ट नहीं कि हब्बाखातून का प्रेमी एक यूसुफशाह ही था या कोई और भी। यह संदेह उसकी ही कुछ पंक्तियों के कारण उत्पन्न होता है, जो इस प्रकार हैं—

> मेरा प्रेमी जमालटा में रहता है
> कमाल उसका नाम है
> हम दोनों एक दूसरे को समर्पित हैं
> काश कि एक बार वह फिर आ जाता

कौन था जमालटा में रहने वाला यह प्रेमी, यह ज्ञात नहीं।[१२] लेकिन हब्बा के गीतों में प्रेम के संदेह और सौतों के प्रति ईर्ष्या की अभिव्यक्ति बार-बार हुई है—जो कुछ सवाल पैदा करती है।

बहरहाल, अकबर ने १५८२ में कश्मीर पर चढ़ाई की और यूसुफशाह को

बन्दी बनाकर सम्भवतः बिहार भेज दिया। फौक का कहना है कि यूसुफशाह के साथ ही हब्बाखातून की गिरफ्तारी का हुक्म जारी किया गया था, लेकिन वह भाग निकली और अपने जीवन के अन्तिम दिन उसने श्रीनगर से कुछ दूर पाँतछोक नामक स्थान के निकट बिताए जहाँ पचपन वर्ष की आयु में उसकी मृत्यु हो गई।[13]

यूसुफशाह से मिलने के समय हब्बाखातून की उम्र कोई अठारह-उन्नीस वर्ष की रही होगी। अतः यह संगत प्रतीत नहीं होता कि यूसुफशाह की गिरफ्तारी के राजनीतिक कारणों से वह परिचित थी। वह तो बस एक सुन्दरी गायिका भर थी। लेकिन कुछ का यह विचार है कि वह यूसुफशाह को शासन के मामलों में परामर्श दिया करती थी। जो हो, यूसुफशाह से अलग होना उसके जीवन का सबसे अधिक दुखान्त मोड़ था। इस मोड़ पर उसके मन पर अवसाद की जो छाया पड़ी वह फिर हटी नहीं। इस तीसरी अवस्था में उसके द्वारा रचे गए जो गीत मिलते हैं उनमें पीड़ा और निराशा का स्वर प्रमुख है। इन गीतों में कहीं प्रेम को 'हृदय को दग्ध कर देने वाली तेज आग' कहा गया है तो कहीं यौवन के व्यर्थ चले जाने पर आंसू बहाए गए हैं।

पिछली चार शताब्दियों से संगीतकार हब्बाखातून के गीतों को संगीतबद्ध करते आ रहे हैं। कई लोगों का विचार है कि स्वयं उसे ईरानी संगीत का अच्छा ज्ञान था और उसने 'रास्ति कश्मीर' नाम से एक नई रागिनी कश्मीरी सूफियाना कलाम में जोड़ दी।[14] लेकिन यह बात अनुसन्धान की अपेक्षा रखती है। गांव की एक सुन्दरी का राजा की प्रेयसी बनना अपने आप में इस कदर रूमानी है कि उसमें कल्पना के अनेक रंग घुलना स्वाभाविक है। तो भी इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि संगीत हब्बाखातून की कविता का एक प्रमुख तत्त्व और प्रमुख आकर्षण है।

हब्बाखातून का भाव-संसार सीमित है। उसमें अनुभूति की गहराइयों और कल्पना की ऊँचाइयों को खोजना व्यर्थ है। ऐसे लोग भी अनेक हैं जिन्हें उसमें कला की अद्भुत सूक्ष्मताएँ नजर आती हैं। लेकिन उसकी कविता में कुछ ऐसा ज़रूर है जो उसे मार्मिकता और मधुरता दे जाता है। शायद सीधे और सच्चे अनुभव की सीधी और सच्ची अभिव्यक्ति। प्रेम की तृषा और तड़प और एक तीखा दर्द उसके अनेक गीतों में व्याप्त मिलता है। ऐसे ही एक गीत में हब्बा ने अपने जीवन को 'किरमिज़ी रंग का एक लोमपट' कहा है। गीत की कुछ पंक्तियां इस प्रकार हैं—

> यौवन मेरे, किरमिज़ी लोमपट है तू
> किस रंगरेज़ ने रंगा है तुझे ?
> डर है तुझे कहीं कीड़ा न लग जाये !

एक अन्य गीत में वह अपने यौवन और प्रेम के व्यर्थ हो जाने पर आंसू बहाती है—

> एक धधकती ज्वाला को सहला रही हूँ मैं
> किसी का किशोर तन यों जाया न हो जाये

उसका एक और सुप्रसिद्ध गीत है जिसमें वह अपने प्रेमी से शिकायत के लहजे में पूछती है—

> कौन-सी मेरी सौत भरमा के ले गई है तुझे ?
> मुझसे ऐसी वितृष्णा क्यों ?
> पलक झपकाना भी मुश्किल हो गया है मुझे तो
> मेरा तो मूल्य ही गिरा दिया है तूने
> गड़ गया है कलेजे में मेरे यही दुख
> मन में सुलगती है जो आग—उसे तू शांत क्यों नहीं करता ?

प्रामाणिक पाठ की आवश्यकता

शफ़ी शौक और नाजी मुनव्वर ने अपने कश्मीरी साहित्य के इतिहास में इसे हब्बाखातून के प्रति सबसे बड़ा अन्याय माना है कि उसके गीत लिपिबद्ध नहीं किए गए हैं, जिसके कारण अनेक गीतों में लोक संगीतकारों ने पीढ़ी दर पीढ़ी अपनी पंक्तियों का प्रक्षेप किया है।[15] इस तरह हब्बाखातून के काव्य को मूलतः मौखिक काव्य ही माना जा सकता है। पिछले कुछ वर्षों में इन गीतों को प्रकाशित करने के कुछ प्रयास अवश्य हुए हैं जिनमें जम्मू-कश्मीर कल्चरल अकादमी द्वारा प्रकाशित और अमीन कामिल द्वारा संपादित एक संकलन विशेष रूप से उल्लेखनीय है। लेकिन कामिल द्वारा चयन किए गए इस संकलन में भी पाठानुसंधान के नियमों की अवहेलना की गई है। इसी प्रकार 'वचुन' काल के कुछ गीतकारों के अनेक गीत भी हब्बाखातून के 'वचनों' के रूप में प्रस्तुत किए गए हैं। मुहीउद्दीन हाजिनी द्वारा संपादित और साहित्य अकादमी द्वारा प्रकाशित 'कश्मीरी कविता' शीर्षक संकलन में भी इसी प्रकार की त्रुटियाँ हैं।

हब्बा द्वारा रचित गीतों की वास्तविक भाषा कैसी थी और उनका मूल स्वरूप कैसा रहा होगा, आज इसका संधान निश्चय से कठिन है। कौन-सी पंक्तियाँ और कौन-से शब्द लोक-संगीतकारों ने अपनी ओर से प्रक्षिप्त किए हैं और कौन सचमुच में कवयित्री द्वारा रचित हैं, इसके लिए सोलहवीं शती के मध्य की कश्मीरी की भाषिक विशेषताओं का अध्ययन आवश्यक है।

हबीबुल्लाह नौशहरी

इस काल के जिन गीतकारों ने प्रेमाभिव्यक्ति को लौकिक के स्थान पर आध्यात्मिक

रंग दिया यानी सूफी परम्परा से अपनी प्रेरणा ग्रहण करके आदमी और ईश्वर के सम्बन्धों को स्त्री-पुरुष प्रेम के सन्दर्भों में रूपायित किया, उनमें से एक प्रमुख कवि थे ख्वाज़ा हबीबुल्लाह नौशहरी। नौशहरी के गीतों में प्रेम का सूफी अथवा अलौकिक रंग मिलता है। काव्य और संगीत का जो निकट सम्बन्ध इनमें नज़र आता है, वह इन्हें एक विशिष्टता प्रदान करता है। हबीबुल्लाह नौशहरी का जन्म १५५५ ई० में हुआ था और मृत्यु १६१८ ई० में। वे हब्बाखातून के समकालीन कवि थे। नमक का धन्धा करते थे, लेकिन मन पर धार्मिकता के गहरे संस्कारों के साथ-साथ संगीत के प्रति एक विशेष आकर्षण भी था, जिसने उनके कई गीतों को विशेष रूप से लोकप्रिय बनाया है। नौशहरी ने मूलतः फारसी भाषा को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया, लेकिन लोक-संगीतकारों की परम्परा में उनके कई कश्मीरी गीत भी चले आये हैं, जो संख्या में बहुत कम हैं। सूफी भावधारा के गीतों के साथ-साथ नौशहरी के कई लौकिक 'वचन गीत' भी उपलब्ध हुए हैं जिन पर कुछ लोग हब्बाखातून का प्रभाव मानते हैं। किन्तु उनका मूल स्वर सूफी रहस्यात्मकता का ही है जिसके अनुसार कवि का प्रणय-निवेदन किसी मानव देहधारी प्रणयी के प्रति न होकर अरूप, अनाम और सर्वव्यापी अलौकिक सत्ता के प्रति है। नौशहरी में कहीं-कहीं गहराई में उतरने की क्षमता भी है और है एक व्यापक दृष्टि जो मानवमात्र में ईश्वरीय आलोक की किरणों को खोजती है। उनके कई गीतों में ईश्वरीय सत्ता के विराट और मनोग्राही सौंदर्य के बिम्बांकन हैं। उदाहरण के लिए उनका यह प्रसिद्ध गीत लिया जा सकता है जो लोकपरम्परा में विशेष प्रिय है—

आड़ू के फूलों-सा कोमल-कोमल रूप पिया का
जान जाएगा अग-जग, करना प्रकट न भाव हिया का।

लेकिन अन्त में इस गीत को सूफी मोड़ देकर मंसूर और 'अनहलक' का राग आलापा गया है जिससे उसका प्रभाव बिखर गया है। नौशहरी का 'प्रेमी' कहीं आड़ू के फूलों-सा मोहक रूप लिए है तो कहीं तन पर भस्म रमाए शिव है, जिसकी मुक्त जटाओं से गंगा बहती है, जिसके ललाट पर सूर्य और तारामंडल की आभा है, और यह धरती ही जिसका कमण्डल है। नौशहरी में इस दिव्य सत्ता के प्रति पूर्ण समर्पण का भाव है। वह उस नदी से मदिरा की अपनी प्यास बुझाता है जो जीवन का मूल स्रोत है। सूफियाना मौसीकी के मुकामों (रागों) में बंधे हुए नौशहरी के कुछ कश्मीरी गीत लोकगीतों से यों घुलमिल गये हैं कि यह कहना कठिन हो जाता है कि ये मूलतया लोकगीत ही हैं या नौशहरी की रचना हैं।

अकमलुद्दीन कामिल बदख्शी

अस्सी हज़ार अशआर पर आधारित फारसी मसनवी 'बहर-उल-इरफान' के

लेखक मिर्जा अकमलुद्दीन कामिल बदख्शी (१६४२-१७१७) के लिखे कुछ कश्मीरी गीत भी उपलब्ध हुए हैं जो संख्या में बहुत ही कम हैं। नाजी मुनव्वर और शफी शौक द्वारा लिखित 'कश्मीरी साहित्य का इतिहास' के अनुसार एक सूफी बुजुर्ग होने के कारण इनके 'अकीदतमन्दों' की संख्या आज भी बहुत अधिक है, जो उनके उस दिन इनके द्वारा रचित यह गीत गाते हैं[१६]—

मुझ बाला का रोम-रोम
यार से मिलने को आकुल-आतुर है
जिसकी एक झलक मुझे
झरोखे से देखने को मिली थी
धुनिया बनकर वह मेरे आंगन में आया
और मुझे ज़र्रा-ज़र्रा धुन कर रख दिया
उस यार से मिलने को उत्कंठित हूं मैं

जुमा बीबी

अकमलुद्दीन की शिष्या जुमा बीबी का अपने गुरु की मृत्यु पर लिखा हुआ मात्र एक शोकगीत उपलब्ध है। यह नौहटा में रहने वाली एक नानवाइन थी।

रूपभवानी : 'वाखों' की अनुगूंज

अलकेश्वरी के नाम से प्रसिद्ध रूपभवानी १६२५ में श्रीनगर में पैदा हुई और लल्लेश्वरी की भांति ससुराल में निरन्तर दुख और अत्याचार सहने पर वे घर छोड़ कर वैरागिन हो गईं। प्रपितामह जहांगीर की सेवा में एक कर्मचारी थे और दक्षिण से कश्मीर लौट आए थे। रूपभवानी ने शैव दर्शन और अन्य हिंदू दार्शनिक मतों का अच्छा अध्ययन किया था। बचपन से ही उनकी प्रवृत्ति एक विरक्त सन्यासिनी की-सी थी। विरक्ति का यही भाव उनके पदों में भी छाया है जो 'वाख' शैली में लिखे गए हैं। रूपभवानी ने इन 'वाखों' की भाषा में जान-बूझकर प्राचीनता का पुट दिया है जिससे वह उनके समय से करीव दो शती पूर्व की भाषा प्रतीत होती है। तत्कालीन बोलचाल की कश्मीरी नहीं। वस्तुतः रूप भवानीं के 'वाख' लल्लेश्वरी के 'वाखों' के आदर्श पर लिखे गए हैं और उन्हीं की प्रतिध्वनि प्रतीत होते हैं। घरबार छोड़कर चश्मासाहबी, मनिगाम, लार तथा वास्कुरआदि स्थानों में वर्षों भटकने के बाद कवयित्री ने अपने जीवन के अंतिम वर्ष अपने मैके में बिताए लेकिन अपने जीवन की इस दुःख-कथा का प्रतिबिंब उसकी रचनाओं में नहीं है। आध्यात्मिक रहस्यवाद उनका मूल स्वर रहा है, आत्माभिव्यक्ति नहीं। फिर भी 'वचनकाल' के कवियों में उसका उल्लेख शायद

इसलिए किया जाता है कि वह उस कालखंड विशेष में ही रचनाशील रही। रूप भवानी के जीवन और व्यक्तित्व के इर्द-गिर्द चमत्कारों का एक जाल बुना गया है और उनके कवि-व्यक्तित्व से अधिक उनके संत व्यक्तित्व के प्रति ही लोगों में आस्था रही है। उनके इस व्यक्तित्व से प्रभावित होकर उनके समकालीन और फारसी के प्रसिद्ध कवि मोहम्मद सादिक कलन्दर ने उनकी मृत्यु पर उनकी प्रशंसा में एक शेर लिखा है।[१७] बाबा असरारुद्दीन कादिरी ने भी अपनी, फारसी मसनवी[१८] में 'अलकेश्वरी' की प्रशंसा की है। अलकेश्वरी यानी रूप भवानी के पदों का एक संग्रह नागरी लिपि नें प्रकाशित हुआ है[१९] पर भाषा में अप्रचलित और विस्मृत तत्त्वों के समावेश के कारण इनमें से अनेक पदों को समझने में कठिनाई होती है। कई पदों में प्राचीनता की इस कड़ी झिल्ली के भीतर से लोक प्रचलित भाषा में लिखी कुछ पंक्तियां मिलती हैं, जो अधिक सहज लगती हैं। विषय की दृष्टि से रूप भवानी के पद आध्यात्मिक रहस्यवाद और नैतिक उपदेशों के काव्य के अंतर्गत रखे जा सकते हैं। रूप भवानी के काव्य के समुचित मूल्यांकन के लिए पाठ संपादन की विशेष आवश्यकता है। अवतार कृष्ण रहबर के अनुसार रूप भवानी ने 'वाखों' के अतिरिक्त कुछ 'वचनगीत' भी लिखे हैं, पर अभी तक किसी ने कवयित्री द्वारा रचित किसी 'वचनगीत' का उदाहरण प्रस्तुत नहीं किया है। कश्मीरी के अतिरिक्त फारसी, संस्कृत तथा हिंदी भाषा में भी रूपभवानी के कुछ पद मिलते हैं।

नुन्द अकमल और नुन्द डार

ईश्वर भक्ति प्रेरित कुछ 'वचनगीत' नुन्द अकमल और नुन्द डार नाम के कवियों ने भी लिखे हैं। इनमें से दूसरे कवि की एक लम्बी कविता 'डोलिक्य शार' शीर्षक से उपलब्ध हुई है, जिनकी टेक इस प्रकार है—

> ढोल की थाप बस यही कहती है
> कि यह संसार तो भ्रम है

यह कविता स्पष्ट रूप से धार्मिक भावना से प्रेरित है और इस बात का प्रमाण प्रस्तुत करती है कि आहिस्ता-आहिस्ता 'वचन गीतों' की सहज और बोध-गम्य भाषा फारसीयत से बोझिल और दुरूह होती जा रही थी और लोक-जीवन की धारा से कटती जा रही थी।

साहिब कौल

साहिब कौल इस युग के एक महत्त्वपूर्ण कवि माने जाते हैं। इस कालखंड विशेष में उत्पन्न होने की बिना पर ही उन्हें वचन गीतों के युग में रखा जा सकता है। अन्यथा उन्होंने जो कुछ लिखा है उसमें गीत की-सी सहज अनुभूति और आत्मा-

भिव्यक्ति नहीं मिलती, वास्तव में साहिब कौल एक प्रकार से कश्मीर में 'लीला' काव्य के प्रथम रचयिता थे।

साहिब कौल की एक रचना 'कल्पवृक्ष' है जिसमें भाषिक पच्चीकारी और चाभत्कारिता के अतिरिक्त और कोई विशेषता नहीं। इसमें संस्कृत और फारसी से लेकर लद्दाखी तक के शब्दों का व्यवहार किया गया है—संस्कृत का कुछ अधिक।

'ज़न्मचरित्' उनकी एक लम्बी कविता है जिसमें 'ज़िन्दगी' अपनी कथा स्वयं कहती है। इसकी पांडुलिपि श्रीनगर की रिसर्च लाइब्रेरी में पड़ी है। यह कृति जिसमें ज़िदगी की यात्रा इन्द्र के घर से शुरू होती हुई दिखाई गई है, हिंदू आस्थाओं, विश्वासों और संस्कारों को प्रदर्शित करती है। इन्द्र के घर से प्रस्थान कराके 'ज़िदगी' को कश्मीर के विभिन्न स्थानों में घुमाया गया है, जिससे कृति में एक विशिष्ट स्थानीय रंग पैदा हुआ है। इस 'जिंदगीनामा' के अतिरिक्त साहिब-कौल को एक अन्य कृति 'श्रीकृष्ण अवतार लीला' अथवा 'श्रीकृष्ण चरित्र' का रचयिता माना जाता है। 'श्रीकृष्ण अवतार लीला' भागवत के दशम स्कन्ध पर आधारित है और इसके अनेक प्रसंग तो केवल भाषान्तर मात्र प्रतीत होते हैं। इस कृति का संपादन ग्रियर्सन ने किया और १९२६ में एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल ने इसे प्रकाशित किया। श्रीनगर की रिसर्च लाइब्रेरी में इसकी एक अन्य पाण्डुलिपि भी उपलब्ध है जिसे अवतार कृष्ण रहबर अधिक प्रामाणिक मानते हैं।[२०] ग्रियर्सन ने कृति की पुष्पिका में आए 'द्यून' शब्द के कारण इसे किसी दीनानाथ नाम के कवि की रचना माना है। वस्तुतः 'द्यून' का अर्थ 'दीन' है, जैसा कि इस पुष्पिका के नीचे दिए अनुवाद से स्पष्ट हो जाता है—

> मैं दीन शरण में आया हूं कृष्ण चरणों की
> मुझ शरणागत के प्रति प्रभु कृपालू क्यों नहीं होते ?
> उन पर में न्यौछावर हो जाऊँगा
> अपने हाथों से अर्पित करूँगा उन्हें कमल गुच्छ

ग्रियर्सन के विचार से 'दीन' या तो इन पंक्तियों के लेखक का वास्तविक नाम है या उपनाम। वे इस कृति को परमानन्द के साथ भी सम्बद्ध करते हैं। इस कृति की भाषा साहिब कौल के अन्य ग्रंथों से काफी भिन्न है और शैली 'जन्मचरित्' की भांति प्रगीतात्मक। इस दृष्टि से भी साहिब कौल 'वचनकाल' के अंतर्गत रखे जा सकते हैं। 'कृष्णावतार लीला' यदि उन्हीं के द्वारा रचित है तो जैसा ऊपर कहा गया है, इसे 'लीला' काव्य का प्रथम उदाहरण माना जा सकता है। 'जन्मचरित्' में साहिब कौलने गुरु की वन्दना में भी कुछ पंक्तियां कही हैं जिनमें गुरु की महिमा के पारम्परिक वर्णन के अतिरित कोई विशेष बात नहीं। प्रो० जियालाल कौल ने

'श्रीकृष्णावतार लीला' के छन्द विधान को विशेष महत्त्व दिया है।[२१] चार पंक्तियों के इस छन्द में चौथी पंक्ति प्रगीतात्मक शैली के अनुरूप टेक की पंक्ति है। हर पहली और तीसरी पंक्ति के अंत में एक अक्षर पर बलाघात है। अन्य अक्षर बलाघात रहित है। दूसरी और चौथी पंक्तियों के अंत को प्रो० जिया लाल कौल ने पुरुषोचित (मैस्क्युलिन) अंत कहते हैं, जबकि पहली और तीसरी पंक्तियों के अंत को 'स्त्रियोंचित कामल अंत।' इसी छन्द विधान का परमानन्द जैसे 'लीला' काव्य के शीर्षस्थ कवियों ने प्रयोग किया है।

अरणिमाल

हब्बाखातून में यदि 'वचन' काव्य का प्रथमोन्मेष दृष्टिगोचर होता है तो सुकुमार भावों की गायिका अरणिमाल (१७३७-७८) में उसका उत्कर्ष। १८वीं शताब्दी में जब बर्बर अफ़गान आक्रांता कश्मीर घाटी को रौंद रहे थे, यह कवयित्री कोमल गीतों की रचना कर रही थी। इन गीतों का एक विशिष्ट रंग है—एक गहरा दर्द और लोक गीतों की-सी सहजता और मार्मिकता जो लोक-मानस में सहज घर कर गई हैं। उसके पति मुंशी भवानीदास काचरू अफगानों के एक प्रतिष्ठित दरबारी थे और फारसी के एक अच्छे कवि। लेकिन विवाह के कुछ ही समय बाद उन्होंने अरणिमाल को छोड़ दिया। अरणिमाल के लिए यह एक गहरा आघात था जिसने उसे कवि बना दिया। श्रीनगर से लगभग ३० किलो-मीटर दूर पलहालन गांव में जनमी अरणिमाल का सौंदर्य और प्रेम श्रीनगर शहर में रहने वाले उसके पति को 'राग दरबारी' के सामने व्यर्थ लगे। पति को रिझाने के लिए इस नवयौवना कवयित्री ने अपने आप को दरबारी रंग में ढालने के लिए हर संभव प्रयत्न किया—दरबारी आदाब सीखे, संगीत सीखा, लेकिन इसका कोई प्रभाव उसके पति पर नहीं पड़ा। यौवन की बेला में अरणिमाल ने आँखों में तैर रहे निश्छल प्रेम के सारे स्वप्न भवानीदास को समर्पित किये थे, लेकिन उन्होंने इस समपर्ण को ठुकरा दिया। अरणिमाल जीवन भर अपने मोरपंखी स्वप्नों की राख बटोरती रही। इतनी उपेक्षा और अपमान के बावजूद वह अपने पति को अपना प्रिय पुरुष मानती रही और मनाती रही कि कभी न कभी वह उसके पास आएगा। एक बार वह आया ज़रूर दरबारी ज़िंदगी की ऊपरी चौंध से ऊबकर, पर तब बहुत देर हो चुकी थी—अरणिमाल की ४१ वर्ष की अल्पायु में जीवन भर प्रतीक्षा करते-करते मृत्यु हो चुकी थी। शायद यह केवल जनश्रुति है। पर आहत प्रेम की पीड़ा और प्रिय पुरुष के सामीप्य की कामना की कसमसाहट उसके गीतों का मुख्य भाव बनी रही। अपने दुखभरे जीवन का परिचय अरणिमाल ने अपने एक गीत में यों दिया है—

ओ सोनकली !

तू किन कांटों के बीच खिली !

कांटों की चुभन जिसके जीवन की कथा रही हो उसकी कविता में दर्द की प्रमुखता स्वाभाविक ही है। अरणिमाल हव्वा खातून की तरह किसी बादशाह की प्रेयसी नहीं थी, लेकिन उसके काव्य में प्रेम की तृषा और तड़प की जो दर्दभरी अभिव्यक्ति है उसकी मार्मिकता और सुन्दरता का कश्मीरी लोकमानस पर काफी प्रभाव पड़ा है।

कुछ लोकप्रिय गीत

अरणिमाल की कविता को एक रिसते हुए घाव का शाब्दिक रूपान्तर कहा जा सकता है। मैके में एकाकी जीवन व्यतीत कर रही कवयित्री प्रेम के छल के कारण मन में उठ रही हूक को अत्यन्त भावपूर्ण गीतों में व्यक्त करती रही—

निपट अकेली अन्धकार में

नदिया की इस हिम बयार में

छोड़ गया वह—किससे दुःख की बात कहूं ?

प्रतीक्षा का भाव इन गीतों का एक केन्द्रीय भाव है। यह प्रतीक्षा एक स्वप्न-पुरुष की है, जिसका स्वरूप वास्तविक से कहीं अधिक काल्पनिक है। तमाम अवहेलना और अपमान के बाद भी कवयित्री में प्रिय के दर्शन और सामीप्य की रूमानी भूख बनी रहती है। कल्पनाशीलता के बावजूद अरणिमाल की कविता में ऐसे संकेत बिखरे पड़े हैं कि स्त्री और पुरुष के बीच दैहिक आकर्षण के सत्य को वह स्वीकार करती है। उसे अपने यौवन के मदीले क्षणों के व्यर्थ चले जाने की पीड़ा सालती रहती है—

मधु प्याले मैंने भरे, न पीने वाला है

वह जाने किसकी मदिरा का मतवाला है

प्रकृति के बदलते रूपों के साथ मनस्थिति का सामंजस्य अरणिमाल की कविता की एक और विशेषता है। वसन्त के आगमन पर फूलों का खिलना, कीचड़ के बीच से सिर उठा रही कली, खुले मैदान और हरी घाटियाँ—इनका एक अबाध आकर्षण उसने सदा महसूस किया है, ऐसा उनके गीतों के साक्ष्य से प्रकट होता है। फूलों से इतना प्यार मध्यकाल के किसी कश्मीरी कवि में नहीं मिलता। 'अरणिमाल' का अर्थ ही है एक किस्म के पीले गुलाबों की माला। इस अर्थ के प्रति सचेत कवयित्री ने अपने नाम को लेकर शायद अपना सबसे खूबसूरत गीत लिखा है—

अरणि रंग गोम श्रावणनि हिए

कर इए दर्शुन म्यें दिए

(मैं खिली चमेली सावन की
अब चियराई ज्यों अरणिकली)

अपनी संगीतमयता और दर्द के कारण यह गीत कश्मीरी के सर्वाधिक लोकप्रिय गीतों में से है। यह इतना लोकप्रिय है कि महमूद गामी जैसी नामी कवि ने भी इसकी कुछ पंक्तियों को अपने एक गीत में टाँक दिया है। इस बिना पर गुलाम नबी खयाल जैसे कुछ आलोचक का इस गीत को मूलतया महमूद गामी का ही मानते हैं। लेकिन अवतार कृष्ण रहबर ने दोनों के विस्तृत विश्लेषण और तुलना द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि मूल पंक्तियाँ अरणिमाल की ही हैं। रहबर ने स्पष्ट दिखलाया है कि ये दोनों दो अलग-अलग गीत हैं, सिर्फ 'अरणि रंग गोम श्रावणिनि हिये वाली टेक दोनों में समान है। जो सहजमाधुर्य और दर्द अरणिमाल की पंक्तियों में है वह गामी के गीत में बिल्कुल नहीं।

अरणिमाल का एक चरखा गीत भी बेहद लोकप्रिय है। अपने उदास और जीवन की एकाकी घड़ियों में उसे निर्जीव चरखे की गुन-गुन में अपनी ही व्यथाकथा की अनुगूंज, अपने ही दुःखी हृदय का प्रतिस्पंदन सुनाई पड़ा—

यों गुन-गुन मत कर, चुप रह चरखे मेरे
नहलाऊँ मैं फुलेल से कीले तेरे

हब्बाखातून की तरह अरणिमाल का भाव-संसार भी सीमित है। प्यार के तंद्रिल भावों में खोया नारी-मन, वियोग की व्यथा और अकेलेपन का दर्द, अपने ही सपनों का दम घोंटने की विवशता. इन्तज़ार की अन्तहीन घड़ियों की उदासी—यही इतना ही कुछ उसकी कविता में बार-बार आता है। फिर भी उसमें कुछ है जो उसे मर्यादाओं की दीवारों से घिरी एक कश्मीरी नारी के उद्‌गारों से कुछ अधिक बना देता है। पीड़ा का जो धरातल उसमें उभरता है वह कश्मीरी गीत-काव्य की एक मूल्यवान थाती है। उदासी और हताशा के बावजूद विश्वास और आशा उसकी कविता में बार-बार अपना सिर उठाती नजर आती है—

कीचड़ के नीचे से
अपना सिर तू फिर से उठा
ओ सोनकली !

जीवन के कीचड़ के बीच से रूप और सौंदर्य के अछूते बिम्बों को प्रस्तुत करने का उपक्रम अरणिमाल को अपने समय की एक अद्वितीय कवयित्री के रूप में स्थापित करता है। उसमें कल्पना के आकाश की उन्मुक्त उड़ान से अधिक ठोस धरती पर लगने वाली ठोकरों का एहसास है और फिर भी एक अदम्य जिजीविषा जो उसे महज़ आत्मदया से ऊपर उठने को प्रेरित करती है। आकांक्षा की तीव्रता का यह रूप कश्मीरी के बहुत कम गीतकारों में मिलता है।

संगीतमयता

अरणिमाल की विशेषता इस बात में है कि वह सीधे मन की बात कह डालने की कला जानती है। व्यर्थ के शाब्दिक अलंकरणों के सायास प्रदर्शन की प्रवृत्ति से वह मुक्त है । यही कारण है कि उसकी भाषा में एक सहजता है, एक मिठास है जो सीधे मन को छू लेती है। रोमांस की खुली घाटियों में उसका स्वर उभरता है और अपनी उदासी की छाप छोड़ जाता है। संगीत के प्रति अरणिमाल विशेष रूप से सचेत नज़र आती है। वर्ण मैत्री और लय के आरोह-अवरोह द्वारा वह अद्‌भुत संगीत की सृष्टि करती है—संगीत जो जादू करता-सा प्रतीत होता है, जो शब्द और अर्थ दोनों की आंतरिक संगति से प्रेरित है।

शाह गफूर : सूफी रंगत

शाह गफूर को कश्मीरी काव्य के गीतकाल का अंतिम उल्लेखनीय प्रतिनिधि कवि माना जा सकता है। महमूद गामी से पूर्व रचित कश्मीरी काव्य में इस कवि का स्वर विशेष प्रभावित करता है। बड़गाम में जनमे इस कवि का वास्तविक नाम सुभानशाह था। इसके गीत सूफी परम्परा में रखे जा सकते हैं, लेकिन सूफी परम्परा की उस शाखा के अंतर्गत जिसे 'शास्त्र प्रेरित सूफी काव्य' कहा जाता है अर्थात् जिस पर हिंदू दार्शनिक विश्वासों और परम्पराओं का प्रभाव पड़ा है। शाह गफूर ने वेदांत दर्शन का अध्ययन तो नहीं किया होगा पर इस दर्शन के सूक्त और सूत्र कश्मीर के सूफी वातावरण में गूंज रहे थे। कश्मीरी सूफीवाद की इस विशेष धारा को इसीलिए 'शास्त्र' या 'हमसू' (सोऽहं) धारा भी कहते हैं। इसके अन्तर्गत अनेक कवियों ने रचना की हैं । शाह गफूर की एक प्रसिद्ध कविता का शीर्षक ही 'सूहंमसू' ('सोऽहं अहमसो') है, जिसकी कुछ पंक्तियों का अनुवाद उदाहरणस्वरूप नीचे दिया जा रहा है—

इस जन्म में भला क्या लेना है
खोजो—उसे खोजो 'सोऽहम्' 'अहम्‌सो' की धारणा में
बशर को छोड़कर तलाश करो ईश्वर की
ईश्वर के साथ में तुम स्वयं ईश्वर हो जाओगे—
और ईश्वर होने के माने हैं शरीर को मारना !

'सोऽहम्' की धारणा और कुछ अन्य कवि

'सोऽहम्' की यह धारणा शाह गफूर ही नहीं, १७७५ से १९२५ तक लिखे गए समस्त कश्मीरी गीत काव्य का एक प्रमुख तत्त्व है। अद्वैत के इस स्वर की अनुगूंज शम्स फकीर, रहमान डार, न्याम साहब, रहीम साहब आदि कवियों से लेकर

असदपरे, समद मीर और अहमद बटवारी आदि के काव्य में सुनी जा सकती है। इन कवियों और इस काव्य धारा पर आगे विचार किया जायेगा।

संदर्भ-संकेत

१. अवतार कृष्ण रहबर द्वारा लिखित कश्मीरी साहित्य का इतिहास पृ० २०६।
२. वही।
३. यह मानते हुए भी कि 'वचन गीत' की सीमाएँ हिन्दुस्तानी गीत और अंग्रेज़ी 'लिरिक' से मिलती हैं, अवतारकृष्ण रहबर का कहना है कि 'वचन' का साँचा बनाने में ईरानी साज़ सहायक रहे हैं—देखिए उनके द्वारा लिखित कश्मीरी साहित्य का इतिहास : पृ० २२१।
४. का'शरि अदबुक तवारीख : कश्मीरी विभाग, कश्मीर विश्वविद्यालय, १९७७—पृ० ४२।
५. मुहम्मद दीन फौक ने अपनी पुस्तिका "खवातीने कश्मीर" (१९४०) और बीरबल काचरू ने अपने इतिहास ग्रंथ "मजमुआ-उल-तवारीख (१८३५-३६) में हब्बाखातून के जीवन के सम्बन्ध में विवरण दिए हैं।
६. खवातीने कश्मीर : पृ० ७१-८९
७. रहबर द्वारा लिखित कश्मीरी साहित्य का इतिहास : पृ० २२१।
८. तारीख हसन।
९. मज़मुआ-उल-तवारीख।
१०. खवातीने कश्मीर : पृ० ७१-८९।
११. कश्मीरी ज़बान और शायरी, भाग २ (कल्चरल अकादमी द्वारा प्रकाशित), पृ० २०४।
१२. अवतार कृष्ण रहबर द्वारा अपने कश्मीरी साहित्य के इतिहास में पृ० २३७ पर दी गई पाद टिप्पणी से उद्धृत।
१३. खवातीने कश्मीर : पृ० ७१-८९।
१४. अब्दुलअहद आज़ाद : कश्मीरी ज़बान और शायरी, भाग २ पृ० २०४।
१५. का'शरि अदबुक तवारीख।
१६. उपरिवत पृ० ४६।
१७. कश्मीरी ज़बान और शायरी (भाग २) में आज़ाद ने पृ० २१३ पर मुहम्मद सादिक कलन्दर द्वारा रूपभवानी की प्रशंसा में लिखी गई पंक्तियों को उद्धृत किया है।

१८. किस्सा अर्जन व हीमाल ।
१९. सम्पादक : डॉ० शिवनाथ शर्मा ।
२०. रहबर द्वारा लिखित कश्मीरी साहित्य का इतिहास : पृ० २६२-६३ ।
२१. प्रो० जियालाल कौल : स्टडीज़ इन कश्मीरी : पृ० ४५ ।
२२. देखिए गुलाम नवी खयाल द्वारा सम्पादित 'महमूद गामी' (कश्मीर एकेडमी आफ आर्ट कल्चर एण्ड लैंग्वेजिज, १९६०) पृ० १७-१९ ।

: ६ :

मसनवियों और गज़लों का युग

कश्मीरी मसनवी काव्य : पृष्ठभूमि

अठारहवीं शती के उत्तरार्द्ध तक आते-आते कश्मीरी प्रेमगीतियों की वह धारा क्षीण हो चली जिसे हब्बा खातून और अरणिमाल ने गति दी थी। सांस्कृतिक गतिरोध के एक लम्बे अन्तराल में कश्मीरी भाषा को साहित्यिक अभिव्यक्ति के क्षेत्र में एक ओर ठिठककर फारसी को रास्ता देना पड़ा। इस्लाम के आगमन के एक अनिवार्य भाषिक परिणाम के तौर पर फारसी चौदहवीं-पंद्रहवीं शताब्दी से ही कश्मीर में प्रतिष्ठित हो चुकी थी, पर अब उसके प्रभाव के आयाम इतने विस्तृत हो गये कि सांस्कृतिक-बौद्धिक जीवन का प्रायः हर क्षेत्र उसके वृत्त में आ गया। कश्मीरी को राजसंरक्षण या प्रोत्साहन तो पहले भी कभी प्राप्त न था, पर अब दरबारी-संस्कृति की कौंध से कश्मीर के साहित्यकार और चिन्तक भी इस कदर चुंधिया गये कि लोकभाषा के चीथड़ों के स्थान पर अपने भावों को फारसी के लकदक राजसी परिधान में ही प्रस्तुत करने में उन्होंने गर्व समझा। अपनी भाषा की याद कश्मीरी कवियों को १९वीं शती के प्रारम्भ में जाकर आयी जब फारसी भाषा का प्रबल आतंक कुछ कम हुआ और महमूद गामी ने लोकमानस के फिर से निकट आने का प्रयास शुरू किया। इस बीच पढ़े-लिखे लोगों का एक बहुत बड़ा वर्ग तैयार हो गया था जिसके लिए अरबी और फारसी भाषाएं मानसिक और बौद्धिक गठन की भाषाएं बन गयी थीं।

मुग़लों और अफ़ग़ानों के शासनकाल में कश्मीर में फारसी शासन की भाषा ही नहीं विचार-विनिमय और शिक्षा का माध्यम भी बनी। जैसा कि अब्दुल अहद आज़ाद ने कश्मीरी साहित्य के अपने इतिहास में लिखा है, यहां फारसी के विद्यालय स्थापित हुए जिनमें फिरदौसी का 'शाहनामा' और निज़ामी का 'सिकन्दरनामा' पाठ्य ग्रन्थों के तौर पर पढ़ाये जाते थे।[1] इन दो जंगनामों ने लोगों की रुचि को इतनी गहराई से प्रभावित किया कि इनके पात्र उनके मनोजगत के वासी बनते गये। इधर 'इस्लामी जगत के उपदान', जिनमें इस्लाम के पैगम्बर और अन्य नायकों से

सम्बद्ध वृत्तान्त, कर्बला युद्ध के प्रसंग, क्लासिकी स्रोतों से फैले ईरानी और अरबी आख्यान और किस्से वगैरह शामिल हैं, मध्य-युगीन कश्मीरी मुस्लिम मानस के लिए सुपरिचित संदर्भों का रूप ग्रहण कर चुके थे। अतः साहित्यिक रचनाशीलता भी इनसे प्रेरित होती रही। अफ़गानों के बर्बर और धर्मान्ध शासन का अन्त सन् १८११ में कश्मीर पर सिक्खों का अधिकार स्थापित होने पर हुआ और उसके बाद सन् १८४८ में डोगरे यहां के शासक बने, पर फारसी भाषा पूर्ववत् शासन की भाषा बनी रही। फारसी की प्रमुखता के इस वातावरण में महमूद गामी द्वारा की गयी एक नये युग की शुरुआत का विशेष ऐतिहासिक महत्त्व है।

महमूद गामी, और उन्नीसवीं शती के उसके अन्य समकालीन कवियों, ने कश्मीरी भाषा को अपना माध्यम अवश्य चुना पर उनकी समूची काव्य-चेतना फारसी भाषा और उसके काव्य से निर्मित थी। उन्होंने फारसी छन्दों, काव्य-रूपों और रचना-शैलियों को ही नहीं अपनाया, विषयवस्तु, प्रतीक योजना और बिम्ब-विधान का एक पूरा संसार ही फारसी काव्य से उधार लिया। फारसी-अरबी शब्द-योजना की भरमार से उनकी भाषा इतनी अधिक बोझिल रही कि उसे कही-कहीं कश्मीरी कहना भी कठिन हो जाता है। उनकी भाषा-शैली को अब्दुल अहद आज़ाद ने 'रेख्ता' कहकर उसमें अन्तर्हित कृत्रिमता और अलंकरण की अतिशयता की ओर संकेत किया है।[२]

इस युग में फारसी से आयी प्रायः हर काव्य-विधा—मसनवी, गज़ल, नात, मर्सिया आदि के क्षेत्र में प्रयोग हुए, पर मसनवी और उसके बाद गज़ल इस युग की प्रमुख विधाओं के रूप में स्थापित हुई।

आज़ाद की 'पुस्तक कश्मीरी ज़बान और उसकी शायरी' की भूमिका में अली जवाद ज़ैदी ने इस विषय पर अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा है: "उन्नीसवीं शती के आरम्भ में जब अव्यवस्था और अशांति अपेक्षया कुछ कम हुई तो रचनात्मकता के नये-नये क्षेत्रों की ओर भी (कश्मीरी कवियों का) ध्यान गया। आशिकाना और सूफियाना गज़ल तो पहले भी लिखी जाती थी लेकिन लम्बी प्रबन्धात्मक रचनाओं की ओर पहली बार बाकायदगी से ध्यान दिया गया। इस काम का बीड़ा एक ही समय कई कवियों ने उठाया।"[३] लेकिन ज़ैदी साहब का यह कथन पूर्णतया ठीक नहीं। प्रबन्धात्मक रचनाएं बडशाह ज़ैन-उल-आबिदीन के समय में भी लिखी गयी थीं, जिनमें बाणासुर कथा जैसा शीर्षस्थ कथा-काव्य भी शामिल है। उन्नीसवीं शती में इसी परम्परा ने एक नया मोड़ ग्रहण किया। फारसी मसनवियों के तौल पर कश्मीरी मसनवियों की एक बाढ़ ही आ गयी जिसके नीचे बीसवीं शती का एक चौथाई भाग भी डूबा रहा। अन्तर केवल इतना था कि पंद्रहवीं शती के कथा-काव्य संस्कृत परम्परा से प्रेरित थे, जब कि उन्नीसवीं शती में उसका स्थान फारसी काव्य-परम्परा और इस्लामी

: ६ :

मसनवियों और गज़लों का युग

कश्मीरी मसनवी काव्य : पृष्ठभूमि

अठारहवीं शती के अत्तरार्द्ध तक आते-आते कश्मीरी प्रेमगीतियों की वह धारा क्षीण हो चली जिसे हब्बा खातून और अरणिमाल ने गति दी थी। सांस्कृतिक गतिरोध के एक लम्बे अन्तराल में कश्मीरी भाषा को साहित्यिक अभिव्यक्ति के क्षेत्र में एक ओर ठिठककर फारसी को रास्ता देना पड़ा। इस्लाम के आगमन के एक अनिवार्य भाषिक परिणाम के तौर पर फारसी चौदहवीं-पंद्रहवीं शताब्दी से ही कश्मीर में प्रतिष्ठित हो चुकी थी, पर अब उसके प्रभाव के आयाम इतने विस्तृत हो गये कि सांस्कृतिक-बौद्धिक जीवन का प्रायः हर क्षेत्र उसके वृत्त में आ गया। कश्मीरी को राजसंरक्षण या प्रोत्साहन तो पहले भी कभी प्राप्त न था, पर अब दरबारी-संस्कृति की कौंध से कश्मीर के साहित्यकार और चिन्तक भी इस कदर चुंधिया गये कि लोकभाषा के चीथड़ों के स्थान पर अपने भावों को फारसी के लकदक राजसी परिधान में ही प्रस्तुत करने में उन्होंने गर्व समझा। अपनी भाषा की याद कश्मीरी कवियों को १९वीं शती के प्रारम्भ में जाकर आयी जब फारसी भाषा का प्रबल आतंक कुछ कम हुआ और महमूद गामी ने लोकमानस के फिर से निकट आने का प्रयास शुरू किया। इस बीच पढ़े-लिखे लोगों का एक बहुत बड़ा वर्ग तैयार हो गया था जिसके लिए अरबी और फारसी भाषाएं मानसिक और बौद्धिक गठन की भाषाएं बन गयी थीं।

मुग़लों और अफ़ग़ानों के शासनकाल में कश्मीर में फारसी शासन की भाषा ही नहीं विचार-विनिमय और शिक्षा का माध्यम भी बनी। जैसा कि अब्दुल अहद आज़ाद ने कश्मीरी साहित्य के अपने इतिहास में लिखा है, यहां फारसी के विद्यालय स्थापित हुए जिनमें फिरदौसी का 'शाहनामा' और निज़ामी का 'सिकन्दरनामा' पाठ्य ग्रन्थों के तौर पर पढ़ाये जाते थे।[1] इन दो जंगनामों ने लोगों की रुचि को इतनी गहराई से प्रभावित किया कि इनके पात्र उनके मनोजगत के वासी बनते गये। इधर 'इस्लामी जगत के उपदान', जिनमें इस्लाम के पैगम्बर और अन्य नायकों से

सम्बद्ध वृत्तान्त, कर्बला युद्ध के प्रसंग, क्लासिकी स्रोतों से फैले ईरानी और अरबी आख्यान और किस्से वगैरह शामिल हैं, मध्य-युगीन कश्मीरी मुस्लिम मानस के लिए सुपरिचित संदर्भों का रूप ग्रहण कर चुके थे। अतः साहित्यिक रचनाशीलता भी इनसे प्रेरित होती रही। अफ़गानों के बर्बर और धर्मान्ध शासन का अन्त सन् १८११ में कश्मीर पर सिक्खों का अधिकार स्थापित होने पर हुआ और उसके बाद सन् १८४८ में डोगरे यहां के शासक बने, पर फारसी भाषा पूर्ववत् शासन की भाषा बनी रही। फारसी की प्रमुखता के इस वातावरण में महमूद गामी द्वारा की गयी एक नये युग की शुरुआत का विशेष ऐतिहासिक महत्त्व है।

महमूद गामी, और उन्नीसवीं शती के उसके अन्य समकालीन कवियों, ने कश्मीरी भाषा को अपना माध्यम अवश्य चुना पर उनकी समूची काव्य-चेतना फारसी भाषा और उसके काव्य से निर्मित थी। उन्होंने फारसी छन्दों, काव्य-रूपों और रचना-शैलियों को ही नहीं अपनाया, विषयवस्तु, प्रतीक योजना और बिम्ब-विधान का एक पूरा संसार ही फारसी काव्य से उधार लिया। फारसी-अरबी शब्द-योजना की भरमार से उनकी भाषा इतनी अधिक बोझिल रही कि उसे कहीं-कहीं कश्मीरी कहना भी कठिन हो जाता है। उनकी भाषा-शैली को अब्दुल अहद आज़ाद ने 'रेख्ता' कहकर उसमें अन्तर्हित कृत्रिमता और अलंकरण की अतिशयता की ओर संकेत किया है।[२]

इस युग में फारसी से आयी प्रायः हर काव्य-विधा—मसनवी, गज़ल, नात, मर्सिया आदि के क्षेत्र में प्रयोग हुए, पर मसनवी और उसके बाद गज़ल इस युग की प्रमुख विधाओं के रूप में स्थापित हुई।

आज़ाद की 'पुस्तक कश्मीरी ज़बान और उसकी शायरी' की भूमिका में अली जवाद ज़ैदी ने इस विषय पर अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा है: "उन्नीसवीं शती के आरम्भ में जब अव्यवस्था और अशांति अपेक्षया कुछ कम हुई तो रचनात्मकता के नये-नये क्षेत्रों की ओर भी (कश्मीरी कवियों का) ध्यान गया। आशिकाना और सूफियाना गज़ल तो पहले भी लिखी जाती थी लेकिन लम्बी प्रबन्धात्मक रचनाओं की ओर पहली बार बाकायदगी से ध्यान दिया गया। इस काम का बीड़ा एक ही समय कई कवियों ने उठाया।"[३] लेकिन ज़ैदी साहब का यह कथन पूर्णतया ठीक नहीं। प्रबन्धात्मक रचनाएं बडशाह ज़ैन-उल-आबिदीन के समय में भी लिखी गयी थीं, जिनमें बाणासुर कथा जैसा शीर्षस्थ कथा-काव्य भी शामिल है। उन्नीसवीं शती में इसी परम्परा ने एक नया मोड़ ग्रहण किया। फारसी मसनवियों के तौल पर कश्मीरी मसनवियों की एक बाढ़ ही आ गयी जिसके नीचे बीसवीं शती का एक चौथाई भाग भी डूबा रहा। अन्तर केवल इतना था कि पंद्रहवीं शती के कथा-काव्य संस्कृत परम्परा से प्रेरित थे, जब कि उन्नीसवीं शती में उसका स्थान फारसी काव्य-परम्परा और इस्लामी

धर्मवार्त्ता ने ले लिया। लेखक महमूद गामी हों या, मकबूल शाह क्रालवारी, हाजी मिस्कीन हों या हबीबुल्लाह हक़ानी सभी ने अपनी मसनवियों के कथानक और कथानायक सीधे फारसी काव्यों से लिये।

फारसी आख्यान शैली के ही अनुरूप कश्मीरी मसनवियां भी प्रेम और युद्ध के कथासूत्रों से ही बुनी गई हैं। प्रेमाख्यानक काव्यों की संख्या युद्ध कथानकों पर आधारित काव्यों से काफी अधिक है। यद्यपि मसनवी विधा में जीवन और समाज की विभिन्न स्थितियों-परिस्थितियों को एक विशाल दृश्य-फलक पर प्रस्तुत करने की पूरी संभावना विद्यमान थी, कश्मीरी मसनवियों के रचयिताओं के लिए कथात्मकता ही चरम लक्ष्य रही है। ये मसनवियां मानवीय जीवन से संबन्धित किसी गहरी चेतना अथवा दार्शनिक या सामाजिक दृष्टि से प्रेरित नहीं, केवल घटनाओं का एक तिलिस्मी जाल फैलाती हैं। फारसी में मौलाना रूमी या निज़ामी ने भले ही अपनी रचनाओं में कथानक को सूफी साधना-सूत्रों की व्याख्या का निमित्त बनाया हो, कश्मीर में इस प्रकार की अन्यापदेशिक अभि-व्यंजना की प्रवृत्ति नहीं रहीं। यहां केवल घटनाओं के विभिन्न बिन्दुओं को वर्णन और विवरण के माध्यम से प्रस्तुत करके कौतूहल का जादू रचने की प्रवृत्ति प्रमुख रही। दूसरे शब्दों में कश्मीरी मसनवियों में इतिवृत्त अर्थात् नैरेटिव (narrative) अपने आप में महत्त्वपूर्ण है। जीवन के यथार्थ संदर्भों के बजाय असंभव कार्य-व्यापार और घटनाओं के घटाटोप द्वारा निरंतर कौतूहल की स्थिति बनाये रखना उनकी एक प्रमुख विशेषता है। विभिन्न पताकाओं-प्रकरियों-उपकथाओं के विस्तारों में फैले हुए कथानक को विश्रांति केवल वर्णनों द्वारा मिलती है, जो घटना की गति को कुछ रोककर पाठक के मन को बाह्यस्थितियों में तनिक रमाते हैं।

उन्नीसवीं शती में मसनवी के कश्मीरी काव्य की एक प्रमुख विधा के रूप में सहसा उभरने के पीछे एक और कारण कार्यरत था। मनोरंजन के लिए क्षुधित लोकमानस को जिस सामग्री की तलाश थी वह उसे मसनवियों में सहज और संतोषजनक ढंग से ही प्राप्त हुई। उस युग में गद्यपद्यमय किस्सों अथवा दलीलों का भी प्रचार था जिन्हें लोक-गायक अथवा किस्सागो एक विविष्ट अंदाज़ में सुनाया करते थे। मसनवियां भी प्रायः उन्हीं कथानकों को आश्रित करके लिखी गयीं और तत्कालीन पाठकों को आजकल के सस्ते उपन्यासों का-सा मनोरंजन प्राप्त हुआ।

कश्मीरी मसनवी का स्वरूप

लगभग सभी कश्मीरी इश्किया मसनवियों का गठन एक ही प्रकार के सूत्रों पर आधारित है। सामंती पुरुष द्वारा इच्छित सुन्दरी की प्राप्ति इनका प्रधान प्रति-पाद्य है। नायक अथवा नायिका का राजवंश अथवा सामंती समाज से संबन्ध होना आवश्यक है। इन प्रेमाख्यानों में प्रेम का आरंभ प्रायः चित्र-दर्शन, स्वप्न-

दर्शन, गुणश्रवण या प्रत्यक्ष दर्शन द्वारा होता दिखाया गया है। कथानक को दूसरा सोपान, प्रेमी और प्रेमिका द्वारा मिलने का प्रयास है, जिसमें प्रायः नायक को ही प्रयत्न में रत दिखाया जाता है। दोनों के मिलन के मार्ग में सामाजिक अथा दैवी या अतिप्राकृतिक व्यवधान आते हैं, जिनसे संघर्ष के पश्चात ही प्रेमी पुरुष को इच्छित सुन्दरी की प्राप्ति होती है। कहीं-कहीं प्रणयी जनों में से किसी एक की मृत्यु भी दिखायी जाती है। अतिप्राकृतिक या अतिमानवीय पात्र प्रायः मानवीय पात्रों के जीवन में किसी न किसी प्रकार से हस्तक्षेप करते हुए दृष्टि-गोचर होते हैं। नायक अथवा नायिका का रूप अथवा गुणश्रवण मानवीय भाषा में बोलने वाले पालतू तोता-मैना आदि पक्षियों अथवा अन्व अतिमानवीय सत्ताओं के माध्यम से होता है। अधिकांश कथाओं में प्रेमी जनों का मां-बाप की इच्छाओं या समाज की रूढ़ मान्यताओं के विरुद्ध संघर्ष करने के बाद ही मिलन होता है। इस प्रकार मध्यकालीन रोमांसीय साहित्य में प्रयुक्त कथानक रूढ़ियां कश्मीरी मसनवियों में भी आधार ग्रन्थों से ज्यों की त्यों ली गयी है। इनमें प्रथम मिलन में ही नायक और नायिका एक-दूसरे के प्रति उत्कट आकर्षण का अनुभव करते हैं और मिलन के मार्ग में सभी व्यवधानों से एक उन्माद की-सी स्थिति में टक्कर लेते हैं। मिलन-मार्ग में उत्पन्न बाधाओं को दूर करने के प्रयास में ही उनका आकर्षण 'रूमानी प्रेम' में विकसित हो जाता है। प्रियपात्र की प्राप्ति के के लिए प्रेमाख्यानों के ये नायक हर प्रकार के कष्टों को सहज स्वीकार लेते हैं। सामंती व्यवस्था में जकड़े हुए युवक जनों के लिए इन मसनवियों ने रोमॉस और शौर्य के कल्पना लोकों को सृजित करके उनकी दमित वासनाओं की परितृप्ति का उपाय प्रस्तुत किया। इस प्रकार लोगों की एक मनोवैज्ञानिक आवश्यकता की पूर्ति करने के कारण मसनवी साहित्य तत्कालीन कश्मीरी समाज में अत्यधिक लोकप्रिय हुआ।

कश्मीरी मसनवियां फारसी ही नहीं कुछ उर्दू और पंजाबी मसनवियों का भी चरबा है। उन्हें अधिक से अधिक एक स्वतन्त्र अनुवाद की संज्ञा दी जा सकती है, क्योंकि आधार ग्रन्थों का अनुवाद करते समय कश्मीरी मसनवीकारों ने अनेक प्रसंगों को या तो छोड़ दिया या अत्यंत संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किया। और कहीं-कहीं मूल में वर्णित कुछ घटना सूत्रों को उनके भूल रूप से भी अधिक विस्तार दिया। ऐसा प्रायः उन स्थलों पर हुआ है जिनमें कवि का मन अधिक रमा है। इन मसनवियों की कथाभूमि एक सामान्य कश्मीरी पाठक के लिए अधिक परिचित न थी और उनका परिवेश कश्मीरी समाज के वास्तविक संदर्भों से विच्छिन्न। अतः कश्मीरी मसनवीकार अपने युग और समाज की परिस्थितियों का कोई बिम्ब प्रस्तुत नहीं कर पाये हैं। किसी इक्के-दुक्के स्थल पर स्थानीय वातावरण अनजाने में भले ही चित्रित हुआ हो, पर अधिकांश मसनवियों के वातावरण-

वर्णन का कश्मीर घाटी के सौन्दर्य से कोई सरोकार या मेल नहीं। प्रायः सभी मसनवीकारों ने इतिवृत्त में गज़लों का समावेश किया है। ये गज़लें पात्र की व्यक्तिगत मनोदशाओं और भावनाओं का द्योतन प्रबन्ध-प्रवाह के अंतर्गत करती हैं। इनमें से अनेक गज़लें प्रणयाकुलता, रूपकार्षण और वियोगजन्य मनोदशाओं के सुन्दर अंकन के कारण विशेष लोकप्रिय हुई। मसनवीकार की अपनी संवेदनाएं इन गज़लों के हाशियों पर अंकित मिलती हैं। अपने आधार ग्रन्थों से ये मसनवियां कुछ अन्य छोटी बातों में भी भिन्न हैं। जैसे, इनमें शाह-ए वक्त का प्रशस्तिगान एकदम नहीं है। इसका कारण यही प्रतीत होता है कि इन कवियों को राजसत्ता का संरक्षण या प्रोत्साहन प्राप्त नहीं था। रूपगठन के अन्य सभी महत्त्वपूर्ण तत्त्व कश्मीरी और फारसी मसनवियों में समान हैं। प्रायः सभी कश्मीरी इश्किया मसनवियां बहरे हजज़ छन्द में और रज़मिया मसनवियां बहरे तकारिब में रचित हैं। फारसी मसनवियों में थे दो छन्द तो हैं ही, पर इनके अतिरिक्त दो अन्य छन्दों का प्रयोग भी हुआ है। कश्मीरी मसनवीकारों ने मौलिकता और प्रेरणा की कमी को प्रायः अलंकरण और पच्चीकारी द्वारा पूरा करने का प्रयत्न किया है। पर कुल मिलाकर उनकी मसनवियों को स्वतन्त्र रचनाएं मानकर नहीं चला जा सकता। उनके बारे में अधिक से अधिक यह कहा जा सकता है कि उन्होंने फारसी महाकाव्यों में प्रवाहित रोमांसीय रस का आस्वादन कश्मीरी पाठक को कराने में सफलता प्राप्त की है—पर केवल उन्हीं पाठकों को जिनके लिए मूल ग्रन्थों का अध्ययन संभव नहीं था। इस संदर्भ में अब्दुल अहद आज़ाद का यह मत ध्यातव्य है: "कश्मीरी मसनवियां अक्सर इश्किया हैं या रज़मिया और करीब-करीब सब उर्दू इश्किया और रज़मिया दास्तानों के मनज़ूम तर्जुमे हैं, या फारसी शोरा की तरह कश्मीरी शायर भी इश्किया मसनवियों में सरापा, जश्न, शादी, वसल व हिज्र और ग़म व शादमानी के वाक़ात लिखते वक्त खूब ज़ोर लगाते हैं।" लेकिन आज़ाद के अनुसार दोनों भाषाओं की इश्किया मसनवियों में एक विशेष अन्तर यह है कि मूल फारसी कवि प्रेम के मिलन और संयोग के चित्र जिन शब्दों में खींचते हैं ये कश्मीरी कवि कल्पना में भी वैसी बातें ज़बां पर नहीं ला सकते।"[१]

कश्मीरी में लिखी गयी पहली मसनवी को लेकर भी कुछ बहस चली है। अब्दुल अहद आजाद और उन्हीं के आधार पर अली जवाद जैदी प्रकाशराम कुरिगामी के 'रामावतारचरित्' को पहली कश्मीरी मसनवी मानते हैं, जब कि कई अन्य आलोचक इसका श्रेय महमूद गामी की 'यूसुफ जुलेखा' को देते हैं। दोनों ही पक्षों ने 'रामावतारचरित्' को एक रज़मिया मसनवी माना है। लेकिन इस ग्रन्थ की भाषा यद्यपि कई स्थानों पर फारसी-बहुल है ओर इसकी छन्दयोजना

भी फारसी मसनवियों की-सी है, पर यह एक युद्ध-आख्यानक मसनवी न होकर भारतीय महाकाव्यों का-सा स्वरूप लिये हुए है। कवि का उद्देश्य युद्ध वर्णन न होकर एक अवतारी पुरुष के रूप में राम की प्रतिष्ठा और उनके प्रति भक्ति भाव का संचार करना रहा है। इस दृष्टि से देखने पर महमूदगामी को कश्मीरी का प्रथम मसनवीकार मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये।

महमूद गामी (१७६५-१८५५)

मध्ययुग के उत्तर में कश्मीरी काव्य की जड़ता और गतिरोध को तोड़ने की दिशा में महमूद गामी के प्रयत्नों का विशेष महत्त्व है। कश्मीर के शोपियान कस्बे के एक गांव डूरू शाहाबाद के निकट संभवत: १७६५ में उत्पन्न इस कवि ने फारसी की विभिन्न विधाओं में काव्य रचना के सार्थक प्रयोग करके कश्मीरी साहित्य को फिर से प्राणवान बनाया।

महमूद गामी के काव्य व्यक्तित्व का प्रभाव परवर्तियों पर ही नहीं, समकालीनों पर भी काफी गहरा पड़ा है। वस्तुत: उसने काव्य-रचना की जिन लीकों का निर्माण किया उन पर लगभग डेढ़ शती तक कश्मीरी के अनेक कवि चलते रहे। कश्मीरी गज़ल और मसनवी को उनकी देन इतनी विशिष्ट रही है कि वली उल्लाह मत्तू जैसे उसके समकालीन कवियों ने उन्हें 'मर्दे-उस्ताद' कहकर अपनी श्रद्धा व्यक्त की। १८५५ में हुई अपनी मृत्यु तक यह कवि निरन्तर रचनाशील रहकर कश्मीरी को विभिन्न प्रकार से समृद्ध करता रहा।

महमूद की रचनाओं में शताधिक गीतों-गज़लों के अतिरिक्त नौ मसनवियां, —'यूसुफ-ज़ुलेखां', 'लैलामजनू', 'शीरीं-खुसरो', 'हारूं-रशीद' 'महमूद गज़नवी' 'शेख सना', 'शेख मन्सूर', 'पहल्यनामा' और 'यक हिकायत'—आज उपलब्ध हैं।

प्रारम्भ में कुछ वर्ष एक फारसी में काव्य-रचना करने के बाद महमूद ने अपने बड़े पुत्र सुल्तान की मृत्यु के बाद कश्मीरी में लिखना शुरू किया। पुत्र शोक में लिखे मर्सिये को उनकी पहली कश्मीरी रचना माना जाता है। एक अन्य जनश्रुति के अनुसार मस्जिद में एक कलन्दर की चिलम से तम्बाकू पीने पर महमूद बेहोश हो गये, और चेतना लौटने पर कलन्दर की तलाश में जगह-जगह घूमते हुए उनके मन ने काव्य-रचना में शांति प्राप्त करने का प्रयत्न किया। यह दूसरी कथा महमूद को आध्यात्मिक प्रेरणा से सम्पन्न कवि के रूप में प्रतिष्ठित करने की चेष्टा प्रतीत होती है। यह ठीक है कि महमूद एकान्तप्रिय कवि थे जिसके विचार में मन की खिड़कियां और दरवाजे बन्द करके ही 'रोशन नज़र' बना जा सकता है पर उनके काव्य का मूल स्वर आध्यात्मिक रहस्यवाद नहीं। ज़ीवन और संसार की अस्थिरता और क्षणिकता का बोध उनकी रचनाओं में अनेक बार व्यक्त हुआ है, किन्तु उन्हें मूलतया अपने प्रेमाख्यानक मसनवियों के

के लिए ही याद किया जाता है। उनके काव्यानुभव के एक छोर पर मृत्यु का संत्रास है तो दूसरे छोर पर भावुक प्रणय के इन्द्रधनुषी रंग।

महमूद गामी की काव्य-संवेदना का जब विकास हुआ तो उन्होंने पाया कि कश्मीरी कवियों पर फारसी भाषा और साहित्य का ऐसा प्रबल आतंक छाया हुआ है कि उन्हें अपनी ही मातृभाषा का तिरस्कार करने में गर्व का अनुभव होता है। ऐसी स्थिति में जब वातावरण पर फारसी सभी ओर से हावी थी, कश्मीरी में लिखना एक साहस का काम था। स्वयं महमूद के काव्य-संस्कार भी फारसी काव्य-कृतियों के गहरे अध्ययन का परिणाम थे, पर उन्होंने अपनी मातृभाषा में ही इन कृतियों के क्लासिकी आलोक को विकीर्ण करने का उपक्रम किया।

'यूसुफ-ज़ुलेखा'

महमूद की कृतियों में 'लैला मजनूं' सबसे कमज़ोर और 'यूसुफ ज़ुलेखा' सबसे महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। 'यूसुफ ज़ुलेखा' मौलाना जामी की इसी नाम की प्रसिद्ध मसनवी का संक्षिप्त कश्मीरी रूपान्तर है जिसे दर्द से पीड़ित प्रेमियों के लिए एक 'खुशखबर' के तौर पर कवि ने प्रस्तुत किया। कवि के इस प्रयत्न को सीधे सामान्य अनुवाद का नाम नहीं दिया जा सकता। अपने रूपान्तर में महमूद गामी ने जामी की कृति की हर सूक्ष्मता और गहराई को पूरी सचेतता से प्रस्तुत किया है। एक सफल अनुवाद, भाषान्तर मात्र नहीं होता, पुनर्रचना होता है। महमूद गामी की 'यूसुफ-ज़ुलेखा' में भी मूल कृति के कथा-सूत्रों का सभी कहीं अनुकरण मात्र नहीं हुआ, कई घटनाओं और प्रसंगों को कवि ने अपनी संवेदना-दृष्टि के अनुरूप कहीं संक्षिप्त किया है तो कहीं उन्हें अधिक विस्तार देकर नये रंग में प्रस्तुत किया है। मूल कृति दो ही छन्दों में लिखी गई है, पर महमूद के रूपान्तर में चार छन्दों के प्रयोग और गज़लों और गीतों के गुम्फन से वैविध्य का एक दिलचस्प प्रभाव उत्पन्न होता है। महमूद की मसनवियों को भावात्मकता एक विशेष धरातल प्रदान करती है, किन्तु रूढ़ अलंकरणों और अतिशय पच्चीकारी से वे मुक्त नहीं। उनकी शब्द-योजना और बिम्ब-विधान फारसी से सीधे ग्रहीत हैं किन्तु जैसा कि 'यूसुफ ज़ुलेखा' के अनेक पद्यों में देखा जा सकता है, भाषा में फारसी शब्दों और उक्तियों की इतनी भरमार है कि मूल कश्मीरी का रूप ही ओझल हो जाता है। एक सचेत कलाकार होते हुए भी गामी इस बात को नज़र-अंदाज़ कर गये हैं कि फारसी शब्दों के अतिशय और अनावश्यक प्रयोग कश्मीरी के मूल शब्द-विन्यास और प्रकृति से मेल नहीं खाते और इससे काव्य-भाषा कृत्रिम और निर्जीव होकर अपना प्रभाव खो बैठती है। आज़ाद ने इस शैली को 'रेख्ता' की संज्ञा दी है और महमूद गामी के अतिरिक्त अन्य मसनवीगो शायरों ने भी इसे अपनाया है।

महमूद गामी की अन्य मसनवियां

लाल मिरजान और नूरुल्लाह खान की प्रणय कथा पर आधारित 'महमूद गज़नवी' मसनवी के सुन्दर और दर्दीले गीत काफी लोकप्रिय हैं।

'शेखसना' महमूद गामी की एक अन्य श्रेष्ठ मसनवी है जिसमें घटनात्मकता कम और कविता अधिक है। शेख फखरुद्दीन अत्तार की कृति 'मन्तिके अत्तार' पर आधारित इस मसनवी की एक बड़ी विशेषता उसका प्रवाह है। महमूद की 'शेख मंसूर' मसनवी में प्रसिद्ध सूफी मंसूर के सूली पर लटकाये जाने की कथा है, जब कि 'पहल्यनामा' मौलाना रूमी की एक मसनवी का भावानुवाद है, जिसमें महमूद का अपना वर्णन-कौशल निखर उठा है। 'यक हिकायत' उसकी लिखी सबसे लघु मसनवी है जिसका विषय धार्मिक है।

गामी की गज़लें

महमूद गामी मसनवी ही नहीं कश्मीरी गजल के भी जनक माने जाते हैं और अनेक सुन्दर गीतों के रचयिता भी, जिनमें 'रो'व' अर्थात् स्त्रियों के नृत्यगीत भी शामिल हैं। 'यूसुफ ज़ुलेखा' में यूसुफ की मृत्यु पर ज़ुलेखा का शोकगीत महमूद का सर्वश्रेष्ठ गीत माना जाता है। इस शोक गीत में काल की चोट से तड़पते हुए नारी हृदय का मार्मिक क्रन्दन है —

तुम्हारी मृत्यु से यह आकाश नीचे उतर आया है
तुम्हारी मृत्यु से मेरी आंखों की शोखी चली गई
देखो अभी मेरे नाखूनों से मेंहदी नहीं उतरी है
यूसुफ ! तुम्हें पुकार रही हूं—चले आओ।

गीतों में महमूद को प्रेम की कोमल भावनाओं व्यक्त करने में विशेष सफलता मिली है। इसका एक कारण शायद यह है कि इनमें कश्मीरी छन्दों का संगीत मुखरित है और क़श्मीर की मिट्टी की महक है। प्रेम महमूद के लिए हर धड़कन में व्याप्त एक अनुभव और सृष्टि के आरंभ से अंत तक अस्तित्त्वमान एक सत्य है —

जो कुछ भी प्रकट है, यह तभी से ज्ञात है
जब से तुम पैदा हुए
तुम्हीं तिथि हो, तुम्हीं संवत्सर
प्रेम, तुम्हारे विषय में क्या कहूं मैं !

'तमसीले आदम' उनकी एक श्रेष्ठ दार्शनिक नज्म मानी जाती है।

वली उल्लाह मत्तू और उनकी 'हीमाल ना'गराय

महमूद गामी के समकालीन और उनसे विशेष प्रभावित कवि वली उल्लाह मत्तू

(मृत्यु: १८६० ?) अपनी मनसवी 'हीमाल ना'गराय' के लिए प्रसिद्ध है। उन्होंने दो अन्य कृतियां 'चिहिल-असरार' और 'ज़रूरियाते दीन' भी लिखीं, पर इनका कोई साहित्यिक महत्त्व नहीं। 'हीमाल ना'गराय' मसनवी की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसका कथानक किसी फारसी दास्तान पर नहीं, कश्मीर की मिट्टी से उपजी एक प्राचीन लोक गाथा पर आश्रित है। इसका वातावरण कश्मीर का है इसके पात्र और इसमें वर्णित स्थान यहां के लोगों के जाने-पहचाने हैं। इस विशेषता की ओर संकेत करते हुए मुहम्मद यूसुफ टेंग ने लिखा है, "कश्मीरी मनसवियों की दुनिया में 'हीमाल-ना'गराय' ऐसी कथा है जिसकी कथाभूमि कश्मीर है, जो यहीं उपजी है। 'लैला मजनूं', 'ज़ेबानिगार', 'शीरीं-फरहाद', 'वामिक उज़रा', 'यूसुफ जुलेखा' और इसी ढंग की अन्य मसनवियां फारसी से गृहीत हैं। यह सच है कि शतियों तक उन्हें दोहराते रहने और उनके पात्रों को अपने स्वप्नों और खयालों में दुलराते रहने के कारण वे हमें अपने ही जीवन का अंग प्रतीत होते हैं। लेकिन अंग्रेज़ी कहावत है 'खून पानी से गाढ़ा होता है।' जो रस 'हीमाल ना'गराय' की दास्तान में हमारे लिये है, वह बिल्कुल प्रत्यक्ष और प्रकट है। नज्दवन या बेसतूत के पर्वत को हम केवल कल्पना की आंखों से देख सकते हैं। किन्तु बलपुर, सुप्रसमन, रम्बिआरा, यारिवन हमारे कश्मीर में आज भी उसी प्रकार विद्यमान हैं, जिस प्रकार आज से हज़ारों वर्ष पूर्व हीमाल के समय में थे। इन स्थानों के पास जाने पर हीमाल की खयाली तस्वीर में वास्तविकता की ऊष्मा पैदा होती है, नागराय के कल्पित अस्तित्त्व में विश्वास की लालिमा दौड़ जाती है।"

शैली और भाषा

वलीउल्लाह मत्तू ने लोक-प्रचलित कथा से सीधा अपनी कृति का कथानक नहीं चुना। उन्होंने अपनी 'हीमाल ना'गराय' सदरुद्दीन वफाई के फारसी आख्यान काव्य 'किस्सा अर्जुन वा हीमाल' को आधार बनाकर लिखी है। इसी कृति का अनुवाद एक अन्य कश्मीरी कवि सैफ़ुद्दीन तारवली ने भी 'सहरे हिलाल' नाम से किया है। लेकिन जो बात वली उल्लाह की 'हीमाल ना'गराय' में है, वह 'सहरे हिलाल' में में नहीं। 'हीमाल ना'गराय' की सबसे बड़ी विशेषता उसकी भाषा की अपेक्षाकृत सरलता है। वह भारी-भरकम फारसी शब्दों की भरमार से बेजान नहीं। जहां तक हो सका है वलीउल्लाह ने प्रचलित कश्मीरी शब्दों का प्रयोग करने की ही कोशिश की है और इससे उसकी भाषा अधिक सजीव, प्रवाहपूर्ण और कश्मीरी की भाषिक प्रकृति के अनुकूल बन पड़ी है। थोड़े शब्दों में बहुत कुछ कह देने की कला भी वलीउल्लाह के काव्य को एक विशिष्टता प्रदान करती है। एक ही पद्य में दो पात्रों के बीच संवादों या प्रश्नोत्तरों द्वारा कथा-स्थिति को गति देना तथा उसमें नाटकीयता पैदा करना वली की सीधी-सरल शैली को और भी प्रभावी बना

देता है। एक ही शब्द अथवा वाक्यांश की आवृत्ति द्वारा प्रभाव उत्पन्न करना भी वली के काव्य-शिल्प का एक कौशल है।

अपने समकालीन अन्य मसनवीकारों की भांति वली के काव्य में भावात्मक तीव्रता अनुपस्थित है। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि मानव मन की गहराइयों में उतरने में अक्षम है और केवल सतह का ही स्पर्श कर पाया है। पात्रों के मनोजगत के उद्घाटन के स्थान पर वह उन्हें बने-बनाये सांचों में ढाल कर पूर्व-निश्चित प्रतिक्रिया करते हुए दिखाता है। जीवन और सौंदर्य के बारे में उसका बोध पारम्परिक फ़ारसी मसनवियों की परिकल्पनाओं द्वारा निर्मित लगता है, जिनका स्वरूप ही कुछ ऐसा है कि पात्रों के विकास अथवा स्वतंत्र अस्तित्व की कोई गुंजाइश ही नहीं रहती। वलीउल्लाह के 'हीमाल-ना'गराय' काव्य में सब कुछ मसनवियों की रूढ़ियों द्वारा संचालित-नियंत्रित होता है, कला की आवश्यकताओं द्वारा नहीं।

कहीं-कहीं कवि की वर्णन शैली, शब्द-चयन और भावचित्रण की सादगी 'हीमाल ना'गराय' को लोकगीतों की-सी सरलता प्रदान करती है। कवि ने जिन उपमाओं और बिम्बों का प्रयोग किया है वे सीधे कश्मीरी लोक-जीवन से लिये गये लगते हैं।

कथा में विकृति

आधार ग्रन्थ का अनुकरण करते हुए वलीउल्लाह ने मूल लोककथा से सम्बन्ध न रखने वाली कुछ घटनाओं को ठूंसकर अपनी काव्यकृति में विसंगतियां पैदा की हैं। ये आरोपित अंश कथा की मूल संवेदना में ही विकार पैदा करते हैं। उदाहरण के लिए लोककथा में हीमाल अपने प्रेमी की मृत्यु होने पर उसकी चिन्ता में कूदती है, लेकिन वलीउल्लाह ने ना'गराय को दफन किये जाते दिखाया है इस 'रहस्योद्घाटन' के साथ कि नाग राजकुमार वास्तव में काफिर का भेष धारण किये हुए एक मुसलमान है जो मक्का से हज करके भी आया है। हीमाल को तभी इस 'रहस्य' का पता चलता है जब कथा के अन्त में कुछ फकीर आकर यह शोर मचाते हैं "अरे इस मुसलमान को चिता में क्यों जलाया जा रहा है।" इस क्षेपक- ने मसनवी की परिणति को एक भद्दा और अकलात्मक मोड़ दिया है। हीमाल ना'गराय की लोककथा वस्तुतः एक आर्य राजकुमारी और नाग राजकुमार के प्रेम की कहानी है जो उस ऐतिहासिक युग की स्मृति लिये हुए है जब कश्मीर में आर्य और नाग जातियों का मिलन हुआ था।

महमूद गामी की मसनवियों की ही तरह वलीउल्लाह की 'हीमाल ना'ग़राय' में भी पात्रों की मनःस्थिति को दर्शाने के लिये गज़लों का सहारा लिया गया है, किन्तु ये गज़लें स्वयं कवि द्वारा लिखी गयी न होकर उसके दो मित्रों—

अज़ीज़ुल्लाह खान और ज़रीफखान की हैं।

मदीने में मृत्यु

वलीउल्लाह मस्तू जन्म अथवा गृत्यु की तिथियों के बारे में निश्चय से कुछ मालूम नहीं। इतना अवश्य ज्ञात है कि वे महमूद गामी के समकालीन थे और दोनों ने काफी समय एक साथ बिताया था। मत्तू की मृत्यु संभवतः १८६० में मदीने में हुई जब वे हज करने गये हुए थे। वे बडगाम कस्बे के वुहन गांव के रहने वाले थे।

मकबूलशाह क्रालवारी (१८२०-१८७५)

कश्मीरी मसनवीकारों में मकबूलशाह क्रालवारी का नाम विशेष रूप से महत्त्व-पूर्ण है। श्रीनगर से लगभग २२ किलोमीटर की दूरी पर स्थित क्रालवार गांव में मकबूलशाह १८२० में उत्पन्न हुए थे। केवल ५५ वर्ष की अल्पायु पाने पर भी उन्होंने विपुल काव्य की रचना की। उनकी ख्याति का मुख्य आधार उनकी मसनवी 'गुलरेज़' है जिसे इतिवृत्त-संयोजन और भाव-चित्रण की दृष्टि से बेजोड़ माना जाता है। लोकप्रियता के जिन शिखरों का स्पर्श इस मसनवी ने किया है, शायद ही अन्य कोई मसनवी कर पायी है।

मकबूलशाह का निजी जीवन दुखों से पूर्ण रहा है। छोटी उम्र में ही क्षय रोग ने उन्हें आ घेरा और आर्थिक कठिनाइयों ने हमेशा परेशान किया। वे अपना इलाज भी ठीक तरह से नहीं करा सके। और इस पर दत्तक पुत्र की युवावस्था में आकस्मिक मृत्यु और उसके कुछ ही काल बाद पत्नी का भी देहान्त—परि-स्थितियों की काफी निर्मम मार पड़ती रही मकबूलशाह पर। उन्होंने सारी ज़िन्दगी सदमे और तकलीफें सहते हुए बिता दी और दर्द को कविता में व्यक्त किया। अब्दुल अहद आज़ाद ने इसे 'दर्दे मकबूल' की संज्ञा दी जो कभी जीवन की अस्थिरता के तीखे अहसास के रूप में प्रकट हुआ है तो कभी अतृप्त रूपतृषा के रूप में। पुत्र की मृत्यु पर लिखा शोकगीत शायद इस दर्द की प्रथम अभिव्यक्ति था, 'गुलरेज़' की विरही नायिका की पुकार इसका सबसे मार्मिक रूप।

गुलरेज़

'गुलरेज़' मकबूलशाह क्रालवारी की सर्वोत्कृष्ट काव्य-कृति मानी जाती है, जिसे स्वयं उन्होंने 'दर्दोसोज़ आमेज़ दास्तां' कहा है। दो हज़ार दो सौ पद्यों और अनेक गीतों पर आधारित इस 'दास्तां' की रचना उन्होंने छियालीस की उम्र में की थी। मध्ययुगीन प्रेम भावना के एक पूरे लोक को तो यह कृति रूयायित करती ही है, मकबूलशाह की सौंदर्य-चेतना और प्रतिभा के क्षितिजों को भी उद्घाटित

करती है। मुहम्मद यूसुफ टेंग के शब्दों में यह "पुख़्तामश्क और पुख़्ताकलाम शायर की तख़लीक (रचना) है।" यद्यपि यह ज़ियाउद्दीन नवख़्शी की गद्य और पद्य में लिखी इसी नाम की फारसी मसनवी पर आधारित है, पर किसी सूरत में उसका कोरा अनुवाद नहीं। इसमें मानवीय भावनाओं का अंकन आधार-ग्रन्थ से कहीं अधिक सफलता और कलात्मकता से हुआ है। मकबूल की 'गुलरेज़' में मूल फारसी मसनवी में दी गयी कथा के लगभग हरेक तन्तु को सुरक्षित रखा गया है, लेकिन उसे रंगा गया है एक निराले रंग में, जो मकबूल का बिलकुल अपना है। मकबूल की कृति को दरअसल मूलकथा का एक भिन्न संस्करण कहा जा सकता है जिस पर अपने समय और कवि के अद्वितीय व्यक्तित्व का गहरा प्रभाव है। घटनाओं और भावस्थितियों का उसमें काफी संवेदनापूर्ण अंकन है, जो उसे विशिष्टता प्रदान करता है।

रूप चित्रण

रूप चित्रण में मकबूलशाह का मन विशेष रूप से रमा है। 'गुलरेज़' में नायिका नोशलब की देह-छवि का वर्णन करते हुए उन्होंने काफी बारीक बयानी से काम लिया है। नोशलब के अपने प्रेमी अजब मलिक से प्रथम मिलन, परस्पर संभाषण, सम्मोहन और हृदय राग के प्रस्फुटन का वर्णन मकबूल की कला और कल्पना का एक विशिष्ट रसमय धरातल प्रस्तुत करता है। यहां वे मूल फारसी 'गुलरेज' के रचयिता ज़ियाउद्दीन नवख़्शी से बहुत आगे निकले नज़र आते हैं। मकबूल की नायिका पहले तो नायक के प्रणय-निवेदन की उपेक्षा करते हुए दिखलाई गयी है, लेकिन बाद में देह-मन से उसके प्रति समर्पित। मुहम्मद यूसुफ टेंग के मत में यह इस बात का द्योतक है कि मकबूल अपने वक्त के नैतिक-सामाजिक मूल्यों के प्रति सम्मान का प्रदर्शन करना चाहते थे। वे लिखते हैं, "मकबूल की मकबूलियत (लोकप्रियता) का एक सबब एक यह भी है कि उसने अपने हमवतनों के जमा-लियाती एहसास (सौंदर्य-बोध) को सामाजिक इकदार (मूल्यों) से वाबस्ता किया है?

प्रेम के वियोग में नायिका की विकलता जिन पंक्तियों में व्यक्त हुई है, वे आज भी बड़ी लोकप्रिय हैं: "सुबह फो'ल बुलबुलव तुल शोर-उ-ग़ोगा" (सुबह खिली और बुलबुलों का कलरव गूंजा) से प्रारंभ होने वाले पद्यांश में कवि की रचनात्मक क्षमताओं का पूर्ण प्रस्फुटन देखा जा सकता है। इस प्रकार के वर्णन ही 'गुलरेज़' को साधारण इश्किया मसनवियों से ऊंचा उठाते हैं। लेकिन मकबूलशाह क्रालवारी अपने आप को फारसी मसनवी की रूप-वर्णन से सम्बन्धित रूढ़ शब्दावली से बिलकुल बचा नहीं पाये हैं। लोशलब की देह-छवि को प्रस्तुत करने के लिये वे जिन उपमानों की आवृत्ति करते हैं, वे फारसी मसनवी काव्य से ही लिये गये हैं। इस बात की ओर 'स्टडीज़ इन कश्मीरी' में प्रो० जियालाल कौल ने भी संकेत

किया है। कद होगा तो सरू जैसा ही, गाल होंगे तो बस गुलेलाला जैसे, अलकें सांपों की-सी या फिर खुशबू बिखेरती हुई, नाक ठीक खंजर जैसी और कटाक्ष तीरों से कम क्या हो सकते हैं। इसी प्रकार की शब्दावली में नोशलब की सखी नाज़-मस्त परी का सौंदर्य और यहां तक कि नायक अजब मलिक के पुरुष रूप का वर्णन भी हुआ है। इन घिसे-पिटे उपमानों की आवृत्ति के कारण अनेक सवेदनापूर्ण स्थल सपाट हो गये हैं। गो सर्वत्र ऐसा नहीं, पर जहां भी कवि ने आंख बन्द करके फारसी मसनवी काव्यों से रूढ़ उपमान बटोरे हैं, वहां काव्य-सौंदर्य को क्षति ज़रूर पहुंची है।

रेख्ता शैली

भाषा के क्षेत्र में मकबूलशाह फारसी मसनवियों की रूढ़ शब्दावली से इतने अधिक प्रभावित हैं कि कहीं-कहीं तो कश्मीरी नाम मात्र को भी नज़र नहीं आती। क्लिष्ट और घिसे-पिटे फारसी शब्दों के अतिशय प्रयोग ने उनकी भाषा को कई स्थलों पर अस्वाभाविक और बेजान बना दिया है। इस प्रकार की फारसीबहुल शैली को आज़ाद ने 'रेख्ता' कहा है, और मकबूलशाह में इसकी प्रवृत्ति ज़्यादतर वहां नज़र आती है जहां कवि मूल मसनवी का दामन पकड़े हुए है। लेकिन जहां इससे तनिक मुक्त होकर उसने अपनी कल्पना को उड़ान का अवसर दिया है, वहां अभिव्यक्ति अधिक सहज और प्रभावपूर्ण हो गयी है।

गीत और गजलें

'गुलरेज़' में कथा के कुछ संवेदनापूर्ण मोड़ों पर मकबूलशाह ने गीतों और गज़लों का प्रयोग किया है—विशेषकर पात्रों की मनःस्थिति के द्योतन के लिए। इनमें से बहुत से गीत और गज़लें आज भी काफी लोकप्रिय हैं। 'वेँसिये गुलन आवय बहार' (री सखी फूलों में बहार आयी है) या 'छाव गुलरो'य गुलज़ार, हाव दीदार ल'तिये' (ओसुमनमुखी, उपवन का छककर रस लो री) जैसे रूमानी गुदगुदाहट वाले गीत इस संदर्भ में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

कुछ ग़ज़लें मकबूलशाह क्रालवारी ने स्वतन्त्र रूप से भी लिखी हैं। इनमें अभिलाषाओं की करवट और यौवन का उन्मद राग है। शायद इन ग़ज़लों की रचना दूधगंगा नदी के किनारे हुई होगी जहां अपने बीमार तन और थके मन को आराम देने के लिये वे प्रायः जाया करते थे। शुरू के गीतों-ग़ज़लों में 'गुलो-बुल' और महबूब के हुस्न जैसे परम्परागत विषयों को लेकर रस्मी और रिवायती ढंग की शायरी की गयी है। लेकिन बाद की ग़ज़लों में भावानुभूति के विविध रंग निखर उठे हैं। कुछ का अंदाज़ सूफियाना भी है। पर जैसा अब्दुल अहद आज़ाद ने लिखा है, "यह नहीं कहा जा सकता कि मकबूल साहब की सूफि-

याना नज़्में फरसूदा तस्सवुफ और मुर्दा रूहानियत (अध्यात्म) से बिल्कुल पाक हैं।"[११]

वास्तव में सूफी रहस्यवाद मकबूल के काव्य का मुख्य स्वर नहीं—यद्यपि ग़ज़लों में तो क्या 'गुलरेज़' की "मजाज़ी इश्क (लौकिक प्रेम) की हसीन दास्तान" में भी कुछ जौहरियों को "इश्के हकीकी (आध्यात्मिक प्रेम) के गौहर (रत्न)" नज़र आये हैं।

मकबूलशाह की अन्य कृतियां

'गुलरेज़' और कुछ ग़ज़लों-गीतों-नज़्मों के अलावा (जिनका संकलन अब्दुल अहद आज़ाद ने 'कुलियाते मकबूल' शीर्षक से किया है) मकबूलशाह क्रालवारी ने 'बहारनामा', 'ग्रीस्तनामा', 'पीरनामा', 'मंसूरनामा', 'अयूबनामा' और 'यूसुफ ज़ुलेखा' शीर्षक काव्य-ग्रन्थों की भी रचना की है। 'आबनामा', वेबूझनामा' और 'नारनामा' भी उनकी लिखी हुई रचनाएं बतायी जाती हैं, लेकिन ये आज उपलब्ध नहीं। संरचना और छन्द-योजना की दृष्टि से ये सभी कृतियां मसनवी शैली में लिखी गयी हैं।

'बहारनामा' कश्मीरी में अपने ढंग की पहली काव्यकृति है जिसमें वसंता-गमन का वर्णन है। यह १०७ पदों में लिखी गयी है जिनमें बसंत के समय के उल्लास का दृश्य प्रस्तुत किया गया है। पर 'गुलरेज' के बाद जिसे मकबूल की सर्वश्रेष्ठ कृति माना जा सकता है वह है 'ग्रीस्तनामा'। इसके एक हज़ार पद मकबूल को कश्मीरी के प्रथम हास्य-व्यंग्यकार के रूप में स्थापित करते हैं। सामंती व्यवस्था में ज़ुल्म सहते हुए दब्बू और डरपोक बना गंवई-गांव का किसान इसमें उपहास का लक्ष्य बनाया गया है। मामूली से मामूली सरकारी कर्मचारी या ज़मींदार के किसी कारिंदे के आने पर वह कैसे थर-थर कांपता है, छिपता है, मक्कारी का आश्रय लेता है, अजीब-अजीब हरकतें करता है. इसकी हंसी उड़ाता हुआ कवि उस व्यवस्था पर परोक्ष रूप से चोट करता है जो इस सबके लिए उत्तरदायी है।

'ग्रीस्तनामा' में गंवई किसान के व्यवहार को विषय बनाया गया है तो 'पीरनामा' में कवि ने उस वर्ग को लिया है जिससे वह स्वयं संबन्धित था—मुल्ला वर्ग को। दोनों कृतियों में भाषा का प्रयोग ध्यातव्य है। क्लिष्ट रेख्ता के स्थान पर सहज-सरल-चुभती हुई आम भाषा। इसके प्रभाव में मकबूल के कुछ परवर्ती कवियों ने भी ऐसी ही कुछ रचनाएं लिखीं।

अब्दुल अहद नाज़िम

मकबूलशाह क्रालवारी के समकालीन इश्किया मसनवीकारों में अब्दुल अहद

नाज़िम (मृत्यु : १८६५) और सैफुद्दीन तारबली (मृत्यु : १८७४) के नाम उल्लेखनीय हैं। नाज़िम श्रीनगर से २२ किलोमीटर दूर बिजबिहारा के रहने वाले थे। उन्होंने 'ज़ैन-उल-अरब' मसनवी के अतिरिक्त कुछ गज़लें और नातें भी लिखी हैं। 'ज़ैन-उल-अरब' शेख फरीदुद्दीन अत्तार की मसनवी 'इलाहीनामा' का अनुवाद है। इसमें नायिका ज़ैन के अपने भाई हारिस के गुलाम यकताश से प्रेम की दुखान्त कथा का वर्णन है। ज़ैन को अपने प्रेम का मूल्य भाई के हाथों कत्ल होकर चुकाना पड़ता है। अब्दुल अहद आज़ाद के अनुसार मसनवी लेखन में नाज़िम के आदर्श महमूद गामी थे और गज़लगोई में रसूलमीर। आज़ाद के ही शब्दों में नाज़िम के काव्य में बनावट अधिक और सहजता कम है। प्रो० जियालाल कौल के विचार में नाज़िम की उल्लेखनीय देन उनकी व्यंग्य रचनाएं हैं और 'यिम ज़ार वनहस बारदार' (अपनी यह गुहार सुनाती उसे) जैसी कुछ गज़लें।

सैफुद्दीन तारबली

सैफुद्दीन तारबली ने १८४६ में हीमाल और नागराय की लोककथा को अपनी 'सहरे हिलाल' मसनवी में पद्यबद्ध किया। इस मसनवी की रचना उन्होंने सदरुद्दीन की फारसी मननवी 'किस्सा अर्जन-ओ-हीमाल' के आधार पर की, लोककथा से सीधे प्रेरणा ग्रहण करके नहीं। फारसी मसनवी का अनुकरण करने के कारण 'सहरे हिलाल' में तारबली की काव्य शैली अलंकार-बोझिल और कृत्रिम लगती है। उसकी भाषा इतनी ज्यादा फारसी-आमेज़ है कि कश्मीरी शब्द मुश्किल से मिलते हैं। यही बात उनकी दूसरी मसनवी 'वामिक उज़रा' के बारे में भी कही जा सकती है जो शेख याकूब सरफी की फारसी मसनवी का अनुवाद है। तारबली ने 'वामिक उज़रा' को दो बार लिखा। पहली बार जब वे युवा थे—लेकिन यह पाण्डुलिपि कहीं खो गयी है। दूसरी बार वृद्धावस्था में—जब वे लुधियाना में थे। कश्मीरी के अलावा इस मसनबी में फारसी और अरबी में भी कुछ पद्य हैं।

इश्क़िया मसनवियों का दूसरा दौर

इश्किया मसनवियां लिखने की जो लहर १९वीं शताब्दी में आयी वह बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक चलती रही। इस बीच उसकी शक्ति क्षीण से क्षीणतर होती गयी। प्रारंभिक कश्मीरी मसनवियों में जो नयेपन का आकर्षण था, वह धीरे-धीरे जाता रहा फिर भी समाज का एक बहुत बड़ा वर्ग मध्ययुगीन मानसिकता से लिपटा रहा, और उसके मनोरंजन के लिये कवि यहां—वहां से प्रेमकथाएं बटोरकर मसनवियां लिखते रहे। इस प्रकार कश्मीरी इश्किया मसनवियों के कश्मीर में दो दौर हुए। पहला दौर १९वीं शताब्दी के अंतिम वर्षों तक

चला और दूसरा बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों तक फैल गया। और तो और अब्दुल अहद आज़ाद जैसे युगप्रवर्तक कवि ने भी अपने काव्यजीवन के प्रारंभ में एक मसनवी लिख डाली। यहां हम इश्किया मसनवियां लिखन वाले उन कवियों का उल्लेख करेंगे जिनका सम्बन्ध दूसरे दौर से है। उन्होंने अपनी प्रमुख मसनवियां बीसवीं शताब्दी से पहले ही लिखी थी, यद्यपि बीसवीं शताब्दी में भी उन्होंने मसनवी लेखन जारी रखा। इन कवियों में पीर मुहीउद्दीन मिस्कीन (मृत्यु १९१५), पीर अज़ीजुल्लाह हकानी (१८६८-१९३५) के नाम प्रमुख हैं। इस युग में कुछ और भी मसनवीकार हुए हैं, पर उन्होंने अधिकतर रज़मिया मसनवियां (युद्धकाव्य) लिखीं। इनकी चर्चा आगे अलग से की जायेगी।

मुहीउद्दीन 'मिस्कीन'

पीर मुहीउद्दीन 'मिस्कीन (मृत्यु १९१५) कुलगांव तहसील के एक गांव के रहने वाले थे। उन्हों ने फारसी मसनवियों के स्थान पर पंजाबी लोक कथाओं से भी कथानक लिये। उनकी 'सोहनी महिवाल' और 'हीर-रांझा' मसनवियां इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय हैं। यद्यपि ये मसनवियां पंजाबी लोक कथाओं पर आधारित हैं, इनकी शैली फारसी मसनवियों की-सी ही है। मिस्कीन केवल लीक पीट कर रह गये है—कोई नयी बात पैदा नहीं कर सके हैं।

सोहनी महिवाल

'सोहनी महिवाल' मसनवी पंजाब की सुप्रसिद्ध प्रेमकथा पर आधारित तो है, पर अनेक संवेदनापूर्ण स्थलों के असंवेदनशील वर्णन ने उसके प्रभाव को चौपट कर दिया है। ग़ैरजरूरी और मामूली बातों के तूल दिया गया है और उनके वर्णन में पद्य के पद्य व्यय किये गये हैं। कुछ लोगों का विचार है कि इसमें सोहनी को दी गयी मां की नसीहत नोशलब को दी गयी उसकी मां की नसीहत की याद दिलाती है, लेकिन सच तो यह है कि इस सारे प्रसंग को बड़े अकलात्मक ढंग से पेश किया गया है। इससे भी ज़्यादा भोंडापन बहां नज़र आता है जहां सच्चाई का पता चल जाने पर भी महिवाल को सोहनी पर निष्ठाहीनता का आरोप लगाते दिखाया गया है। नायक और नायिका के रूप-वर्णन में कृत्रिम, किताबी शब्दाबली का प्रयोग उकताहट पैदा करता है। घिसी-पिटी उपमाओं के कारण वर्णन बेजान हो गये हैं। दोष मिस्कीन का नहीं, फारसी मसनवियों की शैली के अंधानुकरण का है, जो उस युग की एक प्रवृत्ति थी।

'ज़ेबानिगार'

'ज़ेबानिगार' मिस्कीन की एक और मसनवी है। यह भी परम्परागत शैली में

लिखी गयी एक साधारण काव्यकृति है। इसके प्रारंभिक भाग में ज़ेबा के ब्राह्मण घराने में उत्पन्न होने को लेकर "गुमराह और बदशगुन काफिरों की बुतवरस्ती" को लेकर जहर उगला गया है, जो बड़ा कुरुचिपूर्ण लगता है। नायक और नायिका, ज़ेबा और निगार, का नख-शिख वर्णन पारम्परिक शैली में है। यद्यपि यह वर्णन सैकड़ों पद्यों में फैला है, पाठक पर इसका कोई खास प्रभाव नहीं पड़ता। नायक नायिका के मिलन का वर्णन भी अकलात्मक है।

'मिस्कीन' ने 'चंदरबदन' नाम की एक अन्य मसनवी की भी रचना है, जो 'ज़ेबानिगार' की तरह सामान्य कोटि की है।

अपने अन्य समकालीनों की तरह मिस्कीन ने भी फारसी आमेज़ क्लिष्ट भाषा का प्रयोग किया है जिसमें कश्मीरी शब्द इक्का-दुक्का ही मिलता है। उनकी गज़लों में भी यही बात है। कुछ लोगों का ख्याल है कि "यह फारसियत कोई बहुत बड़ा ऐब नहीं", क्योंकि उस ज़माने का मिज़ाज ही ऐसा था।[3]

अब्दुल अहद आजाद ने अपनी पुस्तक 'कश्मीरी ज़बान और शायरी में मिस्कीन को एक मसनवी लेखक के रूप में महमूदगामी और मकबूलशाह क्रालवारी के समकक्ष ठहराया है, जो स्पष्टतया एक अतिशयोक्ति है।

अज़ीज़ुल्लाह हकानी

पीर अज़ीज़ुल्लाह हक़ानी (१८५४-१९२८) को प्रायः मिस्कीन से श्रेष्ठ कवि समझा जाता है। इस मान्यता का कोई आधार उनके काव्य में नज़र नहीं आता। यह ज़रूर है कि पंजाब, दिल्ली, बम्बई, उत्तर पश्चिम सीमान्त (अब पाकिस्तान में) के अतिरिक्त लद्दाख और यारकंद की यात्रा करने के कारण हक़ानी का अनुभव अधिक विस्तृत था। यह भी कि उनकी लिखी मसनवियों की संख्या बहुत है – 'जौहरे इश्क', 'किस्सा बेनज़ीर बदरमुनीर' 'मुमताज़ बेनजीर', 'गुलदस्ता-ए-बेनज़ीर', 'चंदरबदन' आदि। लेकिन ये सभी मसनवियां फारसी मसनवियों के अनुकरण पर लिखी गयी सामान्य कोटि की कृतियां हैं। इनमें वही अंदाज़, वही शैली, वही लटके-झटके नज़र आते हैं जिनका इस्तेमाल उनके अन्य समकालीनों ने किया है। भाषा पर फारसियत इस कदर हावी है कि कश्मीरी शब्दों को चिराग लेकर ढूंढ़ना पड़ता है।

'गुलदस्ता बेनज़ीर'

हक़ानी बस एक पारम्परिक मसनवीगो शायर हैं। मौलिकता की झलक उनमें मिलना मुश्किल है। शैली कृत्रिम और प्रभावशून्य है। 'गलदस्ता बेनज़ीर' और 'चंदरबदन' को उनकी प्रतिनिधि रचनाएं मान लिया जाए तो इसी बात की पुष्टि होती है। इनमें से पहली कृति मीर हसन की लोक प्रिय उर्दू मसनवी 'सहर-उल-

बयान' का कश्मीरी रूपान्तर है। नायक बेनज़ीर के नख-शिख वर्णन के लिये हक़ानी ने जाने कहां-कहां से उपमान जुटाये हैं, लेकिन उसे सजीव मनुष्य का रूप देने में वे असमर्थ रहे हैं। शारीरिक आकर्षण को छोड़कर नज़ीर में कोई पुरुषोचित गुण नहीं दिलाया गया है। नायिका बदर मुनीर के सौंदर्य-वर्णन में भी हक़ानी ने इसी प्रकार अपनी सारी प्रतिमा लगा दी है, लेकिन उसमें जान नहीं डाल सके हैं। सिर्फ एक पात्र है जिसमें जीवन का कुछ आभास मिलता है—वह है बदर मुनीर की सखी नज़्मुलनिसा। इस बात की संभावनाओं का भी हक़ानी कोई विशेष कलात्मक विकास नहीं कर पाए हैं। 'गुलदस्ता बेनज़ीर' मसनवी के संवाद रूढ़ और घिसे-पिटे हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि हक़ानी बस दास्तान सुना डालने भर की जल्दी में हैं और एक बार शुरू करके उसे अंत तक घसीट कर ले जाने के बिना दम लेना नहीं चाहते। मीर हसन की मूल फारसी मसनवी में प्रकृति चित्रण विशेष रूप से प्रभावित करता है, लेकिन हक़ानी इसमें भी कोई रुचि दिखलाते हुए नहीं नजर आते। इसलिये लगता है कि हकानी का 'गुलदस्ता बेनज़ीर' नकली फूलों का ही एक गुलदस्ता है जिसमें न रंगों का सौंदर्य है, न सुगन्ध का आकर्षण।

'चंदरबदन'

हक़ानी की दूसरी मसनवी 'चंदरबदन' की बस यही विशेषता है कि वह दक्षिण की एक प्रेमकथा का कश्मीरी रूपान्तर है। यह कथा हक़ानी को मुकीमी की दक्किनी उर्दू और फारसी में लिखी इसी नाम की मसनवी में मिली। कोई ३८० पदों पर आधारित इस मसनवी में महियार और चंदरबदन के प्रेम-प्रसंग का परम्परागत ढंग से वर्णन है। कथा की संवेदनात्मक स्थितियों या भावात्मक स्थलों से कवि को कोई सरोकार नहीं, उसे केवल घटनाओं का जाल बुनने की जरूरत महसूस हुई है। मूल कथा में अनेक ऐसे स्थल हैं जिन्हें बड़ी कलात्मकता से उभारा जा सकता था। मसलन चंदरबदन और महियार के बीच धर्म की भेदक दीवार, दोनों के प्रेम की गहराई, नायिका का पिता और राजा होने के नाते राजरंग का मानसिक द्वन्द्व वगैरह। लेकिन हक़ानी पर सिर्फ पद्य में एक कथा कह डालने की ऐसी धुन सवार है कि ऐसे संवेदनापूर्ण स्थलों का वे असंवेदनापूर्ण ढंग से संक्षेप में प्रस्तुत करते हैं। अन्य स्थलों पर वे पच्चीकारी का बेमतलब प्रदर्शन करते हैं।

हज़लिया मसनवियां और गज़लें

हक़ानी ने दो हज़लिया मसनवियों अर्थात् व्यंग्य-काव्यों की रचना की है। 'सहलाबनामा' और 'आतिशनामा' नाम की इन कृतियों में बाढ़ और आग के व्यंग्य-हास्यपूर्ण चित्र खींचे गये हैं। 'दरवेशनामा' कवि की एक और रचना है

जिसमें ढोंगी दरवेशों-फकीरों को बेनकाब करने की कोशिश की गयी है।

हक़ानी ने कुछ गज़लें भी लिखी हैं—परम्परागत ढंग की इश्किया ग़ज़लें जिनमें घिसी-पिटी शब्दावली और व्यर्थ के अलंकरण की प्रवृत्ति है।

कश्मीरी रज़मिया मसनवियां

इश्किया मसनदियों के अलावा कश्मीरी कवियों ने युद्ध काव्यों अथवा रज़मिया मसनवियां भी लिखी हैं और व्यंग्य काव्य भी। इस प्रकार फारसी, मसनवियों के तीनों रूप—बज़्मिया, रज़मिया और हज़लिया कश्मीरी में आ गये हैं।

प्रेमाख्यानों पर आधारित मसनवियों की चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं और इस बात की ओर भी संकेत कर चुके हैं कि साधारण पाठकों में उनकी लोकप्रियता का राज़ क्या था। युद्धाख्यानक यानी रज़मिया मसनवियां इतनी संख्या में नहीं रची गयीं। लोकप्रियता की दृष्टि से उनमें से चंद एक ही इश्किया मसनवियों का मुकाबला कर सकीं। यहां यह कहना आवश्यक है कि युद्धाख्यानक मसनवियों में प्रेम भी एक आवश्यक तत्त्व के रूप में विद्यमान है, जिस तरह प्रेमाख्यानक मसनवियों में इच्छित सुन्दरी की प्राप्ति के लिए नायक द्वारा किये गये युद्धों का भी वर्णन रहा करता है रज़मिया मसनवियां लिखने वाले कई कवियों ने इश्किया मसनवियों की रचना भी की है, और इश्किया मसनवियां लिखने वाले कुछ कवियों ने युद्धकाव्य लिखने की दिशा में प्रयोग किये हैं। यहां केवल सुविधा के लिए इन दो प्रकार की मसनवियों का दो अलग-अलग वर्गों के अंतर्गत परिचय दिया गया है। यों युद्ध और प्रेम को लेकर काव्य शताब्दी से बदले भी लिखे गये हैं; मसलन् १५वीं शताब्दी में रचित 'बाणासुर कथा' और विश्व के दो महानतम महाकाव्यों, महाभारत और शाहनामा, के अनुवाद भी किये गये हैं, लेकिन मसनवी शैली में काव्य-रचना की शुरुआत १९वीं शताब्दी में ही हुई, जब कवियों ने फारसी काव्य-कृतियों को आदर्श के रूप में सामने रखा।

पठानों के बाद कश्मीर में राजनीतिक अव्यवस्था और अशांति कुछ कम हुई, यद्यपि सामंती व्यवस्था द्वारा समाज के आर्थिक शोषण और उत्पीड़न का सिलसिला जारी रहा—बल्कि उसने नये-नये रूप लिये। राजनीतिक पराधीनता और सांस्कृतिक पराजय ने कश्मीर के लोगों में मुग़लों के समय से ही आत्महीनता की भावना पैदा की थी, अब आर्थिक विषमता ने उन्हें और भी पंगु तथा असहाय बना दिया। ऐसी स्थिति में केवल प्रेम-कथाओं से दिलों में पल रही निराशा और घुटन से राहत नहीं मिल सकती थी। लोगों ने युद्ध-काव्यों में रुचि लेकर अपने लिये पलायन का एक और रास्ता ढूंढ़ निकाला। इन वीरगाथाओं के वीरों से तादात्म्य अनुभव करके उन्होंने शायद अपनी हीनता की क्षतिपूर्ति के लिए काल्पनिक किस्सों का आश्रय लिया। लेकिन इससे अली जवाद ज़ैदी[१४], मुहम्मद

यूसुफ टेंग[15] और गुलाम नबी ख्याल[16] की तरह यह निष्कर्ष निकालना कि अपमानित और हताश कश्मीरियों के दिलों में रज़मिया मसनवियों ने राष्ट्रीय भावना को जाग्रत किया, स्थिति को अतिशय नाटकीय ढंग से पेश करना है। फारसी जंगनामों को आधार बनाकर कश्मीरी में रज़मिया मसनवी लिखने की जो परम्परा शुरू हुई उसके पीछे "इस्तेहसाली, अनासिर (शोषणकारी तत्त्वों) के सामने मजबूर अवाम" के हताश हृदयों में संघर्ष की उमंग पैदा करने का कोई उद्देश्य नहीं था, न "अवाम की बेचैनी" तो प्रतिबिम्बित करना। ये रचनाएं कश्मीरी जनता की विद्रोह भावना का प्रतिनिधित्व नहीं करतीं। मुहम्मद यूसुफ टेंग जब यह लिखते हैं कि मुग़लों के समय से 'चक बलवीरों' के शौर्य का सूर्य अस्त होने पर "जो अंधेरा छा गया उस वक्त हमारे कवियों ने फारसी आख्यानकारों से रुस्तुम और साम जैसे वीरों को उधार लिया और अपने कलम के ज़ोर से उन्हें वह तलवार सौंप दी जिसे मुगल साथ ले गये थे"[17], तो वे कविता की भाषा और भंगिमा में बात करते हैं, कश्मीरी युद्ध काव्य के वास्तविक प्रेरक तत्त्वों को रेखांकित नहीं। फारसी जंगनामों में आये योद्धा पात्रों के शौर्यपूर्ण और साहसिक कारनामों के साथ कश्मीरी पाठकों को मानसिक तादात्म्य का अनुभव होना स्वाभाविक हो सकता है, पर "उस दौर के हसास (सचेत) शायरों" ने इन पात्रों में इस प्रकार की संभावनाओं को पहचानकर अपनी मसनवियां लिखी हों, इसमें संदेह है। प्रो० जियालाल कौल का यह कथन कि इस दौर के कवि अधिकतर "मुस्लिम योद्धाओं और काफिर गैरमुस्लिमों के बीच हुई लड़ाइयों के अवास्तविकता और अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन में रस लेते हैं"[18] तथ्य के अधिक निकट है। मध्ययुगीन मुस्लिम चित में रुस्तुम आदि इस्लाम से पहले के ईरानी निजंधरी नायकों को भी मुसलमान मान लेने की प्रवृत्ति रही है।

फारसी के प्रमुख जंगनामों को कश्मीरी में पद्यांतरित करने का क्रम लक्ष्मण कौल 'बुलबुल' (मृत्यु : १८९८ ई०) से लेकर पीर ग़ुलाम मुहम्मद हनफी (मृत्यु : १९३८ ई०) तक चलता रहा। इस काल में बीसियों रज़मिया मसनवियों को कश्मीरी रूप दिया गया, लेकिन इनमें से अधिकांश अत्यन्त सामान्य स्तर की हैं। प्रतिभा की कुछ कौंध बस लक्ष्मण कौल 'बुलबुल' के 'सामनामा', वाहब परे द्वारा किये गये शाहनामा के अनुवाद तथा अमीरशाह क्रीरी के सामनामा में देखने को मिलती है। सिद्दी क़ुल्लाह हाजनी का 'सिकन्दरनामा' और 'जंगे खावर' मुज़फ्फर हसन शाह का 'जंगे मुख्तार' और पीर गुलाम मुहम्मद 'हनफी' का 'जंगे अमीर हम्ज़ा' को भी प्रसिद्धि मिली है। इन रज़मिया मनसवियों को कश्मीरी में प्रस्तुत करते समय कश्मीरी कवियों ने फारसी रज़मिया के छन्द 'बहरे तकारिब' का ही प्रयोग किया है। अब्दुल अहद आज़ाद के अनुसार इन युद्धाख्यानों की भाषा, इनकी शब्द-योजना और लबो-लहजा सभी कुछ विशिष्ट प्रकार का है और

"विवाहादि अवसरों पर ये बड़े शौक़ से घड़ों की लय-ताल पर गाये जाते थे।"[१६]

लक्ष्मण कौल 'बुलबुल' और उनकी मसनवी 'सामनामा'

कश्मीरी में इन युद्धाख्यान काव्यों की शुरुआत लक्ष्मण कौल 'बुलबुल' (मृत्यु : १८९८) के 'सामनामा' से मानी जा सकती है। अली जवाद ज़ैदी ने यह श्रेय प्रकाशराम कुरिगामी के 'रामावतार चरित' को दिया है, पर जैसा पहले भी कहा जा चुका है, इस कृति को एक रज़मिया मानना उचित नहीं। इसका मूल स्वर युयत्सा नहीं, भक्ति-भावना से सम्बन्धित है, और इसकी रचना का मुख्य हेतु है राम के अवतार रूप की प्रतिष्ठा। मुहम्मद यूसुफ टेंग ने अमीर शाह क्रीरी को कश्मीरी में रज़मिया का प्रवर्तक माना है,[२०] पर यह बात तथ्य-समर्थित प्रतीत नहीं होती। 'बुलबुल' के 'सामनामा' को कश्मीरी की सर्वश्रेष्ठ रज़मिया मसनवी मानने में आलोचक प्रायः एकमत हैं।

जीवन और कृतित्व

लक्ष्मण कौल 'बुलबुल' श्रीनगर में उत्पन्न हुए और यहीं उन्होंने शिक्षा प्राप्त की। उन्होंने फारसी और संस्कृत दोनों का अध्ययन किया। यौवनकाल में ही माता-पिता की मृत्यु के बाद वे मथुरा, दिल्ली, कलकत्ता आदि स्थानों की यात्रा को निकले और जब कश्मीर लौटे तो श्रीनगर के एक समीपवर्ती कस्बे नागाम में आकर बस गये। कुछ काल तक 'कुठियाल' (अनाज के कोठारों का संरक्षक) के तौर पर नौकरी की, फिर दुकानदारी का पेशा अपनाया और अंत में एक मकतबा खोलकर फारसी पढ़ाने लगे। पहली पत्नी की मृत्यु के बाद वैराग्य की मनस्थिति में मटन जाकर प्रसिद्ध भक्तकवि परमानंद के शिष्य बने। परमानंद के आग्रह पर लक्ष्मण जू 'बुबबुल' नागाम लौटे और वहां दूसरा विवाह किया। यहीं दो दिन की बीमारी के बाद ७२ वर्ष की आयु में उनकी मृत्यु हुई। मरने से कुछ काल पूर्व उन्होंने फारसी में एक शेर की रचना की थी जिसमें उन्होंने अपनी मृत्यु की तिथि की ओर संकेत किया था, जो संवत् १९५५ तदनुसार १८९८ ई० बनती है।

'सामनामा' के अतिरिक्त लक्ष्मण कौल 'बुलबुल' ने 'नलदमन', 'ओमनामा', और 'चायनामा' की मनसवी शैली में रचना की। 'चायनामा' अपने ढंग की निराली कृति है जिसमें पता चलता है कि कवि कश्मीरी चाय का कितना शौकीन था। कश्मीरी काव्य के लिए वह एक नया और दिलचस्प विषय था। 'नलदमन' में नलदमयन्ती की प्रसिद्ध कथा वर्णित है।

इन मस़नवियों के अतिरिक्त 'बुलबुल' ने अनेक 'लीला' गीतों, ग़ज़लों तथा परमानंद की काव्यकृति 'राधास्वयंवर' के लिए 'मोहिनी-प्रसंग' की रचना की। लक्ष्मण कौल 'बुलबुल' दरअसल मसनवी लेखक से कहीं अधिक एक भक्त

कवि थे। कश्मीरी 'लीला काव्य' के वे एक प्रमुख स्तम्भ थे—यह बात उनके व्यक्तित्व को सचमुच बहु आयामी बना देती है।

'सामनामा' : कथा-स्रोत और काव्यात्मक विशिष्टताएं

'बुलबुल' का 'सामनामा' ख्वाजू किरमानी के मूल फारसी 'सामनामा' पर आधारित है, यद्यपि कवि ने कथा-स्रोत का संकेत करते हुए फिरदौसी के 'शाहनामा' का नाम लिया है। ग्रहीत कथा के यद्यपि सभी प्रमुख प्रसंग बुलबुल ने अपने रूपान्तर में लिये है।

कवि ने ग्रहीत कथा के सूत्रों को आंखें बन्द करके नहीं पकड़ा है, अपितु इतिवृत्त संयोजन में कलात्मक विवेक का परिचय देते हुए अपने रूपान्तर को एक अनुकृति के स्थान पर एक स्वतंत्र काव्य-कृति का रूप दिया है। मूल कथा के सभी मुख्य घटना प्रसंगों से अपने काव्यफलक का निर्माण करते हुए भी उसने अनेक स्थलों पर अनावश्यक वर्णनों और विवरणों को छोड़ दिया है और कहीं-कहीं भिन्न रेखाओं और रंगों का प्रयोग करके कथा के स्वरूप को नये आयाम देने की कोशिश की है। पात्रों के चरित्रीकरण में भी उसका रचना-कौशल अनेक नये तत्त्वों के समावेश में प्रकट हुआ है। 'बुलबुल' ने अपने 'सामनामा' में व्यर्थ के विस्तारों से बचते हुए कथानायक साम को ही निरन्तर अपनी दृष्टि के केन्द्र में रखा है और विभिन्न घटनावृत्तों का इसी केन्द्र से अपसरण दिखाया है, जिससे इस काव्यकृति में सुसम्बद्धता आ गई है। कृति में साम का जो शूरनायक रूप उभारा गया है उससे इच्छित सुन्दरी की प्राप्ति का रोमांसीय अभिप्राय भी जुड़ा है। विभिन्न युद्धों में साम का पराक्रम-प्रदर्शन चीन की राजकुमारी के प्रति उसके उत्कट प्रेम और उसकी प्राप्ति के मार्ग में आये अवरोधों को रौंद डालने के संकल्प से प्रेरित है।

आधार ग्रन्थ में आयी अनेक अवान्तर कथाओं को अपने कथानक में कुशल काव्य-शिल्पी की भांति अन्वित करते हुए लक्ष्मण कौल 'बुलबुल' नायक साम और नायिका परीदख्त के व्यक्तित्व-बिम्बों को जीवन्त बनाते हैं। चीन के वादशाह द्वारा साम को अपनी कन्या के जीवन से हटाने के षड्यंत्र, और इन्हें विफल करने की प्रक्रिया में साम का संघर्ष तथा मानवीय तथा अमानवीय पात्रों से उसके रोमांचक युद्ध जिन अनेक नाटकीय संभावनाओं को उभारते हैं उनका भरपूर काव्यात्मक उपयोग करने में 'बुलबुल' सफल हुए हैं।

मसनवी की कथाभूमि भौगोलिक से अधिक अतिकाल्पनिक है। घटनास्थितियां ऐसी हैं जो पाठक को तिलिस्म के एक अद्भूत लोक में ले जाती हैं। परीदख्त के प्रति साम का आकर्षण केवल जैविक स्तर पर ही व्यक्त नहीं होता भावात्मक्र धरातल का भी स्पर्श करता है। परीदख्त की बीमारी और मृत्यु की

झूठी अफवाह सुनकर साम के उद्वेलित चित्त की आकुलता का कवि ने जो चित्रांकन किया है वह मसनवी के सबसे अधिक संवेदनापूर्ण स्थलों में से है।

साम नरेमान के पराक्रम-पौरुष अथवा परीदख्त के परी वदन का रूपायन हो या फिर मकोकाल देव के विरूप रूप का वर्णन, लक्ष्मण कौल 'बुलबुल' को समान रूप से सिद्धि मिली है।

'बुलबुल' ने मूल फ़ारसी आख्यान को कश्मीरी रूप देने का जो सफल प्रयत्न किया है उसके कारण 'सामनामा' के पात्र, उनका परिवेश और वातावरण बिल्कुल कश्मीरी लगता है। 'बुलबुल' ने अपनी मसनवी के प्रारम्भ में ही ईरानी शराब के स्थान पर कश्मीरी नमकीन चाय के प्यालों के लिए अपनी ललक को जिस ढंग से व्यक्त किया है, उससे यह कश्मीरी रंग और भी गहरा हो गया है।

कवि का शब्द-चयन, उपमान योजना तथा वर्णन-शैली उसे एक अच्छे काव्य-शिल्पी के रूप में प्रतिष्ठित करने वाले तत्त्व हैं। भाषा पर यद्यपि फारसी की गहरी छाप है, पर कश्मीरी का मौलिक सौंदर्य भी स्थान-स्थान पर अपनी झांकी दिखाता है। इन तमाम विशिष्टताओं ने 'बुलबुल' के 'सामनामा' को कश्मीरी रज़मिया की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि बना दिया है।

'नलदमन'

महाभारत के विख्यात नल-दमयन्ती आख्यान पर आधारित 'बुलबुल' की मसनवी 'नलदमन' एक प्रेमाख्यानक काव्य है। 'सामानामा' के समान प्रसिद्ध न होने पर भी भाषा के सहज प्रवाह और वर्णन की प्रभावशीलता के कारण यह भी एक दिलचस्प कृति बन पड़ी है। 'बुलबुल' के 'लीला' गीतों में भाषा अपेक्षाकृत सरल है और उनकी भक्त-आस्था के अनुरूप।

वाहब परे : एक बहुसर्जक कवि

हाजिन के वाहब परे (१८४५-१९१४) कश्मीरी रज़मिया मसनवियों के एक और प्रमुख स्तम्भ माने जाते हैं। इस बहुसर्जक कवि की प्रतिभा कई मौलिक कृतियों के अतिरिक्त अनेक फारसी कृतियों के कश्मीरी रूपान्तरों में प्रतिफलित हुई है। इनमें फिरदौसी के विख्यात काव्य 'शाहनामा' का कश्मीरी भाषान्तर भी शामिल है, जिसे कश्मीरी साहित्य के इतिहास में एक विशिष्ट उपलब्धि माना गया है और जो परे की ख्याति का प्रमुख आधार है।

वाहब परे की अन्य कृतियों में 'हफ्त-किस्सा मकरि ज़न', 'हफ्त-किस्सा-इ-आमी' 'सैलाबनामा', 'बेबूझनामा', और 'दरवेशनामा' जैसी' मसनवियों के अतिरिक्त 'दीवाने वाहब' भी शामिल है जिसमें कवि की गज़लें और नज़्में संकलित हैं। उर्दू के एक प्रेमाख्यानक काव्य 'नौनिहालि गुलबदन' का अनुवाद भी वहाब परे

ने किया है। 'हफ्त-किस्सा-इ-मकरि ज़न', 'हफ्त किस्सा-इ-आमी' और 'नौनिहालि गुलबदन आज उपलब्ध नहीं।'

यह एक दिलचस्प संयोग है कि वाहब परे का जन्म ठीक उसी वर्ष हुआ जब कश्मीर में डोगरों का शासन प्रारम्भ हुआ। फारसी मदरसे में शिक्षित वाहब परे के मन पर इस भाषा की श्रेष्ठ कृतियों का एक गहरा प्रभाव पड़ा था, जो कवि द्वारा कृत उनके वृहदाकार अनुवादों में व्यक्त हुआ। वाहब ने, प्रोफेसर हाजिनी के अनुसार, अनेक पेशे अपनाये – कभी ठेकेदारी की तो कभी मुलाज़िमत, कभी 'देहात परवर' के पद पर रहे तो कभी पटवारी, कारदार और नायब तहसीलदार की हैसियत से काम करते रहे। जीविकोपार्जन की इन तमाम व्यस्तताओं के बावजूद वाहब का "बिस्यारगो" (बहुसर्जक) साहित्यकार होना उनकी ख्याति का एक महत्वपूर्ण आधार है।

शाहनामा का कश्मीरी रूपांतर

वाहब परे अपने विपुल कृतित्व के बावजूद मूलतया एक रज़मिया शायर (युद्धाख्यानक कवि) के रूप में विशेष प्रतिष्ठित हैं। 'शाहनामा' का अनुवाद—जिसे उनकी सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि माना जाता है—उन्होंने तेईस हज़ार चार सौ इक्यानवे पद्यों में किया है। यह अनुवाद चार खण्डों में विभाजित है। इनमें से अन्तिम खण्ड फिरदौसी का अनुवाद न होकर एक स्वतंत्र रचना बन पड़ा है जिसमें वाहब ने इस्लाम की विजयों का सविस्तार छः हज़ार छः सौ छियासठ पद्यों में वर्णन किया है। ग्यारह वर्षों में लिखे गये इस खण्ड को महीउद्दीन हाजिनी और प्रोफेसर कौल 'खिलाफतनामा' की संज्ञा देना उचित समझते हैं। शाहनामा के अनुवाद के बारे में वाहब की यह गर्वोक्ति कि, "इस काम के सरअंजाम करने की जुर्रत उनसे पहले कश्मीर के किसी फारसीदां को नहीं हुई थी" पूरी तरह से ठीक नहीं क्योंकि बडशाह के समय में भी इस कृति का कश्मीरी अनुवाद हुआ है। इसे शायद इसलिये नजरअंदाज़ किया गया कि यह अनुवाद वाहब के समय में कहीं उपलब्ध न था। वाहब को अपने इस अनुवाद के लिए "कश्मीर का फिरदौसी" कहना कहां तक उचित है इसकी तह में न जाते हुए हमें इस अनुवाद को उन्नीसवीं शती में कश्मीरी का एक बहुत बड़ा साहित्यिक कारनामा कहना अधिक संगत लगता है। इस अनुवाद की प्रेरणा के बारे में गुलाम नबी ख्याल ने एक दिलचस्प घटना का उल्लेख किया है। उनके अनुसार, वाहब द्वारा कृत यह अनुवाद किसी आंतरिक प्रेरणा का परिणाम नहीं, अपितु इसके मूल में वाहब की मानसिक उत्तेजना है, जो उन्हें एक मौलवी से पढ़ने के लिए उधार ली गयी शाहनामा की एक पांडुलिपि बार-बार वापस मागें जाने के कारण हुई थी।[२१]

फारसी-बोझिल कश्मीरी और निष्प्राण पद्यों में वाहब परे द्वारा किया गया

शाहनामा का यह अनुवाद मूल ग्रन्थ की एक अत्यन्त क्षीण अनुगूंज भर है। शायद इस बात का आभास स्वय कवि को अनुवाद करते-करते ही हो गया था और उसने स्वीकार कर लिया कि इस 'सिरदर्द' से छुटकारा पाने के लिए उसने जल्दी में हज़ारों पद्यों को अनुवाद किये बिना ही छोड़ दिया है। वैसे भी वहाब परे फिरदौसी के काव्य से विशेष प्रभावित नज़र नहीं आते। शायद इसीलिये उन्होंने इसे एक 'झूठ से भरा' और 'खराब' काव्य-ग्रन्थ कहा है। फिरदौसी ने इस्लामी विजयों का बड़े संक्षेप में वर्णन किया है और ईरानियों की पराजय पर हाशियों में अपने दुख की ओर संकेत भी। वहाब परे इस बात से भी कतई खुश नज़र नहीं आते। लगता है कि इसीलिये उन्होंने इस प्रकरण को अलग से एक पूरे खण्ड में विस्तार से पद्यबद्ध किया है। कवि स्वीकार करता है शाहनामा में (इस्लामी विजयों का) विस्तृत वर्णन न पाकर उसके मन में 'गैरते दीनी' पैदा हुई अतः उसने फिरदौसी के आख्यानक की अनुकृति छोड़ दी।''

'अकबरनामा'

रजमिया मसनवी के क्षेत्र में हमीदुल्लाह के 'अकबरनामा' का भावानुवाद वाहब-परे की एक और उपलब्धि है। वस्तुतः यह शाहनामा के अनुवाद से पहले लिखी गई कृति है। इसमें १८८३ से लेकर १८४६ तक पठानों, अंग्रेजों और सिक्खों के बीच कश्मीर के आधिपत्य के लिए हुए युद्धों का वर्णन है। पठानों के नायक अकबर और सिक्ख सूरमा हरीसिंह के युद्ध से संबंधित प्रसंग के लिए 'अकबरनामा' विशेष रूप से प्रसिद्ध है। वाहब के वर्णनों की विशेषता उनका प्रवाह है, जिसके कारण वे युद्ध के गतिशील चित्र अंकित कर सके हैं।

'सैलावनामा' और 'दरवेशी'

यद्यपि वाहब अपने जंगनामों के लिए ही विशेषरूप से ख्यात हैं—आज़ाद के अनुसार उनकी प्रतिभा 'जंगनामे लिखने के लिए ही उपयुक्त है'—उन्होंने अपनी कृतियों में युग और समाज के अनेक सजीव चित्र अंकित करके इतिहास बोध का परिचय भी दिया है। इस दृष्टि से वे अपने समसामयिकों में सबसे अधिक सचेत कवि हैं। 'सैलाबनामा' में, जो मसनवी तर्ज़ पर लिखी गई है, कवि ने अपने समय में आई बाढ़ की विनाशकारी लीला का वर्णन किया है। 'दरवेशी' में तथाकथित दरवेशों, फकीरों और आलिमों का वास्तविक रूप व्यंग्य के माध्यम से उद्घाटित करने के साथ-साथ सामंती शासकों की शोषण नीति को उघाड़ने का भी साहसी प्रयास किया गया है। 'दरवेशी' के अध्ययन से वाहब के समाज और राजनीति सम्बन्धी दृष्टिकोण का परिचय मिलता है। इसमें सरकारी कारिन्दों और सिपाहियों की लूट, ज़मींदारों और जागीरदारों के निरीह किसानों पर अत्याचार,

समाज के पिछड़े और दबे वर्गों के साथ हो रहे अन्याय, शाल बुनने वाले कारीगरों पर लगाये गये करों और आम आदमी से बेगार में लिये गये काम का "कश्मीर—१८५७ ई० से १८८४ तक शीर्षक के अंतर्गत पूरी तस्वीर प्रस्तुत की गयी है।

'दीवाने वाहब'

कवि की गज़लों और नज़्मों के संकलन 'दीवाने वाहब' का ऐतिहासिक महत्त्व है। इन गज़लों में हुस्न और इश्क जैसे विषयों के अतिरिक्त अपने समय के जीवन और समाज में आये परिवर्तनों को लेकर भी कवि ने अपनी प्रतिक्रिया को व्यक्त किया है। पतलूनों, कोटों, ज़नाना टोपियों, बादामी बूटों आदि के प्रचलन का उसने जिस व्यंग्यात्मक लहजे में वर्णन किया है वह अकबर इलाहाबादी की याद दिलाता है। अकबर इलाहाबादी की ही भांति वाहब परे भी अंग्रेज़ी सभ्यता की देन से बेज़ार नज़र आते हैं और "कतलम, शीरमाल, कंदी कुलचे और बसरक" के स्थान पर "डबल रोटी और बेनमक रोटी" के रिवाज से समझौता करने की स्थिति में अपने आपको नहीं पाते।

वाहब, मुहीउद्दीन हाजिनी के अनुसार, सौंदर्य-बोध में नैतिकता के तत्त्व को महत्त्व देते हैं।[२२] उनकी गज़लों में प्रेम का उल्लास न होकर नैतिक उपदेश की अथवा अन्यापदेशिक निष्कर्षों की प्रवृत्ति है। पुनः हाजिनी के ही शब्दों में, "यह याद रखना लाभदायक सिद्ध होगा कि वाहब के तगज़्ज़ुल (गज़ल रचने की कला) में धर्मतत्त्व और तस्सवुफ का अवचेतनात्मक प्रभाव हावी है।"[२३]

अमीरशाह क्रीरी का 'सामनामा'

अमीरशाह क्रीरी (१८३८-१८९९) ने भी लक्ष्मण कौल 'बुलबुल की भांति 'सामनामा' की दास्तान कश्मीरी में पद्यबद्ध की है। दोनों का स्रोत ख्वाजू किरमानी का फारसी 'सामनामा' है। अमीरशाह के 'सामनामे' में फारसी मसनवी की शब्द-योजना और शैली का काफी अधिक प्रभाव नज़र आता है जिसके कारण वह गुलाम नवी ख्याल के शब्दों में, "ईरानी अधिक और कश्मीरी कम प्रतीत होती है।"[२४] कहते हैं कि वाहब परे ने शाहनामा में साम के कथा-प्रसंग को इसीलिए छोड़ दिया था कि अमीरशाह उस पर आधारित मसनवी लिख रहे थे। वर्णन में प्रवाह की विशेषता के बावजूद अमीरशाह का 'सामनामा' 'बुलबुल' के 'सामनामा' से बहुत लम्बा है, जिससे उसमें एक बिखराव आ गया है। दोनों की तुलना करते हुए अली जवाद जैदी ने लिखा है, "अमीरशाह क्रीरी और लक्ष्मण कौल 'बुलबुल' दोनों ही ने साम की दास्तान को अपने अपने अंदाज़ में बयां किया है। अगरचि दोनों का स्रोत हाजू का 'सामनामा' है, लेकिन अमीर शाह ने तर्जुमा किया है

और बुलबुल ने रचना।···विषय एक होने के बावजूद वह मानना पड़ता है कि कि बुलबुल के यहां कलात्मकता अधिक है और भाषा और वर्णन का रस भी।'[३५]

'खावरनामा'

अमीरशाह क्रीरी का एक और युद्ध काव्य है 'खावरनामा' जो इब्ने हुसन की इसी नाम की फारसी मसनवी पर आधारित है। इस जंगनामे में हज़रत अली और उनके साथियों द्वारा लड़े गये युद्धों की कथा वर्णित है।

मूल ग्रन्थ के 'अरब मुजाहिदों' के अलावा अमीरशाह के 'खावरनामा' में ऐसे कई पात्र हैं जो कवि की अपनी कल्पना की उपज हैं। 'खावरनामा' का भूगोल भी काल्पनिक ही है, यद्यपि अमीरशाह की कोशिश रही है कि प्रमुख पात्रों की ऐतिहासिकता सुरक्षित रहे।

कश्मीरी मसनवी काव्य में अमीरशाह की कृतियों को एक मूल्यवान वृद्धि माना जाता है। कहा जाता है कि इन्हें लिखने की प्रेरणा उन्हें सामंती युग में कश्मीरियों के चरित्र में आयी कमज़ोरियों से मिली है। इन कमज़ोरियों पर व्यंग्य करते हुए उन्होंने लिखा है—

गदा और खंजर को देखकर
कश्मीरी भय-कम्पित हो जाते हैं
किसी वीर को देखने पर
वे थर-थर कांपने लगते हैं
....
मगर ये हंगामा-परस्त सूरमा हैं
ये कांगड़ियां इस तरह उछालते हैं
मानो तलवार चला रहे हों

अपने ही ऊपर हंसने की यह कला क्रीरी को खूब आती है।

ग़ज़ल का उत्कर्ष : रसूलमीर

कश्मीरी में ग़ज़ल की शुरुआत महमूद गामी ने की थी। रसूलमीर (मृत्यु : १८७०) ने उसे विशेष रूप से लोकप्रिय बनाया और उसका विकास करके उसे उत्कर्ष पर पहुंचाया। कश्मीरी का यह महानतम गज़लकार एक ऐसे संक्रमण काल में प्राचीन और नवीन के बीच एक कड़ी बनकर उभरा जब मध्ययुग विदा लेने की प्रक्रिया में था। आधुनिक युग के प्रवर्तक कवि तभी सामने आये जब रसूलमीर ने इस परिवर्तन के लिए उपयुक्त रचनात्मक भूमि तैयार की थी। यह एक संयोग है, लेकिन दिलचस्प, कि महमूद गामी और रसूलमीर दोनों का जन्म अनंतनाग कस्बे के डूरू शाहाबाद गांव में हुआ।

रसूलमीर की जन्मतिथि के बारे में निश्चय से कुछ ज्ञात नहीं तो सका है और न यह पता चला है कि वे कुल कितने वर्ष जीवित रहे। लोकानुश्रुति को प्रामाणिक मानें तो उनकी मृत्यु युवावस्था में ही हुई थी। अपनी पुस्तक 'कश्मीरी ज़बान और शायरी' में अब्दुल अहद आज़ाद ने भी ऐसा ही मत व्यक्त किया है।[36] इधर कुछ आलोचकों का मत है कि उन्होंने ६० वर्ष की आयु पायी थी। रसूलमीर की ग़ज़लों में यौवन का जो उत्मुक्त राग गूंजता है उससे यही अनुमान लगाया जा सकता है कि वे वृद्धावस्था तक जीवित नहीं रहे होंगे। इतना अवश्य ज्ञात है कि रसूलमीर महमूद गामी के अंतिम वर्षों में युवावस्था को प्राप्त हो चुके थे और १८८५ में हुई उनकी मृत्यु के बाद जीवित थे। लेकिन अपने एक अन्य महान समकालीन मकबूलशाह क्रालवारी की मृत्यु (१८७२) से पहले ही उनका देहान्त हो चुका था—संभवतः १८७० में।

एक हिन्दू युवती से प्रेम सम्बन्ध

व्यक्तित्व से आकर्षक और स्वभाव से रूमानी रसूलमीर के बारे में कहा जाता है कि उनकी ग़ज़लों की प्रेरणा एक हिन्दू युवती का रूप था। 'कुंगी', 'पद्मिनी 'राजहिन्दुवानी', 'पुष्पमाल' आदि नामों से सम्बोधित इस रूपसी से रसूलमीर को उत्कट प्रेम था। उसकी देह-छवि ने उन्हें रूप-तृषा का कवि बनाया। एक सह-पाठिनी के रूप में 'कुंगी' से हुआ उनका प्रथम परिचय तीव्र आकर्षण में बदला और फिर उद्दाम प्रणय के आवेग में। लेकिन कुंगी का विवाह अन्यत्र हो गया और वह ससुराल चली गई। रसूल मीर उसके वियोग में उन्मत्तता की सीमा तक विकल हो गये और इसी विकलता ने उनके गीतों और ग़ज़लों को प्राणवान बनाया। कहते हैं एक दिन प्रथा के अनुसार अपने मैकेवालों के निमंत्रण पर कुंगी अपने पति के साथ कुछ दिनों के लिए डूरू गांव आयी। इस अवसर पर पड़ोस के स्त्री-पुरुषों ने उसके स्वागत में जो 'रो'व' (नृत्य) गीत गाया उसकी रचना रसूल मीर ने की थी। यह गीत रसूलमीर की रचनाओं में आज भी सर्वाधिक लोक-प्रिय है। गीत की प्रारंभिक पंक्तियां इस प्रकार है —

> तुम्हारी तो परछाई भी प्रशंसा योग्य है—
> लो पुष्पवदना रसिका क्रीड़ा के लिए निकली है!

कुंगी के वापस ससुराल चले जाने पर रसूलमीर भावोन्मत्त हो गये और इसी मनस्थिति में उन्होंने अतृप्त प्रेम की, रूपतृषा की, मिलनोत्कंठा की, उत्कट अभि-लाषा की खूबसूरत ग़ज़लें लिखीं जिनमें उस रूपसी का रूप-बिम्ब झलमलाता है। देहराग का यह मादक संगीत उनकी कविता में जीवन के अंतिम क्षणों तक बजता रहा। यही कारण है कि कुछ लोग जब यह कहते हैं कि अपने जीवन के अंतिम वर्षों में रसूलमीर सूफी हो चले थे तो यह वास्तविकता के विपरीत प्रतीत होता

है। कुंगी के प्रेम में रसूलमीर उन्हीं के शब्दों में 'आवारा आशिक' बन गये और जगह-जगह चर्चा, और बदनामी, के विषय बने। और हर कहीं चर्चित हुई उनकी वे गज़लें जिनमें प्रेमानुभूति शत-शत धाराओं में प्रवाहित हुई है। कवि की ग़ज़लों में इस बात के संकेत हैं कि वह इस चर्चा और बदनामी से अच्छी तरह से परिचित था और खुश भी —

गुंचा-ए.लबों (कली-से ओठों) को चाहने की वजह से
तू बदनाम है, रसूलमीर
खुश हो कि आशिकों में तेरा मान है !

अपने समय के साहित्यिक क्षेत्रों में रसूलमीर काफी प्रसिद्ध और लोकप्रिय थे। उनके प्रशंसक गोष्ठियों में उनकी गज़लें गाया करते। जैसा स्वाभाविक था। उनके प्रतिद्वन्द्वियों को उनकी इस सफलता से ज़बर्दस्त ईर्ष्या हो गयी थी, लेकिन रसूलमीर की इस खुली चुनौती का जवाब देने का उनमें साहस नहीं था —

यह आग की किताब मैंने तुम्हारे ही ग़म में लिखी है
किसमें साहस है जो उसका जवाब दे ?
साकी तू बस जामे-जम पिलाता चल।

परवर्ती और समवर्ती कवियों पर प्रभाव

रसूलमीर ने अधिक नहीं लिखा है—यही कोई दो-एक सौ गज़लें और गीत, बस। इन्हीं पर उनकी ख्याति की सारी इमारत खड़ी है। आखिरी उम्र में उन्होंने शायद एक मसनवी 'ज़ेवा-निगार' लिखी थी, जिसका उल्लेख मुहीउद्दीन मिस्कीन और महजूर ने किया है। आज यह मसनवी उपलब्ध नहीं; होती तो शायद रसूलमीर की रचना-क्षमता का एक और आयाम प्रकट होता, पर मूलतया एक गज़लकार होने के नाते बनी उनकी छवि पर इसका कोई असर पड़ता, यह संदिग्ध है। रसूलमीर निःसन्देह रूमानी भावों के अद्वितीय गज़लकार हैं। इस दिशा में उनकी सफलता का इससे बढ़कर और क्या सबूत हो सकता है कि नाजिम हक़्क़ानी और मकबूलशाह क्रालवारी जैसे दिग्गज मसनवी लेखकों पर उनका प्रभाव पड़ा है और उन्होंने इनके अनुकरण में, यहां तक कि इन्हीं की ज़मीन पर, गज़लें लिखी हैं। और तो और महजूर जैसे युगान्तरकारी कवि भी इनसे इतना प्रभावित थे कि वर्षों इन्हीं के रंग में गज़लें लिखते रहे। इस प्रभाव को स्वीकारते हुए महजूर लिखते हैं—

मीर की पुरानी शराब मैंने नये पात्रों में उंडेल दी है
और इसे ही जाकर मदिरालयों में बेचता हूं !

एक स्थान पर तो उन्होंने यहां तक लिखा है कि महजूर के रूप में रसूलमीर ही फिर से प्रकट हुआ है। रसूलमीर की प्रतिभा का इससे अधिक और क्या

सम्मान हो सकता है

उपलब्धियां

रसूलमीर ने कश्मीरी-काव्य को तस्सवुफ के कुहासे से बाहर निकालकर एक व्यापक भाव-भूमि पर प्रतिष्ठित किया। प्रेम को लेकर गज़लें उनसे पहले भी लिखी गयी हैं - इस संदर्भ में महमूद गामी और उनके समकालीन कवियों का हम उल्लेख कर चुके हैं—लेकिन इनमें से अधिकांश में अनुभूति की वह ऊष्मा नहीं जो रसूलमीर की गज़ल को सजीव बनाती है। रदीफ-काफिये भर की पाबन्दी उनमें ज़रूर थी, पर उसीसे तो गज़ल नहीं बनती। उसके लिए जिस भीतर की आग की ज़रूरत है वह रसूलमीर के हृदय में धधकती थी। रसूलमीर की गज़लों में जो साज़ और सोज़ है, उसका स्रोत उनकी अनुभूति की प्रामाणिकता है। उन्होंने गज़ल को सही अर्थों में आत्माभिव्यक्ति का माध्यम बनाकर कश्मीरी कविता को एक नया मोड़ दिया। तस्सवुफ की रहस्यवादी ओट से बात करने के स्थान पर उन्होंने सीधे अपने मन के दर्द को, आशा-अभिलाषा को गज़ल की पंक्तियों में रूपान्तरित किया। निर्वैयक्तिकता का जो आवरण कश्मीरी कवि ओढ़ता था, उसे उतार फेंक रसूलमीर ने अपनी रूप-तृषा और रूमानी भावनाओं को काव्य का विषय बनाया।

इसका अर्थ यह नहीं कि रूमानी प्रेम कश्मीरी काव्य के लिये कोई नयी चीज़ था और उसे सबसे पहले रसूलमीर लेकर आये। १६वीं शताब्दी में हब्बाखातून और उनके बाद १८वीं शताब्दी में आणिमाल ने स्त्री और पुरुष के पारस्परिक सहज आकर्षण को, प्रेम-सम्बन्ध को अपने गीतों में अभिव्यक्ति दी थी। इन गीतों में मन को छू लेने वाली सहजता और सरलता है, पहाड़ी झरने के स्वच्छन्द जल-सा संगीत है, मिठास है। लेकिन उनका स्वरूप लोकगीतों से बहुत अधिक साम्य रखता है। उनमें अनुभूति की तीव्रता तो है, किन्तु एक सजग कलाकार का-सा रचना कौशल नहीं। रसूलमीर की यही तो एक बड़ी देन है कि उन्होंने कश्मीरी गीतकाव्य को लोकगीत के धरातल से उठाकर साहित्यिक स्तर पर प्रतिष्ठित किया। रसूलमीर की गज़ल मात्र हृदयोद्‌गार नहीं, या सीधे सरल भावों की सीधी-सरल व्यंजना ही नहीं, कलासृष्टि का सचेत प्रयास भी है। महमूद गामी की गज़लों में गज़ल का बाह्य रूपाकार तो है, पर प्राणों का स्पन्दन नहीं; अपने दिल की बात को सीधा कहने का आग्रह नहीं। इसके विपरीत रसूलमीर ने अपनी विकसित सौंदर्य-चेतना और सृजनात्मक कल्पना को उड़ान के लिये रूमानी अभिव्यक्ति का एक पूरा आकाश दिया है। कश्मीरी में गज़ल की संभावनाओं को उन्होंने ही सबसे पहले सही रूप में पहचाना और उनके विकास में अपनी पूरी प्रतिभा लगा दी।

प्रेम की उन्मुक्त अभिव्यक्ति

रसूलमीर ने अपनी सारी शायरी की प्रतिष्ठा प्रेम और सौंदर्य की आधारशिला पर की है। उनकी गज़लों में प्रेम एक अतींद्रिय अनुभव नहीं, शारीरिक आकर्षण और ऐन्द्रिक संवेगों के स्तर पर व्यक्त हुआ है — ज्वार के उफान-सा चेतना के ओर-छोर को डुबाता हुआ। प्रेम का यह अदम्य आवेग रसूलमीर की उत्कट रूपासक्ति से निःसृत है। पर इससे भावात्मकता का एक धरातल भी संलग्न है। प्रेयसी की रूप छवि को नित्य नये-नये कोणों से निहारने और प्रस्तुत करने में ही कवि को अपने प्रेम की सार्थकता और अपने व्यक्तित्व के विस्तार की संभावना नज़र आती है। रूपाकर्षण की यह ललक इतनी तीव्र है कि वह मध्य-युगीन नैतिकता के बन्धनों को तोड़ती है और जाति, धर्म, वर्ण की संकीर्णताओं का उलंघन करती है--

तुम्हारा बदन, तुम्हारी जुल्फें --
यही तो रसूरमीर का दीन और मजहब है
कुफ्र और इस्लाम का अन्तर
वह नहीं जानता

फारसी शायरी की परम्परा के अनुरूप रसूलमीर के प्रारंभिक काव्य में भी महबूब का तस्सवुर पुरुष रूप में मिलता है, जिसके प्रति वह स्त्री की तरह से प्रणय-निवेदन करता है। लेकिन बाद की रचनाओं ने कवि इस अस्वाभाविक स्थिति से विद्रोह करते हुए नारी के प्रति पुरुष प्रेमी के उन्मुक्त प्रणयभाव को अभिव्यक्त करता हुआ नजर आता है। नारी के मांसल रूप-सौन्दर्य के प्रति एक रसलोलुप दृष्टि उसकी गजलों में मिलती है। प्रेयसी के रूप-वर्णन में प्रकृति से ली गयी उपमान-राशि को लुटाते हुए वह जिन बिम्बों की सृष्टि करता है वे कलात्मक संभावनाओं के एक पूरे क्षितिज को उद्घाटित करते हैं—

श्वेत परिधान में वह मत्त-यौवना
चमेली के फूल-सी लगती है—
चमेली का फूल जिस पर सूरज की किरणें
थिरक रही हों
....
प्रिया के माथे पर स्याही का नुक्ता (तिल)
किसी कुसुमित डाल पर बैठी
कोयल जैसा लगता है
....
तुम्हारा वक्षस्थल – वह तो एक दर्पण है
तुम्हारे हाथ और पांव

गुलदस्ते फूलों के या
यास्मीन की लहराती हुई क्यारियां
....

महबूब के मुखड़े पर बूंदें पसीने की
ऐसी जैसी फूलों की पंखुड़ी पर शबनम
या जैसे चांदे के माथे पर से
गुजर रहा हो कारवां सितारों का

नाजुक ख्याली, उन्मत्त यौवन की उन्मुक्त अभिव्यक्ति; सौंदर्य-बिम्बों की ऐन्द्रिक भावभूमि—रसूलमीर की कविता के कलात्मक आयाम इन्हीं में खोजे जा सकते हैं। सौन्दर्य रसूलमीर के लिए एक भाव-सत्ता है जिसे वह सब कहीं व्याप्त देखता है।

प्रेम की विभिन्न भावस्थितियों के साथ-साथ उसका शारीरिक पक्ष भी रसूल मीर के काव्य में व्यंजित हुआ है। लेकिन कवि की सौंदर्य-चेतना दैहिक आकर्षण को सतही रतिभावना की अभिव्यक्ति होने से वचा लेती है। कवि सांकेतिकता से काम लेकर ऐसे स्थलों को कलात्मकता का स्पर्श दे जाता है—

सांकल खड़क उठी
द्वार पर किसी ने दस्तक दी
मैं चौंकी—शायद मेरा प्रिय आया हो
मैंने अपनी बांहें फैला दीं
और उसने मुझे अपने वक्षस्थल में समेट लिया।

नारी के रूप का चित्रण रसूल मीर ने प्रायः ऐन्द्रिकता के धरातल पर किया है, यद्यपि भावव्यंजक बिम्ब भी उनके रूपचित्रों को यहां-वहां सजीव बना देते हैं। कहीं-कहीं इस सौन्दर्य को दिव्य रूप देने की कोशिश की गयी है। मसलन् एक स्थान पर कवि ने प्रेयसी के रूप का यह प्रभाव-चित्र अंकित किया है—

तुम्हारे माथे पर बिखरी हुई उलझी लटें
ऐसी लगती हैं
मानो कुरान के पृष्ठ पर
स्वयं विधाता ने 'बिस्मिल्लाह, लिख दिया हो।

एक अन्य स्थान पर कवि ने प्रेमिका के चेहरे को 'हुस्न का काबा' कहा है, जिसकी मेहराबें उसकी दो भौंहें हैं। पुरुष रूप का चित्रांकन भी कहीं-कहीं विकसित सौंदर्य-चेतना का परिचय देता है।

रसूलमीर सौंदर्य-पिपासा के, यौवन के उन्माद के कवि हैं, पर जीवन और यौवन की अस्थिरता का एहसास भी उनकी कविता में है। उनका रूमानी दर्शन

वर्तमान के क्षण को पूरी तरह से जी लेने का दर्शन है। मृत्यु के ठंडे अंधेरों में खो जाने से पहले रूप-सौंदर्य का आकंठ पान कर लेने का आग्रह मस्ती के इस दर्शन का आधार है। कहीं-कहीं उमर खैयाम का-सा अंदाज़ नज़र आता है—

कल हमें दी जायेगी मौत की अफीम
ओ मेरे प्रिय, (आज) मुझसे मत रूठो
देखो, कल मुरझा जायेगा यह फूल-सा यौवन
लो, दिन ढल रहा है
यौवन के बसंत की जगह लेने को आ रहा है
बुढ़ापे का जाड़ा
और अस्तित्व की नाव का नाविक
शीघ्र ही उसका लंगर खोलने को है
ओ मेरे प्रिय, कल मुरझायेगा यह उपवन

रसूलमीर की कविता विशेष रूप से श्रुति-मधुर है। वे कश्मीरी के सर्वाधिक संगीतमय कवियों में से हैं। ललित शब्द-योजना, अंतर्वर्ती तुक, अनुप्रास और शब्द-आवृति द्वारा वे गज़ल में जो श्रावणिक प्रभाव पैदा करते हैं, उसकी मिठास अद्‌भुत है। कश्मीरी और फारसी शब्दों का नाद-सौंदर्य कवि की श्रेष्ठ संगीत-चेतना का सहज परिचायक है। वे एक सज़ग कलाकार हैं—सुन्दर चाक्षुष बिम्बों की सृष्टि के साथ-साथ सुखद संगीत-योजना के महत्त्व से सुपरिचित। इन दो तत्त्वों की सुसम्बद्धता में उनके रूमानी काव्य के आकर्षण का रहस्य निहित है।

फारसीयत और भारतीय परम्परा का प्रभाव

रसूलमीर की कविता पर फारसी की गहरी छाया है। इसके बावजूद उनकी भाषा में वह बनावट और ज़ड़ता नहीं जो 'रेख्ता कश्मीरी' का प्रयोग करनेवाले कवियों में मिलती है। फ़ारसी शब्दों का उन्होंने बेधड़क इस्तेमाल ज़रूर किया है, किन्तु कलात्मक विवेक के साथ कश्मीरी के प्रचलित शब्दों का उतना ही सजगता से व्यवहार करते हुए। यही बात उनके काव्य में आये प्रतीकों, उपमाओं और रूपकों के बारे में कही जा सकती है जो अधिकतर फारसी काव्य-परम्परा से ग्रहीत होने पर भी मौलिक सूझ-बूझ से प्रयुक्त हुए हैं। कवि फारसी गज़ल की रूढ़ियों का ही दामन पकड़े हुए नहीं है, भारतीय काव्य-परम्परा से भी सम्बद्ध है। इस संदर्भ में कवि की ये पंक्तियां उद्‌धृत की जा सकती हैं—

सीता ने अपने प्राणप्रिय के लिये
शलभ के समान मंडरा कर
प्रेम की ज्वाला में अपने आपको होम दिया

प्रेम के रससिक्त गीत गा-गाकर
उसने राम को 'राम' (वश में) कर लिया

रसूलमीर की गज़ल में हमें अनुभूति के सूक्ष्म स्तर शायद न मिलें, पर प्रेम और सौंदर्य का एक मस्त आलम ज़रूर मिलता है। तस्सवुफ के रहस्य-लोक से निकालकर कश्मीरी कविता को उन्होंने वास्तविक मानवीय भावनाओं का ठोस धरातल प्रदान किया। उन्होंने उसे एक ऐसे मोड़ पर पहुंचाया जिसके आगे आधुनिक चेतना का विराट परिदृश्य प्रकट होता है। इस दृष्टि से रसूलमीर के काव्य में नवयुग की पूर्वसूचना है।

संदर्भ संकेत

१. कश्मीरी ज़बान और शायरी (भाग १) : पृ० १७६।
२. उपरोक्त : पृ० ५५-६३।
३. उपरोक्त (भाग २) : 'मुकदमा'।
४. उपरोक्त (भाग १) : पृ० १८४।
५. उपरोक्त
६. उपरोक्त (भाग २) : 'मुकदमा'।
७. महमूद गामी : (कल्चरल अकादमी. १९६४) : गुलाम नबी ख्याल द्वारा लिखित भूमिका : पृ० ६।
८. वली उल्लाह मत्तू : (कल्चरल अकादमी, १९६४) : मुहम्मद यूसुफ टेंग द्वारा लिखित भूमिका : पृ० १३।
९. 'शीराज़ा'—कश्मीरी मसनवी अंक (१९७६) : पृ० १४८-४९।
१०. प्रो० जियालाल कौल : 'स्टडीज़ इन कश्मीरी' : पृ० ६६.६७।
११. 'कश्मीरी ज़बान और शायरी' (भाग २)।
१२. देखिए : 'मुन्तखिब कश्मीरी मन्ज़ूमात—मकबूल क्रालवारी' : प्रो० हामिदी द्वारा लिखि : कवि का परिचय, पृ० २२।
१३. 'शीराज़ा कश्मीरी मसनवी अंक (१९७६) : 'ज़ेबानिगार' पर एच० एम० ज़फर का लेख : पृ० १९५।
१४. 'कश्मीरी ज़बान और शायरी' (भाग २) : मुकदमा
१५. 'कुलयाते अमीरशाह—'सामनामा' (कल्चरल अकादमी, १९७३) : पृ० ३
१६. 'शीराज़ा'—कश्मीरी मसनवी अंक : पृ० १६६-६७।
१७. उपरिवत्
१८. 'स्टडीज़ इन कश्मीरी' : पृ० ७३।
१९. कश्मीरी ज़बान और शायरी (भाग १) : पृ० १७१-७२।

२०. कुलयाते अमीरशाह—'सामनामा' : पृ० ३।
२१. 'शीराज़ा' - कश्मीरी मसनवी अंक :—पृ० १७१।
२२. मुन्तखिब कश्मीरी मन्ज़ूमात : वाहब परे : भूमिका : पृ० १३।
२३. उपरिखत् : पृ० १८।
२४. 'शीराज़ा'—कश्मीरी मसनवी अंक : पृ० १७४।
२५. 'सामनामा' : लक्ष्मण कौल 'बुलबुल' : सम्पादन—गुलाम नबी खयाल : प्राक्कथन : पृ० ६।
२६. कश्मीरी ज़बान और शायरी (भाग २) : पृ० २८८।

: ७ :

'लीला' काव्य

कश्मीरी भक्तिकाव्य : पीठिका

१९ वीं शती के मध्य में कश्मीरी भक्ति काव्य का उत्थान तत्कालीन काव्य-परिदृश्य का एक महत्त्वपूर्ण किन्तु उपेक्षित दिक् प्रस्तुत करता है। यह वह समय था जब फारसी भाषा और काव्य का प्रभाव कश्मीरी पर पूरी तरह से हावी था और मसनवियों व इश्किया गजलों में व्यक्त हो रहा था। सूफी रहस्यवाद की प्रवृत्ति भी इस युग के काव्य में उत्कर्ष पर थी। ऐसी स्थिति में कवियों के एक वर्ग का प्रेरणा के लिए उत्तर भारत के वैष्णव भक्ति आंदोलन की ओर मुड़ना अपने में एक विशिष्ट घटना थी जिसने एक ओर भारतीय काव्य परम्परा से कश्मीरी का सम्बन्ध बनाये रखा तो दूसरी ओर सृजनात्मकता के लिए सम्भावनाओं का एक और द्वार खोल दिया। पर यह कोई आकस्मिक घटना नहीं थी—इसके पीछे वह आध्यात्मिक और सांस्कृतिक मूल्य-चेतना थी जिसे काव्य में लल्लेश्वरी से भी पूर्व गति मिली थी और जो अन्तःसलिला धारा के रूप में कश्मीरी जन-मानस में प्रवाहित होती रही। हुआ यह कि ऐतिहासिक, सामाजिक और वैयक्तिक परिस्थितियों ने ऐसे कारण उपस्थित किये कि उन्नीसवीं शती में भक्ति-केन्द्रित काव्य ने एक सुनिश्चित रचना-प्रवृत्ति का रूप धारण किया। पर कश्मीरी साहित्य के प्रारम्भकाल में रचित आध्यात्मिक काव्य और उसके छः शती बाद हुए भक्ति काव्य के उन्मेष में एक मौलिक अन्तर अवश्य है। यह अन्तर आस्था के लक्ष्य और साधना के स्वरूप को लेकर है। कश्मीरी काव्य में आध्यात्मिकता का पहला उत्थान मूलतः शैव-दर्शन की विचार-दृष्टि से प्रेरित-प्रभावित था जबकि इस दूसरे उत्थान को गति दी वैष्णव भक्ति और उससे सम्बद्ध 'अवतारवाद' और 'लीला' की अवधारणाओं ने।

भक्ति की भारत-व्यापी लहर ने उन्नीसवीं शती में आकर ही कश्मीर की भूमि का स्पर्श किया हो—ऐसी बात नहीं, पर काव्य के रूप में उसका लिखित साक्ष्य सत्रहवीं शती से पहले नहीं मिलता। साहिब कौल (मृत्यु १६४२ ?) द्वारा

रचित 'कृष्णावतार लीला' जिसकी चर्चा हम अन्यत्र कर चुके हैं, भक्ति की प्रेरणा से निदेशित ऐसी प्रथम कश्मीरी काव्य-कृति है जिसमें विष्णु के अवतार के रूप में कृष्ण की प्रतिष्ठा और उनकी लीलाओं का वर्णन है। इस प्रकार के काव्य की परम्परा अवश्य इससे पहले भी रही होगी, क्योंकि साहित्यिक प्रवृत्तियों का प्रस्फुटन इतना आकस्मिक नहीं हुआ करता। किंतु ऐसी किसी सामग्री के उपलब्ध न होने के कारण साहिब कौल को ही दो शतियों के लम्बे काल-विस्तार में कश्मीरी भक्ति काव्य का एकमेव प्रतिनिधि कहा जा सकता है।

'अवतारवाद' मध्यकालीन हिंदू मानस की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि थी जिसने ईश्वर को मानवीय संदर्भों में प्रस्तुत करके मनुष्य को उससे व्यक्तिगत सम्बन्ध स्थापित करने की सुविधा प्रदान की। इस नये प्रकार की सम्बन्ध-चेतना ने व्यक्ति ने मनोरागों का उदात्तीकरण किया और काव्य में अवतार के भक्त-रंजक और लोक-रक्षक बिम्ब प्रतिष्ठित हुए जिन्हें रामवृत्त और कृष्णवृत्त से सम्बन्धित विविध प्रसंगों ने एक व्यापक आधार-भूमि प्रदान की। राम और कृष्ण के व्यक्तित्वों को किसी सुदूर पूर्व-इतिहास युग के आदर्श पुरुषों से सम्बद्ध करने के स्थान पर अतिमानवीय प्रभामण्डल से आवृत्त किया गया। इसी प्रकार समकालीन युग और समाज को कलिकाल तथा मानवीय दुर्बलताओं और दुख-कष्टों को पाप और शाप के रूप में व्याख्यायित किया गया। अवतार रूप में ईश्वर के मानव चरित् को वास्तविक न मानकर लीला अथवा कौतुक मात्र माना गया। इस अवधारणा के अन्तर्गत अवतारी राम अथवा कृष्ण ने युग के असंतोष को दूर करने के लिए, या भक्ति की रूढ़ भाषा में बात करें तो, पापों से धरती का उद्धार करने के लिए लीलाएं की। लेकिन नर रूप में लीला करते हुए भी उनका परब्रह्म रूप बना रहा।

कश्मीर में ग्यारहवीं शती में ही क्षेमेन्द्र ने 'दशावतारचित्' तथा 'रामायण-मन्जरी' में राम और कृष्ण से सम्बन्धित कथा-प्रसंगों को संस्कृत में पद्यबद्ध किया था और कृष्ण और गोपियों के रास-रमण को लेकर एक अत्यन्त सुन्दर और श्रवण-मधुर गीत की रचना की थी। किन्तु कश्मीरी काव्य में लीला गान एक विशिष्ट काव्य-प्रवृत्ति के रूप में इसके शताब्दियों बाद ही विकसित हो सका। उन्नीसवीं शती के आते-आते यहाँ विष्णु के कृष्ण और रामावतार के गुण-कीर्तन की परम्परा ने अपनी ज़ड़ें इतनी गहरी जमा ली थीं कि 'लीला' शब्द कश्मीरी में क़िसी भी भक्ति-परक काव्य अथवा वन्दना-स्तुति का पर्याय बन गया। अतः कश्मीरी के संदर्भ में भक्ति-काव्य को 'लीला काव्य' कहना अधिक उपयुक्त होगा। यह दुर्भाग्य है कि इस प्रवृत्ति के अंतर्गत आने वाली विपुल काव्य-सम्पदा का विशुद्ध काव्यात्मक मानदण्डों पर मूल्याँकन बहुत कम हुआ है। भक्ति की हिन्दू धार्मिक अवधारणा से प्रेरित होने के कारण इसका प्रभाव-क्षेत्र कश्मीरी समाज के

एक अल्पसंख्यक वर्ग तक ही सीमित रहा और कुछ विद्वानों की उदार भंगिमा के बावजूद इस काव्य की विशिष्ट रचनात्मक उपलब्धियों को प्रायः अनदेखा ही किया गया। ऐसी स्थिति में यह ज़रूरी है कि कश्मीरी 'लीला-काव्य' का अपने युग और समाज की परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में अवलोकन किया जाए।

अठारहवीं शती में अफगानों ने निरंकुश हिंसा, लूटपाट और धार्मिक अत्याचारों से लोकचित्त को इस सीमा तक आतंक-कंपित कर दिया था कि पौराणिक मानसिकता से संबद्ध हिंदू मन में असुर शब्द का अर्थ क्रूरता और नृशंसता के संपूर्ण आयामों के सहित साकार हो उठा। असुर मानवीय उच्चादर्शों, आध्यात्मिक मूल्यों, स्वप्नों और शांति को उदरस्थ करने वाली क्रूर शक्तियों का प्रतीक था जिसे संत्रस्त जन-दशाओं में तत्कालीन शासकों के साथ सम्बद्ध किया गया और उत्तर भारत के भक्ति काव्य में राम और कृष्ण की असुरसंहारक और भू-उद्धारक छवि कुछ अधिक स्पष्टता से जन-मानस में दीप्त हो उठी। जीवन की वास्तविक समस्याओं और सामाजिक विषमताओं से मुंह मोड़कर किसी अतिमानवीय शक्ति के लोक-संरक्षक बिंब का प्रक्षेप और उस शक्ति के प्रति संपूर्ण समर्पण का भाव निराश और भयभीत हिन्दू मन के लिए विशेष रूप से ग्राह्य हुआ। अवतारवाद ने राम और कृष्ण के चरित्र के माध्यम से इस मन को लोकोत्तर स्तर पर मुक्ति का आश्वासन दिया। लीला काव्य की मूल प्रेरणा जो भी रही हो, उसके अंतर्गत आनेवाली अधिकांश कृतियों में भावात्मक धरातल इतना विस्तृत है कि उसे मात्र धार्मिक काव्य कहकर उपेक्षित नहीं किया जा सकता। यह काव्य उच्चतर मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा करता है और अलौकिकता और आध्यात्मिकता के संदर्भ के बावजूद मानवीय स्थितियों को एक व्यापक भाव-परिवेश में रूपायित करता है। उन्नीसवीं शती या फिर सत्रहवीं-अठारहवीं शती में अपने प्रस्फुटन के बाद यह काव्य-प्रवृत्ति बीसवीं शती के प्रारम्भिक दशकों तक अपना विस्तार पाती है। प्रकाशराम कुरिगामी, परमानन्द, कृष्ण राज़दान और अन्य भक्त-कवियों की रचनाशीलता पर हम इसी दृष्टि से विचार करेंगे। हम यह कहना भी ज़रूरी समझते हैं कि इन कवियों ने उत्तर भारत के भक्ति काव्य से प्रभाव ग्रहण करने के बावजूद किसी मत अथवा सम्प्रदाय का बन्धन नहीं स्वीकारा और न सगुण-निर्गुण, द्वैत और अद्वैत के भेद को लेकर किसी उलझन में पड़े।

प्रकाशराम कुरिगामी (मृत्यु १८८५)

रामवृत को केन्द्र बनाकर काव्य रचना करने वाले कश्मीरी कवियों में प्रकाशराम कुरिगामी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। उनका रामायण कश्मीरी का प्रथम और एकमात्र प्रकाशित रामायण होने के अतिरिक्त कश्मीरी 'लीला' काव्य की संभवतः सबसे लोकप्रिय कृति है। इसे गा-गा कर विभोर होने वाले व्यक्तियों की संख्या

आज भी कम नहीं, यद्यपि उस युग के हिन्दू परिवारों में इसे विवाह और अन्य मंगल अवसरों पर घर-घर गाया जाता रहा है। प्रकाश राम द्वारा रचित रामायण से पूर्व कश्मीर में रामकाव्य के नाम पर क्षेमेन्द्र की रामायण मंजरी को छोड़कर और कोई कृति उपलब्ध नहीं होती। यह ठीक है कि राम यहां के लोक-मानस में अपेक्षाकृत बहुत बाद में प्रतिष्ठित हुए और यहाँ डोगरा शासन स्थापित होने के बाद ही उनकी उपासना को गति मिली, पर अवश्य ही कश्मीरी भाषा में रामकाव्य की कोई परम्परा रही होगी, चाहे वह कितनी ही क्षीण क्यों न हो। रामचरित से संबंधित अनेक प्रसंगों पर उपलब्ध विपुल लोकगीत इस बात का साक्ष्य प्रस्तुत करते हुए प्रतीत होते हैं। पर ऐतिहासिक और अन्य कारणों से इस धारा की रचनाएँ लुप्त अथवा नष्ट हो गई होंगी। जहाँ तक प्रकाशराम के रामायण का सम्बन्ध है प्रबन्ध काव्य की संरचनात्मक विशेषताओं से युक्त होते हुए भी वह अपनी मूल प्रकृति में एक लोक-काव्य है। लोकजीवन से ग्रहीत प्रेरणाओं के कारण ही कश्मीरी जन-मानस में इसे इतने व्यापक स्तर पर स्वीकृति मिली।

काज़ीगुण्ड से दो-ढाई मील की दूरी पर स्थित एक गाँव है कुरिगाम, वितस्ता के तट पर बसा हुआ। छोटा-सा किन्तु वनफूलों, वृक्षों, लताओं, जलाशयों, पर्वतों की अप्रतिम प्राकृतिक छवि से युक्त। कश्मीरी के प्रथम रामायणकार प्रकाशराम का जन्म यहीं हुआ था, सम्भवतः १९वीं शती के प्रारम्भिक दशकों में। उनके जीवन के बारे में पर्याप्त सूत्रों के उपलब्ध न होने के कारण उनकी जन्म-तिथि के बारे में ठीक-ठीक कुछ नहीं कहा जा सकता है। ग्रियर्सन ने कवि का नाम दिवाकर प्रकाश भट्ट दिया है और उसका जीवनकाल राजा सुखजीवन मल के समय (१७५४-१७६२ ई०) में स्थित माना है। अपनी पुस्तक "कश्मीरी ज़बान और शायरी" में आज़ाद ने भी इसी मत का अनुमोदन किया है, यद्यपि उन्होंने कवि के एक पुत्र सहजराम की मृत्यु १७४७ ई० में होने का उल्लेख करके स्वयं अपनी बात का खण्डन किया है।[1] इस भ्रान्ति का कारण सम्भवतः यह है कि प्रकाशराम कृत रामायण की एक हस्तलिखित प्रति में लिपिकार ने भूल से उसकी रचना-तिथि १८०४ वि० दी है। यह तिथि वस्तुतः १९०४ वि० है, जैसा कि प्रो० बलजिन्नाथ पण्डित ने इस विषय पर किये गये अपने शोध द्वारा स्पष्ट किया है।[2] प्रकाशराम की मृत्यु की तिथि भी पूरी तरह से ज्ञात नहीं, पर इस सम्बन्ध में प्रायः १८८५ ई० का उल्लेख किया जाता है।

प्रकाशराम सम्भवतः अधिक पढ़े-लिखे न थे, पर फारसी की शिक्षा उन्हें अवश्य मिली थी—उतनी जितनी उन्हें अपने गाँव का पटवारी बनाने के लिए पर्याप्त थी। अट्ठाईस वर्ष की आयु से उन्होंने कविता लिखना शुरू किया था। ये भक्तिपरक रचनाएँ थीं जिन्हें परिवेश के धार्मिक वातावरण ने प्रेरित किया होगा—उनके आस-पास ही गणेश और चण्डी के पवित्र स्थान हैं और सामने

तीन शिखरों वाला त्रिकूट पर्वत जिसे त्रिपुर सुन्दरी का आवास माना जाता है। कवि की पहली रचना इन्हीं त्रिपुर सुन्दरी की एक भाव-विह्वल 'लीला' (स्तुति) है। उसके बाद के कृतित्व में भी भक्त और कवि का यही समन्वित रूप मिलता है। प्रकाशराम की ख्याति का एकमात्र आधार, 'प्रकाशरामायण' है, यद्यपि 'शिवलग्न', 'कृष्णावतार' तथा 'अकुनन्दुन' नाम की काव्यकृतियां भी उनके नाम से सम्बद्ध की जाती है। ये कृतियाँ आज उपलब्ध नहीं।

प्रकाश रामायण

'प्रकाश रामायण' के अन्तर्गत वस्तुतः दो काव्य-कृतियां 'रामावतारचरित' और उसके परिशिष्ट के रूप में 'लवकुशचरित' आती हैं। जैसा कहा जा चुका है यह कश्मीरी भाषा का एकमात्र प्रकाशित रामायण है, जिसे सर्वप्रथम प्रताप स्टीम प्रेस ने १९१० ई० में फारसी लिपि में प्रकाशित किया। उसके बाद १९३० ई० में ग्रियर्सन ने रोमन लिपि में इसका एक संस्करण रॉयल एशियाटिक सोसायटी से प्रकाशित करवाया। दोनों संस्करणों में काफी अन्तर है। प्रताप स्टीम प्रेस द्वारा प्रकाशित संस्करण में दो हज़ार पाँच सौ चालीस पद्य हैं, जबकि ग्रियर्सन के संस्करण में केवल ग्यारह सौ तीन पद्य। स्पष्ट है कि ग्रियर्सन ने इसके काव्य का केवल संक्षिप्त रूप ही प्रकाशित कराया, जिसमें मूल ग्रन्थ के अनेक महत्त्वपूर्ण प्रसंगों को छोड़ दिया गया है। अली मोहम्मद एण्ड सन्स ने भी 'प्रकाशरामाथण' का एक संस्करण छापा जो प्रताप स्टील प्रेस के संस्करण से अधिक भिन्न नहीं। प्रो० बलजिन्नाथ पण्डित द्वारा संशोधित पाठ, जिसे १९६५ ई० में स्थानीय कल्चरल अकादमी ने प्रकाशित किया, पूर्ववर्ती सभी संस्करणों से अधिक शुद्ध है पर इसे भी 'प्रकाश रामायण' का एक मानक संस्करण नहीं माना जा सकता।

फादर कामिल बुल्के तथा अन्य कुछ हिन्दी विद्वानों ने प्रान्तीय भाषाओं के राम-काव्य के विवेचन के सन्दर्भ में 'प्रकाशरामायण' के ग्रियर्सन द्वारा सम्पादित संस्करण का ही आधार लिया है। इधर डा० ओंकार कौल तथा डा० शिबन कृष्ण रैणा ने इस क्षेत्र में विशेष शोध किया है और इस कृति के नये और अधिक प्रामाणिक संस्करण नागरी लिपि में प्रकाशित किये हैं।

पूर्ववर्ती संस्करणों में मंगलाचरण के तौर पर आये हुए कुछ गीत "राम लक्ष्मण अवता'री आय" तथा एक अन्य वन्दना-स्तुति को पाठ में समाविष्ट किया गया है जो स्पष्टतया प्रकाशराम द्वारा रचित न होकर अन्य कवियों की रचनाएँ हैं।

आध्यात्मिक रूपक

प्रो० जियालाल कौल[3] और प्रो० बलजिन्नाथ पण्डित[4] के अनुसार 'प्रकाश रामायण' का कथाफलक आध्यात्मिक रामायण के आधार पर निर्मित है, जब कि

डा० ओंकार कौल का मत है कि प्रकाशराम ने अधिकाँश कथा-प्रसंगों की सृष्टि बाल्मीकि रामायण के अनुसार की है। वस्तुस्थिति यह है कि प्रकाशराम ने अपने समय में कश्मीर में उपलब्ध रामकथा के सभी स्रोतों से उपयोगी कथासूत्रों को लेकर विकसित किया है। विभिन्न स्रोतों से ग्रहीत इन तत्त्वों के समावेश से कवि द्वारा प्रस्तुत रामकथा का स्वरूप विशिष्ट और निराला हो गया है। आध्यात्मिक रामायण के प्रभाव के कारण कवि ने राम के माध्यम से भक्ति-भावना का विकास किया है और उनके व्यक्तित्व को उच्चतर मूल्यों से सम्बद्ध किया है। प्रकाशराम की दृष्टिभंगी कवि से अधिक एक भक्त की है और इस दृष्टि से वे तुलसी से कुछ समानता रखते हैं, यद्यपि तुलसी की-सी गहराई उनमें नहीं। प्रकाशराम ने सम्पूर्ण रामकथा को एक आध्यात्मिक रूपक के रूप में परिकल्पित किया है, जिसके अनुसार पात्र और कथा-प्रसंग प्रतीकात्मक आयाम ग्रहण करते हैं और जिसके केन्द्र में सत् और असत् का शाश्वत द्वन्द्व है। कृति के प्रारम्भ में ही कवि ने 'रामायण का अर्थ' स्पष्ट करते हुए राम की मनुष्यलीला का उद्देश्य आदमी के भीतर के राक्षस का संहार माना है। कवि द्वारा प्रस्तुत रूपक के अनुसार राम सत् के—उस सब के जो उदात्त मानवीय गुणों से जुड़ा है—विग्रह हैं। रूपक को विस्तार देते हुए कवि ने सीता को शुभेच्छा, हनुमान को साहस, रावण को असत्, कौशल्या को कर्मलेखा और कैकेयी को मन की प्रकृति का प्रतीक बना दिया है। इस प्रकार सम्पूर्ण रामकथा को मानसिक भूमि पर घटित दिखाया गया है जिसमें हर पात्र की अपनी-अपनी अन्यापदेशिक भूमिका है। इस स्तर पर राम और रावण मन की लंका में नित्य समर करते हैं, असुर मन के ही भीतर पैठा हुआ शत्रु है जिस पर वार करने के लिए वैराग्य की खड्ग की ज़रूरत है। रामकथा को इस आध्यात्मिक प्रतीकवत्ता से जोड़कर कवि उसे "ठाकुरद्वारे-सा पवित्र" मानता है—"काम की नदी को तरने का एक सेतु।" इसका यह अर्थ नहीं कि रचनाकार ने राम के मानव चरित को गौण रूप में प्रस्तुत किया है। उसे इस बात की पूरी चेतना है कि उसके राम दाशरथी भी हैं और परब्रह्म भी। अतः उसने जहाँ रामायण के आध्यात्मिक अभिप्राय को रेखांकित किया है वहाँ अपने पात्रों को सहज मानवीय भूमि भी प्रदान की है जिसके कारण उनकी कृति श्रेष्ठ काव्य बन पड़ी है।

कथावस्तु : आधार और उद्भावनाएँ

'आध्यात्म रामायण' और 'मानस' की भाँति 'प्रकाश रामायण' में कथा शिव-पार्वती संवाद के माध्यम से श्रोता-वक्ता का विधान करके प्रस्तुत की गई है। शिव पार्वती को राम के अवतार ग्रहण करने का प्रयोजन और उनके नाम का माहात्म्य समझाते हुए कथा के आध्यात्मिक उद्देश्य को घटनात्मक रूप प्रदान

करते हैं। स्वयं भूमि सीता के रूप में जन्म लेती है, और सभी प्रमुख पात्र—भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न से लेकर वानरी सेना तक दिव्य-तत्त्व के किसी न किसी अंश के अवतार बनकर कथा-मंच पर आते हैं।

वाल्मीकि रामायण तथा आध्यात्म रामायण अथवा अन्य आधार ग्रन्थों से लिये गये कथा सूत्रों को कवि ने अपनी प्रतिभा और दृष्टि के अनुरूप ग्रहण किया है। कहीं उन्हें विस्तार देकर तो कहीं उन पर उड़ती नज़र डालकर। अनेक प्रसंग उनसे छूट गये हैं और अनेक को उन्होंने नयी रेखाएं और नये रंग देकर उभारा है। कथानक के मूल स्रोतों से इन दिशा-परिवर्तनों में ही 'प्रकाशरामायण' का वैशिष्ट्य नज़र आता है। भारतीय भाषाओं के रामकाव्यों में सम्भवतः यह अकेली ऐसी कृति है जिसमें सारे द्वन्द्व के मूल में इडिपस अथवा इलेक्ट्रा ग्रन्थि है, जिसका समावेश कवि ने अनजाने ही रावण को सीता का पिता दिखाकर किया है। रावण सीता को अनिष्टकारी समझकर उनके जन्म लेते ही एक सन्दूक में रखकर नदी में बहा देता है और राजा जनक उन्हें नदी किनारे पाकर हर्षित होते हैं।

स्वयं रावण के जन्म की कथा में नदी में प्रवाहित अवाँछित शिशु के लोक-कथात्मक उपादान का प्रयोग किया गया है। पुलस्त्य ऋषि नदी में प्रवाहित एक सन्दूक में एक स्त्री और उसकी शिशु पुत्री को पाते हैं। इसी कन्या से रावण अपने सम्पूर्ण दश सिर और बीस भुजावाले आकार में जन्म लेता है—खरदूषण, विभीषण और शूर्पनखा भी।

रावण इस बात से अपरिचित है, लेकिन मन्दोदरी सीता को देखकर ही उनके प्रति वत्सल हो उठती है। रावण सीता को मार ही न डाले इस भय से वह रावण को सीता की जन्म कुण्डली दिखाती नहीं। अपने हरण के समय सीता रावण से कहती हैं कि "कन्या स्वयं अपने पिता के साथ मैंके नहीं जाती।" स्वयं राम लंका-दहन के बाद किष्किंधा लौटे हुए हनुमान से पूछते हैं कि 'मैंके' में उसने माँ-बाप (मन्दोदरी-रावण) से ससुराल की कोई शिकायत तो नहीं की थी। आश्चर्य है कि अकेला रावण इससे बेखबर है कि वह सीता का पिता है।

अहिल्या के शाप मोचन का प्रसंग 'प्रकाश रामायण' में दो बार आया है। सीता स्वयम्वर से पूर्व और राम वनवास के बाद। आधार ग्रन्थों के कई प्रसंगों का संवेदनापूर्ण वर्णन हुआ है तो कई प्रसंग अत्यन्त संक्षिप्त रूप में आये हैं। मंथरा द्वारा कैकेयी की मति भ्रष्ट करने का प्रयत्न छूट ही गया है। इन्द्र सरस्वती को कैकेयी का मन फेरने को कहते हैं। इसी प्रकार शबरी का प्रसंग भी इसमें नहीं मिलता। प्रो० बलजिन्नाथ पण्डित द्वारा सम्पादित संस्करण में तथा उससे पूर्ववर्ती संस्करणों में परशुराम कहीं नहीं आते, किन्तु डॉ० ओंकार कौल के पास उपलब्ध पाँडुलिपि में धनुभंग के बाद राम द्वारा परशुराभ के अभिमान को खण्डित करने का संक्षेप में उल्लेख मिलता है। रावण-जटायु युद्ध का वर्णन भी बाल्मीकि

रामायण से तनिक भिन्न है। 'प्रकाश रामायण' में रावण सीता को विवश करता है कि उसे जटायु के मरने का उपाय बता दें। धमकी में आकर सीता कह देती हैं कि रक्त-सने पत्थर खिलाने से ही जटायु की मृत्यु होगी, लेकिन वे यह भी कहती हैं कि जटायु राम को सब वृत्तान्त बता देने पर ही मरेगा। डॉ० कामिल बुल्के का हवाला देकर डॉ० ओंकार कौल लिखते हैं कि खोतानी और तिब्बती रामायणों में भी जटायु को रक्त-सने धातु के टुकड़े खिलाकर मारने का तथा दक्षिण भारत की किसी रामकथा में रावण का जटायु को अपनी जांघ के रक्त से सने पत्थर खिलाने का वर्णन है। जटायु का उद्धार 'प्रकाश रामायण' में अधिक मार्मिक रूप में प्रस्तुत किया गया है। मरणासन्न जटायु से सीता-हरण और रावण से युद्ध का वृत्तान्त सुन लेने के बाद राम अपनी भुजाओं पर उसकी दाह क्रिया करते हैं। और भी अनेक प्रसंग 'प्रकाश रामायण' में भिन्न रूप मे आये हैं। जैसे, अंगद के स्थान पर हनुमान के पाँव को राक्षस पूरा बल लगाकर भी उठा नहीं सकते। हनुमान तनिक सिर हिलाकर रावण को उसके सिंहासन से लुढ़काकर नदी में गिरा देते हैं। 'प्रकाश रामायण' में एक अन्य स्थान पर रावण कूटनीति का प्रयोग करके सुग्रीव को अलग से एक पत्र लिखता है जिसमें मैत्री का हवाला देकर वह राम से भाई के वध का बदला लेने को कहता है, "क्या जाने किस दिन तुम्हारी भी बारी आयेगी", यह चेतावनी देता हुआ वह उसे लंका आने का निमंत्रण देता है, किन्तु सुग्रीव इस प्रस्ताव को ठुकरा देते हैं। महिरावण का राम और लक्ष्मण को उठाकर पाताल ले जाना और हनुमान का उसे युद्ध में परास्त कर दोनों की रक्षा करने का प्रसंग भी 'प्रकाश रामायण' का एक रोचक वृत्तान्त है। इस प्रसंग में महिरावण से युद्ध करने को जाते हुए हनुमान पाताल लोक में एक वीर बालक से युद्ध करते हुए दिखाये गये हैं, जो और कोई नहीं स्वयं हनुमान का पुत्र मकरध्वज था। बालक के मुँह से अपना नाम सुनने पर हनुमान के मन में उसके प्रति स्नेह उमड़ आता है। अन्त में राम उसे महिरावण के स्थान पर पाताल का राज्य देते हैं। मकरध्वज का नाम लिये बिना ही 'प्रकाश रामायण' में उसके जन्म की कथा भी दी गई है। छलांग भरते हुए हनुमान का स्वेद-बिन्दु निगलने पर मकरी गर्भवती हो जाती है और मकरध्वज को जन्म देती है। एक अत्यन्त अद्भुत प्रसंग मक्केश्वर लिंग से सम्बन्धित है जो सम्भवतः अन्य किसी रामकाव्य में नहीं मिलता। इस वृत्तान्त के अनुसार शिव रावण की याचना पर उसे विजय के लिए मक्केश्वर लिंग दे देते हैं किन्तु साथ में यह चेतावनी भी देते हैं कि वह मार्ग में उसे कहीं भी धरती पर न रखे। लिंग लेकर लंका जाते हुए रावण को लघुशंका की ज़रूरत हुई, तभी एक ब्राह्मण के रूप में नारद वहाँ से निकलते हैं और रावण थोड़ी देर के लिए वह लिंग ऊनके हाथ में दे देता है। पर रावण की लघु शंका है कि रुकती ही नहीं। शायद यह

नारद की ही माया थी। देर होने पर ब्राह्मण लिंग को वहीं ज़मीन पर रखकर चला जाता है और रावण के लाख प्रयत्न करने पर भी वह लिंग फिर उठाये नहीं उठता।

'प्रकाश रामायण' में सीता-परित्याग का वृत्तान्त विशेष रूप से मार्मिक बन पड़ा है और भवभूति की याद दिलाता है। यहाँ धोबी अथवा लोकापवाद के कारण नहीं, अपितु सीता की ननद द्वारा पैदा किये गये सन्देह के कारण राम लक्ष्मण को आदेश देते हैं कि सीता को वन में छोड़ आयें। ननद सीता को रावण का चित्र बनाने पर विवश करती है और उसे राम को दिखाकर उन्हें बहकाती है कि सीता रावण के प्रति अनुरक्त है।

'लवकुश चरित' में दिये गये अनेक प्रसंग प्रकाशराम की एक मौलिक उद्भावना है। उसमें लव-कुश द्वारा युद्ध में मारे गये राम, लक्ष्मण, भरत तथा शत्रुघ्न के मुकुट देखने पर सीता को विलाप करते हुए दिखाया गया है। उनके रुदन से दुखी वशिष्ठ अमृत वर्षा कराते हैं और सेना सहित राम और उनके भाई पुनर्जीवित हो उठते हैं। इस प्रसंग के अनन्तर राम सीता से अयोध्या लौट चलने का अनुरोध करते हैं, किन्तु सीता अपनी कुटिया का द्वार बन्द करके राम से मिलने तक शे इनकार करती हैं। अन्त में वशिष्ठ के आग्रह पर वे अयोध्या जाती तो हैं, किन्तु वहाँ राम द्वारा पुनः अग्नि शुद्धि की माँग करने पर भूमि-प्रवेश करती हैं।

स्थानीय तत्त्वों का समावेश

नयी उद्भावनाओं ही नहीं लोकजीवन से ग्रहीत तत्त्वों के कारण भी 'प्रकाश-रामायण' को एक त्रिशिष्ट कृति माना जा सकता है। कश्मीरी लोक-समाज की कई दशाओं का उसमें जो उद्घाटन हुआ है, वह उसकी लोकप्रियता का एक महत्त्वपूर्ण आसंग है। वस्तुतः कृति में रामकथा दो अक्षों पर गतिमान है। उसका एक अक्ष अलौकिक और आध्यात्मिक है, तो दूसरा मानवीय और लोक-सामाजिक। अपने युग के सामाजिक, सांस्कृतिक परिवेश का कृति पर इतना गहरा प्रभाव है कि उसका स्थानीय तत्त्वों के समावेश से पूरा कश्मीरीकरण हो गया है। ये तत्त्व इतनी प्रचुर मात्रा में कृति में लक्षित होते हैं कि अनेक पात्रों के नाम भी कश्मीरी उच्चारण के अनुरूप ही बना दिये गये हैं, जैसे जटायु यहाँ पर 'जटायन' है, कैकेयी 'कीकी', इन्द्रजीत 'इन्द्रजेठ' है और सम्पाति 'सम्पाठ'। रहन-सहन, रीति-रिवाज, वेषभूषा आदि में स्थानीय परिवेश इतना अधिक बिम्बित है कि १९वीं शती के कश्मीर का जन-जीवन साकार हो उठता है। राम के वनगमन पर विलाप करते हुए दशरथ कश्मीर के परिचित सौंदर्य-स्थलों और तीर्थों में राम को ढूँढ़ते हुए व्याकुल दिखाये गये हैं। लंका के अशोक वन में कवि ने गिन-गिनकर उन

तमाम फूलों को खिलाया है जो कश्मीर की घाटी में अपनी रंग-छवि बिखेरते हैं। यही नहीं, वहाँ कश्मीर की ऋतुओं का भी ऐसा उल्लास-विलास है कि लंका "बागा-बिहिश्ता-स्वर्गद्वारा" बन गई है।

लंका क्या, प्राकृतिक दृश्य कोई भी हो, कवि को तो बस बहाना चाहिए स्थानीय वातावरण से सम्बद्ध रस-रूप-गन्ध के वर्णन में विभोर होने का।

'प्रकाश रामायण' में राम का विवाह भी कश्मीरी हिन्दुओं में प्रचलित द्वार-पूजा, पुष्प-पूजा आदि रीतियों और रस्मों के अनुसार ही होता है। विवाह के अवसर पर गाए जाने वाले मंगलगीत वे ही हैं जिन्हें कश्मीरी स्त्रियाँ ऐसे अवसरों पर गाती हैं। इस विवाह में विभिन्न स्थानीय देवी-देवताओं को साक्षी बनाया गया है, जिनमें और तो और सत्रहवीं शती की प्रसिद्ध कश्मीरी कवयित्री रूपभवानी भी हैं। कभी-कभी तो कथा लंका या अयोध्या के स्थान पर कश्मीर में ही घटित प्रतीत होती है। 'लव-कुश चरित्' में सीता को कश्मीर के एक गाँव 'शंकरपुर' में पृथ्वी में प्रवेश करते हुए दिखाया गया है। प्रकृति वर्णन करते हुए भी कवि कश्मीरी हिन्दू स्त्रियों के शिरोवस्त्र 'तरंगा' और 'पूच्' तथा मुसलमान स्त्रियों के 'बुर्के' का उल्लेख करता है।

प्रकाशराम तुलसी की भांति समाजचेता कवि नहीं थे, पर १९वीं शती के कश्मीर की सामंती समाज-व्यवस्था उनके रामायण में यहाँ-वहाँ झलक उठती है। राम विवाह के अवसर पर बारात 'ज़र्बाफ इतलास' के कपड़े पहनती है। राम यौवराज्य पर गरीबों में राजकोष से धन बाँटा जाता है और "सभी ब्राह्मण धन के नीचे गर्क हो जाते हैं।" सुग्रीव के राज्यारोहण प्रसंग में नक्षत्र देखकर घोषणा की जाती है : "सुग्रीव शाह बने, अंगद को वज़ारत मिली, हनुमान पेशकार हुए। जामवन्त के गले में तो आफत ही डाल दी गई—उसे सारे राज्य का कोतवाल बना दिया गया। विभीषण के राज्याभिषेक पर कृषकों से लगान लेना बन्द कर दिया गया।" कवि ने तत्कालीन राजनीतिक-धार्मिक परिप्रेक्ष्य का भी इंगित किया है। पठानों के समय में ब्राह्मणों के यज्ञोपवीत नष्ट कर दिए गए थे। डोगरा शासन—जिसे कवि "धर्म का राज" कहता है—की स्थापना होने पर भी इसकी स्मृति मानो कवि के अवचेतन में बनी हुई है। वह नारद द्वारा हनुमान को कहलवाता है कि "ब्राह्मण बनो और गले में जनेऊ धारण करो।" इसी प्रकार तत्कालीन सामंती मनोरंजनों—'नरुद' (एक प्रकार की शतरंज) और 'सेँदस्ता' नामक ताश की बाज़ी का वर्णन है।

'प्रकाश रामायण' में सर्वत्र व्याप्त इस कश्मीरी वातावरण के कारण कश्मीर के सामान्य पाठक अथवा श्रोता को उसके पात्र नितान्त परिचित और अपने लगते हैं। रामकथा के फलक पर कवि ने घटनास्थितियों के अंकन में अपने युग और समाज-जीवन का रूपायन किया है। उसकी कृति पर जो कश्मीरी रंग सर्वत्र

छाया है, उसने उसे प्रान्तीय भाषाओं के रामकाव्य में एक वैशिष्ट्य से युक्त किया है।

पात्रमण्डल : चरित्रीकरण की रेखाएँ

पौराणिक-धार्मिक चेतना का काव्य होने के नाते 'प्रकाश रामायण' का पात्र-मण्डल मानवीय और अतिमानवीय चरित्रवत्ता के दोहरे धरातल पर एक साथ उपस्थित होता है। राम तथा नायक पक्ष के अन्य पात्रों में देवत्व का रूपक आरोपित हुआ है तथा आसुरी पात्रों को भी अन्यापदेशिक आयाम प्रदान किए गए हैं। इस प्रतीकवत्ता के कारण काव्यगत पात्रों का आचरण पूर्व-निश्चित स्वभाव गुणों से बद्ध है और उन्हें स्वतन्त्र चारित्रिक विकास का पूर्ण अवसर प्राप्त नहीं हो सका है। लेकिन पात्र जहाँ सामान्य मानवीय धरातल पर उतर आए हैं, वहाँ उनका चरित्र-शिल्पन कवि द्वारा परिकल्पित रेखाओं के अनुरूप हुआ है।

भक्ति-निदेशित काव्य होने के कारण 'प्रकाश रामायण' में राम का दिव्य-अवतारी रूप ही अधिक प्रतिष्ठित हुआ है। वे निर्बाध दैवी चरित्-नायक हैं। उनके व्यक्तित्व की अलौकिक गरिमा के प्रति अन्य सभी पात्रों में सम्पूर्ण समर्पण श्रद्धा का भाव है। इस रूप में उनका चरित् मानवीय स्थितियों में ईश्वर की चरित्-लीला है जिसकी आध्यात्मिक व्याख्या काव्य में प्रस्तुत विभिन्न घटना-स्थितियों में हुई हैं। उनकी इस अलौकिक और अतिमानवीय चरित्रवत्ता के साथ उनके शूर-नायक रूप का अद्भुत मेल कृति में प्रस्तुत किया गया है, जिससे अवतार की परिकल्पना के अनुरूप उनका असुर-संहारक और भू-उद्धारक बिम्ब पुष्ट हुआ है।

'प्रकाश रामायण' में राम के व्यक्तित्व का एक दिक् सहज मानवीय भाव-भूमि पर उद्घाटित होता है। यहाँ उनका दिव्य अलौकिक रूप कुछ क्षण के लिए तिरोहित हो जाता है और वे सामान्य मनुष्य की तरह आचरण करते हैं तथा पुत्र, पति, भाई, राजा आदि के प्रेरक आदर्श प्रस्तुत करते हैं। वनगमन के समय वे साश्रुनयन माता-पिता से विदा होते हैं और दशरथ की मृत्यु पर शोक-विह्वल होकर करुण विलाप करते हैं। मृत पिता से अपने काल्पनिक संवाद में वे पिता-पुत्र सम्बन्धों की मध्यकालीन मर्यादा की भावपूर्ण व्याख्या करते हुए अपने मन की सम्पूर्ण व्यथा को उँडेलते हैं। "शीत हवा में बिरवे की टहनी-सा कांपता" उनका मन अवतारत्व की झिल्ली के बीच झलक उठता है। इसी मनस्थिति में वे विधाता से अपना भाग्यलेख बदलने को कहते हैं। क्षण भर के लिए शील और शौर्य का प्रतीकपुरुष केवल एक साधारण व्यक्ति के रूप में परिवर्तित हो जाता है।

सीता के प्रति अपने सम्बन्धों में भी राम का सहज मानवीय रूप बिम्बित हो उठा है। दोनों के बीच एक स्नेहसिक्त स्थिति वनगमन के समय उपस्थित होती है।

सीता के सुकुमार अंगों को फूलों से उपमित करते हुए राम वनवास के दुःसह कष्टों का चित्र खींचकर उन्हें बन जाने से रोकने की कोशिश करते हैं, पर सीता के साश्रुनयन आग्रह के सामने विवश हो जाते है।

एक और भावपूर्ण प्रसंग सीता-हरण का है जब राम "आंखों से रक्त टपकाते हुए सुबह के सितारों से उनका पता पूछते हैं।" सीता के लिए राम की यह व्याकुलता यद्यपि 'प्रकाशरामायण' में अधिक विस्तार नहीं पा सकी है, उसकी तीव्रता राम को एक सामान्य मनुष्य की भावस्थिति में अवश्य उपस्थित करती हैं। लंका दहन के बाद लौटते हुए हनुमान से सीता का हाल पूछते हुए राम भी एक सामान्य विरह-कातर पुरुष की मनोभूमि पर खड़े मिलते हैं। लंका-विजय उपरान्त उन्हें कवि ने स्नेह और सन्देह की स्थिति के बीच दोलायमान दिखाया है। सीता को वे "रावण के मन में वास करने के कारण" लाँछित समझकर सहज स्वीकार नहीं करते। रामप्रिया होने के अहंकार का भी वे उन्हें दोषी ठहराते हैं। मन्दोदरी के बार-बार आग्रह करने पर ही वे उन्हें ग्रहण करते हैं, और वह भी अग्नि परीक्षा के बाद।

राम का उत्तर चरित्, 'लवकुश चरित्' में अंकित हुआ है और एकदम सपाट और गरिमा से हीन है। सीता का निष्करुण निष्कासन उनके अवतारत्व के प्रभामण्डल को निस्तेज बना देता है। ननद सीता से छलपूर्वक रावण का चित्र बनवाकर राम को दिखाती हैं और उनके पुरुष मन में नारी के प्रति अविश्वास और सन्देह की वह भावना जाग्रत होती है जो सतीत्व जैसी नैतिक अवधारणाओं स प्रेरित है। इसी सन्देह की मनस्थिति में राम लक्ष्मण को बिना किसी झिझक अथवा अन्तर्द्वन्द्व के यह आदेश देते हैं कि सीता को वन में छोड़ आयें अथवा उन्हें "उस जगह मार डालें जहाँ किसी को पता न चले।"

सीता परित्याग के बाद राम का मन प्रिया के स्मरण से विक्षुब्ध-व्याकुल होता दिखाया गया है। कुश से युद्ध में हारने पर सीता से पुर्नमिलन का अवसर उन्हें प्राप्त होता है, और वे साग्रह-सानुरोध अत्यंत स्नेह-सिक्त स्वर में उनसे घर लौटने को कहते हैं। इस आग्रह में उनके मन की करुणातुर स्थिति और सीता के प्रति उनके अवशिष्ट स्नेह की एक झलक फिर मिलती है। लेकिन यहाँ भी पुरुष का अहं ही अधिक सक्रिय है। राम अपने किए अन्याय और निर्मम व्यवहार को जैसे भूल ही जाते हैं, पर सीता उसका स्मरण दिलाकर उनसे मिलना स्वीकार नहीं करती और वाल्मीकि ऋषि की कुटिया के द्वार बन्द कर देती है।

राम का भ्रातृ-प्रेम 'प्रकाशरामायण' में उन्हीं रंगों-रेखाओं में अंकित है, जिनमे उनका व्यक्तित्व चित्र अन्य भारतीय भाषाओं के रामकाव्य में उभारा गया है। लक्ष्मण की मूर्च्छा के अवसर पर राम की व्याकुल मनस्थिति का उसमें अत्यन्त संवेदनापूर्ण चित्रण हुआ है।

एक शासक के रूप में राम 'प्रकाशरामायण' में अधिक उभरे नहीं हैं। कवि ब्राह्मणों को किए गए स्वर्ण-मुक्ता दान और 'कर्म के राज्य' की स्थापना का उल्लेख करके 'रामराज्य' की आदर्श स्थिति की ओर संकेत भर करता है। हाँ, विकट परिस्थितियों में पराक्रम का प्रदर्शन करते हुए राम का शूरनायक रूप उसमें काफी प्रखर है, जो अवतारतत्व की अवधारणा से सम्बद्ध है।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि राम के चरित्रांकन में प्रकाशराम का आग्रह उनके देवत्व और उससे प्राप्त गुण-कीर्तन और स्तुति-वंदन पर ही अधिक है। आध्यात्मिकता की चौंध के पीछे उनके सहज मानवीय चेहरे की झलक कम ही मिलती है।

'प्रकाशरामायण' में सीता को भूमि का अवतार कहा गया है। वे जगदम्बा हैं, लेकिन कृति की सबसे ट्रैजिक पात्र भी। उनका आश्रुवाष्पाच्छादित नारी रूप उनके दिव्य रूप से अधिक प्रभावित करता है। अलौकिकता का रूपहला रूपक इस रूप को ढंक नहीं पाता। वे भूमि का अवतार इस अर्थ में भी हैं कि वे अपार सहनशील, वत्सल और करुणामय हैं। विकट परिस्थितियों में भी अपने नारीत्व की मर्यादा बनाए रखती हैं। उनके चरित्र की गरिमा को वनवास के समय राम से हुए उनके संवाद में रेखाँकित किया गया है। एक दृढ़मति, धैर्यवान, विवेकशील, निष्कलुष, त्यागमयी, सरल, सहजबुद्धि और कोमलमना नारी रूप में प्रक्षेपित उनका चरित्र नारीत्व का महत्तम आदर्श प्रस्तुत करता है। सम्पूर्ण काव्य-कृति पर उनकी तेजोद्दीप्त, महिमाशाली और सहज करुणामय रूप-छवि छाई हुई है।

उनकी पतिनिष्ठा को यद्यपि सतीत्व की मध्ययुगीन अवधारणाओं के अनुरूप ही प्रक्षेपित किया गया है, प्रकाशराम ने उनकी निजी त्रासदी को जिस संवेदना से प्रस्तुत किया है, वह शायद ही किसी अन्य रामकाव्य में मिले। कवि की सहानुभूति आद्यान्त उनके साथ है। रावण के साथ संवाद में उनकी असाधारण दृढ़ता और निर्भीकता को दर्शाया गया है। रावण की धमकियों से विचलित न होकर वे अशोक वन में उसकी रमण-तृषा को सुस्पष्ट शब्दों में धिक्कारती हैं और अपने पति के पौरुष में अपने दृढ़ विश्वास को प्रकट करती हैं। उन्हें इस बात से परिचित दिखाया गया है कि रावण उनका वास्तविक पिता है। अपनी ही पुत्री के प्रति रावण की कुवासना उसके सर्वनाश का कारण बनती है और "उसका सारा सोना पीतल में बदल जाता है।" राम का प्रेम सीता को विकटतम परि-स्थितियों का सामना करने की शक्ति प्रदान करता है। राम के विरह में उनकी दशा "गुलाब को पुकारती मुरझाई मसवल (फूल विशेष)" की-सी हो जाती है। अशोक वन में उनसे भेंट करने पर हनुमान जब यह प्रस्ताव रखते हैं कि वे उन्हें उठाकर सीधे राम के पास पहुंचा देंगे तो सीता इसे स्वीकार नहीं करतीं क्योंकि

इससे राम के देवत्व पर यह लांछन लगेगा कि उन्होंने सीता को रावण से युद्ध न करके चुराकर प्राप्त किया ।

लंका दहन प्रसंग में ही सीता के वत्सल, स्नेहिल, संवेदनापूर्ण हृदय का परिचय मिलता है, जब आग की लपटों से महाकपि को घिरा देख उनका मन आशंकाओं, दुश्चिन्ताओं से व्याकुल हो उठता है। उनकी आँखों से आँसू की धारा वह निकलती है और वे हनुमान की सुरक्षा के लिए अग्नि देवता से विनय करती हैं और उसे चेतावनी भी देती हैं कि हनुमान का अनिष्ट होने की स्थिति में "तुम्हें अपहें अपने आँसुओं की बाढ़ में बहा दूँगी।"

पर रावण वध के बाद भी राम सीता को सहज अपनाते नहीं। मंदोदरी उन्हें राम के पास ले जाती है तो वे अग्नि-परीक्षा की बात करते हैं। सीता रो पड़ती है—उनका पत्नीत्व आहत और अपमानित होता है। मृत दशरथ के समेत तीन करोड़ देवताओं की साक्षी लाकर वे अग्नि-शुद्धि द्वारा अपनी पवित्रता प्रमाणित करती हैं। तब जाकर राम उन्हें स्वीकार करते हैं।

'लवकुश चरित्' को कवि ने सीता की त्रासदी के रूप में प्रस्तुत किया है। यहां सीता के व्यक्तित्व का एक और आयाम उद्घाटित होता है—स्वाभिमान का, जो विद्रोह के धरातल का भी स्पर्श करता है। निर्वासित होने पर पहले तो वे रो-रोकर अपनी आंखें सुजा लेती हैं। आहत प्रेम का दर्द उनके मन में अपराध बोध को जगाता है, पर बाद में अपने प्रति किए गए अन्याय की चेतना से उनका स्वाभिमान जाग पड़ता है। एक कड़ुवाहट उनके मन में फैल जाती है। कैसा यह अन्याय है कि "राम स्वयं मसनद (राजगद्दी) पर सुख से बैठें और सीता कांटों में भटकती फिरे।" लवकुश के जन्म पर सीता के लिए कवि के शब्दों में "आधी रात को सूरज का उदय" होता है। पर अपने सर्वाधिक प्रेमास्पद द्वारा दी गई पीड़ा की स्मृति उन्हें अन्त तक सालती ही रहती है। युद्ध में राम और लव-कुश द्वारा मारे गए उनके भाइयों को देखकर वे शोक-विह्वल होकर करुण-क्रन्दन करती हैं। पर साथ ही राम का परिचय अपने बेटों को इन शब्दों में देती हैं: "यह वह है जिसने मुझे सदा कालसर्प की तरह डंसा है।" अमृत वर्षा से जब सब पुनर्जीवित होते हैं तो सीता के चोट खाये मन का आत्मसम्मान जाग उठता है। वाल्मीकि की झोंपड़ी के किवाड़ राम के लिए बन्द कर देती हैं और घर लौट चलने के लिए उनके अनुनय-अनुरोध को ठुकरा देती हैं। राम आग्रह करते ही रह जाते हैं। सीता बन्द किवाड़ों के पीछे से राम को साफ कह देती हैं, "तुममें इन्साफ नहीं रहा, मुझ पुष्पलता पर तुमने क्रोध में कुल्हाड़ी दे मारी और अब कहते हो कि घर लौट चलूं।" राम-सीता का यह संवाद 'प्रकाशरामायण' का अत्यन्त संवेदनापूर्ण स्थल हैं। निर्वासित सीता आत्मसम्मान छोड़कर अयोध्या लौटें कैसे—लोग क्या कहेंगे? यहां सीता एक स्वतन्त्र, सचेतन और संवेदनशील इकाई के रूप में सामने आती

हैं। राम द्वारा दी गई यंत्रणा को अनावृत्त करती हुई वे उनके व्यवहार के लिए कठोर शब्दों का प्रयोग करती हैं—"इससे (राम से) प्रेम करना और विष खा लेना एक ही बात है।" ये सीता बाहर से कठोर और निर्मम हैं, किन्तु भीतर-भीतर कितनी ही आहत। वशिष्ठ द्वारा विवश किए जाने पर वे अयोध्या लौटती हैं तो राम फिर अग्नि-शुद्धि की मांग करते हैं। मर्माहत होकर सीता पृथ्वी में समा जाती हैं। भूमि-प्रवेश उनकी त्रासदी का चरम् नाटकीय क्षण हैं। प्रकाशराम ने भारतीय रामकाव्य में उपलब्ध सीता के चित्र में एक नये दिक् को जोड़ दिया है। सीता का यह विद्रोही रूप अन्यत्र नहीं मिलता।

आधार ग्रन्थों की भांति लक्ष्मण 'प्रकाशरामायण' में 'उपनायक' के रूप में उभरे हैं। उनका उग्र आचरण, तेजस्वी रूप, अन्याय के विरुद्ध भभक उठने वाला उनका सात्विक क्रोध कुछ थोड़े-से स्थलों पर ही बिम्बित हुआ है। उनका आचरण राम के प्रति अत्यधिक अनुराग और आदर से प्रेरित है, जो उनके लिए भाई ही नहीं आदर्श भी हैं। राम-वनवास की आज्ञा पा वे पिता दशरथ तक के प्रति क्रोध प्रकट करते हैं और राम का उपदेश सुनने पर ही शांत होते हैं। धनुर्भंग प्रसंग में उनका "जो राउर अनुसासन पाऊँ, कंद्रुक इव ब्रह्माण्ड उठाऊँ" वाला वह रूप 'प्रकाशरामायण' में नहीं मिलता जो 'मानस' में उपलब्ध है। राम द्वारा सीता-निर्वासन के अन्यायपूर्ण आदेश को वे सह नहीं पाते। इसके प्रति विरोध प्रकट करते हुए वे विवश, अश्रु-पूरित नयनों से राम की आज्ञा का पालन करते हैं। वन में अचेत सीता को अकेली छोड़ जाने पर उनकी आंखों में आंसू उमड़ पड़ते हैं और मन में असीम करुणा जागती है। जैसे-तैसे सीता के लिए पानी लाकर वे उनसे बार-बार क्षमा मांगते हुए लौटते हैं। सीता के प्रति यह स्नेह-सिक्त आदर भाव उनके चरित्र का एक और आयाम है। लव-कुश द्वारा अश्वमेध का घोड़ा पकड़ा जाने पर शायद अचेतन में प्रसुप्त उसी स्मृति के जागने से अन्त में वे राम के प्रति भी रोष प्रकट करते हैं। शूर्पनखा का अंग-भंग करने वाला प्रसंग भी 'प्रकाश-रामायण' में उनकी स्वभाव की उग्रता का परिचय देता है, पर इन्द्रजीत के साथ युद्ध में उनका योद्धा रूप कुछ खास निखरा नहीं है। उपनायक होने पर भी लक्ष्मण का चरित्र 'प्रकाशरामायण' में अपेक्षित विस्तार नहीं पा सका है।

नायक पक्ष में हनुमान का चरित्र विशेष रूप से सशक्त है। वे आस्था की, आशा की, विश्वास की, विक्रम की महाकार मूर्ति के रूप में कृति में उपस्थित हैं। शूर और भक्त दोनों रूपों में उनका चरित्र अंकित किया गया है जो सुन्दरकाण्ड से लेकर उत्तरकाण्ड तक पूरी गरिमा में व्याप्त है। उनके असाधारण पराक्रम, असंभव को संभव कर देने की उनकी क्षमता को कवि ने अलौकिकता से सम्बद्ध किया है। कवि के लिए हनुमान 'हलमत् लद्दर' (हनुमत् रुद्र) हैं—रुद्र के अवतार, कथाभूमि पर जिनके अवतरण के लिए स्वयं राम शिव से प्रार्थना करते हैं। राम से वन में

प्रथम परिचय के बाद से उनके सभी कार्यों की मूल प्रेरक शक्ति राम के प्रति भक्ति और सम्पूर्ण समर्पण का भाव है। 'प्रकाशरामायण' में रामकाव्य के प्रायः उन सभी प्रारम्भिक प्रसंगों को लिया गया है जिनसे हनुमान के चरित्र की अलौकिकता की पुष्टि होती है। वानर तो वानर स्वयं राम भी उनकी महत् शक्ति से परिचित और उन्हें आशा के प्रतीक के रूप में देखते हैं। सीता की खोज में निकले वानर उनकी शरण जाते हैं। समुद्र-संतरण की महान छलांग के लिए प्रेरित करने के हेतु जामवन्त महाकपि को अपते बल और तेज का प्रत्यभिज्ञान कराते हैं। आत्मविश्वास के एक चरम उत्तेजक क्षण में महातेजस्वी मारुति वेग से उड़कर सीधे लंका जा पहुँचते हैं—किसी भयंकर अजगर के मुँह में। यह अजगर आधार-ग्रन्थ वाल्मीकि रामायण में आई लंकिनी का स्थानापन्न है। इसे प्रतीक रूप में भी लिया जा सकता है। उनके छलांग मारने पर पर्वत पाताल में धँस जाता है, धरा थरथरा उठती है। अशोक वाटिका का विध्वंस और लंका-दहन के असम्भव कार्यों को सम्पन्न कर वे सीता को तत्क्षण वापस ले जाने का प्रस्ताव रखते हैं। पर सीता इसे राम के शौर्य का अपमान समझकर स्वीकार नहीं करतीं। हनुमान का शौर्य रावण युद्ध और महिरावण युद्ध प्रसंगों में भी विस्तार से वर्णित है। महिरावण द्वारा वंदी बनाए गए राम और लक्ष्मण को छुड़ाने के लिए वे अद्भुत पराक्रम का प्रदर्शन करते हैं।

महिरावण-युद्ध प्रसंग में हनुमान के चरित्र का एक और आयाम उद्घाटित होता है। महिरावण द्वारा राम और लक्ष्मण के हरण पर उनकी व्याकुलता इतनी बढ़ जाती है "कि उनके आंसुओं के प्रवाह से नदियों तक का अवमान होता है।" इसी प्रकार पाताल लोक में महिरावण से युद्ध करते समय अकस्मात् मकरध्वज से भेंट होने पर और उसके मुँह से पिता के रूप में अपना नाम सुनने पर उनके मन में पितृ-स्नेह का अपूर्व उद्रेक दिखाया गया है। यह वृत्तान्त अन्य कई रामकाव्यों में भी आया है, लेकिन हनुमान का ऐसा स्नेह-विह्वल पितृ-रूप कहीं देखने को नहीं मिलता। सुन्दर कांड में भी अशोकवन में राक्षसियों से घिरी सीता का दुःख देखकर हनुमान को करुणार्द्र होते दिखाया गया है।

'प्रकाशरामायण' के हनुमान सब कहीं आशा के साकार रूप-से पहुँच जाते हैं, और लक्ष्मण के लिए संजीवनी बूटी लानी हो या किसी अन्य विकट परिस्थिति का सामना, वे उसे कर दिखाते हैं जो किसी और के लिए सम्भव नहीं। कभी आकाश में छलांग लगाते हैं, तो कभी पाताल में चले जाते हैं। उनमें बुद्धि, विवेक, नेतृत्व, साहस, निस्वार्थता, निर्भयता, विनय आदि उदात्त मानवीय गुण भी हैं जिनके कारण उनका अतिमानवीय रूप और भी प्रभावी हो जाता है। केवल एक स्थान पर उनके चरित्र में एक असंगति आ गई है—उन्हें मंदोदरी को अश्लील गालियां सुनाते हुए दिखाया गया है। यद्यपि इसका कारण यह था कि वे रावण

को उत्तेजित करके यज्ञ छोड़कर युद्ध-क्षेत्र में खींच निकालना चाहते थे, पर यह हनुमान के चरित्र-बिम्ब से मेल नहीं खाता।

रावण के चरित्र को एक सबल प्रतिनायक के रूप में विकसित करने में प्रकाशराम को पर्याप्त सफलता मिली है। इसके लिए प्रारम्भ से उपयुक्त वातावरण तैयार किया गया है। राम यदि अतिमानवीय दिव्य शक्तियों के प्रतीक हैं तो रावण अतिप्राकृतिक आसुरी शक्तियों का—मन की निम्न वृत्तियों का। वह अप्रतिम वीर है—दुर्मद और दुर्दम। उसके प्रबल आतंक से देवता कांपते हैं। इन्द्र से लेकर यम तक लंका में उसकी दासता करते हैं। वह क्रूर है, कामुक है, दम्भी है, स्वैराचारी है, अविवेकी है, शक्तिशाली है, निरंकुश है। राम के असुर-संहारक अवतार-बिम्ब को प्रकट करने के लिए उसका ऐसा चित्र प्रस्तुत करना आवश्यक था। रमणतृषा उसकी एक बड़ी कमज़ोरी है जिसके कारण वह सीता का हरण करता है। यद्यपि रावण को इस बात से बेखबर दिखाया गया है कि वह सीता का वास्तविक पिता है, विभीषण उसकी इस बात पर कठोर निंदा करता है कि अपनी ही पुत्री को वह पाप-दृष्टि से देखता है—"तुम तो आँखें निकलवाकर कुत्तों से नुचवाने योग्य हो।" उसका दम्भ इतना प्रचण्ड है कि विभीषण हो या मंदोदरी किसी के भी समझाने पर वह राम की अलौकिक महिमा के सामने नत होकर उनसे शत्रुता छोड़ने को तैयार नहीं होता। क्रोध और कामुकता, दम्भ और अहंकार से सदा उत्तेजित इस देव-विरोधी वीर का एक रूप भक्त का भी है। शिव के प्रति उसकी अनन्य आस्था अनेक स्थलों पर प्रकट हुई है।

असत् और अनाचार का प्रतीक होते हुए भी 'प्रकाशरामायण' में उसे पराक्रमी और पंडित चित्रित किया गया है। रावण की मृत्यु आसन्न होती है तो राम लक्ष्मण को उसके पास उपदेश लेने को भेजते हैं। उसमें कुल और परिवार के सम्मान की प्रबल चेतना है। वह कूटनीति का प्रयोग करना भी जानता है। दूत रूप में आये अंगद को राम से पिता के वध का बदला लेने को उकसाने की कोशिश करता है। इसी प्रकार सुग्रीव को मैत्री संदेश लिखकर भेजता है।

रावण के चरित्रीकरण में माया का भी तत्त्व है जो उसके आसुरी व्यक्तित्व का एक पक्ष है। सीता के संकल्प और निष्ठा को तोड़ने के लिए वह उन्हें माया-राम का कटा सिर दिखलाता है। सीता के शोक-विह्वल होने पर सरमा उन्हें रावण की माया का रहस्य बताती है। इसी प्रकार राम के पौरुष को शिथिल करने के लिए वह माया-सीता को रथ में बिठाकर युद्ध क्षेत्र में घसीट कर उसका 'वध' करता है। पर विभीषण राम को वास्तविकता से अवगत कराते हैं।

मिल्टन के 'शैतान' की तरह प्रकाशराम का रावण हमारी सहानुभूति का उस समय पात्र बनता है जब उसके सब प्रयास विफल होते हैं और उसकी पराजय

पूर्ण निश्चित लगती है। राम पर विजय प्राप्त करने के लिए वह यज्ञ करता है पर पर हनुमान के कारण वह यज्ञ अधूरा रहता है। शिव से वह मक्केश्‍वर लिंग प्राप्त करता है, पर नारद के छल से उससे भी वंचित होता है।

दो-एक स्थलों को छोड़कर 'प्रकाशरामायण' में उसे एक वीर प्रतिद्वन्द्वी के रूप में ही चित्रित किया गया है। अतः हनुमान जब एक झटके से उसे सिंहासन से गिराकर नदी में लुढ़का देते हैं अथवा अंगद उसका मुकुट ले भागते हैं तो विश्वस-नीय नहीं लगता। 'प्रकाशरामायण' में उसे वीर ही नहीं मन ही मन राम का भक्त भी दिखाया गया है। उनके हाथ से मुक्ति पाने के लिए ही वह उनसे वैर ठानता है। रावण का यह रूप अन्य किसी रामकाव्य में नहीं मिलता।

अन्य पात्रों का चरित्रीकरण आधार ग्रन्थों के अनुसरण पर ही परम्परागत रूप में हुआ है। स्त्री पात्रों में कैकेयी को पश्चाताप करते हुए दिखाया गया है। कौशल्या राम के ही समान भरत और शत्रुघ्न से स्नेह करती हुई चित्रित की गई हैं। मंदोदरी का चरित्र रावण-पत्नी से अधिक सीता की वत्सला मां के रूप में उभरा है। वह इस भय से रावण को यह नहीं बताती कि सीता उसकी अपनी कन्या है कि वह उन्हें मार न डाले। रावण-वध के पश्चात राम जब सीता की उपेक्षा करते हैं तो मंदोदरी ही उनसे सीता को अपनाने का आग्रह करती हैं। पुरुष पात्रों में विभीषण का राम के सखा और भक्त का परम्परित रूप उभरा है। जटायु, सम्पाति, जामवन्त, सुग्रीव, बालि आदि टोटमीय पात्र हैं, जो पशु में अंतर्हित गुण के प्रतिनिधि हैं। 'प्रकाशरामायण' में चरित्र-शिल्पन की दिशाएं विभिन्न पात्रों के प्रति कवि की दृष्टि को स्पष्ट करती हैं। कृति में राम और सीता के माध्यम से स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों के उतार-चढ़ावों की ओर भी संकेत किया गया है। रवीन्द्र ठाकुर ने रामायण को पारिवारिक काव्य कहा है। 'प्रकाश रामायण' के विषय में भी यह बात स्पष्टता से कही जा सकती है।

रूप-गठन

'प्रकाशरामायण' को प्रायः कश्मीरी की प्रथम 'रज़मयि़ा मसनवी' कहा जाता है। पर मसनवी शैली का प्रभाव होते हुए भी इस काव्यकृति की मूल चेतना उससे भिन्न है। कवि ने रामवृत्त को एक वीर-गाथा के रूप में नहीं देखा, राम चरित् को केन्द्र में रखकर सत् और असत् के द्वन्द्व का रूपक प्रस्तुत किया है। पौराणिक विषय-वस्तु के कारण उस पर धार्मिक छाया बहुत गहरी है और राम के लोक-रक्षक, भू-उद्धारक ईश्वरीय रूप के प्रति एकनिष्ठ आस्था का प्रसार उसका प्रयोजन है। पौराणिक श्रोता-वक्ता के विधान द्वारा कथा शिव-पार्वती के संवाद रूप में कही गयी है। इस दृष्टि से यह कृति आध्यात्म रामायण और 'मानस' के रूपगठन को अपनाती है। 'रामावतारचरित्' में कथा का सात काँडों—

बाल काँड, अयोध्या काँड, अरण्य काँड, किष्किंधा काँड, सुन्दर काँड, युद्ध काँड और उत्तर काँड—में विभाजित रूप उसे भारतीय परम्परा के अन्य राम काव्यों का-सा विन्यास देता है। इन काँडों के अंतर्गत मुख्य कथा-बिन्दुओं को मसनवी-शैली के अनुरूप उपशीर्षकों में विन्यस्त किया गया है। कथा-वर्णन के लिये मसनवियों के छन्द 'बहरे हजज़' का प्रयोग किया गया है। 'लवकुश चरित्' में काँड नहीं हैं, केवल उपशीर्षक हैं। वस्तुतः मसनवी और भारतीय महाकाव्य दोनों के तत्वों का समावेश 'प्रकाशरामायण' में है। इससे भी ज़्यादा उसका स्वरूप लोक-काव्य का-सा है—वैसा ही सहज प्रवाह और कथा-रस की विभोर कर देने वाली व्याप्ति। वर्णन-शैली भी लोक कथा की-सी है, जिसके आधार पर प्रो० बलजिन्नाथ पंडित ने इसे अंग्रेज़ी के बैलेड के समकक्ष ठहराया है।

एक ऐसे समय में जब कश्मीरी काव्य में फारसी मसनवियों का चर्बा प्रस्तुत किया जा रहा था, और उनके उपमा-विधान और अलंकार-योजना को सीधे बेझिझक जस का तस उतारा जा रहा था, प्रकाशराम ने रामकथा को विषय बनाकर साहस और मौलिकता का परिचय दिया। उनके रामायण में मसनवियों की-सी कृत्रिमता नहीं है। उसका कृत्तिवास के रामायण का-स सहज प्रवाहमय रूप है।

प्रकाशराम ने अपनी कृति में रामकथा को लोक-भाषा में बड़ी कलात्मकता से प्रस्तुत किया है। परिस्थितियों अथवा घटनास्थितियोंके वर्णन में उन्होंने अद्भुत कौशल का परिचय दिया है। सबसे अधिक संवेदक वर्णन है राम द्वारा सीता के रूप का वर्णन, जिसमें सीता के अंग-प्रत्यंग को कमल-जुही-नरगिस-गुलाब आदि फूलों, पत्तियों, सूर्य और चन्द्रमा से उपमित किया गया है। राम के विवाह का वर्णन, बारात का वर्णन, वनवास का वर्णन, नगर वर्णन की परिपाटी के अनुसार लंका का वर्णन, विभिन्न युद्धों के वर्णन, सीता परित्याग का बर्णन—कुछ विस्तार में, कुछ संक्षेप में पात्रों के रूप, भावस्थिति, गतिविधि आदि को इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं कि पाठक घटना के परिवेशगत विस्तारों में रमता है। प्रकाशराम के युद्ध-वर्णन विस्तार के बावजूद बनावटी लगते हैं। राम के विभिन्न युद्धों के वर्णन में कवि ने उनकी अलौकिक शक्ति का आभास दिलाया है जिससे वे युद्ध अविश्वासनीय लगते हैं। लव-कुश के साथ युद्ध में भरत, शत्रुघ्न लक्ष्मण और राम सेना-सहित ताश के पत्तों से झड़ जाते हैं। यही दशा हनुमान से जूझ रहे राक्षसों की होती है। अतिशयोक्ति का सहारा कवि ने परिस्थिति के अंकन में भी लिया है। सीता रोती हुए आँखों से 'खून के आँसू' टपकाती हैं, अथवा 'आँसुओं की बाढ़' ही लाती है। हनुमान के आँसुओं से 'नदियों तक का अवमान' होता है।

पूरी की पूरी कथा को कवि ने एक आध्यात्मिक रूपक में बाँधकर पात्रों को

प्रतीकात्मक आयाम प्रदान किये हैं। रावण मन की कुवृत्ति है जिसका क्षमा के खंजर से देह की लंका के भीतर नाश किया जा सकता है। अंगद, सुग्रीव, जामवन्त आदि ज्ञान के वस्त्र हैं। कैकेयी प्रकृति, कौशल्या कर्मलेखा और दशरथ धर्म हैं। संतोष कवच है और वनवास विस्तृत ज्ञानभूमि। युद्ध-क्षेत्र में आते हुए रावण के प्रबल अहं और आतंक को भी अत्यन्त प्रभावशाली रूपक में साकार किया गया है। रावण क्रोध का धनुष लिये हुए है और काम की कमन्द। माया का कवच लिये हुए वह लोभ के रथ पर आरूढ़ है जिसकी वल्गा अहंकार है।

परिगणन शैली

कथा वर्णन में प्रकाशराम ने अनेक स्थानों पर क्रम अथवा वस्तु परिगणन शैली का प्रयोग किया है—विशेषकर संवादों अथवा दृश्यवर्णन में। लगता है जैसे एक पात्र दूसरे पात्र को संक्षेप में कुछ बातें हृदयंगम कराना चाहता हो। इसका एक उदाहरण सीता-हरण से पूर्व का सीता-लक्ष्मण संवाद है—

बोले लक्ष्मण तुम तो बस भोली-भाली हो
मालूम नहीं हैं तुम्हें राक्षसों के चरित्र
दूसरी बात यह राम भला क्या ऐसे हैं ?
तीसरी यह कि कोई उनकी क्या मदद करे ?
चौथी यह तुम निश्चिन्त रहो, मत घबराओ

अग्नि-परीक्षा से पहले राम-सीता संवाद भी इसी शैली में है—

पहली बात यह
कि राक्षस ने तुम्हें अपने हृदय में स्थान दिया
दूसरी बात यह
कि तुम्हें अपने तेज का अहंकार हो गया
तीसरी यह कि तुम
लंका में अकेली मानवी थीं
और चौथी यह
कि मेरा मन तुम से विमुख हो गया है

इस प्रकार की परिगणन शैली से अनेक भावपूर्ण स्थितियों का वर्णन असंवेदनापूर्ण भी हो गया है।

आत्मालाप

पात्रों के मनोभावों के द्योतन के लिए 'प्रकाशरामायण' में संवाद की एक और तकनीक का प्रयोग किया गया है। यह तकनीक आत्मालाप अथवा कल्पित संवाद की है, जिसके अनुसार दो पात्रों के बीच प्रत्यक्ष संवाद तो नहीं होता, पर एक

पात्र दूसरे पात्र से उसकी अनुपस्थिति में संवाद की स्थिति को कल्पित करते हुए आत्मालाप द्वारा अपने मन के भाव प्रकट करता है। दशरथ की मृत्यु पर शोकाकुल राम का उनसे कल्पना में वार्तालाप इसका एक उदाहरण है। इसमें राम दशरथ के उत्तरों को भी कल्पित करते हैं—

मैं कहता : यह सब क्यों हुआ ?
मुझ पर क्या कुछ नहीं बीती ?
वे कहते : देखो, आंसुओं से (तुम्हारे) वस्त्र भीग गये हैं
मैं कहता : घर से निकलना मेरे लिए अपमान का कारण बना
वे कहते : घर वही है जहाँ सुख और आराम मिले
मैं कहता : जिसका पिता न हो वह क्या करे ?
ये कहते : ईश्वर हर स्थान पर है···

'लवकुश चरित्' में सीता निर्वासन के दुखभरे क्षणों में बीती स्मृतियों में खोयी हुई राम के साथ इस संवाद की कल्पना करती हैं—

तुमने कहा था न 'तुम सचमुच गुलाल जैसी हो'
नहीं देखते अब मुझ पर क्या बीत रही है ?
तुमने कहा था न कि 'तुम बगिया की नरगिस हो'
नहीं देखते मैं कैसे कांटों से बिंध गई हूं ?
तुमने कहा था न 'तुम चन्द्रमा-सी उज्ज्वल हो'
नहीं देखते यह कैसे अकेली भटक रही हूं
तुमने कहा था न 'तुम सबकी आँखों का प्रकाश हो'
नहीं देखते इन आँखों में अब कोई आशा शेष नहीं ?

गीत

'प्रकाशरामायण' में कवि ने अनेक गीतों का समावेश किया है। ये गीत मनसपरक गेय गीत का-सा स्वरूप लिए हुए हैं और हमें पात्र के भावलोक की अंतरंग यात्रा कराते हैं। इन गीतों के अन्तर्गत व्यक्तिगत मनस्थिति से सम्बन्धित गीत, राम-जन्म तथा राम-विवाह के अवसर पर स्त्रियों द्वारा गाये जाने वाले मंगलगीत प्रार्थनाएं, स्मृतियां और वन्दनागीत आते हैं। इनमें लोकगीतों की-सी सहज भावमयता और सरल संगीतात्मकता है जो हृदय को सीधा प्रभावित करती है। अधिकांश गीतों में पात्रविशेष की मनोदशा का द्योतन हुआ है जो अनुराग, करुणा विरहजन्य व्याकुलता, शोक, अन्तर्वेदना, आशंका, आशा आदि का स्पर्श करती है। अपने दूसरे निर्वासन में सीता द्वारा गाये गये अनेक गीतों में उनकी मर्म-वेदना मुखर हुई है : "छस न वज़ान सेतार नये" (मन की सितार झंकृत नहीं होती) और "मार क'रनस ब़ अ'म्य मारमती पार्वती कर ग्योन चारय" (मार डाला मुझे

इस प्रेम के मारे ने, पार्वती मेरा उपाय तो करो) जैसे गीतों में उनके मन की गहरी व्यथा निकलती है।

कृति के सर्वाधिक सुन्दर गीतों में इन दो गीतों के अतिरिक्त एक वह गीत भी है जिसमें वसन्तागमन का मुक्त स्वागत् है और लोकगीत की-सी उल्लसित अभिव्यक्ति है—

वसन्त आ गया है, बुलबुल गाओ।
हमारे घर तुम्हें न्योता है
यह घड़ी उल्लास की घड़ी है !

गीतों का प्रयोग कवि ने कथासूत्र को आगे सरकाकर कार्य-व्यापार को गति देने के लिए अथवा बीती घटना के स्मरण के लिए भी किया है।

स्तुतियाँ और प्रार्थनाएँ

धार्मिक आस्था-निदेशित काव्य होने के कारण 'प्रकाशरामायण' में स्तुतियों, प्रार्थनाओं और वन्दनाओं की संख्या अत्यधिक है। यद्यपि अधिकांश प्रार्थनाएं और स्तुतियां इतिवृत्त में पूर्णतया गुम्फित हैं, कई स्थानों पर वे केवल परिपाटी निभाने के लिए लिखी गई प्रतीत होती हैं। प्रार्थनाएं वैयक्तिक और सामूहिक दोनों प्रकार की हैं और पात्र की असहायता, विवशता अथवा भाव-विह्वलता से निःसृत हैं। बाली, सुग्रीव, अंगद, जामवन्त आदि वानरों द्वारा हनुमान से समुद्र-संतरण की प्रार्थना कृति में आई सामूहिक प्रार्थना का एक उदाहरण है। अधिकांश प्रार्थनाओं तथा स्तुतियों में राम के लोक-रक्षक अवतारी रूप में अन्य पात्रों की आस्था व्यक्त हुई है। कुछ स्तुतियों और वन्दनाओं के, जैसे राम द्वारा उद्धार किये जाने पर अहिल्या की स्तुति, का उद्देश्य कृतज्ञता ज्ञापन है। ये प्रार्थनाएँ अथवा स्तुतियाँ पात्र के धार्मिक मनोविज्ञान तथा ईश्वर की तात्कालिक उपस्थिति में गहरे विश्वास के साथ-साथ उसके प्रति सम्पूर्ण समर्पण भाव को अधोरेखित करती हैं। हम इस अध्याय के प्रारम्भ में संकेतित कर चुके हैं कि कश्मीरी में भक्ति के आवेश अथवा विह्वल भाव से प्रेरित इन प्रार्थना-स्तुतियों को लीलाएँ कहा जाता है, बल्कि धार्मिक आस्था से सम्बन्धित सम्पूर्ण काव्य को ही। इन 'लीलाओं' में प्रत्येक तीसरी पंक्ति के बाद प्रारम्भिक पंक्ति की टेक मिलती है।

काव्य मूल्य

काव्य-मूल्यों की दृष्टि में 'प्रकाशरामायण' को प्रो० बलजिन्नाथ पंडित अन्य भारतीय भाषाओं के रामकाव्य के समकक्ष नहीं मानते, यद्यपि कृति को ऐसे स्थलों से सर्वथा विहीन भी नहीं समझते जो कवित्वपूर्ण हों।[६] प्रो० पंडित का यह विचार तथ्यों से पूर्णतया समर्थित नहीं। प्रकाशराम ने रामकथा के अनेक प्रसंगों का सपाट वर्णन

अवश्य किया है, किन्तु ऐसे स्थलों की कमी नहीं जिनका वर्णन अत्यन्त संवेदनापूर्ण और प्रभावी है। कवि की मुख्य दृष्टि कथा पर रहने के कारण उनकी सौंदर्य-चेतना को अभिव्यक्त होने के अधिक अवसर नहीं मिले हैं। इतिवृत्त की सीमाओं के बाहर भी कवि की संवेदना-दृष्टि परिस्थितियों और भावस्थितियों के अंकन में जहां-जहां व्यक्त हुई है, वह स्थल कवित्व की दीप्ति से झिलमिला उठा है। वसन्त के आने पर हिमशिलाओं का तड़कना, वनपाखियों का गीत-मुखर होना और रंग-रंग के फूलों का खिल उठना, दु:खकातर सीता की व्यथा से प्रकृति का भी विकल हो जाना—ऐसे संवेदन-बिन्दुओं पर प्रकाशराम की कविता सुगबुगाती है। अन्य स्थलों पर वह अधिकतर राम के परब्रह्मत्व की परिक्रमा करती दृष्टिगोचर होती है।

रूप चित्रण

'प्रकाशरायण' में रूपचित्रण रूढ़ और परम्परागत न होकर वैसा ही सहज-सुन्दर है जैसा लोक-काव्य में होता है। उदाहरण के लिए सीता के सौंदर्य वर्णन को लें। घिसी-पिटी उपमाओं और रूढ़ शब्दावली के प्रयोग द्वारा कोई कृत्रिम बेजान तस्वीर प्रकाशराम प्रस्तुत नहीं करते, एक सजीव रूप-छवि का निर्माण करते हैं जिसमें माँसलता या स्थूलता नहीं बल्कि जो प्रकृति के सहजसौंदर्य से एकाकार हो गयी-सी प्रतीत होती है। वनगमन प्रसंग में सीता के "कमल-से तन" का यह प्रभाव-चित्र प्रस्तुत करते हैं—

> तुम्हारा तन बस कमल-सा है
> चौदश के चाँद-सा मुख
> तुम सुकुमार जुही हो
> बगिया की नरगिस हो, कुसुमित उपवन हो
> पंखुड़ियों-से हैं तुम्हारे हाथ-पाँव

पुरुष रूप का वर्णन अधिक नहीं मिलता। राम का दिव्य-अलौकिक रूप ही मुख्यतया उभारा-उकेरा गया है। हां, एक स्थान पर सीता उन्हें गुलाब का फूल ज़रूर कहती हैं—

> गुलाब से फिर बगिया की नरगिस का मिलन हुआ

एक अन्य स्थान पर भी उन्हें 'सोम्बुल' (फूल विशेष) कहा गया है।

प्राकृतिक सौंदर्य का चित्रांकन

प्राकृतिक सौंदर्य 'प्रकाशरामायण' में मानवीय मनोदशाओं की पृष्ठभूमि के रूप में चित्रांकित हुआ है। कहीं वह मनस्थिति के लिए उपयुक्त वातावरण की सृष्टि करती है तो कहीं प्रतीकात्मक रूप ग्रहण करती है।

मानवीय सौंदर्य के लिए उपमाओं का विधान करते हुए कवि ने प्रकृति के माध्यम से भावों की व्यंजना भी की है। सीता को चौदश का चन्द्रमा, नरगिस, गुलाब, कमल, इश्क़पेचां, सोसन (आइरिस) आदि से उपमित किया गया है तो राम को सूर्य, चन्द्रमा, गुलाब आदि से। प्रकृति इस कृति में सर्वत्र मानवीय सुख-दुख से प्रभावित, मानवीय मनोभावों से संवेदित नज़र आती है। वसन्त के आगमन पर तड़कते हुए हिम और खिलते हुए फूलों, कांपती हुई विरवे की डाल या पेड़ से झरते हुए पत्ते—इनके माध्यम से पात्र की मनस्थिति के बिम्ब प्रस्तुत किए गए हैं। अशोकवन में विरह से व्याकुल सीता के दुख में दुखी प्रकृति का यह रूप है—

गुले लाला के दिल पर दाग़ था
मानो कह रहा हो "अब मैं प्रिय की दूरी नहीं सह सकता"
अरणिकली अनारफूल के ऊपर झुक आई थी
गेंदा कह रहा था कि कैसे करूँ गुलाब का सामना ?
नरगिस मुरझा गई थी, उसका मुख रंगहीन हो गया था
मानो वह कह रही थी—अब सहूं तो कितना ?
आंखें थक गई हैं राह देखते-देखते

कुछ स्थलों पर प्राकृतिक सौंदर्य का स्वतंत्र रूप में भी वर्णन हुआ है। उदाहरण के लिए दिन और रात को प्रेमी पुरुष और नारी के रूप में चित्रित करते हुए कवि लिखता है—

दिन ने ज्यों ही प्रभात का परिधान पहना
तो रात से बोला—
"सुन्दरी अपना चेहरा ढाँप लो"
और रात ने चेहरे पर बुर्का डाल दिया

एक स्थल पर रात कश्मीर की हिन्दू स्त्री के रूप में भी चित्रित हुई है—

रात के चांदी के-से तन पर
अलवान का फिरन है
तारक-मोतियों के हार
उसके गले में पड़े हैं
चौदश के चन्द्रमा-सा उसका
तरंगा (कश्मीरी हिन्दू स्त्रियों का शिरोवस्त्र) है
उसकी पूच (तरंगे के ऊपर पहना जाने वाला वस्त्र)
रंगीन है
और उस पर उसने
सुन्दर सेहरा लगाया है।

मनोभावों का चित्रण

मानवीय भावदशाओं और मनस्थितियों का 'प्रकाशरामायण' में अनेक स्थलों पर काफी संवेदनापूर्ण चित्रण किया गया है। प्रेम की विभिन्न रंगच्छाएं, शोक, वेदना, अवसाद, निराशा, अंतर्द्वन्द्व, क्रोध, साहस, उपहास, विस्मय, अहंकार, श्रद्धा— विभिन्न परिस्थितियों के बीच पात्रों की मानसिक प्रतिक्रियाओं और प्रवृत्तियों को एक सुविस्तृत पट पर कवि उद्घाटित करता चलता है। जहां तक प्रेम का सम्बन्ध है, उसे दैहिक धरातल से ऊँचा उठाकर एक मनोराग के स्तर पर कवि ने भावांकित किया है। बारीकियों और गहराइयों में वह उतरा नहीं है किन्तु प्रेम की कोमलता और अंतरंगता, आतुरता और आकुलता, तड़प और तृषा के जो चित्र उसने खींचे हैं, अपनी सहजता के कारण प्रभावित करते हैं। वनगमन के अवसर पर सीता का वन जाने का आग्रह और राम का स्नेहसिक्त स्वरों में उन्हें समझाना कृति के सर्वाधिक भावपूर्ण स्थलों में से है। अग्नि-परीक्षा के उपरान्त राम और सीता के पुनर्मिलन के अवसर पर एक दूसरे को पा लेने का भाव प्राकृतिक प्रतीकों द्वारा व्यंजित हुआ है—

> मन साफ हो गये
> और दुख तत्क्षण सुख में समाहित हो गया
> गुलाब से नरगिस का मिलन हुआ
> हिम पहाड़ों के पीछे ओझल हो गया,
> शिशिर बीत चला,
> शुभ वसंत के दिन आ गये

राम के वियोग में सीता की व्यथित मनोदश और सीता को ढूंढ़ते हुए राम की व्याकुलता को प्रकाशराम कलात्मक स्पर्शों द्वारा अंकित करते हैं। किन्तु सबसे अधिक संवेदनापूर्ण है 'लवकुश चरित्' में सीता के आहृत मन का बिम्ब—राम के अन्याय की स्मृति से उनके भीतर का विक्षोभ, उनके आत्म-सम्मान का उन्मेष और अपनी करुण स्थिति का दर्दभरा तीखा एहसास। वे घर लौटने का आग्रह करने आये राम के लिए कुटिया का द्वार नहीं खोलतीं, किन्तु अन्तर्द्वन्द्व के, गहनतम दुख के इन क्षणों में उन्हें जिस सत्य की उपलब्धि होती है वह अन्त में पृथ्वी-प्रवेश के सिवा उनके लिए और कोई विकल्प नहीं छोड़ता। प्रकाशराम भवभूति तो नहीं थे, पर सीता की मनोदशा का जो करुण रूप 'प्रकाशरामायण' में उभरता है, उसने लोकमानस को गहराई से प्रभावित किया है।

करुण की और भी कई भावस्थितियां 'प्रकाशरामायण' में हैं। राम के वनगमन पर दशरथ और कौशल्या का विलाप, दशरथ की मृत्यु पर राम का शोक, सीता-परित्याग के प्रसंग में लक्ष्मण की अंतर्वेदना—इन सब के वर्णन में प्रकाशराम पात्र

की मनोदशा के अंतरंगता से सम्बद्ध नज़र आते हैं।

भाषा

प्रकाशराम की भाषा को सरल और सुबोध कश्मीरी कहा गया है। उसकी भंगिमा मुख्यतया लोकभाषा की-सी है, किन्तु संस्कृत और फारसी-अरबी के शब्दों का प्रयोग भी उन्होंने बेधड़क किया है जिससे कहीं-कहीं दुरूहता पैदा हुई है। संस्कृत मूल के शब्दों में कई स्थानों पर फारसी के प्रत्यय लगाने की प्रवृत्ति भी है, जैसे 'बक्रोधी' 'ब-आकाश' वगैरह, जो बहुत अटपटी लगती है। कहीं-कहीं फारसी-अरबी शब्दावली के बीच संस्कृत के तत्सम् शब्दों का प्रयोग है जिससे वाक्य-विन्यास कुछ विचित्र-सा हो गया है। संस्कृत शब्दों का प्रयोग प्रायः स्तुतियों और प्रार्थनाओं में हुआ है, जबकि कथा-वर्णन में फारसी-अरबी शब्दों का बाहुल्य है। किसी-किसी जगह तो फारसी के पूरे के पूरे वाक्यांशों या मुहावरों को रख दिया गया है, जैसे—"वदरगाहे फिदा जां रोब", "दिलदार बरखुरदार तू बाश" वगैरह। ऐसा प्रतीत होता है कि संस्कृत से कवि का अधिक परिचय नहीं था, इसीलिए धार्मिक संदर्भों में भी उसके शब्दों का वह गलत प्रयोग भी कर बैठता हैं। एक स्थल पर उसने सीता के लिए 'कुमारी' शब्द का प्रयोग किया है जबकि प्रसंग सीता-विवाह से बहुत बाद का है। कुछेक हिन्दी वाक्यांशों को इस्तेमाल करने से उसे गुरेज़ नहीं किया है।

निष्कर्ष बिन्दु यह है कि फारसी मसनवियों का प्रभाव कवि की भाषा पर विशेष रूप से पड़ा है। यद्यपि कुल मिलाकर उसकी भंगिमा सहज जनभाषा की ही है। मसनवियों से प्रभाव ग्रहण के बावजूद अनेक उपमायें दैनिक जीवन से सम्बन्धित बिम्बों को उजागर करती हैं और अपनी मौलिकता के कारण कहीं-कहीं आधुनिक भी प्रतीत होती हैं। 'प्रकाशरामायण' से प्रेरित-प्रभावित होकर अन्य कश्मीरी कवियों ने भी रामकथा पर काव्य रचना की और यह परम्परा बीसवीं शती के पाँचवें दशक तक चलती रही। पर परवर्ती कश्मीरी रामकाव्य पर प्रकाशराम पूरी तरह से छाये हैं।

रामकथा पर आधारित अन्य काव्य कृतियाँ

'प्रकाशरामायण' के बाद कश्मीरी रामकाव्य की परम्परा का विकास 'शंकर रामायण', 'आनन्द रामायण', 'आनन्द रामावतार चरित्', 'विष्णु प्रताप रामायण', 'शर्मा रामायण', 'ताराचन्द रामायण' और 'अमर रामायण' तथा लक्ष्मण कौल बुलबुल की 'राम गीता' में देखा जा सकता है। ये सभी काव्यग्रन्थ प्रायः अप्रकाशित हैं और 'प्रकाशरामायण' की इन पर सुस्पष्ट छाया देखी जा सकती है। कहीं-कहीं कुछ नयी उद्भावनाओं अथवा शैलीगत विशेषताओं के साथ भी रामकथा इनमें

प्रस्तुत की गई है। पाण्डुलिपि रूप में होने के कारण इनका पाठक वर्ग अत्यन्त सीमित रहा है और मूल्यांकन के प्रयास भी अधिक नहीं हो सके हैं। डॉ० ओंकार कौल ने अपनी शोधकृति 'कश्मीरी और हिन्दी रामकाव्य का तुलनात्मक अध्ययन' में प्रकाशराम के बाद रचित कश्मीरी रामकाव्य की कथानकगत तथा शैलीगत विशेषताओं का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है।

शंकर रामायण

'शंकर रामायण' आद्यान्त प्रगीत शैली में रचित है। पाँच खण्डों और ४४ अध्यायों में विभाजित इस वृहद्‌ाकार कृति में राम के जन्म से लेकर स्वर्गारोहण तक की कथा टेक और अंतरा पद्धति पर आधारित पदों में वर्णित है। प्राय: हर अध्याय अलग-अलग टेक लिये हुए है और हर टेक में रचित गीत घटना-प्रसंगों तथा किसी पात्र विशेष के वृत्त से सम्बद्ध हैं। तुलसीदास की 'गीतावली' और 'विनय पत्रिका' की भांति विभिन्न गीतों को एक तारतम्य में रखा गया है, जिससे कथा-सूत्र को उसके संदर्भ के अन्तर्गत ग्रहण किया जा सकता है। इस शैलीगत विशिष्टता के कारण 'शंकर रामायण' का कश्मीरी राम काव्य ही नहीं, सम्पूर्ण कथा-काव्य परम्परा में एक अलग स्थान है। कृति का रचनाकाल स्वयं कवि के अनुसार १८८० ई० है जब कश्मीर पर डोगरा महाराज रणवीर सिंह का शासन था।

वाल्मीकि रामायण और आध्यात्म रामायण दोनों के प्रभाव और प्रेरणा को 'शंकर रामायण' में स्पष्ट देखा जा सकता है। आध्यात्म रामायण का प्रभाव स्वयं कवि ने शबरी प्रसंग में स्वीकार किया है। उसी के अनुसार इस काव्य-ग्रंथ में भी कथा को शिव और पार्वती के संवाद के रूप में प्रस्तुत किया गया है। राम के प्रति उत्कट भक्ति भावना और उनके नाम-माहात्म्य का विस्तृत वर्णन भी इसी प्रेरणा स्रोत की ओर संकेत करता है। प्रारम्भ में शिव चरित्र भी वर्णित है जिसके अन्तर्गत सती सीता का रूप धारण कर विरही राम के परब्रह्मत्व की परीक्षा लेती हैं और संदेह-विमुक्त होकर शिव और राम दोनों से क्षमा मांग लेती हैं। भक्ति का अतिरेक 'शंकर रामायण' में कुछ ऐसा है कि राम को उसमें चतुर्भुज रूप में जन्म लेते और देवताओं को उन पर पुष्प वर्षा करते दिखाया गया है। राम विवाह के अवसर पर, जिसका कवि ने बड़ी दिलचस्पी से विस्तृत वर्णन किया है, ब्रह्मा-शिव सहित सभी देवी-देवता सम्मिलित होते है।

'प्रकाशरामयण' की भांति 'शंकर रामायण' में भी रामकथा स्थानीय वातावरण से रंजित मिलती है। प्रकृति तथा विभिन्न घटना-स्थितियों का वर्णन हो अथवा भावदशाओं का अंकन—कवि ने स्थानीय तत्त्वों का निर्बाध प्रवेश कराया है। इससे कथा में आए पात्र और घटना-प्रसंग एक कश्मीरी पाठक को सहज अपने प्रतीत होते हैं।

'शंकर रामायण' के गीतों का स्वरूप लोक-गीतों का-सा है। दशरथ की मृत्यु तथा राम के वनगमन पर अयोध्यावासियों की विकलता आदि अनेक प्रसंग तो शुद्ध शे'व गीत की-सी शैली में रचे गए गीतों में वर्णित हैं जिससे उनकी मार्मिकता और भी बढ़ गई है। गेयता वस्तुतः 'शंकर रामायण' के गीतों का सबसे महत्वपूर्ण गुण हैं। चरित्रों का सहज-स्वाभाविक चित्रांकन उसकी एक और विशेषता है। कहीं कोई उलझाव या बिखराव नहीं, यद्यपि सपाटता भी नहीं।

आनन्द रामावतार चरित्

कालक्रम की दृष्टि से प्रकाशरामायणोत्तर कश्मीरी रामकाव्य में आनन्दराम राज़दान द्वारा रचित 'आनन्द रामावतार चरित्' का स्थान दूसरा है। कवि ने इसका रचनाकाल १८८८ ई० दिया है। कवि का दावा है कि उसने वेदों से ग्रहीत कथानक को ही विस्तार दिया है, जिससे उसका आशय सम्भवतः रामकथा का लोकप्रचलित, परम्परागत रूप है। यद्यपि कथा के प्रारम्भ में गुरु, गणेश, शिव, राम और शेषशायी विष्णु की प्रारम्भिक वन्दनाएं देकर उसने प्रथा और परम्परा का पालन किया हैं, कथा का काण्डों में विभाजित रूप 'आनन्द रामायण' में नहीं मिलता। शीर्षकों द्वारा ही विभिन्न प्रसंगों का निर्देश किया गया है। अपने पूर्ववर्ती प्रकाशराम की भांति कवि ने अपने रामायण की रचना में वन्दना-स्तुतियों, प्रार्थनों-गीतों को गीतवृत्त में गूंथा है। अनेक गीत लोकगीतों की शैली में रचे गए हैं।

कथानक राम-जन्म से लेकर सीता के पृथ्वी-प्रवेश तक के प्रसंगों को अपने विस्तार में समाविष्ट करता है, जिनमें अनेक प्रसंग कवि की स्वतन्त्र चयन-बुद्धि तथा नयी उद्‌भावनाओं के सृजन की क्षमता का परिचय देते हैं। सीता-जन्म एक ऐसा ही प्रसंग है। कश्मीरी रामकाव्य परम्परा में कवि ने उन्हें रावण की पुत्री ही दिखलाया है, पर इस सम्बन्ध में एक शाप-कथा जोड़ी है जो 'उत्तर पुराण' से प्रेरित है। अपनी रमण-तृषा को तृप्त करने के लिए रावण पूर्वजन्म में किसी सुन्दरी से छेड़छाड़ करता है, वह उसे शाप देती है कि "वह उसकी पुत्री के रूप में जन्म लेकर उसके सम्पूर्ण वंश के संहार का कारण बनेगी।" अगले जन्म में ऋषि रावण को रक्तभरा घड़ा सौंपते हैं जिसे वह अमृत समझकर मंदोदरी को दे देता है। मंदोदरी गर्भवती होती है तो ज्योतिषियों की भविष्यवाणी से घबराकर रावण उसका गर्भपात कराता है और भ्रूण को घड़े में बन्द करके जनकपुर में गड़वाता है, जहां हल चलाते हुए राजा जनक को सीता प्राप्त होती हैं।

सीता द्वारा महारावण का वध भी एक नयी उद्‌भावना है। सीता राम के सामने महारावण की अद्‌भुत शक्ति का वर्णन करती है तो राम उत्तेजित होकर उत्तराखण्ड में उस पर चढ़ाई करते हैं, पर दलबल सहित पराजित होते हैं।

सीता पहले मुस्कराती हैं पर बाद में महाकाली का रूप धारण कर सौ सिरों वाले महारावण का एक-एक सिर काटकर वध करती हैं। यद्यपि उड़िया, बंगला तथा मराठी रामकाव्य में भी इस प्रकार की कथा है, कश्मीरी वृत्तान्त इनसे काफी भिन्न है।

'आनन्द रामायण' में अन्य ग्रन्थों के प्रभाव भी हैं। जनक वाटिका में सीता-राम मिलन, धनुर्भंग द्वारा परशुराम का गर्वशमन आदि कई प्रसंगों में रामचरित्-मानस का प्रभाव पारदर्शी है। फिर भी कवि में क्षमता है कि ग्रहीत अंशों को नये रंग-रेखाओं में प्रस्तुत करे।

'आनन्द रामावतार चरित्' के युद्ध-चित्र विशेष रूप से दृष्टव्य हैं। इन युद्ध-वर्णनों में कवि अपनी वर्णन-शक्ति का विशेष परिचय देता प्रतीत होता है। राम और रावण पक्ष में हुए युद्ध नौ दिन तक सविस्तार वर्णित हैं। कृति में लक्ष्मण को रावण के शक्ति-बाण द्वारा मूर्च्छित होते दिखाया गया है। युद्ध में मेघनाद को दुर्बल पड़ते देखकर रावण छिपकर शक्ति-बाण चलाता है और उन्हें मूर्च्छित कर देता है। रावण युद्ध में माया का आश्रय भी लेता है, किन्तु राम हर बार उसकी माया को विफल कर देते हैं। माया अथवा जादूवृत्त के समावेश द्वारा कवि ने अद्भुत रस की सृष्टि की है। रावण के चरित्र के अतिप्राकृतिक स्वरूप और राम के अवतारतत्व को भी अधोरेखित किया है।

'आनन्द रामावतार चरित्' की भाषा फारसी से प्रभावित है। फारसी शब्द ही नहीं, कहीं-कहीं तो पंक्तियों की पंक्तिां फारसी भाषा में है। काव्य के अन्त में दी गई राम की स्तुति फारसी में ही है। काव्य की मूल प्रति और उसकी प्रतिलिपि भी, जो फारसी लिपि में ही है, कवि के गांव में उनके वंशजों के पास सुरक्षित हैं।

विष्णु प्रताप रामायण

'प्रकाशरामायण' के बाद काव्य स्तर की दृष्टि से पं० विष्णु कौल द्वारा रचित 'विष्णु प्रताप रामायण' सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कश्मीरी रामायण है। जैसा नाम से ही ध्वनित होता है, यह काव्य-कृति कश्मीरी के तत्कालीन डोगरा महाराजा, प्रतापसिंह को समर्पित है, पर आज़ाद के अनुसार "दरबार तक उनकी रसाई नहीं हो सकी।" विष्णु कौल (वास्तविक नाम विशम्बर नाथ) साधारण अध्यापक थे। "धर्म प्रिय महाराजा" के प्रति श्रद्धा के बावजूद उसके पास उनकी पहुंच होना कैसे सम्भव था। 'विष्णु प्रताप रामायण' की मूल प्रति दो भागों में फारसी लिपि में लिखी हुई है। रचनाकाल स्वयं कवि ने १७१३ ई० दिया है।

'विष्णु प्रताप रामायण' ३० हज़ार पद्यों और ३४८ अध्यायों काए क विशाल काव्य ग्रन्थ है। सभी अध्याय पांच कांडों के अन्तर्गत रखे गए हैं। इनमें से सबसे

बृहद् 'वनवास काण्ड' १६१ अध्यायों पर आधारित है, किन्तु इसमें किष्किंधा काण्ड' और 'लंका काण्ड' भी समाविष्ट हैं। आज़ाद के अनुसार यह कृति "वाल्मीकि रामायण का अनुवाद है।" इस बात को डा० ओंकार कौल स्वीकार नहीं करते। अनुवाद वह न भी हो पर वाल्मीकि रामायण पर मूल रूप से आधारित अवश्य है, यद्यपि कुछेक प्रसंग और वर्णन कवि ने अपने भी जोड़ दिए हैं। भक्ति, दर्शन और नीति से सम्बन्धित कवि के विचार भी कृति में यत्र-तत्र समाविष्ट हैं। नैतिकता की पौराणिक अवधारणाओं से प्रेरित ये विचार कई स्थानों पर ऊब भी पैदा करते हैं। अन्य कश्मीरी रामायणों की तरह 'विष्णु प्रताप रामायण' में भी जहां अवसर मिला है, कवि ने वर्णनों में स्थानीय तत्त्वों का समावेश किया है। परिदृश्य वर्णन हो अथवा सामाजिक परिवेश का वर्णन—स्थानीय रंग विशेष रूप से उभरा है। यहां तक कि 'रामलीला काण्ड' में कवि ने राम को कश्मीर की यात्रा भी कराई है। वस्तुतः तत्कालीन जीवन का सजीव बिम्ब 'विष्णु प्रताप रामायण' में यहां-वहां झलक उठता है।

अनेक अवान्तर अथवा सम्बद्ध प्रसंगों में कथा को विस्तार दिया गया है। विष्णु कौल जैसे अपने आप को नियन्त्रित नहीं कर पाते और जो भी आख्यान-उपाख्यान उनकी स्मृति में कौंधता है, उसका विस्तार से वर्णन करते हुए वे कृति के कलेवर में वृद्धि करने को तत्पर दिखाई देते हैं। जैसे गंगावतरण प्रसंग, जो राजा सगर के यज्ञ से लेकर भगीरथ की सफल तपस्या तक पूरे विस्तार से वर्णित है। दशरथ और कौशल्या के कश्यप और अदिति के रूप में पूर्वजन्म का वृत्तान्त भी आया है, जिसमें वे विष्णु से पुत्र रूप में उनके यहां जन्म लेने का वर प्राप्त करते हैं। इसके उपरान्त राम के अवतारत्व के प्रयोजन और महत्त्व का वशिष्ठ सविस्तार वर्णन करते हैं। यही नहीं विश्वामित्र यज्ञ की रक्षा के लिए राम और लक्ष्मण को मांगने आते हैं तो वशिष्ठ से उनकी ज्ञान सम्बन्धी चर्चा भी अच्छा-खासा विस्तार पा जाती है, जिससे प्रभावित हो दशरथ बिना किसी हिचक के एकदम दोनों भाइयों को उनके साथ वन भेज देते हैं।

अनेक स्थलों पर 'विष्णु प्रताप रामायण' रामचरित मानस से प्रभावित है। यह प्रभाव कागभुशण्डि-गरुड़ संवाद, वन के वृत्तान्तों में निषादराज का प्रसंग और लंका-दहन, रावण-वद्ध और विभीषण के राज्यारोहण सम्बन्धित त्रिजटा के स्वप्न आदि में देखा जा सकता है। अनेक स्थानों पर कवि ने कथानक को स्वतन्त्र रूप से भिन्न मोड़ भी दिये हैं। एक ऐसा ही मार्मिक स्थल है लक्ष्मण की मूर्च्छा का। इस अवसर पर सुमित्रा दुःस्वप्न देखकर घबरा जाती हैं। सीता जन्म का वृत्तान्त 'आनन्द रामायण' में आये वृत्तान्त से थोड़े अन्तर सहित मिलता है। सप्तऋषियों के रक्त की सात बूंदों से भरी शीशी (?) रावण मन्दोदरी को पीने को देता है, जिससे उसे गर्भ रह जाता है। सीता को जनमते ही वह ज्योतिषियों की भविष्य-

वाणी से घबराकर एक मंजूषा में बन्द करके प्रवाहित करवाता है, और राजा जनक उन्हें पा लेते हैं। 'आनन्द रामायण' में आया एक और प्रसंग—सीता द्वारा महाकाली का रूप धारण कर महारावण का वध भी 'विष्णु प्रताप रामायण' में बहुत हद तक उसी रूप में मिलता है। मक्केश्वर लिंग और मकरध्वज जन्मकथा 'प्रकाश रामायण' से ग्रहीत है।

राम के परब्रह्मत्व की प्रतिष्ठा और उनके प्रति दीन भक्ति निवेदन को 'विष्णु प्रताप रामायण' में प्रमुखता दी गयी है। भक्ति की इस व्याप्ति में कवित्व भी कई स्थलों पर उमड़ पड़ा है, वहां जहां कवि परब्रह्म और आदिशक्ति की ऊर्ध्व-भूमि से उतरकर मानवीय संवेदना के धरातल पर पांव रखता है। "कमल नेत्रों से आंसू-मुक्ता बहाती हुई" सीता के विरह-विकल मन के चित्र करुणा-रंजित हैं। सीता का दुख भू-नभ को विगलित कर देता है, पशु-पक्षी तक उनके रुदन के स्वर में स्वर मिलाते दिखाये गये हैं। राम द्वारा परित्यक्त होने पर उनके हृदय की "छिन्न-तार-वीणा-सी" स्थिति काफी भावपूर्ण शब्दों में व्यंजित हुई है। लक्ष्मण-मूर्च्छा के समय राम और सुमित्रा दोनों की मनस्थिति का वर्णन भी संवेदनासिक्त है। मेघनाद और कुम्भकरण की मृत्यु के बाद रावण विचलित होकर शोक के अतिरेक में जैसे रो पड़ता है। यह वर्णन उसे एक सहज मानवीय भावभूमि पर ले आता है।

अनेकानेक वृत्तान्तों के समावेश से प्रबन्धात्मकता का ढांचा चरमराता है, पर टूटता नहीं। चरित्रांकन भी काफी हद तक सफल है। भाषा में संस्कृत स्रोत से ग्रहीत शब्दों के साथ-साथ फारसी शब्दों का भी प्रचुर प्रयोग है। हिन्दी अथवा उर्दू में कई पंक्तियां रची गयी हैं। शैली में, विशेषकर वर्णनों और संवादों में, 'प्रकाश रामायण' का प्रभाव एकदम पारदर्शी है।

शर्मा रामायण

नीलकंठ शर्मा द्वारा लिखित "रामायण-इ-शर्मा' अथवा 'शर्मा रामायण' का भी कश्मीरी राम काव्य परम्परा में महत्वपूर्ण स्थान है। आठ काण्डों पर आधारित इस काव्य ग्रन्थ को कवि ने १९२६ ई० में सात वर्षों में सम्पूर्ण किया। ये काण्ड हैं—बालकाण्ड, अयोध्याकाण्ड, किष्किंधाकाण्ड, सुन्दरकाण्ड, लंकाकाण्ड, उत्तरकाण्ड और लवकुश काण्ड। भक्ति-भावना से प्रेरित यह रामायण स्वयं कवि की स्वीकारोक्ति के अनुसार तुलसी के 'रामचरित मानस' से विशेष रूप से प्रभावित है। यह प्रभाव घटना-प्रसंगों के अनुकरण में ही नहीं, संवादों और वर्णनों तक व्याप्त है ; कहीं-कहीं सीधा अनुवाद भी है, जैसे किष्किंधा काण्ड के वर्षा-वर्णन में है। "घन घमण्ड गर्जत घन घोरा" से प्रारम्भ होने वाली तुलसी की प्रसिद्ध वर्षा-वर्णन की पंक्तियों की पंक्तियां कश्मीरी में रूपान्तरित हैं। लेकिन सम्पूर्ण कृति

को 'मानस' का अनुवाद मान लेना गलत होगा, क्योंकि कवि ने न केवल अनेक नये प्रसंगों की उद्भावना की है बल्कि ग्रहीत अंशों को भी नये कोण, नये उभार दिये हैं। जिन प्रसंगों पर 'मानस' की स्पष्ट छाया है उनमें जनक की पुष्प वाटिका में राम-सीता का पूर्वानुराग, धनुर्भंग, वन-गमन काल में राम-सीता की अत्रि मुनि से भेंट और अनुसूया का सीता को पातिव्रत्य और नारी धर्म का उपदेश, प्रतापभानु का ब्राह्मणों के शाप से सपरिवार राक्षस बन जाना और मृत्यु के बाद रावण के रूप में उसके भाई का कुम्भकरण के रूप में और मन्त्री का विभीषण के रूप में जन्म लेना, निषादराज प्रसंग, काकभुशण्डि-गरुड़ प्रसंग तथा शबरी-प्रसंग मुख्य हैं। इन प्रसंगों के वर्णन में भी कवि ने कहीं-कहीं अपनी ओर से कुछ रंगच्छाएं जोड़ी हैं, जिससे उसका दृष्टि-विन्दु भी सामने आ जाता है।

कुछ घटनास्थितियां रामकथा की प्रकाशराम प्रवर्तित कश्मीरी परम्परा के अनुरूप कथा पट में बुनी गई हैं और कुछ स्वतन्त्र रूप से उद्भावित हैं। रामकथा के अंगरूप, 'पार्वती-चरित्' को कृति में विस्तार मिला है—पार्वती जन्म से मदन-दहन और शिव-परिणय तक। राम और हनुमान की बाल्यावस्था, भेंट और मैत्री दिखाई गई है। राम बाल हनुमान के प्रति आकर्षित होते हैं और गले लगाकर उससे खेलते हैं। पूछे जाने पर वशिष्ठ दशरथ को हनुमान का परिचय देते हैं। छाया-सीता का मिथक 'शर्मा रामायण' अथवा 'रामायण-इ-शर्मा' का एक और दृष्टव्य प्रसंग है। राम सीता को तब तक अग्नि में निवास करने को कहते हैं जब तक वे रावण तथा अन्य राक्षसों का विनाश करें। सीता अपने छाया रूप में ही राम के साथ वन में रहती हैं और इसी छाया-सीता का हरण रावण करता है। यहां कृति पर आध्यात्म रामायण का प्रभाव प्रतीत होता है। मकरध्वज जन्म और मक्केश्वर लिंग वृत्तान्त 'प्रकाशरामायण' से ग्रहीत है। अहिरावण के जन्म से सम्बन्धित प्रसंग भी कश्मीरी रामकथा परम्परा से मेल खाता है, यद्यपि उसमें महिरावण नाम दिया गया है। नीलकण्ठ शर्मा ने अहिरावण को रावण का पुत्र दिखाया है। वह एक सर्प के रूप में जन्म लेता है और धरती में गाड़ दिया जाता है, किन्तु पाताल लोक में घुसकर वह वहाँ का राजा बन जाता है।

'शर्मा रामायण' में अनेक स्थलों पर भावदशाओं का अंकन संवेदक बन पड़ा है। प्रेम की संयोग और वियोग दोनों स्थितियों की मार्मिक व्यंजना हुई है। राजा जनक की पुष्प वाटिका में राम और सीता के मनों में पूर्वराग का उदय सुन्दर किन्तु संयत भावस्थिति के रूप में चित्रित है। दोनों के हृदय में राग के प्रस्फुटन को प्राकृतिक प्रतीकों के माध्यम से उद्घाटित किया गया है। इसी प्रकार विरह में सीता की मनोव्यथा को कोमल-करुण रंगों में व्यंजित किया गया है। 'मानस'

की भांति 'रामायण-इ-शर्मा' के राम भी आकुल-व्याकुल हो "खगमृग पादष स्रेनी" से सीता का पता पूछते हैं। वन-गमन के प्रसंग के अन्तर्गत ही नहीं, सीता परित्याग के बाद भी विरह की भावदशा के विम्ब कृति में संवेदनापूर्ण ढंग से उभारे गये हैं। राम द्वारा परित्यक्त सीता अपने अश्रु-भीगे आंचल और विरह-दाह से दग्ध देह की ओर संकेत करके राम से दरस दिखा जाने की विनती करती हैं।

दशरथ की मृत्यु, और लक्ष्मण की मूर्च्छा के प्रसंगों में राम को शोकविह्वल मनस्थिति में दिखाया गया है। रावण के मरने पर मन्दोदरी का शोक कृति का एक अत्यन्त संवेदनापूर्ण स्थल है। वे "कज्जल हो चुकी वन कलिका" और "तुषाराच्छादित कमल-सी" श्रीहीन और निःसहाय दिखलायी गयी है। 'रामायण-इ-शर्मा' के युद्ध चित्र भी कहीं-कहीं सजीव हैं।

अन्य कश्मीरी रामायणों की भांति 'रामायण-इ-शर्मा' में भी इतिवृत्त में भाव-दशाओं के द्योतन के लिए गीत गुम्फित हैं। किन्तु अतिशय अलंकरण द्वारा चमत्कार प्रदर्शन की प्रवृति उबा देने वाली है। भाषा पर अपने अधिकार को विज्ञापित करने के उद्देश्य से कवि ने काफी उठा-पटक की है। भाषा फारसीमय है—कहीं-कहीं पद्य के पद्य फारसी में ही रचित हैं। कुछ पंक्तियों में हिन्दी तथा उर्दू का प्रयोग भी किया है।

ताराचन्द रामायण

रामचरित मानस का 'ताराचन्द रामायण' पर गहरा प्रभाव पड़ा है, कुछ-कुछ आध्यात्म रामायण का भी। आठ काण्डों और १०२ अध्यायों में निबद्ध इस प्रबन्ध काव्य की रचना पं० ताराचन्द ने १६२७ ई० में की, कश्मीरी रामायणों की परिचित शैली में इतिवृत्त में गीतों को समाविष्ट करते हुए। 'शर्मा रामायण' में आये अनेक प्रसंग कुछ फेर बदल के साथ 'ताराचन्द रामायण' में भी उपलब्ध हैं। इस रामायण में दशरथ और कौशल्या को पूर्वजन्म में मनु और शतरूपा दिखलाया गया है। प्रताप भानु यहां भी शापवश रावण के रूप में जन्म लेता है, किन्तु पुलस्त्य ऋषि के पौत्र के रूप में। बालक राम बाल हनुमान के प्रति आकृष्ट होकर उसके साथ खेलते हैं, और एक "लाल फरोश से लाल" खरीदते हैं। सीता-स्वयंवर के अन्तर्गत पुष्प वाटिका प्रसंग यहां भी 'मानस' से ही ग्रहीत है। स्वयंवर में रावण और बाणासुर को भी उपस्थित दिखाया गया है। माया की सहायता से विष्णु द्वारा जलंधर की पत्नी पातिव्रत्य का भंग और शिव द्वारा भूलोक-सुरलोक में आतंक मचा देने वाले इस दैत्य का वध, एक रोचक प्रसंग है, जो 'मानस' में भी उपलब्ध है। पं० ताराचन्द ने इस प्रसंग के वर्णन में अपनी सूझ के अनुसार कुछ बातें जोड़ भी दी है। रहस्य का पता चलने पर जलंधर की पत्नी विष्णु को मनुष्य

रूप में जन्म लेने का शाप देती है। शाप का एक अंश यह भी है कि उसका पति जलंधर अगले जन्म में रावण बनकर मनुष्य रूप में जनमे विष्णु की पत्नी का अपहरण करेगा।

राम वनगमन के प्रसंगों में राम की निषाद से भेंट और शबरी उद्धार भी 'मानस' से ही लिये गये हैं। सीता जन्म के विषय में ऋषियों द्वारा रावण को प्रदत्त रक्त भरे घड़े की कथा भी दोहरायी गयी है. अंतर यह है कि यहां ज्योतिषियों के स्थान पर ऋषि रावण से कहते हैं कि घड़े से उसका काल उत्पन्न होगा। अतः रावण घड़े को जनकपुर में गड़वाता है, ताकि राजा जनक, जिन्हें वह शत्रु समझता था, मारे जाएं। अनेक प्रसंग 'प्रकाश रामायण' से भी लिये गये हैं।

कृति में प्रबन्ध-प्रवाह अविच्छिन्न है, चरित्रांकन प्रभावी। वर्णनों में स्थानीय तत्त्व आ गये हैं और कवि के रचना कौशल का भी यहां-वहां परिचय मिलता है।

अमर रामायण

कश्मीरी रामायणों की इस परम्परा की अन्तिम कड़ी 'अमर रामायण' है, जिसकी रचना अमरनाथ 'अमर' ने १९४० ई० में की। काण्डों-अध्यायों में विभाजित न होकर इस काव्य-ग्रन्थ में घटना-प्रसंगों का निर्देश उपशीर्षकों द्वारा हुआ है। कथा-निर्वाह में शिथिलता है। गांधीवादी विचारधारा का प्रभाव इस काव्य-ग्रन्थ की एक विशेषता है, जो शबरी-प्रसंग में अछूतोद्धार की भावना में व्यक्त हुआ है। सुधारवादी आँदोलन का प्रभाव भी कृति में दृष्टव्य है—बाली की मृत्यु के बाद कवि ने उसकी विधवा तारा का सुग्रीव से विवाह दिखलाया है। विधवा-विवाह की समस्या तत्कालीन कश्मीरी पंडित समाज के लिए, समाज-सुधार के एक महत्त्वपूर्ण मुद्दे के रूप में उभरी थी। प्रकाश रामायणोत्तर अन्य कश्मीरी रामायणों की भांति यह कृति भी पांडुलिपि रूप में ही उपलब्ध है।

अन्य कृतियां

राम के चरित्र से सम्बन्धित काव्य-कृतियों में लक्ष्मण जू 'बुलबुल' की 'राम गीता' का भी उल्लेख आवश्यक है। इसमें राम लक्ष्मण को विभिन्न आध्यात्मिक और नैतिक विषयों पर उपदेश देते हैं और इस माध्यम से कवि अपने दार्शनिक-आध्यात्मिक विचारों को व्यक्त करता है। राजा भृंग और ब्राह्मण की शाप-कथा कृति को प्रबन्धात्मक ढांचा प्रदान करती है। किन्तु कवि की दृष्टि कथा-वर्णन पर नहीं, अतः कथा गौन होकर रह गयी है।

परमानंद (१७९१-१८८५)

कश्मीरी 'लीला काव्य' की उपलब्धियों का उच्चतम शिखर परमानन्द के काव्य में देखा जा सकता है। 'लीला काव्य' ही नहीं १९वीं शती में कश्मीरी काव्य के सम्पूर्ण परिदृश्य पर उनका व्यक्तित्व छाया हुआ है। उनका महत्त्व केवल इसीलिए नहीं है कि उन्होंने रहस्यवादी अनुभव अथवा आध्यात्मिक प्रेरणाओं को काव्य में रूपान्तरित किया, अपितु इसलिए भी कि इस प्रक्रिया में वे अपनी रचनाशीलता के महत्त्वपूर्ण स्तरों को उद्घाटित कर सके। दर्शन अथवा धर्म की विषयगत सम्बद्धता को ही किसी काव्य की का मानदंड नहीं माना जा सकता। श्रेष्टता वहां आती है जहां काव्य अपने ही मूल्यों के निकष पर खरा उतरने की क्षमता रखता हो। परमानन्द के काव्य की महानता का यह आधार है कि उसके केन्द्र में उच्चतम मानव मूल्यों की प्रतिष्ठा है—कलात्मकता के संस्पर्श से भी वह दीप्त है। इस दृष्टि से अपने समसामयिकों में उनकी स्थिति विशिष्ट है। फारसी मसनवियों और गज़लों के अनुकरण पर कश्मीर कविता उसके समय में अधिकतर 'गुलो बुलबुल', 'खदो-खाल' और 'हिज्रोविसाल' तक ही सीमित रह गयी थी। इस सब के बीच से परमानंद ने अपने लिए एक अलग राह निकाली जो आदमी को ईश्वरत्व के साक्षात्कार की ओर ले जाती है। भक्ति. जिसके केन्द्र में राधाकृष्ण के युगलरूप की रागात्मक लीला है, उनके काव्य का प्रस्थान बिन्दु है और उसकी परिधि के अंतर्गत मानवीय चेतना के आध्यात्मिक विस्तार आते हैं। परमानंद कृष्ण-चरित् की संभावनाओं का उपयोग भक्ति के एक व्यापक मानवीय दर्शन के अंतर्गत करते है, जिसमें न सगुन-निर्गुण का कोई भेद है, न किसी सम्प्रदाय विशेष का बन्धन।

भक्त और कवि परमानंद (वास्तविक नाम नन्दराम) का जन्म अमरनाथ यात्रा के मार्ग पर पड़ने वाले एक हिन्दू तीर्थ मटन के निकट एक छोटे से गांव सीर में १७९१ ई० हुआ था—कृष्ण पंडित और सरस्वती के यहां। मटनकुण्ड का झलमल जल और पास की अनेक-अनेक जलधाराएं, चीड़वन और उनसे छनकर आती हुई हवा, ऊंचे गिरि शिखर, शांत प्रकृति—इस परिवेश में नन्दराम के व्यक्तित्व के कवि और विरक्त संत इन दोनों रूपों को विकास का उपयुक्त वातावरण मिला। शिक्षा उन्होंने फारसी मकतब में किसी मुल्ला से पाई थी और जो दल-के-दल साधु, संन्यासी और तीर्थयात्री मटन आया करते थे उनके सम्पर्क में परमानन्द का परिचय महाभारत, भागवत, शिवपुराण तथा वेदान्त दर्शन से हुआ। उत्तर भारत के वैष्णव संत-कवियों की वाणी, कबीर और सिक्ख गुरुओं के शब्द और साखियों से लेकर सूर के पदों तक, इसी माध्यम से उनके पास पहुंची।

पच्चीस वर्ष की आयु में परमानंद अपने पिता के बाद गांव के पटवारी बने, पर कबीर की तरह "मन लागो मेरो यार फकीरी में" का भाव लेकर वे पटवार

का बोझा घर चलाने भर के लिए जैसे-तैसे संभाले रहे।

अन्य पटवारियों की भांति घर को "माल से भर देने" की अक्षमता के कारण इस शांत-गम्भीर साधुमना कवि को अपनी कर्कशा पत्नी मालद्यद तीखे व्यंग्य-वचनों से कोंचती रहती थी। इससे उसके वैवाहिक जीवन में कटुता आ गयी थी।

परमानन्द के ६४ वर्षों के सुदीर्घ जीवनकाल में—उसकी मृत्यु १८८५ ई० में हुई—कश्मीर सिक्खों के हाथों से निकलकर डोगरा शासकों के हाथ में चला गया, किन्तु सामन्ती समाज की अन्यायपूर्ण व्यवस्था यथावत् बनी रही। उसके हाथों कवि को जो कुछ सहना पड़ा उसकी झलक अपनी कुछ कविताओं में उसने दे दी है। इस शोषक व्यस्था की गिरफ्त से पटवारी भी बचे नहीं थे। इसी के एक प्रतिनिधि के रूप में उस समय के एक भू-राजस्व अधिकारी राधोमल मिसरा के इस व्यंग्यपूर्ण पोट्रेट के माध्यम से कवि ने अपने जीवन की विषय परिस्थितियों को चित्रित किया है—

राधोमल मिसरा तो बस एक बेनुक्ते का मिसरा है—
पटवारियों के लिए जी का जंजाल !
दूर वुलर के इलाके में बैठे-बैठे
वह आग उलगता रहता है।
उसके तन से मानो भिड़ें छूट पड़ती हैं।
लगता है उसका ख्याल मटन में
पटवारियों को दान में दे डालने का है
थर-थर कांपते हैं बेचारे (पटवारी)
जाने कब किसके नाम परवाना (हुक्मनामा)
आयेगा !
हाय रे पटवारियों की बही
कभी हो न सकी सही !

एक अन्य कविता में कवि ने अपने जीवन से संबंधित एक और घटना का उल्लेख किया है। यह घटना एक अन्य भू-राजस्व अधिकारी की सनक के बारे में है, जिसे उपहार देने को परमानंद में को मटन से लेकर खनाबल नामक स्थान तक मीलों एक भेड़ को अपने कन्धों पर उठाना पड़ा था। पसीने से लथपथ, क्लांत और अपमान से क्षुब्ध कवि के मुंह से अनायास निकल पड़ा—

त्राहि माम पाहि त्राहि मुरारी
कट संकट हे मुकुट धारी।

रक्षा करो मुरारी रक्षा करो
मेरा संकट निवारो हे मुकुट धारी !

यहाँ 'कट' शब्द के दो अर्थों—काटो (निवारण करो) और 'भेड़'—ने चमत्कार पैदा किया है। यह कड़ुवाहट पूरी की पूरी कविता में ही व्यक्त हुई है जो एक कवि और संत से इस प्रकार बेगार लेकर अपमानित करने वाले उस समय के सामन्ती समाज के क्रूर अमानुषी चेहरे को बेनकाब करती है। इस कविता में क्षोभ, दुःख, विवशता, आहत आत्म-सम्मान के भाव तो पूरे तीखेपन के साथ व्यक्त हुए हैं, किन्तु सामाजिक अन्याय के विरुद्ध विद्रोह-चेतना के स्थान पर उसका समाधान सर्वव्यापक ईश्वर के दीन-रक्षक रूप की शरण में खोजा गया है। इससे व्यंग्य की धार कुछ कुंठित हुई है। पर परमानन्द ने इस स्थिति से विद्रोह अवश्य किया—उसने पटवार से ही त्यागपत्र दे दिया!

पर गांव के मुकद्दम सालिह गनाई पर उनके संत-व्यक्तित्व को कुछ ऐसा प्रभाव पड़ा था कि वह उन्हें आजीवन उतने ही रुपयों की सहायता देता रहा जिससे उन्हें किसी प्रकार की आर्थिक तंगी का अनुभव न हो। पटवारी नंदराम अब विरक्त परमानन्द हो गये।

परमानंद के जीवन के अन्तिम वर्ष शारीरिक और मानसिक क्लेश में बीते। दो पुत्रों की असमय मृत्यु से उन्हें ऐसी चोट पहुंची जिसे वे अंत तक संभाल न सके। अपनी लड़की के पुत्र को गोद लिया, पर अपने स्वभाव और रुचियों में वह कवि से इतना भिन्न था, कि परमानन्द उससे वह भावात्मक सम्बन्ध न बना सके जिसकी उन्हें अपने अकेलेपन में बेहद आवश्यकता थी। वृद्धावस्था के कारण उनकी आंखों की रोशनी कम हो गयी थी और कानों के सुनने की शक्ति भी क्षीण। ऐसे में परिहास के स्वर में उन्होंने ईश्वर से शिकायत की—

हमे गुफ्तम खुदावन्दा करमकुन
नमे गुफ्तम खुदावन्ध करम कुन

खुदा, मैंने तुमसे कहा था मुझ पर करम (कृपा) करो
यह तो नहीं कहा था मुझे बहरा बना दो!

परमानंद के जीवन के एकाकीपन की व्यथा को बहुत कुछ उनके प्रतिभावान शिष्यों ने पाट दिया जिनमें लक्ष्मण जू 'बुलबुल' जैसे कवि और नारायण मूर्तगर (मूर्तिकार) जैसे चित्रकार थे। इन्हीं के बीच भजन गाते, मद्धम बजाते हुए इस कवि ने कश्मीरी को अपनी महान काव्य-कृतियां दीं।

कृतित्व

परमानंद की रचनाओं का संपादन सर्वप्रथम मास्टर ज़िन्दाकौल ने पंडित नारायण कौल और लक्ष्मण जू 'बुलबुल' के पास सुरक्षित पाण्डुलिपियों के आधार पर किया और तीन खण्डों में अपनी परिचयात्मक टिप्पणी सहित उन्हें प्रकाशित किया। इसके बाद परमानंद की रचनाओं का एक प्रतिनिधि किन्तु लघु संकलन प्रो०

श्रीकण्ठ तोषखानी ने स्थानीय कल्चरल अकादमी के लिए तैयार किया। कल्चरल अकादमी की ओर से परमानंद की प्रमुख रचनाओं का एक और संकलन प्रो० तोषाखानी और मोतीलाल साकी के संपादन में तीन खण्डों में प्रकाशित हुआ। दोनों संकलनों में परिचयात्मक टिप्पणियां दी गयी हैं जिनमें कवि की जीवनी दी गयी है तथा कृतित्व का मूल्यांकन प्रस्तुत किया गया है। परमानंद ने कुछ स्तुतिपरक रचनाओं, गीतों तथा नैतिक उपदेश से पूर्ण और दार्शनिक कविताओं के अतिरिक्त तीन लघु काव्य-कृतियों—'राधा स्वयंवर', सुदाम चरित और 'शिव-लग्न' की रचना की।

उनके काव्य का विकासक्रम दर्शाने के उद्देश्य से मास्टर जिन्दा कौल ने उनकी कृतियों को पांच वर्गों में विभाजित किया है और प्रो० जियालाल कौल ने चार वर्गों में। प्रारम्भिक काव्य-रचना परमानंद ने 'गरीब' उपनाम से फारसी में की थी, पर शीघ्र ही भावाभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में कश्मीरी को अपनाया और अंत तक इसी भाषा में लिखते रहे। बीच-बीच में मौज में आकर पंजाबी, ब्रज और खड़ी बोली के अटपटे सम्मिश्रण, जिसे उन्होंने 'भाखा' की संज्ञा दी है, में भी उन्होंने कुछ गीत लिखे, जो काफी दिलचस्प हैं। दोनों ने प्रथम वर्ग में स्तुतियों-वन्दनाओं, भजनों तथा विनय पदों को रखा है और अन्तिम वर्ग में योग तथा वेदान्त दर्शन से सम्बन्धित और गूढ़-गाढ़ आध्यात्मिक अर्थों वाली स्फुट रचनाएं, जिन्हें कवि की भक्ति-साधना के चरम-बोध-बिन्दु से सम्बद्ध माना गया है। दोनों वर्गों की अनेक रचनाओं को शुद्ध धार्मिक काव्य की संज्ञा दी जा सकती है और साहित्यिक अभिव्यक्ति के रूप में उनका महत्त्व संदिग्ध है। गणेश, शिव आदि देवताओं को संबोधित प्रारम्भिक 'लीलाओं' में अज्ञान और पापों से मुक्ति के लिए प्रार्थना की विनीत भंगिमा दृष्टिगोचर होती है या फिर भवसागर तरने की विकलता। मास्टर जिन्दा कौल ने परमानंद की इस प्रकार की रचनाओं को "दीनक्रन्दन" कहा है। इनमें भी कई स्थलों पर कवि के जीवन की व्यथा-कथा है और कहीं-कहीं तत्कालीन इश्किया गज़ल आदि के प्रचलित मुहावरे में मनुष्य और ईश्वर के सम्बन्ध की प्रगाढ़ता को स्त्री और पुरुष के प्रणय-रूपक द्वारा व्यंजित किया गया है। ऐसी ही एक कविता में कवि बिछुड़े प्रेमी के अंगों पर केशर और चन्दन का लेप करने को आतुर मिलनाकुल प्रेमिका के मन से तादात्म्य अनुभव करता है। प्रारम्भकाल की रचनाओं में इस प्रकार की अभिव्यक्ति अधिक नहीं मिलती। उनमें कवि का अपनी रचनात्मक संभावनाओं के क्षितिज दिखाई दिये और वह आत्मविश्वास पूर्ण स्वर में कह उठा—

सुनो, स्वयं सरस्वती कह रही हैं, कान धरो!

सरस्वती कवि की इष्ट वाग्देवी ही नहीं, मां का भी नाम था।

कालक्रम की दृष्टि से परमानंद के काव्य को विभिन्न वर्गों के अंतर्गत विभा-

जित करना उसके मूल्यांकन लिए विशेष सहायक नहीं हो सकता क्योंकि स्पष्ट संकेत-सूत्रों के अभाव में इस बात का निर्णय करना असंभव है कि कवि ने कौन रचना कब लिखी। पर काव्य-मूल्यों की दृष्टि से परमानंद के कृतित्व के श्रेष्ठतम अंशों को सरलता से अधोरेखित किया जा सकता है। उनकी प्रतिभा का पूर्ण प्रतिफलन उनकी तीन प्रकथनात्मक काव्य-कृतियों : 'राधा-स्वयंवर', 'सुदामा-चरित' और 'शिवलग्न' के अतिरिक्त 'पेड़ और छाया', 'कर्मभूमिका' 'सहज व्यचार', तथा 'कासि यम बय़ चोन प्रेयम त़ लोलो' जैसी स्फुट कविताओं तथा प्रगीतात्मक रचनाओं में देखा जा सकता है।

राधा स्वयंवर : कृष्ण वृत्त के रसात्मक आयाम

'राधा स्वयंवर' और 'सुदामा चरित' दोनों कृष्णवृत्त से सम्बन्धित लघु काव्य-कृतियां हैं जिनमें कृष्ण की लीलाओं के अन्योक्ति और रूपक की पद्धति के द्वारा सामान्य से इतर गहरे अर्थ उद्घाटित किये गये हैं। कथानक में आये विभिन्न प्रसंगों की घटनात्मकता के साथ-साथ कवि सूक्ष्म सांकेतिकता द्वारा उन्हें आध्यात्मिक आयामों से युक्त करता हुआ चलता है। यह सांकेतिकता कहीं किसी शब्द अथवा पंक्ति या पंक्त्यांश में, कहीं अनेकार्थक शब्दों के प्रयोग में 'तो कहीं किसी उपमा अथवा रूपक में ध्वनित होकर और असीम को मूर्त अथवा प्रत्यक्ष के सीमित घेरे से बाहर निकालकर अर्थ के अमूर्त विस्तारों में ले जाती है। कृष्ण-वृत्त को सामान्यतया निर्बन्ध भोग से सम्बद्ध किया जाता है। इस वृत्त में पारि-वारिक और यौन-नैतिक बन्धन ढीले पड़ते हैं और सीमाओं का अतिक्रमण होता है। पारिवारिक ईकाई से तोड़कर सभी सम्बन्ध मुक्त और पूर्ण पुरुष कृष्ण से जोड़ लिये जाते हैं। नैतिक वर्जनाओं और सामाजिक विधि-निषेधों की अस्वी-कृति और व्यक्ति के रतिराग पक्ष पर अधिक बल दिया जाता है। कृष्ण लीला पुरुषोत्तम हैं, उनके रास-रमण और विहार केलि में भाग लेने का अर्थ अनिर्वच दिव्य आनन्द की उपलब्धि है जो व्यक्ति के जीवन का चरम उद्देश्य है। उनकी लीला की अन्यापदेशिक अध्यात्मिक व्याख्या के अंतर्गत उनका और गोपबालाओं का रति-सम्बन्ध भक्ति हो जाता है, चीर-हरण का कार्य माया के आवरण को हटाना, रासविलास दिव्य आनंद तथा मुरली ध्वनि अनहद नाद के पर्याय हो जाते हैं। परमानंद ने 'राधा-स्वयंवर' में राधा-माधव के लि में आत्मा और ईश्वर के प्रगाढ़ राग-सम्बन्धों का इसी प्रकार की व्याख्या के अनुरूप रूपक प्रस्तुत किया है।

कृति के प्रारम्भ में ही "चित्-विमर्श दीप्तिमान भगवान" के रूप में कृष्ण को सम्बोधित करते हुए कवि ने पात्रों और प्रसंगों के अन्यापदेशिक आयामों को उद्घाटित किया है—

गूकल हृदय म्योन तति च्योन गूर्यवान

च्यथ व्यमर्श दीप्तिमान भगवानो !
व्रच् म्यानि गूपिय च्यें य पत् लारान
बांसुरी नाद् वाद् मतानो
न'शरिथ ह्यस त् होश
म'शरिथ पर त् पान
च्यथ व्यमर्श दीप्तिमान भगवानो !'
—गोकुल मेरा हृदय है प्रभु !
जहां तुम्हारी गायें विचरती हैं
मेरे मन की वृत्तियां गोपियां हैं
जो तुम्हारे पीछे-पीछे पगलायी-सी दौड़ पड़ती है
बांसुरी के नाद से उन्मत्त हुई-सी
सुध-बुध बिसारे हुए
अपने और पराये का भेद भूलकर
ओ चित्त-विमर्श दीप्तिमान भगवान !

इस प्रकार कृष्ण और राधा तथा अन्य गोप-बालाओं का केलि-विलास मन के गोकुल में होने वाली नित्य-लीला के रूप में प्रक्षेपित है—एक ऐसे महाभाव के रूप में जिसमें कवि स्वयं विभोर हो अवगाहन करता है। राधा-माधव प्रीति का एक सहज मानवीय भाव-धरातल भी 'राधास्वयंवर में अपने सम्पूर्ण सौन्दर्य में उभरता है। गौडीय वैष्णव कवियों की भांति परमान्द ने राधा को अपनी इस काव्य-कृति की नायिका बनाया है और निम्बार्क मतावलम्बियों की भांति राधा और कृष्ण दोनों के युगल-रूप को अपनी आस्था का केन्द्र माना है। कृति की पंक्तियां इस बात का साक्ष्य प्रस्तुत करती प्रतीत होती हैं कि उत्तर भारत के सूर आदि वैष्णव कवियों की रचनाओं का परिचय घुमक्कड़ साधुओं के माध्यम से परमानंद को प्राप्त हुआ था। पर न तो वे किसी सम्प्रदाय से बंधे थे, न किसी विशिष्ट दार्शनिक मतवाद के अनुगामी।

'राधा स्वयंवर' में कृष्णा-वृत्त के जो रसात्मक आयाम उभरे हैं वे भागवत आदि आधार ग्रन्थों से प्रेरित होकर भी कवि की मौलिक सौन्दर्य-दृष्टि से निःसृत हैं। कृति का प्रारंभ राधा के जन्म और बालक्रीड़ाओं से होता है और परिणति कृष्ण-राधा के प्रणय और परिणय में। इस लघु कथाफलक पर घटनास्थितियां अन्यार्थक रंगच्छाओं की इन्द्रधनुषी आभा छिटकाती हुई चित्रित हैं। कृष्ण की लीलाओं से सम्बद्ध कुंजविहार, मुरलीवादन, रास-रमण, गोपिका चीर-हरण, रुक्मिणी मान-हरण, अक्रूर के साथ मथुरा गमन और कंसवध आदि परिचित प्रसंग कथावृत्त के अन्दर समाविष्ट है। कृष्ण द्वारा राधा का चीर-हरण जैसे कुछ मौलिक प्रसंगों की उद्भावना भी कवि ने की है जो अन्य कृष्ण काव्यों में नहीं

मिलते। पर कवि का आग्रह कथा-वर्णन से अधिक प्रपत्ति, समर्पण और अनुग्रह के भक्ति-दर्शन तथा व्यक्ति-चेतना के ईश्वरीय चेतना में विलय के अद्वैत बोध को व्यक्त करने वाली सांकेतिकता पर है।

आध्यात्मिक उल्लास

कृति में आद्यान्त एक अलौकिक परिवेश व्याप्त है और एक आध्यात्मिक उल्लास छाया है। एक सजग कलाकार की भांति परमानंद प्रायः सीधे सपाट वर्णन के के स्थान पर सूक्ष्म संकेत द्वारा अपनी बात कह देते हैं। बालिका राधा की जन्म-कुण्डली को देखकर नारद अवाक् रह जाते हैं, और यह अवाक् रह जाना जो कुछ कह जाता है वह "आद्याशक्ति" तथा "जग-जननी" जैसे शत सहस्र विशेषणों अथवा उसके पर्यायों की आवृत्ति से प्रकट नहीं हो सकता था। राधा के स्वकीया रूप को प्रक्षेपित करते हुए 'उज्ज्वल नीलमणि' के राधाप्रकरणम् की भांति 'राधा-स्वयंवर' में बालिका राधा के प्रति यशोदा का स्नेह दिखाया गया है। परमानंद की यशोदा उन्हें अपनी पुत्रवधू बनाने को अभिलषित है। गुजराती कवि भालण ने भी यशोदा के मुख से इसी प्रकार की आकांक्षा व्यक्त करायी है। परमानंद ने राधा और कृष्ण को बालपन से ही एक-दूसरे के प्रति आकर्षित और प्रीति में आबद्ध दिखाकर अनेक सुकुमार स्थितियों की सृष्टि की है। बालिका राधा प्रारम्भ में कृष्ण से कुछ दूर-दूर ही रहती हैं और लुक-छिपकर उनका वंशी-वादन सुनती है। यह वंशी ध्वनि उनके कानों से प्राणों में उतरती है और देह की सभी शिराएं एक अजानी व्याकुलता से झनझना उठती हैं। दोनों का मिलन होता है और अनुराग का अंकुर फूटता है और शीघ्र ही प्रगाढ़ प्रीति के छतनार बिरवे में विकसित होता है जिसकी छाया तले बालपन की क्रीड़ा देह-मन के सम्पूर्ण समर्पण में परिणत हो जाती है। बालमन के सरल स्नेह से वयःसन्धि के कच्चे स्वप्नों और यौवन के पदक्षेप पर सरस विलास केलि तक प्रेम की स्पष्ट-अस्पष्ट भावछायाओं का वर्णन परमानंद ने पूरी संवेदना से किया है। राधा और कृष्ण की बढ़ती हुई प्रीति को स्वीकृतिसूचक दृष्टि से देखते हुए वृषभानु का पुरोहित के हाथ विवाह प्रस्ताव भेजना, कृष्ण का "मोती के बीज बोकर" मोतियों की फसल को पुरोहित, पुरजनों और राधा के परिजनों को उपहारस्वरूप देना आदि कुछ नये प्रसंगों की सृष्टि से जहां कथा रस की दृष्टि से रोचक बन पड़ी है, वहां कृष्ण के ईश्वरत्व के ऐश्वर्य गुण के द्योतन के उद्देश्य से प्रेरित है। राधा और कृष्ण के विवाह के वर्णन में प्रकृति और पुरुष के चिरन्तन मिलन का विराट बिम्ब झलक उठा है—

लोकपाल वायु पथ बुहार रहे थे

स्वयं इन्द्र लिपाई करवाने में व्यस्त थे।
बसन्त अनेक रंगों के फूल बिछा रहा था
सूर्य-चन्द्रमा दीपावली किये हुए थे
बिजली बादलों का छत्र लिये खड़ी थी
आकाश के पाखी अपने पंखों से पंखा झल रहे थे
गन्धर्व गानरत थे,
सुन्दर अप्सराएं नृत्य-निरत।

मोहिनी प्रसंग

विवाह के पूर्व की कथा में कवि ने अपने शिष्य लक्ष्मण जू 'बुलबुल' द्वारा रचित 'मोहिनी प्रसंग' जोड़ दिया है जिसमें कृष्ण चूड़ियां बेचने वाली स्त्री का भेष बनाकर राधा से मिलने को आतुर दिखाये गये हैं। विवाह के बाद राधा और गोपबालाओं के साथ कुंज-कुंज रास-रमण करते हुए कृष्ण सहसा अदृश्य हो जाते हैं और राधा आकुल-व्याकुल उनके पदचिह्न देख-देखकर उन्हें ढूंढती-फिरती है। यह राधा के मन में कृष्णप्रिया होने के अहंकार को दूर करने की लीला थी। राधा-स्वयंवर का यह एक अत्यन्त भावपूर्ण प्रसंग है जो गीतगोविन्द की याद दिलाता है और प्रियपात्र की अनुपस्थिति से उत्पन्न आघात की मानसिक स्थिति को चित्रांकित करता हुआ प्रेमानुभूति की गहनता के स्तर उद्घाटित करता है।

प्रेम का रसात्मक दर्शन

भारतीय भाषाओं के कृष्ण काव्य में नैतिक मूल्यों का उल्लंघन और यौन-सम्बन्धों की मुक्तता और मधुचर्या का जो एन्द्रिक धरातल मिलता है, उसका परमानंद ने उदात्तीकरण किया है। राधा-माधव केलि को जैविक आकर्षण के रति-उद्दीपक रूप के स्थान पर हृदय-राग के रूप में ही व्यक्त किया गया है। दैहिक आकर्षण का सौन्दर्य कवि से छूटा नहीं, पर स्थूल मांसलता के स्थान पर देहकांति की लावण्यमयी तरलता उसकी पंक्तियों में झलमलायी है। प्रेम की मनोदशा के अंतर्गत पूर्वराग से लेकर उत्कंठा, मिलनोल्लास और विरह-विकलता तक राधा-मोहन के प्रायः हर भावस्थिति में चित्र उकेरे गये हैं। प्रेम का यह अंकन जहां सुन्दर है वहां संयत भी, दैहिक संस्कारों से उठकर भावात्मक स्तर के उत्कर्ष का स्पर्श करता हुआ। अन्त में राधा कृष्ण की बाहों में यों लीन होती दिखायी गयी हैं कि कृष्ण ही कृष्ण रह जाते हैं। इस प्रकार रति-राग को एक महाभाव का धरातल प्रदान करके परमानंद अहं के विसर्जन का एक रसात्मक दर्शन प्रस्तुत करते हैं। इस महाभाव में डूबने के अतीन्द्रिय सुख का अनुभव मानो स्वयं कवि को रास के उल्लास का वर्णन करते हुए होता है। वह नृत्य-निरत राधा

और गोपिकाओं के साथ मानसिक स्तर पर तादात्म्य स्थापित करता नज़र आता है—

मत्त हुई शत शत बालाएं
पीकर हाला प्यार की
कर में कर लेकर उर में ले
अभिलाषा अभिसार की
नाचीं सब कुछ भूल' याद रख
केवल मंडल रास का
धुला सभी अवसाद
नाद लो गूंज उठा उल्लास का
राधा-राधा-राधा कृष्ण जी !

रास को समरसता के रूप में परिभाषित करते समय कवि का शब्द-शब्द नृत्य-निरत प्रतीत होता है—

रास वही है जहां उमड़ता रस का पारावार है
रास वही तो है सम होता जहां मधुर और क्षार है
जहां कलुष मन के सब धुलता, खुलता बन्द किवाड़ है
प्रेमाकुल हृदयों से आती केवल एक पुकार है—
"राधा-राधा-राधा कृष्णजी !"

राधा की काव्य-काया का निर्माण कामशास्त्रीय स्थूल रंगों से न करके परमानन्द ने उन्हें प्रेम की भावमयी प्रतिमा बनाया है। परमानन्द की राधा सरल स्नेहमयी हैं, रीतिकालीन संदर्भ की "केलि कुपिता" या सुरत संगोपना नायिका नहीं। उनका प्रेम समर्पणाकुल है, केवल देना ही देना जानता है। 'राधा स्वयंवर' में उनका जो चरित्र-बिम्ब उभरता है, वह सहज ही चण्डीदास की राधा का स्मरण दिलाता है—

तोमारेई गरबे गरबिनी हय
रूपसी तोमार रूपे

उनकी देह-छवि के वर्णन में रति-उद्दीपक बिम्बों का प्रयोग न करके कवि ने उनके आंतरिक सौन्दर्य की स्निग्ध आभा का वर्णन किया है। जैसे सद्यः स्नाता राधा का यह रूप-बिम्ब —

राधा का तन गन्धमाता चन्दन है
उनके काले केश इस चन्दन विटप से
लिपटे भुजंग
पर केशव को उनके डंसने का भय नहीं

रूप और प्रेम की इस पुष्प-गन्धी भाव-प्रतिमा को कवि ने एक आध्यात्मिक आभामण्डल से भी युक्त किया है। इससे उसकी सहज नारी-छवि कहीं भी तिरोहित नहीं होती।

'राधा-स्वयंवर' में कृष्ण निर्बन्ध विलास और रति-राग से सम्बद्ध होने पर भी अन्य भारतीय भाषाओं के कृष्ण काव्य के रतिलम्पट नायक नहीं, धीर-शांत-दिव्य पुरुष हैं, अवतार हैं, हरि हैं। उनका सम्पूर्ण चरित् उनकी हर गतिविधि को लीला के संदर्भ में ही समझा जा सकता है। कृति में यद्यपि उनका वंशी-वादक, लोकरंजक, राधा और गोपीजनवल्लभ रूप ही अधिक प्रक्षेपित हुआ है, पर साथ ही उनके अतिमानवीय, असुर-संहारक और भू-रक्षक अवतारी बिम्ब की भी प्रतिष्ठा हुई है। वे गोचारण संस्कृति के प्रतीक-पुरुष के रूप में भी कथा-मंच पर अवतरित होते हैं। राधा और गोपियों के साथ विलास केलि में रत नायक गोप बालाओं के संग क्रीड़ारत प्रिय सखा और आततायी कंस का वध करके पाप-भार से भू का उद्धार करने वाले भक्तजन-रंजक अवतार—उनके लीला पुरुषोत्तम व्यक्तित्व के अनेक दिक् कृति में उद्भासित हैं। सहज मानवीय धरातल पर राधा के प्रति उनका प्रणय-राग काम-विकलता अथवा यौनाकर्षण से अधिक भावात्मक स्तर पर उद्घाटित हुआ है। यह प्रेम प्रणयी के सर्वस्व को, अहंभाव तक को लेकर मिलन के चरम क्षण में परिणति प्राप्त करता है। भक्ति की शब्दा-वली में यह अभेद की, अद्वैत की स्थिति है।

गीत : उच्च श्रावणिक मूल्य

'राधा स्वयंवर' में कथा प्रगीत शैली में वर्णित है। उसमें आद्यान्त एक संगीतात्मक लय है जिस पर कथास्थितियां उभरती रहती हैं। 'वचन' गीत शैली के छन्द का प्रयोग करके कवि ने प्रथम पंक्ति की टेक हर तीन पंक्तियों के बाद दी है। अनेक स्थलों पर गीतों के समावेश ने कृति के श्रावणिक मूल्यों को समृद्ध किया है। गीत कथा के अंश के रूप में ही अनुस्यूत नहीं हैं। कवि किसी प्रसंग का वर्णन करते हुए भावपूर्ण स्थलों पर तरंग में आकर गीत मुखर हो उठता है। अनेक गीतों, जैसे रास-सम्बन्धी "आओ मंडल बनायें और परियों के समान उत्मुक्त नाचे" वाले गीत को गाते-गाते परमानंद इतने विभोर हो जाया करते थे कि स्वयं नाचना शुरू करते थे। इन गीतों को वचन शैली में रचित श्रेष्ठतम कश्मीरी गीतों में रखा जा सकता है। कई गीत, जैसा पहले कहा जा चुका है, ब्रज, खड़ी बोली, पंजाबी और कश्मीरी की मिश्रित अटपटी भाषा में रचे गये हैं। व्याकरणगत शुद्धता को एक ओर रखा जाये तो इनमें से अनेक गीत उनमें व्यक्त भाव तथा विचार की दृष्टि से ध्यान आकर्षित करते हैं। इन गीतों में कहीं कृष्ण के "सुदर्शन" रूप को देखने के लिए "मन का दीपक" जलाने के लिए प्रेरित किया गया है, तो कहीं "खेल में फैल

पड़ने वाले" नन्दलाल की रास-लीला की अन्यार्थकता की ओर संकेत। कहीं सभी सम्बन्धों को कृष्णमय करने का आग्रह है तो कहीं कृष्ण के विरह में अधीर राधा और गोपबालाओं की पुकार। कहीं-कहीं भाव-बिम्बों के स्थान पर जीवन और जगत के रहस्यों के दार्शनिक सूत्र भी उभरते हैं, जैसे—

क्या है जग कोई जानता नहीं
ज्ञान बिना पहचानता नहीं

अथवा

जल में छाया पाया ब्रख ने
उस पर पंछी बैठ न सकने
मूरख चाहता यह घर रखने

एक गीत पर तो सूर के एक पद की (रखो न्यारी हरि आपनि गैयां) की छाया स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है—

गैयां कडो प्रभु न्यारी अरे
असी क्यूं राखूं बछ त्वाड़े अरे
ना नंद मेहर के चाकर हम
ना तुमसे कुछ प्यारे अरे!

गीतों के इस श्रवण-मधुर सरगम में एक भक्ति-विह्वल मन की भावाकुलता मुखर हुई है।

सुदाम चरित

'सुदाम चरित' को मास्टर ज़िन्दाकौल ने अन्तर्साक्ष्य के आधार पर 'राधा स्वयंवर' से पहले की कृति माना है। प्रो० जियालाल कौल के अनुसार उसे अधिक "परिपक्व, प्रौढ और वस्तुपरक" रचना होने के कारण वह 'राधास्वयंवर' के बाद की कृति ही हो सकती है। प्रो० कौल को 'राधास्वयंवर' में "यौवन का उल्लास" नज़र आता है, जो उनके विचार में इस बात का प्रमाण है कि वह कवि के यौवनकाल में ही रची गयी थी। लेकिन इसका कोई निर्णायक प्रमाण हमारे पास उपलब्ध नहीं, और प्रो० कौल ने शैली विज्ञान का आधार लेकर जो अनुमान लगया है वह बहुत दूर तक नहीं ले जाता' योंकि दोनों कृत्तियां में शैली गत समानता के सूत्र अनेक हैं। "राधास्वयंवर का प्रारम्भ" चित्त-विमर्श-दीप्तिमान भगवान के प्रति वन्दन-नमन से होता है, तो 'सुदाम चरित' का प्रारम्भ देवकी-नन्दन के जयगान से, जिनके जन्म से अन्धकार में प्रकाश हुआ। दोनों में प्रारम्भिक पंक्ति टेक की पंक्ति है, जिसकी तीन-तीन पंक्तियों के बाद आवृत्ति होती है। जहां तक "यौवन के उल्लास" का सम्बन्ध है, 'राधा स्वयंवर' के विषय में ही वह रस-बीज छिपा है, जो इस उल्लास के रूप में उन्मेषित हुआ है। प्रो० कौल 'सुदाम

चरित' में गीतों की संख्या बहुत कम—केवल दो—होने को भी उसकी अपेक्षाकृत अधिक संश्लिष्टता का कारण मानते हैं, पर इसका कारण वर्ण्यविषयगत हो सकता है। इस दृष्टि से 'सुदामचरित' एक भिन्न धरातल प्रस्तुत करने वाली काव्य-कृति है। उसकी संरचनात्मक संश्लिष्टता विस्तार की अधिक संभावना न होने से सम्बन्धित मानी जा सकती है। सुदामा और कृष्ण की मैत्री के पुराण-प्रसिद्ध प्रसंग को लेकर बुने गये उसके कथा पर कल्पना के रंगीन तार जोड़ने की गुंजाइश कैसे हो सकती थी ?

एक महत् भाव, एक दार्शनिक विचार-सूत्र 'राधा-स्वयंवर' की ही तरह 'सुदाम-चरित' के केन्द्र में भी स्थित है और सम्पूर्ण काव्य में रक्तवाहिनी नाड़ियों की भांति अपनी ऊर्जा संचारित करता है। ईश्वर और मनुष्य, जीवात्मा और परमात्मा के पारस्परिक नैकट्य की एक मैत्री-सम्बन्ध के रूप में परिकल्पना परमानन्द से तीन सौ वर्ष पूर्व सूरदास ने भी की थी और बीसवीं शती के जर्मन कवि रिल्के ने भी। परमानन्द के अनुसार दोनों में पार्थक्य अथवा दूरी की प्रतीति का कारण जीव का अहंभाव है। पार्थक्य का बोध पृथक् इच्छा का परिणाम है, अन्यथा जीव का परमात्मा से अभेद है। बचपन में सुदामा का कृष्ण से छिपाकर चावल खा लेने को जीव के पृथक् अहंबोध के अर्थ में लिया जा सकता है, जिसके कारण उसे घोर यातना झेलनी पड़ती है। कथा के संदर्भ में घोर दरिद्रता को इसी अर्थ-प्रक्षेप के प्रकाश में व्याख्यायित किया जा सकता है, लेकिन जब 'सद्बुद्धि' (सुशीला) की प्रेरणा से 'शुभेच्छा' का उन्मेष होता है तो जीव (सुदामा) पुनः ईश्वर की ओर अपनी यात्रा आरम्भ करता है और सभी दुखों का अवसान हो जाता है। रूपक और अन्योक्ति परमानंद की प्रिय तकनीक है। 'सुदाम चरित' में इस तकनीक के प्रयोग द्वारा कवि ने कृष्ण-सुदामा मैत्री प्रसंग की आत्म-बोध का आध्यामिक धरातल प्रदान किया है। सतह से गहरे अर्थों की ओर ले जाने का परमानंद का यह प्रयत्न उनके काव्य की एक बड़ी विशिष्टता है। 'सुदाम चरित' को यह बात एक महत्त्वपूर्ण काव्य कृति बनाती है। इसमें कृष्ण और सुदामा अपने सहज व्यक्तित्वों को बनाये रखते हुए भी प्रतीक पात्रों के रूप में कथा को गति और अर्थ प्रदान करते हैं।

कृष्ण का बाल चरित्

'सुदामाचरित' का प्रारम्भ सुदामा की व्यथा-कथा से नहीं कृष्ण के बाल चरित से होता है, जिसके वर्णन में परमानंद कई स्थलों पर सूरदास की-सी संवेदन-शीलता दर्शाते हैं। बाल-क्रीड़ाओं—ग्वालिनों के मटके फोड़ने और दही और मक्खन चुराने के उनके नटखटपन—के वर्णन से इस कृति के प्रारम्भिक पृष्ठ सरस हैं। हर गोपी बालक कृष्ण को देखने के लिए, जैसे-तैसे उनसे अपने जीवन के कुछ

क्षणों को जोड़ने के लिए यशोदा के पास उपालम्भ ले-लेकर पहुंचती है—

मेरी मटकियां फोड़ दी है कृष्ण ने —
मेरी भी, मेरी भी, मेरी भी !

और उपालम्भों की बौछार से तंग आकर यशोदा कृष्ण को रस्सी से बांधने चलती है—उन्हें "जिनके रूप को कोई मूर्तिकार आकार में नहीं बांध सकता, ज्ञान और ध्यान जिन्हें सीमाओं में बद्ध नहीं कर सकते।"

सुदामा : जीव के आत्म-समर्पण का दर्शन

सुदामा और उनके दारिद्रय की कथा कृष्ण की इन्हीं बाल लीलाओं के प्रसंग में आती और उभरती हैं। वे कवि के शब्दों में कृष्ण के सखा ही नहीं स्वयं उनके बालभाव थे—

सुदाम जीव औस यार भगवानस
बालभाव क्या तॖ ल्वकचार भगवानस।

—सुदामा (जीव) कृष्ण के मित्र थे। मित्र क्या उनसे अभिन्न स्वयं बालभाव उनका।

पर सुदामा में अहंभाव जागा। द्वैत की भावना उभरी (छिपकर चावल खाने में इसी ओर संकेत है) तो दोनों अभिन्न मन-प्राण मित्र अलग हो गये और सुदामा को दरिद्रता का कष्टमय जीवन बिताना पड़ा। यहां सुदामा की गरीबी का चित्र प्रस्तुत करते हुए भी परमानंद प्रकाशवृत्त उसके अहंभाव पर केन्द्रित करते हैं। अहंभाव का विसर्जन ही भव-ताप से मुक्ति का एक मात्र उपाय है। पत्नी सुशीला की प्रेरणा से वे जब मुक्ति की द्वारका की ओर चल पड़ते हैं तो सम्पूर्ण परिदृश्य ही बदल जाता है। सुदामा से कहीं अधिक कृष्ण उनसे मिलने को व्यग्र दिखाई देते हैं। सुदामा के द्वारका पहुंचने के पूर्व ही कृष्ण स्नेह-अधीर होकर उनके स्वागत को महल के बाहर आ जाते हैं। ईश्वर और जीवात्मा का यह मैत्री भाव, यह प्रेम पारस्परिक है उभय-पक्षीय है। जीव (सुदामा) ईश्वर के इस अनुग्रह के आगे पूर्णतया समर्पित हो जाता है और फिर अभेद के अनिर्वच आनंद के सामने दुःखों का यह असार संसार तिरोहित हो जाता है। सुदामा की टूटी हुई पर्णकुटी मणि-जटितम हल में रूपान्तरित हो जाती है और दरिद्रता की समस्त पीड़ा पूर्णकामत्व के महत् सुख में बदल जाती है—

तोरॖ द्राव भगवान सुदर्शनय
योरॖ सुदाम जीव गोस अर्पणॖ
पानॖ वॖञ वुछने लजाय स्वप्नॖय

[सुदर्शन भगवान इस ओर से मिलने चले—तो उस ओर से आये सुदामा (जीव) ने अपने आपको समर्पित कर दिया। एक-दूसरे को वे यूं निहारते रहे मानो कोई स्वप्न देख रहे हों।]

अब की बार कृष्ण सुदामा की पहली भूल के परिष्कार के लिए तन्दुलों की पोटली छीन लेते हैं। दोनों में अभेद की स्थिति स्थापित हो जाती है। कृति में आत्मा के विराट से मिलन का बिम्ब द्वारका जाते हुए सुदामा की स्थिति में झलक उठा है —

अविरल अश्रुधार बहाते हुए
वह मानो समुद्र की थाह लेने को निकल चला
जिसका कोई नाम नहीं, रूप नहीं,
कोई दिशा नहीं
उसका संतरण छोटी-सी नाव से करने को
एक महाभाव उस नाव का मांझी बना
और उसे किनारा दिख गया

परमानंद के अनुसार यह किनारा व्यक्ति का चरम् गन्तव्य है—ईश्वरत्व के साथ तादात्म्य का बोध-बिन्दु !

ऐसी बात नहीं कि इस सूक्ष्म सांकेतिकता और रूपक-रचना के कारण परमानंद से वे सूत्र बिल्कुल छूट गये हैं जो कथा को सहज मानवीय भावभूमि की ओर मोड़ते हों। परमानंद की यही तो सफलता है कि यमक और श्लेष की शब्द-क्रीड़ा द्वारा, अन्यार्थक शब्दों के कलापूर्ण प्रयोग द्वारा वे अर्थ के दो समानान्तर लोकों की सृष्टि करते हुए चलते हैं। थोड़े से शब्दों में, संकेतों में, प्रभाव-चित्रों में, बहुत कुछ ध्वनित करने की उनकी क्षमता उनकी सृजनात्मकता का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है। यही कारण है कि कथा का सहज-प्रवाह रूपक के भार के नीचे दब नहीं जाता। यह प्रवाह आदि से अन्त तक निर्बाध रूप से अपनी गति का आभास देता है। अतः हम जहां कृष्ण-सुदामा पुर्नमिलन में जीव और ब्रह्म के अभेद का विचारसूत्र उद्‌घाटित पाते हैं, वहां एक सामान्य मनुष्य के रूप में सुदामा के हृदय को अन्तर्द्वन्द्व, संदेह, दुविधा, आशंका, उल्लास और आश्चर्य आदि स्थितियों में धड़कता हुआ भी सुन सकते हैं।

शिव लग्न

'शिव लग्न' परमानंद की तीसरी और अंतिम प्रबन्धात्मक काव्य-कृति है। इसमें हिमालय की कन्या पार्वती के रूप में सती के पुनर्जन्म और उनके शिव से प्रणय और परिणय की कथा वर्णित हैं। अन्योक्ति यहां भी है और शिव-पार्वती के विवाह को 'स्व से स्व के मिलन' के रूप में व्याख्यायित करके कवि ने एक दार्शनिक अर्थ से युक्त किया है। यहां वह 'राधा स्वयंवर' और 'सुदाम चरित' के स्तर के काव्य-शिल्पी के रूप में सामने नहीं आता, फिर भी अनेक स्थल ऐसे हैं जहां तत्त्व-बोध सौन्दर्य-चेतना के धरातल पर स्थित दिखायी देता है। ये

स्थल वर्णन की उस इतिवृत्तात्मक सपाटता को फाड़ते हुए नज़र आते हैं जिसे ये लघु कथा-काव्य ओढ़े हुए हैं। शिव के धाम कैलाश का सौन्दर्य-बिम्ब जिन पंक्तियों में झिलमिलाता है, उन्हें उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत किया जा सकता है—

शिशिर का पुंजीभूत हिम
जमकर पारदर्शी कांच बन गया है
ईश्वर के विराट रूप की समता कहा है ?
हिमशिलाएं स्फटिक के महल हैं
जिनकी नींव में मोती बिछे हैं
जिन पर मोहित है वसन्त।

शिव की बारात के वर्णन में लोकरस का समावेश हुआ है, जो 'शिव लग्न' में एक आकर्षक तत्त्व के रूप में ध्यान आकर्षित करता है। शिव से पार्वती के विवाह में बिचौलिया बना पुरोहित और बूढ़े दूल्हा के रूप में शिव हास्य का आलम्बन बने हैं। अपने विचित्र बारातियों को साथ लेकर आये श्वेत श्मश्रुधारी शिव पर स्त्रियां व्यंग्य करने से नहीं चूकतीं—

अभी कुछ और दिन प्रतीक्षा कर लेते
अभी तो मसें भी नहीं भीगीं।

लेकिन यहां-वहां कुछ एक कवित्वपूर्ण स्थलों को छोड़कर 'शिव लग्न' एक सामान्य कृति है।

'कर्म भूमिका'

परमानंद की स्फुट कविताओं में 'कर्म भूमिका', 'वृक्ष और छाया' 'सहज विचार' और 'अमरनाथ यात्रा' विशेष रूप से उल्लेखनीय मानी गई हैं। इनमें से प्रथम दो में नैतिक-धार्मिक उपदेश का स्वर प्रमुख है। 'कर्म भूमिका' एक लम्बी कविता है जिसमें कृषिकर्म की शब्दावली में उच्चतर आध्यात्मिक मूल्यों के अनुरूप जीने की प्रेरणा दी गयी है। कृषक जीवन पर आधारित अन्योक्तिपूर्ण पद शेख नूरुद्दीन ने भी लिखे हैं, पर अब्दुल अहद आज़ाद का यह कथन कि परमानंद ने इन पदों से प्रभावित होकर यह कविता लिखी है, सही नहीं।'[२] दोनों के कथ्य और शैली में बहुत अधिक अन्तर है, और केवल कृषिक्रिया से संबन्धित शब्दावली और उससे ग्रहीत उपमाओं और प्रतीकों के प्रयोग के कारण 'कर्म भूमिका' में अनुकरण या प्रभाव को खोज निकालना भ्रामक है। अपनी कविता में परमानंद इस भाव सूत्र को प्रस्तुत करते हैं कि कर्म की भूमि को धर्म से सम्पुष्ट करके संतोष का बीज बोया जाये तो फल आनंद का प्राप्त होता है। खेती के परिचित कर्मों और दृश्यों को अन्योक्ति में पिरोता हुआ कवि साधना की प्रक्रियाओं की ओर संकेत करता हुआ चलता है। अन्योक्ति के अतिरिक्त इस

कविता का महत्त्व इस दृष्टि से भी है कि इसमें सामंती व्यवस्था द्वारा शोषित कश्मीरी किसान की तत्कालीन स्थिति का भी परिचय मिलता है। उस युग के काश्तकारों, भूमिहीन मज़दूरों और ज़मींदारों के सम्बन्धों का यथार्थ चित्र इस कविता में उभरता है, यद्यपि इस पर दृष्टि केन्द्रित करना कवि का उद्देश्य नहीं था। एक कृषक-कवि के रूप में स्वयं परमानंद भी इसमें उपस्थित हैं—आध्यात्मिक अर्थच्छायाओं के बावजूद।

वृक्ष और छाया

'वृक्ष और छाया' शीर्षक कविता के केन्द्र में वेदान्त का यह विचार-सूत्र है कि व्यक्ति चेतना और ईश्वरीय चेतना में अभेद होते हुए व्यक्ति के अहंभाव के कारण भेद की प्रतीति होती है। अभेद का अभिज्ञान होने पर अहंभाव तिरोहित हो जाता है।

इस सूत्र की ओर संकेत कवि वृक्ष और छाया के बीच हुए विवाद के रूपक द्वारा करता है। छाया की शिकायत है कि वृक्ष उसके और सूरज के बीच में आता है जिससे वह सूर्य को देख नहीं पाती। वृक्ष का कहना है कि छाया का अस्तित्व उसी के कारण है। दोनों विवाद के निर्णय के लिए सूर्य के पास जाते हैं कि हवा का झोंका आता है, शाखाएं हिल जाती हैं और उनके बीच से सूर्य चमक उठता है और छाया अपने अस्तित्व के मिटने के भय से कांप जाती है। उसे बोध होता है कि वृक्ष के कारण ही उसका अस्तित्व है। दृष्टान्त शैली में लिखी गयी इस कविता के अन्त में कवि वृक्ष, छाया और सूर्य के प्रतीकार्थों को स्पष्ट करता है—सूर्य विराट सत्य है, आकाररहित होकर भी उस सबके पोषण के लिए भासमान जो आकार ग्रहण किये हुए हैं। वृक्ष इस निर्गुण-निराकार सत्ता का त्रिगुणात्मक रूप है और छाया जीव अर्थात् व्यक्ति-चेतना है।

अमरनाथ यात्रा

'अमरनाथ यात्रा' को 'मास्टरजी' और प्रो० जियालाल कौल दोनों परमानंद के काव्य की चरम उपलब्धि मानते हैं। लेकिन साधना के स्तर पर इसका जो भी महत्त्व हो इसमें बाहरी छन्दोबद्ध आकार को छोड़कर ऐसी कोई विशेषता नहीं कि इसे काव्य माना जाए। अमरनाथ की तीर्थ यात्रा के विभिन्न पड़ावों के वर्णन को इस कविता में मनोलोक की उर्ध्व-यात्रा की विभिन्न अवस्थाओं के रूप में व्याख्यायित किया गया है।

श्लेष के प्रयोग द्वारा वास्तविक भौगोलिक तीर्थ यात्रा की मंज़िलों के साथ-साथ मूलाधार से लेकर सहस्रार तक की योग यात्रा की ओर संकेत मिलता है।

सहज विचार

आध्यात्मिक-धार्मिक विषयभूमि परमानन्द की जिन अन्य कविताओं में उभरी हैं उनमें 'सहज विचार' की विशेष चर्चा हुई है। इसमें कवि का आध्यात्म-बोध असाधारण ऊंचाइयों का स्पर्श करता प्रतीत होता है तथा सिद्धान्तों नियमों, तीर्थयात्रा, जप-तप तथा धार्मिक बाह्याचारों को पीछे छोड़ता हुआ वह चरम् सत्ता से पहचान स्थापित करने की अवस्था को अधोरेखित करता है। आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि यहां सूत्रात्मक भाषा के माध्यम से प्रस्तुत हुई है—

> गिन्दुनाह छु ज़िन्द मरून
> पान रो'स्त पान स्वरून
> सहज़ व्यचार करुन
> सहज़स प्राव पछे
> शम त दम गत गछे
> रें ह हें यि हन्नि-हने
> पोञ लगि तील कने
> सहज़ व्यचार करु न
> यें ति सोरुय छु श्रमान
> तति मा पान व्यपान
> तति भगवान छु दपान
> सहज़ व्यचार करुन

> —आत्म-बोध जीते जी ही मरने का खेल है
> स्व की चेतना के बिना ही स्वरूप का
> ध्यान करने का खेल
> सहज विचार करना ही होगा
> सहज में आस्था हो तो
> व्यर्थ है शम और दम
> तब तो भीतर शिरा-शिरा में आग सुलगेगी
> पानी तेल का काम देगा
> जहां सभी कुछ विलीन हो जाता है
> वहां देह की चेतना के लिए स्थान कहां ?
> वहां तो बस सहज विचार करना होगा।

अन्य भक्तिपरक गीत

मनुष्य जीवन की त्रासद स्थिति से मुक्ति के लिए परमानन्द ने भक्ति को एक विकल्प के रूप में प्रस्तुत किया है—वरण की स्वतंत्रता के रूप में। मनुष्य को

इस बात की पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त है कि "भक्ति की मुक्तामाल" को अपने गले में डाले न डाले—

भक्ति की मुक्तामाल तुम्हारे हाथ लगी है
और तुम्हें यह अधिकार है
कि इसे अपने गले में डालो या नहीं
कोई बरजने वाला नहीं, कोई विवश करने वाला नहीं
तुम स्वतंत्र हो, खुद मुख्तार हो।

परमानन्द का भक्ति दर्शन राग-तत्त्व से निःसृत निर्बन्ध उल्लास का दर्शन है। उसके अनुसार ईश्वर का प्रेम अन्तर में उबल पड़ने वाला वह स्रोत है जो अंग अंग को, शिरा-शिरा को अपनी तरल-शीतल लहरों से सरस कर देता है। भीतर ही भीतर जब इसका जल छलछला उठता है तो सभी कुछ—बोध तक— उसमें डूब जाता है। मन के अवरोधों को हटा दो और प्रेम की फुहार को भीतर आने दो ताकि चेतना पूरी की पूरी भींग जाए—परमानन्द की गीतात्मक रचनाओं में यह आवाहन गूंजता प्रतीत होता है। शब्दों की लय-ताल पर, बिम्बों और रूपकों के मुग्धकारी विधान द्वारा भक्ति का स्वर एक आंतरिक उल्लास के रूप में उसकी कृतियों में एक सुन्दर संगीत की सृष्टि करता है। परमानन्द की संगीत चेतना आंतरिक तुक, अनुप्रास, स्वर संगति तथा वर्ण-मैत्री आदि में व्यक्त होती हुई झंकृति का एक सुखद अनुभव दे जाती है।

अलंकरण

कवि की अलंकरण की तकनीक में यमक और श्लेष—द्वयार्थक और अनेकार्थक शब्दों द्वारा उत्पन्न प्रभावों—का विशेष स्थान है। अति की सीमा तक उसने इस तकनीक का प्रयोग किया है, पर मात्र चमत्कार सृष्टि के लिए नहीं। अनुप्रास और अनेकार्थक शब्द उसके काव्य में एक सहज प्रवृत्ति के अन्तर्गत स्वतः आ जाते हैं। द्वयार्थक शब्दों का प्रयोग रूपक अथवा अन्योक्ति की सृष्टि के लिए एक रचनात्मक आवश्यकता थी। सामान्य शाब्दिक अर्थ के साथ-साथ एक गहरे और व्यापक अर्थ की ओर निरन्तर संकेत द्वारा वह पाठक को एक साथ दो धरातलों पर ले जाता है। अर्थ को दो स्तरों पर ध्वनित करने की यह प्रवृत्ति परमानन्द की कविता की एक विशेषता है। इस संदर्भ में मास्टर ज़िन्दा कौल ने लिखा है : "श्लेष अथवा शब्दों की क्रीड़ा अब पसन्द नहीं की जाती, तुकों की रुनझुन और भी कम। उनकी पुनरावृत्ति बहुत अधिक हो तो इसे और भी अधिक कुरुचिपूर्ण माना जाता है। लेकिन जब हम यह सोचते हैं कि परमानंद कश्मीर जैसे एक अलग-थलग प्रदेश के एक गांव में पैदा हुए थे और उन्हें केवल फारसी की थोड़ी-बहुत शिक्षा प्राप्त हुई थी (उसी से वे अपने आदर्श ग्रहण कर सकते थे) तो

आश्चर्य यह नहीं कि उनके यहां हमें हिन्दी अथवा संस्कृत कवियों की-सी उज्ज्वल उक्तियां सटीक उपमाएं, उत्तम रूपक अथवा सजीव वर्णन उपलब्ध नहीं होते, अपितु यह कि ऐसी सामान्य शिक्षा-प्राप्त एक गंवई पटवारी, दर्शन की ऐसी ऊंचाइयों तक कैसे उठ सका—प्रेम की ऐसी गहराइयों में कैसे उतर सका।[१३]

'लीला काव्य' के श्लाका पुरुष

परमानंद के समग्र कृतित्व पर दृष्टिपात करने से वे 'लीलाकाव्य' के श्लाका-पुरुष के रूप में उभरते हैं। पौराणिक मिथक-पटल अथवा लोक-जीवन या परिचित सामाजिक या प्राकृतिक परिवेश से ग्रहीत प्रतीकों द्वारा किसी निगूढ़ दार्शनिक भाव की गहराइयों तक उतरने का उपक्रम उन्हें धार्मिक संदर्भ का काव्य लिखने वाले समवर्ती अथवा पूर्ववर्ती कवियों की तुलना में अद्वितीय स्थान प्रदान करता है। गुल और 'बुलबुल जैसे घिसे, रूढ़ और निष्प्राण, किन्तु उनके समय के मसनवीकारों और गज़लगो कवियों की रचनाओं में अत्यधिक प्रचलित प्रतीकों की यंत्रवत् आवृत्ति के स्थान पर उन्होंने अपने प्रतीक-विधान और बिम्ब योजना द्वारा ताज़गी और अपेक्षाकृत नयापन लाकर मौलिक सृजन-प्रतिभा का परिचय दिया। गहन आध्यात्मिक अनुभव को सामान्य जनों तक सहज सम्प्रेषित करने के उद्देश्य से उन्होंने जिन रूपकों और प्रतीकों की रचनात्मक संभावनाओं को परखा और प्रयोग किया, वे सामूहिक लोक-चिति के लिए सहज परिचित थे। कश्मीरी काव्य को उनकी देन को प्रो० श्रीकण्ठ तोषखानी के शब्दों में यों निष्कर्षित किया जा सकता है : "परमानन्द ने पुराने रंग की शायरी में एक क्रान्ति पैदा की। संबोधनात्मक कविता को भक्ति-काव्य की सूरत दी। कथाओं और घटना प्रसंगों पर आधारित पद्यों को प्रकाथनात्मक प्रबन्ध-काव्य के रूप में प्रस्तुत किया। नैतिक विचारों को उपदेशात्मकता के घेरे से निकाला और यथार्थ की ओर ध्यान आकर्षित करके कर्मरत होने की प्रेरणा दीं।[१४] अब्दुल अहद आज़ाद ने भी 'ख्यालात की बुलन्दी और मानी की गहराई" को उनके काव्य की एक बड़ी विशेषता माना है।[१५]

भाषा

धार्मिक काव्य से सम्बद्ध किए जाने के कारण परमानन्द के कृतित्व की रचनात्मक विशेषताओं का समुचित मूल्यांकन नहीं हुआ है। उसे या तो श्रद्धा-विभोर दृष्टि से देखा गया है अथवा उपेक्षा की। भाषा-शैली को भी इस संदर्भ में एक भेदक दीवार के रूप में प्रस्तुत किया जाता रहा है। यह धारणा प्रायः बद्धमूल हो गयी है कि उनकी भाषा हिन्दुई कश्मीरी अथवा संस्कृतनिष्ठ कश्मीरी है। और तो और मास्टर ज़िन्दा कौल तक, जिन्होंने सर्वप्रथम परमानन्द की रचनाएं संपादित

कों, और उनके विषय में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण परिचयात्मक टिप्पणी लिखी, का भी उनकी भाषा के सम्बन्ध में यही मत है।[15] आज़ाद भी, जिन्होंने अपनी कश्मीरी ज़बान और शायरी' में परमानन्द के काव्य की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समीक्षा की है उनके "लबो लहजा" पर "आलिमाना संस्कृत जबान के गलबे" की बात करते हैं और "हिन्दी और संस्कृत अल्फाज़ की बहुतात और गैर-ज़वानों की ख्वामख्वाह दामनगीरी की शिकायत करते हुए उनकी भाषा को "रेख्ता" की संज्ञा देते हैं।[16] पर अन्यत्र वे ये स्वीकारते भी हैं कि कवि "जान-बूझकर" रेख्ता नहीं लिखता। उसके "गहरे और निराले जज़्बात" के लिए 'यही ज़बान मुनासिब है।" और यह भी कि उसकी रेख्ता बनावट भी रेख्ता नहीं, बल्कि उनके "दिल की गुफ्तगू है।"[17] परमानन्द द्वारा प्रयुक्त भाषा का औचित्य ठहराते हुए आज़ाद आगे चलकर लिखते हैं "परमानन्द एक दार्शनिक तथा योगी थे। दर्शन की गुत्थियां सुलझाने में उनकी ज़रूरतें या तो हिन्दी और संस्कृत से पूरी हो सकती थीं या अरबी और फारसी के प्रयोग से। पर चूंकि उनका विषय हिन्दू दर्शन था, अतः उन्होंने फारसी-अरबी शब्दों के स्थान पर हिन्दी-संस्कृत शब्दों का प्रयोग किया।" पर अपने इन उदार विचारों के बावजूद आज़ाद का निष्कर्ष यही है कि 'यदि परमानंद कोशिश करते तो अपने अनुभव और विचारों को शुद्ध कश्मीरी भाषा में हमारे ज़हन तक पहुंचाने में भी सफल हो सकते थे।"

स्थिति यह है कि परमानन्द की भाषा में कश्मीरी का मौलिक और जीवन्त मुहावरा सांस लेता है। योग, भक्ति तथा दर्शन सम्बन्धी शब्दावली उनकी कविता में अवश्य व्यवहृत हुई है और ऐसे स्थलों पर उसकी संस्कृतनिष्ठ भंगिमा से इनकार नहीं किया जा सकता, किन्तु समग्र रूप से लोक जीवन की मिट्टी में गहरी जड़ें होने के कारण परमानंद की भाषा एक विशेष रस लिए हुए हैं। संस्कृत-मूल के जिन शब्दों का उन्होंने प्रयोग किया है, उनका न सिर्फ विषय और संदर्भ से अंतरंग सम्बन्ध है, बल्कि वे कश्मीरी की मौलिक शब्द सम्पदा के भी अंग हैं और सामान्य बोल-चाल की भाषा से ग्रहीत हैं। इस बात को स्पष्ट करते हुए प्रो० जियालाल कौल लिखते हैं, "परमानन्द संस्कृत-निष्ठ कश्मीरी को ढूंढ़ने नहीं गये, वह सामान्य बोलचाल में एक अभिन्न अंग के रूप में पहले ही विद्यमान थी। उन्होंने कश्मीरी को संस्कृतनिष्ठ नहीं बनाया। चाहने पर भी वे ऐसा नहीं कर सकते थे, केवल इस एक कारण से कि वे बहुत थोड़ी—नहीं के बराबर—संस्कृत जानते थे। मकतबे में मुल्ला के पास जो भाषा उन्होंने सीखी थी वह तो फारसी थी। इसीलिए वे उन संस्कृत तत्सम् अथवा संस्कृत मूल के शब्दों का प्रयोग करते हैं जो सामान्य बोलचाल की भाषा में व्यवहृत होते थे—अर्थात् वैसे नहीं जैसे कोई पंडित उनका व्यवहार करता, अपितु उस रूप में जो स्थानीय भाषा की विशिष्ट ध्वनियों और वाक्य-विन्यास के अनुरूप है। प्रश्न यह है कि वे हिन्दू भक्ति

दर्शन से सम्बन्धित संदर्भों में फारसी अरबी शब्दों का प्रयोग करते तो क्या वह रचनात्मक दृष्टि से उपयुक्त होता ?''[३१]

एक भ्रान्ति यह भी उत्पन्न की गयी है कि परमानंद ने केवल धार्मिक संदर्भ की भाषा का प्रयोग किया है। तथ्य यह है कि ठेठ ग्रामीण परिवेश से लिये गये शब्द और मुहावरे भी उनकी कृतियों में मिट्टी की सोंधी गन्ध लिये आये हैं। क्लिष्ट, भारी भरकम अथवा अप्रचलित शब्दों के प्रति उनमें कोई आग्रह नहीं, जैसा कि बिन देखे, बिन समझे उनके बारे में कहा जाता है। 'कर्म भूमिका' शीर्षक उनकी कविता योग सम्बन्धी कुछ शब्दों से अपरिचित होने के कारण उनके मुसलमान मित्र वहाब खार को समझ न आयी तो परमानंद ने उसके अर्थ को समझाने के लिये जो कविता सुनायी उसे उनकी भाषा-क्षमता का परिचय मिलता है, पर कुछ शब्दों को छोड़कर दोनों कविताओं की भाषा-शैली में कोई विशेष अन्तर नहीं। वस्तुस्थिति तो यह है कि परमानंद की कविता हिन्दी और पंजाबी शब्द-धाराओं को भी आत्मसात् करती है। कुछ पंजाबी शब्दों का उन्होंने कश्मीरीकरण भी किया है, जो काफी दिलचस्प है। जैसे—'सप' (सांप), 'मथस' (माथे को), 'वेखनम (मुझे देखेंगे) आदि। परमानंद ने पंजाबी-हिन्दी मिश्र भाषा, जिसे वे 'भाखा' कहते हैं, में जो काव्य-रचना की है उसकी प्रायः उपेक्षा की जाती है। व्याकरण की शुद्धता को एक ओर रख दिया जाये तो इस प्रकार की कविताओं में भी भाव, विचार और अनुभूति के वे तत्त्व हैं, जिनके कारण परमानंद की कविता विशिष्ट है।

भाषा की भंगिमा हो अथवा काव्यशिल्प का सहज सौन्दर्य, कश्मीरी कविता को परमानंद की जो देन है, उसे एक नयी और किसी भी प्रकार के पूर्वाग्रह से मुक्त दृष्टि से पहचानने की बड़ी ज़रूरत है। एक हिन्दू भक्त और सन्त के रूप में उनका जो बिम्ब बनता है उसके कारण श्रद्धावनत होकर अथवा उससे बिदककर एक कवि के रूप में उनकी प्रतिभा और उपलब्धि का समुचित मूल्यांकन किये बिना १९वीं शती के कश्मीरी-काव्य की सृजन प्रवृत्तियों का सही अध्ययन संभव नहीं।

लक्ष्मण कौल 'बुलबुल' (मृत्यु १८९८)

परमानंद के साथ उनके पट्ट शिष्य लक्ष्मण कौल 'बुलबुल' का नाम लिया जाता है। हालांकि 'सामनामा' और 'नलदमन' जैसी मसनवियों के लेखक के रूप में वे अधिक ख्यात हैं, किन्तु 'लीला' काव्य के भी वे एक महत्वपूर्ण स्वर हैं—परिमाण की दृष्टि से इस विधा को उन्होंने भले अधिक न दिया हो। परमानंद कृत ''राधा-स्वयंवर' में 'मोहिनी प्रसंग' उन्हीं का लिखा हुआ है। इसके अतिरिक्त उनकी लिखी कुछ स्फुट ईश्वर-स्तुति-परक रचनाएं भी मिलती हैं।

'मोहिनी प्रसंग' में कृष्ण राधा से मिलने के लिये स्त्री-वेष धारण करते हैं — चूड़ियां बेचनेवाली का। स्त्रीवेष में कृष्ण का रूप देखकर राधा की मां इतना मुग्ध होती हैं कि स्वयं उन्हें राधा केकक्ष में भेजती हैं। "चूड़ियां बेचने वाली" राधा को चूड़ियां पहनाते हुए कृष्ण के विषय में परिहास में ऐसी अप्रिय बातें कह डालती हैं कि राधा सह नहीं पातीं। जब उनसे रहा नहीं जाता तो वे "चूड़ियां बेचने वाली" पर बरस पड़ती हैं और कृष्ण अपने वास्तविक वेष में राधा के सन्मुख प्रकट हो जाते हैं। वे उन्हें अपने प्ररिरम्भण में कस लेते हैं और तब 'कृष्ण ही रह जाते हैं' उन बाहों के कसाव में। विरह में कृष्ण-राधा के रूप और मनोदशा का वर्णन अत्यन्त भावपूर्ण है। ऐसा प्रतीत होता है कि उनके विरहदग्ध मन की व्यथा कवि कहीं भीतर अनुभव कर रहा है।

लक्ष्मण कौल 'बुलबुल' ने 'लीलाकाव्य' के अन्तर्गत 'रामगीता' नाम की एक स्वतंत्र कृति की भी रचना की है, जो उनके स्तुतिपरक गीतों और भजनों के साथ 'ग्यान प्रकाश' नाम से प्रकाशित हुई है। यह कृति तथा ये स्तुतिपरक रचनाएं काव्य की दृष्टि से उल्लेखनीय नहीं, यद्यपि उनमें गहन भक्ति-भावना परिलक्षित होती है। परमानंद का गहरा प्रभाव भी इनमें देखा जा सकता है, जिसे कवि ने अनेक गीतों के अन्त में उनका नामोल्लेख करके स्वीकार किया है। शैली की दृष्टि से 'बुलबुल' के कुछ गीतों में तत्कालीन इश्किया शायरी का भी प्रभाव दिखायी देता है।

कृष्ण राज़दान (१८४८—१९२७)

'लीला काव्य' में—'लीला काव्य' ही नहीं १९वीं शती के समग्र कश्मीरी काव्य में, संगीत चेतना का वैसा विकसित रूप कहीं देखने को नहीं मिलता जैसा कृष्ण राज़दान के गीतों में। जयदेव की-सी ललित-मृसण व श्रुति मधुर शब्द-योजना और उच्चतर सौन्दर्य-बोध कृष्ण राज़दान को कश्मीरी गीत काव्य के एक एक अद्वितीय शिल्पी के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं, जिसमें उन्होंने रसात्मक संवेदना के नये आयाम जोड़ दिये हैं। जीवन और जगत को कृष्ण राज़दान ने गैरिक दृष्टिभंगी से देखा और प्रस्तुत किया है। भक्ति-भावना में उनकी रचनात्मकता के गहरे स्रोत स्थित हैं, विराग एक मूल संवेदक तत्त्व के रूप में उनकी अभिव्यक्ति में विद्यमान है। किन्तु शिव-भक्ति के साथ-साथ राधा-भाधव प्रीति और रास-विलास के कोमल प्रसंगों को विषय बनाने के कारण उनके काव्य में राग का एक सरस धरातल भी उभरता है। राग और विराग का घूप-छांही सौन्दर्य उनके काव्य में विशेष रूप से निखरा है। पौराणिक आख्यानों में वे आध्यात्मिक रूपक नहीं ढूंढते अथवा उनके माध्यम से सांकेतिक अर्थों के समान्तर संसार नहीं रचते, यद्यपि भक्ति-दर्शन के आधारभूत विचार-सूत्र 'लीला काव्य'

के अन्य रचयिताओं की भांति उनके काव्य में भी कौंध जाते हैं। शब्दों और वर्णों के आंतरिक नाद-सौन्दर्य को ध्वनित करने में उनकी अपूर्व क्षमता उनकी प्रतिभा का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पक्ष प्रस्तुत करती है। उनके गीतों में छन्दों की लयताल संगीत सागर की लहरों की भांति मन को बहा ले जाती है। उनकी पंक्तियों का सौन्दर्य अपने श्रेष्ठ श्रावणिक मूल्यों के कारण ही कानों से होकर मन तक पहुंचता है। कृष्ण राज़दान ने यदि 'लीलाओं' के स्थान पर लौकिक प्रेम और रूप से प्रेरित गीतों की रचना की होती तो निश्चय से रसूलमीर से कहीं बड़े रूमानी गीतकार माने जाते।

काज़ीगुण्ड के समीप एक छोटे से गांव वनपोह में जनमे कृष्ण राज़दान स्वभाव से रूमानी न सही, फक्कड़ कवि अवश्य थे—धर्म सम्प्रदायों और दार्शनिक निकायों के तंग घेरों से मुक्त। उनके आध्यात्म-बोध का जीवन के ऋणात्मक मूल्यों में उनके विश्वास से कोई विरोध नहीं था। मन की प्रवृत्तियों को कृष्णमय करना उनके जीवन-दर्शन का कुंजी-सूत्र था। बाईस वर्ष की आयु से लेकर ८९ वर्ष की आयु में अपनी मृत्यु पर्यन्त वे लीला-गान का मधुर काव्य एक कलाकार की-सी सजगता और कौशल का परिचय देते हुए रचते रहे। उन्होंने लिखना शुरू किया तो परमानंद अपनी ख्याति के चरम शिखर पर थे। लेकिन राज़दान परमानंद से प्रभावित हुए हों—ऐसा प्रतीत नहीं होता। उनकी एक अपनी शैली, अपना लहजा, अपनी अलग पहचान है जो उन्हें कश्मीरी भक्त कवियों में सबसे बड़े गीतकार के रूप में स्थापित करती है। विद्यापति की भांति शिव और कृष्ण दोनों उनकी आस्था अतः उनकी सृजनात्मकता के केन्द्र में रहे हैं। बल्कि एक ही काव्य-कृति 'शिव लग्न' में उन्होंने दोनों के प्रति 'लीलाएं' कही हैं यानी भक्ति-प्रेरित गीतियां लिखी हैं। 'शिवलग्न' के अतिरिक्त कृष्ण राज़दान ने स्वतंत्र रूप से सैंकड़ों भजनों, स्तुतियों, भक्ति-परक गीतियों तथा कविताओं की रचना की है। इनमें से अधिकांश को धार्मिक-साहित्य के अंतर्गत रखा जा सकता है, काव्य के रूप में उनका महत्त्व संदिग्ध है। उनके द्वारा रचित 'शिव-लग्न' तथा अन्य 'लीलाओं' का एक संकलन सर्वप्रथम रॉयल एशियाटिक सोसाइटी की ओर से पं० मुकुन्दराम के संस्कृत अनुवाद सहित प्रकाशित हुआ। अली मुहम्मद एण्ड सन्ज़ ने भी 'हरिहर कल्याण' के नाम से उनका समग्र काव्य-साहित्य प्रकाशित किया है। कश्मीरी भाषा के प्रख्यात विद्वान प्रो० तोषखानी ने भी उनकी कुछ चुनी हुई गीतियों का 'श्रीकृष्णवाली' शीर्षक से लघु पुस्तिकाओं की एक माला के रूप में प्रकाशित किया।

शिव लग्न

शिव-पार्वती परिणय प्रसंग को लेकर रचित 'शिव लग्न' बाह्य रूपाकार की

दृष्टि से एक प्रवन्ध-काव्य है, पर प्रबन्धात्मकता कृति में नाम को है। कथा-स्थिति इतनी धुंधली और कमज़ोर है कि चरित्रीकरण का कोई रूप नहीं उभरता। घटना-प्रसंगों का केवल खाका-भर वर्णित है, कहीं-कहीं मसनवी शैली के अनुरूप दिए गये उपशीर्षकों से आगे उनकी गति ही नहीं। प्रथानुसार गणेश और गुरु की स्तुतियों के बाद "कथा" का प्रारम्भ दक्ष प्रजापति द्वारा अपने बन्धु-बान्धवों की दी गयी शिव-सती विवाह की सूचना द्वारा होता है। शिव देवताओं की सभा में दक्ष की उपेक्षा करते हैं, जिससे क्षुब्ध होकर दक्ष प्रजापति यज्ञ का आयोजन करते हैं। शिव को छोड़ कर वे अन्य सभी देवताओं को आमंत्रित करते हैं। सती बिन बुलाये ही चली आती हैं, किन्तु शिव के अपमान के कारण आग में कूद पड़ती हैं। शिव का आदेश पाकर वीरभद्र यज्ञ का विध्वंस करते हैं और देवताओं को "दण्डित" करते हैं। घबराकर सभी देवी-देवता शिव की स्तुति करने लगते हैं—दक्ष प्रजापति भी बकरे का सिर लगाये हुए स्तुति करते हुए शिव से क्षमा याचना करते हैं। शिव प्रसन्न होते हैं और यज्ञ समाप्त होता है। यह कृति का एक कथा बिन्दु है। दूसरा कथा-बिन्दु पार्वती की तपस्या और शिव से उनके विवाह से सम्बन्धित है। पर कथा-वर्णन में कोई विशेषता नहीं, एकदम सपाट, अति संक्षिप्त, प्रभावहीन और भाव शून्य शैली में कही जाने के कारण वह प्रभावित नहीं करता, न कवि के कला-कौशल का कोई परिचय देता है। वस्तुत: कथा तो बिलकुल गौण है। स्थान-स्थान पर कवि की भाव संवेदना सैंकड़ों स्तुतियों, वन्दनाओं, गीतों में मुखर हुई है। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि को स्तुतियों के लिए बस बहाना भर चाहिए। स्तुतियों की इतनी भरमार खटकती भी है। केशव शिव की स्तुतियां करते हैं तो शिव केशव की। हिमालय और मैनावती अपनी पुत्री पार्वती की स्तुति करते हैं। विष्णु, ब्रह्मा, गन्धर्व, इन्द्र, धर्मराज, वरुण, सप्तऋृषि, राहु, सूर्य, चन्द्रमा, बुध, मुनीश्वर, चित्रगुप्त, वृहस्पति, शुक्र, शनि, सरस्वती, महालक्ष्मी, नारद, दक्ष प्रजापति - सभी शिव की वन्दना-स्तुति करते हैं। इसी प्रकार महामाया, विष्णु, दुर्गा हरिहर आदि देवी-देवताओं की स्तुतियों से भी यह कृति भरी पड़ी है। हिमालय और मैनावती मिलकर अपनी ही पुत्री गौरी की स्तुति करते हैं। इन स्तुतियों और गीतों से ही कृति का अधिकांश कलेवर निर्मित है। इन स्तुतियों-वन्दनाओं-गीतों में ही कवि की प्रतिभा प्रतिफलित हुई है। प्रकृति से वह गीतकार है और प्रबन्धात्मकता को क्षीण आवरण के बीच से उसकी यह प्रवृत्ति वेगपूर्ण जल-धारा-सी फूट पड़ती है। गीतात्मक शैली में जो कुछ कवि ने लिखा है, उसका अधिकतर भाग धार्मिक विषयवस्तु के कारण काव्य के अन्तर्गत रखा नहीं जा सकता, किन्तु उसके कुछ श्रेष्ठतम गीत भी 'शिवलग्न' में अनुस्यूत हैं। इनमें ब'स्ती वन गव, रातसद्यन गव मन गव ह्यथ मनमोहन नाथ '(रात हुई दिन, और

ब्रस्ती वन, मन ले चला गया मनमोहन) जैसे संगीत और संवेदना से परिपूर्ण वे गीत भी सम्मिलित हैं, जिनको कश्मीरी गीत-काव्य की उपलब्धियों में गिना जा सकता है। दृष्टव्य यह है कि शिव-विवाह के इस आख्यान में उन गीतों में कृष्ण राज़दान की कला चेतना व्यंजित हुई है जिनका सम्बन्ध कृष्ण से है। कृष्ण को शिव-वृत्त में इन गीतों को उन्होंने अजीब बहाने से लाया है। शिव के विवाह में विष्णु 'यजमान' (वर के पिता) बनकर आते हैं और बस कवि को अवसर मिल जाता है कृष्ण के रतिराग और रास-विलास का मुक्त वर्णन करने का। स्त्रियां कृष्ण के लिए 'वनवुन' (मंगल गीत) गाती हैं, जो उस विवाह में सम्मिलित होने के लिए आये हैं।

शिव-परिणय की पौराणिक कथा में, जैसा हम संकेत कर चुके हैं, कृष्ण राज़-दान कोई नया दिक् जोड़ने में समर्थ नहीं हुए हैं। पर कवि की कई नई उद्भावनाएं ध्यान आकर्षित करती ही हैं। शिव के विवाह का प्रबन्ध विष्णु आदि देवता स्वयं करते हैं। तुलसी की भांति कृष्ण राज़दान शिव-बारात में भूत-प्रेत-पिशाचों की विरूप सेना को शामिल कराके उसे हास्य का उपादान नहीं बनाते। 'शिव लग्न' में शिव अपनी बारात में एक तेजस्वी साधु के रूप में सम्मिलित होते हैं। पार्वती की मां मैनावती बारात को देखकर पहले तो हर्षित होती हैं पर बाद में यह पता लगने पर कि एक साधु उनकी पुत्री का दूल्हा बनकर आया है, मानो "मातम" मनाती हैं। वे चाहती थीं कि उनकी कन्या को ऐसा वर मिले कि "भक्ति के साथ विचार, दया के साथ दान, श्रद्धा के साथ ज्ञान, विद्या के साथ मान, काया के साथ प्राण" की भांति यह युगल शोभित हो। पर कहां से आ टपका यह विचित्र वर्ण-वाला दूल्हा? दुःख और उत्तेजना के कारण वे अपने कपड़े फाड़ देती हैं, धूल में लोटती हैं, और सखियों, हिमालय, नारद यहां तक कि स्वयं पार्वती के समझाने-बुझाने पर भी नहीं मानतीं। सभी हार जाते हैं, तो नारद शिव से साधु का स्वरूप त्यागकर दूल्हे का रूप-धारण करने की प्रार्थना करके स्थिति को बचा लेते हैं। नारी मनोविज्ञान की ओर संकेत करता हुआ यह प्रसंग कथा में लोक-वार्ता का सा रस उत्पन्न करता है।

'शिव लग्न' में आया एक और मौलिक प्रसंग है शिव द्वारा विवाह के अवसर पर सोने का हिमपात और रत्नों की वर्षा करना। स्वर्ण-हिम देखकर लोग आश्चर्य-चकित होकर घर-आंगन-गली से उसे बटोर डालते हैं। इस प्रकार का प्रसंग शिव-सम्बन्धित किसी अन्य आख्यान में उपलब्ध नहीं। कृष्ण राज़दान शीघ्र ही इस प्रसंग को एक अत्यन्त सुन्दर गीत में प्रतीकात्मक धरातल पर लाते हैं और भक्ति विह्वल भाव से ईश्वर के असीम ऐश्वर्य के प्रति स्तुति में नत होते हैं।

स्तुतियों और वन्दना गीतों के बाहुल्य के बावजूद 'शिव लग्न' में कहीं-कहीं

घटनास्थिति के वर्णन को भी स्थान दिया गया है, भावस्थितियों का अंकन अधिक नहीं है, और जो है वह भी भक्ति के चौखट का प्रायः अतिक्रमण नहीं करता। रूप वर्णन और भी सीमित है। केवल गीतों में भाव की निर्बन्ध उड़ान रस का आकाश प्राप्त कर लेती है। समग्र रूप से कहा जा सकता है कि इस कृति पर पौराणिक-मिथकीय चेतना और अलौकिकता का परिवेश छाया है, जिसके बीच से कहीं-कहीं मानवीय भावों का धरातल अपनी सरलता और सहजता में प्रकट होता है। यही कारण है कि शिव को प्राप्त करने के लिए पार्वती की तपस्या का संवेदनापूर्ण प्रसंग भी स्त्री-पुरुष प्रेम की भावस्थिति के वर्णन तक पहुंचने से पूर्व ही स्तुतियों-प्रार्थनाओं के सपाट-रूढ़ बने-बनाये ढांचे में बिखर जाता है। यह सम्पूर्ण प्रसंग ही नीरस और सौन्दर्य रहित हो—ऐसी बात नहीं। दो-एक स्थलों पर कवि ने उसे संवेदनापूर्ण भी बनाया है। मसलन् वहां जहां शिव पार्वती के प्रेम की परीक्षा लेने के लिए योगी का रूप धारण कर लेते हैं। पार्वती और योगी के बीच हुआ संवाद काफी दिलचस्प है और उसमें शिव के प्रति पार्वती का गहरा प्रेम प्रकट होता है। यहां वर्णन भी कवित्व के स्पर्श से दीप्त हो उठता है। योगी का वेष धारण किये हुए शिव पार्वती से कहते हैं—

> मुझे दुख है, क्योंकि तुम सुन्दरी हो
> क्या कहूं तुम्हारी कैसी दशा हो गयी है
> मुझे दुख है क्योंकि तुम निर्मल सूर्य हो
> मुझे दुख है क्योंकि तुम चमकती बिजली हो
> किसने तुमसे ऐसा छल किया कि तुमने जंगल की राह ले ली
> और अब मेघ से ढंक जाओगी
> मुझे दुख है कि मखमल का फर्श छोड़कर तुम
> कांटों में भटक रही हो
> तुम तो किसी बगिया की नर्गिस हो—
> मुझे दुख है कि भँवरे ने तुम्हें भरमाया है

पार्वती उत्तर देती हैं—

> अरे साधु तुम कपटपूर्ण बात करते हो
> रुई के गोले और मकड़ी के जाले को एक बताते हो
> घोर माघ में भी बर्फ बेच रहे हो
> लेकिन तुमसे कह दूं कि
> तुम झील में मिश्री की डली डाल रहे हो
> मैं तुम्हारी सुनूंगी नहीं।

शिव और पार्वती का यह संवाद कश्मीरी भाषा में ही नहीं अटपटी और अशुद्ध हिन्दी में भी चलता है, जो विचित्र और काफी दिलचस्प भी है। विश उनसे कहते हैं —

तू किस राजा की राजकुमारी (है)
किस पर लगा है तेरा दिल?
जिसकी चाहत है तेरे मन में
वह तो वन में रहता है
उसके तो ना पले पैसा ना आटे का सेरा है
बस गांजा पी-पीकर उसकी आंखें घूमती रहती हैं

पार्वती साधु को डपट देती है—

जाओ जाओ साधू दण्डक बन

ताकि तप साधकर तुम्हारा मन निर्मल हो जाए! तब आकर मेरे साथ बात करना। शिव का सहसा अपने वास्तविक रूप में प्रकट होना काफी नाटकीय है किन्तु इस सबके बाद पार्वती शिव के प्रति फिर "दास भाव" से लीला-स्तुति निवेदित करती हैं और शिव पार्वती को विवाह की सलाह यों देते हैं जैसे कोई व्यापारी व्यापार की शर्तें तय कर रहा हो।

इसी प्रसंग में कुछ और कवित्वपूर्ण पंक्तियां हैं जिनमें पार्वती शिव और अपनी तुलना करते हुए कहती हैं—

तुम माथे की बिन्दी हो
मैं मुखड़े की उजास
तुम आकाश हो, मैं धरती
तुम दिन, मैं रात
तुम अनार, मैं उसके भीतर का दाना
मैं कार्तिक का चन्द्रमा हूं
तुम वैशाख के चमकते सूर्य

वस्तुतः कृष्ण राज़दान शिव और पार्वती के बीच प्रणय के नहीं भक्ति के सम्बन्ध को प्रस्तुत करते हैं, जिस वजह से प्रणय से परिणय तक की भाव दशाएं कृति में पूरी तरह से व्यंजित हो नहीं पायी हैं। कवि का अधिक ध्यान बारातियों के "दावत" खाने तथा विवाह की रीति-नीतियों की ओर गया है। शिव-पार्वती विवाह के अवसर पर स्त्रियां समय-समय पर मंगल गीत गाती हैं— कभी दूल्हे के स्वागत् में तो कभी "यजमान" के लिए। यद्यपि कृति में यह वर्णित है कि शिव पार्वती से विवाह करने के लिए काशीपुर आते हैं, पर विवाह वर्णन में स्थानीय

परिवेश इस तरह झलक उठा है मानो विवाह कश्मीर में हो रहा हो। स्थानीय कश्मीरी पंडित परिवार के विवाह की एक-एक रीति से सम्बन्धित छोटी-छोटी बातों तक का वर्णन कवि ने किया है जो कहीं-कहीं उबाऊ और पुनरावृत्तिपूर्ण भी हो गया है। विवाह के अवसर पर होने वाले नाच-गाने और उसमें बजाये जाने वाले वाद्य-यन्त्रों—सितार और सन्तूर का भी उल्लेख है। विवाह के रीति-रिवाजों के अतिरिक्त भी स्थानीय वातावरण कश्मीरी फूलों, पक्षियों, तीर्थ-स्थानों, देवी-देवताओं' वेशभूषा आदि के वर्णन में साकार है। "हिमालय पर्वत-राज का इतिहास" वर्णित करते समय कवि द्वारा "जहान के अफसर" के रूप में उसका वर्णन करता है जिसके पास काफी "माल-दौलत गंज गौहर" हैं। यह कश्मीर में डोगरा शासन के प्रारम्भ की ओर संकेत है जब शासन-तंत्र बदल रहा था और सरकारी पदाधिकारी को अफसर कहा जाने लगा था।

लोक काव्य की छाया

स्थानीय तत्त्वों के प्रवेश से 'शिव लग्न' पर लोक-काव्य की जो छाया पड़ी है वह विवाह गीतों में, जिनमें दूल्हे को और "पोशिनूल" तथा दुल्हन को मैना[१२] कहा गया है, और भी घना रूप लिए हैं। विवाह गीतों तथा स्तुतियों और वन्दना-गीतों के कारण कृति का प्रबन्धात्मक रूप बेहद शिथिल हो गया है, पर ये गीत एक कवि के रूप में कृष्ण राज़दान की प्रतिभा और उपलब्धि की ओर संकेत करते हैं। प्रबन्ध काव्यकार के रूप में कृष्ण राज़दान उभरते ही नहीं। गीतों अथवा प्रगीतात्मक शैली की रचनाओं में उनकी अभिव्यक्ति मुक्त और अबाध है। वेगवती धारा की तरह वे श्रुति-मधुर शब्दों, द्रुतगीत गति छन्दों की लहरिल उठान में ही अपने प्रभाव का जादू भर देते हैं। यद्यपि शिव को सम्बोधित अनेकानेक प्रार्थनाएं, विनय-गीत, स्तुतियां, वदनाएं भी शब्द-लालित्य और भक्ति-रंजित मन की श्रद्धा की व्यंजना के द्वारा कवि की कलात्मक क्षमता का सशक्त बिम्ब प्रक्षेपित करती हैं। कृष्ण-राधा-गोपबालाओं के राग सम्बन्ध और रास-रमण को लेकर रचे गए गीत कश्मीरी काव्य को कवि की श्रेष्ठतम देन है। रास के नूपुर-गुंजित, मुक्त-मदिर वातावरण की सृष्टि की ओर रूप-राग-रस से महकती रातों का चित्रण करने में जिस सौन्दर्य-चेतना का परिचय राज़दान ने इन गीतों में दिया है, वह भारतीय भाषाओं के कृष्ण काव्य में शीर्षस्थ कवियों में ही देखने को मिलती है।

रास गीत

ओछे रतिभाव अथवा स्थूल एन्द्रिक उत्तेजना को उदीप्त करने वाले नृत्य के स्थान पर रास कृष्ण राज़दान के गीतों में एक उदात्त अतीन्द्रिय उल्लास के रूप में

बिम्बित है—देश, काल की लघु सीमाओं में न समाने वाली एक ऐसी घटना जो "मन-वृन्दावन" में नित्य घटित होती है—

मन म्योन विन्दराबन त॒ लो लो
आत्मरूप नारायण त॒ लो लो

—मन मेरा वृन्दावन रे
आत्मरूप नारायण रे

कालचेतना को खो चुकीं, देह की सुध को भूलीं, कृष्ण के अंग-से-अंग मिलाने को आकुल, श्लथकेशा, शिथिल-वसना राधा और गोपियों का नृत्योन्माद और उनके मन पर कृष्ण के अलौकिक सौन्दर्य की इन्द्रधनुषी प्रभाव-स्थितियां राज़दान के गीतों में सजग कलाकार की तूलिका से भावांकित हैं। रूप से अधिक कवि की दृष्टि भाव पर है। वह देह-छवि से अधिक रोमांचित हृदय के भाव-बिंब प्रस्तुत करता है—

कृष्णस छांडान अ'स्य ग'यि मच़य
न्यस॒फ शबन न्येॅन्द्रि ह्च़य
नच़न-नच़न वनन छेॅ वच़न
श्यामस छाड़ान अ'छि ग'यि छच़य !

—आधी रात को आंखों में नींद लिए
कृष्ण को ढूंढ़ते-ढूंढ़ते हम तो पगला गयी हैं
नाचते-नाचते गाती हैं (गोप बालाएं)

रास करते-करते कृष्ण राधा सहित अंतर्ध्यान हो जाते हैं। सारा नृत्योन्माद थम जाता है। गोपबालाओं का उल्लास विषाद में बदल जाता है। कुंज-कुंज, गली-गली पगलायी-सी वे कृष्ण को ढूंढ़ती-फिरती हैं। उनका संतप्त मन द्रवित होकर कृष्ण राज़दान की पंक्तियों में बह निकला है।

'कृष्ण को खोजते-खोजते
आंखों का उजाला चला गया।

ऐसा प्रतीत होता है कि 'शिव लग्न' की इन बावली बालाओं में कहीं कवि भी भटक रहा है, कृष्ण के सामीप्य के लिए विकल, स्वयं राधा से तादातम्य का अनुभव करता हुआ—

राधा बनकर मैं भी मंडल के बीच
तुम्हारे साथ नाचूंगा, कृष्ण !

रास के अपरिहार्य आमंत्रण का एक गीत है—

स'मिव करव अथ॒ वास

प'किव रास गिन्दने
शे'र्‌यथ सां'प॒न्य कुनी राथ
गूपीनाथ नच़नि लो'ग
व'हर दो'ह गव प'हर मास
प'किव रास गिन्दने ..
....

अपा'र्य नादा, यपा'र्य नादा
च़वपा'र्य राधा-कृष्ण छुय
प्रथ कां'सि स॒त्यन क'रिथ अथवास
प'किव रास गिन्दने

आओ, मिलकर हाथ पकड़ लें
चलो रास खेलने को चलें !
गोपीनाथ नाचने लगे तो
छः मास एक ही रात-से बीत गये
वर्ष दिन-सा बन गया, पहर मास-सा हो गया
कभी यहां टेर सुन पड़ती है, तो कभी वहां
यहां-वहां सब कहीं बस राधा और कृष्ण हैं
हरेक का हाथ पकड़कर नाचते हुए !

श्रावणिक और काव्य मूल्यों की दृष्टि से शायद ऐसा रास-गीत कोई दूसरा नहीं। समृद्ध गीतात्मकता और सुखद संगीतमयता की दृष्टि से "आवय नन्दलाल गिन्दने रास, आर क'रिवय आरय" (रास खेलने को निकले नंदलाल, सखी री, मंडल बना लो !) वाला गीत भी अद्वितीय है।

कृष्ण राज़दान के गीतों में रास-विलास ही नहीं, राधा का विरह-विदग्ध मन भी धड़का है। प्रतीक्षा-विकल राधा, कृष्ण की खोज में क्लांत राधा, समर्पणाकुल राधा—"फूलों से लदी वन लता-सी" सुकुमार राधा—अत्यन्त कोमल रंगों में राधा के अनेक चित्र अंकित किये हैं कवि ने। इनमें से कई गीतों में लोक-गीतों की-सी सहज अभिव्यक्ति है। भावावेग कहीं-कहीं इतना तीव्र है कि स्वयं कवि ही राधा के रूप में प्रीति का निवेदन करता हुआ प्रतीत होता है।

सूरदास की भांति कुछ गीतों में कृष्ण राज़दान ने कृष्ण के बालरूप के प्रति भी भक्ति निवेदित की है। कहीं ग्वाल-बालों के साथ वन से घर को लौट रहे कृष्ण का वर्णन है, तो कहीं उनके लिए प्रभातियां गायी गयी हैं—

तुम्हारे प्रेम में बहती हुई हमारी आंसुओं की धारा
तारा-मण्डल तक पहुंच गयी है

चंन्द्रमा तुम्हारे लिए अमृत का प्याला लिए है
जागो श्याम, उजाला हो गया !

एक अन्य असामान्य रूप से सुन्दर गीत में कवि ने कृष्ण को साकार वसन्त के रूप में चित्रित किया है। वसन्तागमन के समय सब ओर फैली हरीतिमा में उसे कृष्ण की रूप-छवि की परछाई नज़र आती है—

श्याम-सुन्दर वासन्ती वसन पहनकर आये हैं
सारा संसार हरा हो गया है,
सखि, वसन्त आया है, वसन्त !

भक्ति के सूत्र और स्फुट गीत

कृष्ण राज़दान अपनी रचनाओं में भक्त और कवि दोनों रूपों में दिखायी देते हैं। कभी उनका भक्त उनके कवि पर हावी हो जाता है, तो कभी उनका कवि उनके भक्त पर। प्रायः भक्ति उनके कवित्व को एक गैरिक प्रभामंडल से मंडित कर देती है। विद्यापति की भांति कृष्ण राज़दान "धन हरि, धन हर, धन तुअ कला, खनहि पीत वसन खन मृगछला" की सी मुद्रा में नज़र आते हैं। देवी की वन्दनाएं भी उन्होंने अनेक लिखी हैं—जिनका केवल धार्मिक महत्त्व ही हो सकता है। वैराग्य, योग, शम-दम, ज्ञान, विषय भोगों से, मोह माया से, कुकाल आदि से रक्षा की प्रार्थना, अद्वैत भक्ति, नामोच्चारण का फल, संसार बंधन से मुक्ति की कामना, सतगुरु के प्रति विनय, जीवन-यौवन की क्षणिकता और संसार की नश्वरता, अहंकार-त्याग, परोपरकार, सर्वात्मभाव आदि अनेक विषयों पर भी उन्होंने प्रगीतात्मक शैली में कविताएं लिखी हैं। एक कविता अभिनवगुप्त के प्रति भी है। कुछेक कविताओं में नैतिक उपदेश का स्वर प्रधान है। कभी-कभी भक्ति और आस्था उनके गीतों में अत्यन्त संवेदनापूर्ण बिम्बों में व्यंजित हुई है—

आर॒ छु वुज़ान वो'गनि दरय
वार॒ छु करान शोर
छ॒वप॒ छु करान समंदरय
ब॒ क्याह करय ज़ोर

उथले स्रोत से निकला झरना
झर-झर शोर करता हुआ बहता है
लेकिन समुद्र मौन रहता है
प्रभु, क्या आग्रह करूं मैं तुम से ?

यह गीत कृष्ण राज़दान के श्रेष्ठतम गीतों में से है जिसमें स्वयं उसके सागर-गम्भीर व्यक्तित्व का बिम्ब उभरता है।

लम्बी कविताएं और गज़ल

कृष्ण राज़दान से अधिकतर 'वचन' गीतों की-सी शैली अपनायी है, पर कुछ एक लम्बी कविताएं और गजलें भी उनकी लिखी मिलती हैं। (डल म् होश च.यतकी पम्पोश बाव, (होश मत बिसारो—मन के कमल अर्पित करो) उनकी एक शीर्षस्थ लम्बी कविता है जिसमें डल झील और उससे सम्बद्ध परिवेश को लेकर कुछ अछूते प्रकृति-बिम्ब तो हैं ही, साथ ही आध्यात्मिक संकेतों का एक समान्तर धरातल भी उद्घाटित होता है। कृष्ण राज़दान में रूपक की प्रवृत्ति अधिक नहीं, पर अर्थ के दो स्तरों को खोलता हुआ रूपक इस कविता का एक महत्त्वपूर्ण आयाम है, जो कवि की रचनात्मक प्रतिभा के क्षितिज की ओर इंगित करता है। इस कविता में द्वयार्थक शब्दों के प्रयोग में अपूर्व कलात्मक विवेक का परिचय मिलता है।

एक अन्य लम्बी कविता में कवि जीवन को ईश्वर की माया के कारखाने में 'भाण्ड जश्न' (कश्मीरी के एक नाट्य-प्रकार) के रूप में देखता है जिसमें पात्र भिन्न-भिन्न वेष धारण किये मंच पर आते हैं। इस कविता में कवि ने अपने-आप को लोगों की गाली-गलौच, निंदा-अपमान और मार-फटकार सहते हुए मसखरे के रूप में प्रस्तुत करते हुए, निजी स्वर जोड़ा है, जो मन को छू लेने वाला है—

> जाने कैसा चेहरा लिए हुए—
> स्वांग में एक मसखरे ने भाग लिया
> थप्पड़-घूंसे, गाली-गलौच, थूक-फज़ीहत
> चाबुक, चिकौटियां सहते, ताज़िया मनाने !

इस कविता में कश्मीरी के 'भांड जश्न' और 'धमाली' आदि लोक-नाट्य प्रकारों और स्थानीय परिवेश का भी सजीव चित्र है। कुम्हार, मसखरा कुंजड़ा, लुहार, राज-मिस्त्री, खेतिहर, डाक्टर, पहलवान रसोइया, माली आदि विभिन्न व्यवसायों से सम्बन्धित लोगों को कवि बारी-बारी मंच पर लाकर और उनके जीवन में व्याप्त विसंगतियों को उभार कर अपने समय के यथार्थ के बोध का परिचय देता है, यह अन्त में रूपक के संकेतित आध्यात्मिक अर्थों में विलीन हो हो जाता है और कवि मसखरे की भूमिका प्रस्तुत करने के लिये ईश्वर से इनाम में "मोक्ष का परवाना" मांगता है।

महजूर से वर्षों पूर्व कश्मीरी कविता को नया स्वर, नयी संवेदना, नये विषय देने का प्रयत्न भी कृष्ण राजदान ने किया था, जो विशेष रूप से ध्यातव्य है। अपनी एक लम्बी गजल 'ओ पक्के खरीदार, मेरे मुक्ताहार का ऊंचा मूल्य देना" में कवि ने भक्ति के अर्थ को विस्तार देकर देश-भक्ति को उसमें अनुस्यूत कर दिया है। कश्मीरी कविता में देश-भक्ति की भावना का यह सर्वप्रथम उद्रेक है—

> देश स्वख यिम छिम मंगान

तिम छि धर्मॣक्य आफ़ताबे
च़लि नगरस गटॣ वौन्य
कृष्णच़न्द्र यार म्येॅ
छॣवपि स.त्य क्याह् वाति लूकन
ग्यवॣ वा'न्य स्वख दियख
तोति दपन देश भक्त
—देश सेवाकार म्येॅ

देश के लिए जो (मुझसे) अपना सुख मांगें
धर्म के वे सूर्य हैं
नगर का अन्धेरा अब दूर हो जायेगा,
(क्योंकि) कृष्णचन्द्र मेरे यार हैं
(मेरी) चुप्पी से लोगों को भला क्या मिलेगा
शायद मेरी वाणी उन्हें सुख दे सके
कुछ नहीं तो मुझे देश भक्त, देश हितेषी कहा जाएगा

ऊपर उद्धृत अन्तिम पंक्तियां विशेष रूप से दृष्टव्य हैं। देश-हित के प्रति यह प्रतिबद्धता, चुप रहने के स्थान पर इसलिए कुछ न कुछ बोलने की व्यग्रता कि लोगों को उससे सुख मिल सकता है और देश-भक्त, देश-सेवक कहलाने की आकांक्षा—कृष्ण राज़दान को एक प्रबुद्ध जन-प्रतिनिधि कवि के रूप में प्रतिष्ठित करती हैं। इन पंक्तियों का महत्त्व उन्हें कश्मीर की तत्कालीन काव्य स्थिति के संदर्भ में देखने पर स्पष्ट होता है जब महजूर भी अभी रसूलमीर के ढर्रे की रूमानी गजलों से आगे नहीं गये थे। कश्मीर ही नहीं, देश-भर में राष्ट्रीय आन्दोलन का स्वरूप पूरा स्पष्ट नहीं हुआ था। महात्मा गांधी भी अभी देश के राजनीतिक क्षितिज पर पूरी तरह से छाये नहीं थे। "मेरी चुप्पी से क्या मिलेगा, शायद मेरी वाणी लोगों को सुख दे सकें"—यह पंक्ति संकेत देती है कि कृष्ण राज़दान अपने समय से बहुत आगे के कवि थे। गज़ल में पौराणिक और राष्ट्रीय चेतना का अद्‌भुत मेल है। गज़ल की अन्तिम पंक्तियां नयी सुबह के अग्रदूत के रूप में कवि के आत्म-विश्वास को अधोरेखित करती हैं—

मैं रात-भर गाता रहा
और सवेरा फूटा
सूर्य चढ़ा और
दिन ने साज़ बजाये

भाषा और अलंकरण

अन्य लीला कवियों की भांति कृष्ण राजदान की भाषा को भी "हिन्दुई कश्मीरी" कहकर टाला जाता रहा है, जिससे उनके कृतित्व का उचित मूल्यांकन आज तक नहीं हो सका है। स्थिति यह है कि सहज सरल लोक-प्रचलित कश्मीरी भाषा का सम्पूर्ण माधुर्य उनके गीतों में शब्द-शब्द पिया जा सकता है। कश्मीरी द्वारा अपनाये गये फारसी शब्द भी उनके द्वारा उसी सहजता से व्यवहृत हुए हैं जैसे संस्कृत मूल के शब्द। अद्वितीय शब्द-शिल्पी हैं कृष्ण राज़दान—अलंकारण की अति से बचते हुए भी, अनुप्रास, वर्ण-मैत्री, अंतर्वर्ती तुक और ललित-मृसण स्वर-व्यंजन समूहों के प्रयोग द्वारा जादू भर देते हैं अपनी पंक्ति में। एक सामान्य शब्द भी उनके द्वारा प्रयुक्त होने पर संगीत की स्वर-लिपि का एक चिह्न प्रतीत होता है। कृष्ण राज़दान के जीवन का अधिकांश समय डोगरा महाराजा प्रतापसिंह के शासन काल में बीता। यह कश्मीर में मध्य युग से आधुनिक युग में संक्रमण का काल था। मुगलों, अफगानों और सिक्खों द्वारा स्थापित राजनीतिक-आर्थिक-सामाजिक ढांचे का स्थान आधुनिक जीवन व्यवस्था ले रही थी। बदल रही जिन्दगी से सम्बन्ध शब्दावली का राज़दान अपनी रचनाओं में प्रयोग करने से हिचके नहीं हैं। वर्तमानकालिक क्रियाओं में 'अन्' प्रत्यय लगाने की प्रवृत्ति जो ग्रामीण बोली के प्रभाव को दर्शाती है, कृष्ण राजदान के गीतों में सुस्पष्ट नज़र आती है। इससे उनकी भाषा सही अर्थों में लोकोन्मुखी हो गयी है। कश्मीरी भाषा के प्रति अपने गहरे स्नेह को उन्होंने स्पष्ट शब्दों में व्यक्त भी किया है—

> वनय दीविय छय का' शिर ज़्यव्‌ य टा'ठ
> परख बोजख त्‌ त्ये'लि काठस गछ़िय का'ठ
>
> —मैं कहता हूं, देवी को कश्मीरी भाषा ही प्रिय है
> जिसे सुनने-गुनने से काठ-सी कड़ी बात भी
> कोमल हो जाती है

यह उनके काव्य का एक और आयाम है।

हिंदी में रचित पंक्तियां

कृष्ण राज़दान ने, परमानंद की भांति, बीस से अधिक गीत अटपटी हिन्दी में भी लिखे हैं। कश्मीरी में सोची हुई पंक्तियों का अक्षरश: अनुवाद तो इनमें है ही, हिन्दी शब्दों को कश्मीरी उच्चारण और व्याकरण के अनुसार तोडा-मरोड़ा भी गया है और पंजाबी शब्दों का भी खूब प्रयोग हुआ है। इसके अतिरिक्त कश्मीरी कविताओं में भी कहीं-कहीं इक्की-दुक्की पंक्तियां इस भाषा में कवि ने लिखी हैं। यद्यपि इस प्रकार की रचनाओं में भी कवि की संगीत-चेतना की झलक मिलती है, पर इनको ज़्यादा से ज़्यादा दिलचस्प प्रयोगों के रूप में ही लिया जा सकता

है। संभवतः उत्तर भारत के हिन्दी भक्त-कवियों की रचनाओं से परिचय के कारण कश्मीरी भक्त-कवियों के लिए हिन्दी ही भक्ति का पर्याय हो गयी थी। वह भक्त-कवि ही क्या जो हिन्दी भाषा में कुछ-न-कुछ लिखे। कृष्ण राज़दान के परवर्ती भक्त-कवियों में भी यह प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है।

अन्य भक्त कवि

कश्मीरी भक्ति काव्य की परम्परा कृष्ण राज़दान के समकालीन कवि ठाकुर जू मनवटी द्वारा रचित भक्ति-परक 'लीलाओं' के संकलन 'अमृत सागर' तथा मान जू अत्तार द्वारा रचित 'कृष्णावतार' नाम के भागवत पर आधारित काव्य में भी सांस लेती रही। 'रुकिमणी मंगल' कृष्ण वृत्त पर ही आधारित अत्तार की एक और काव्य-कृति बतायी जाती है, पर यह अब उपलब्ध नहीं। दोनों कवियों ने हिन्दी में भी कुछ भक्तिपरक रचनाएं लिखी हैं। बीसवीं शती के चौथे-पांचवे दशक में भी स्तुतिपरक रचनाएं कश्मीरी में लिखी जाती रहीं, पर एक सजीव विधा के रूप में 'लीला काव्य' कृष्ण राज़दान के युग के बाद फिर न उभर सका। उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध और बीसवीं शती के कुछ दशकों में ही इस काव्य को गति और दिशा देने वाली प्रतिभाओं की रचनाशीलता ने अपने उत्कर्ष के सर्वोच्च बिन्दु का स्पर्श किया।

संदर्भ

१. कश्मीरी ज़बान और शायरी भाग २—पृ० २३०
२, का'शुर रामायण : भूमिका—पृ० ३०
३. स्टडीज़ इन कश्मीरी—पृ० ६०
५. कश्मीरी और हिन्दी रामकथा काव्य का तुलनात्मक अध्ययन—पृ० २६
६. का'शुर रामायण : भूमिका—पृ० १८
७. परमानंद सूक्तिसार—पृ० ३८-४२
८. स्टडीज़ इन कश्मीरी—पृ० २०९-२३०
९. परमानन्द सूक्तिसार—पृ० ४०
१०. स्टडीज़ इन कश्मीरी—पृ० ३३१
११. अपरिवत्
१२. कश्मीरी ज़बान और शायरी, भाग ३ - पृ० २८

१३. परमानंद : सम्पादक प्रो० श्रीकंठ तोषखानी : भूमिका—पृ० १६
१४. परमानन्द : सम्पादक प्रो० तोषखानी : भूमिका—पृ० १६
१५. कश्मीरी ज़बान और शायरी : भाग ३—पृ० ३०
१६. परमानंद सूक्तिसार—पृ० ५२
१७. कश्मीरी ज़बान और शायरी : भाग २—पृ० ३३
१८. उपरिवत्—पृ० ६६
१९. उपरिवत्—पृ० ३६
२०. उपरिवत्—पृ० ६६
२१. स्टडीज़ इन कश्मीरी—पृ० २१७-२१८
२२. एक पक्षी विशेष—गोल्डन ओरिओल

: ८ :

सूफ़ी काव्य

सूफी रहस्यवाद के बीजांकुर

कश्मीरी कविता में सूफ़ी रहस्यवाद हम सबसे पहले शेख नूरूद्दीन वली के उन श्लोकों में अंकुरित पाते हैं जिनमें परोक्ष सत्ता को प्रेमी के रूप में देखकर उसके प्रति उत्कट प्रेम की व्यंजना की गयी है। प्रिय की खोज में निकली आत्मा की आकुलता इससे पूर्व लल्लेश्वरी की कविता में भी शैव-दार्शनिक शब्दावली में व्यक्त हुई है, किन्तु शेख नरूद्दीन ने इस आध्यात्मिक प्रेम-भावना को सूफी आधार भूमि प्रदान की। सूफीमत और कश्मीरी काव्य के विकास में इसे एक महत्त्वपूर्ण घटना माना जा सकता है, क्योंकि इससे सूफी मत और कश्मीरी मुसलमान ऋषि परम्परा के सम्बन्ध-सूत्रों पर प्रकाश पड़ता है। सूफीमत जब चौदहवीं शती में कश्मीर पहुंचा तो यह अपने विकास के विभिन्न चरणों को पूरा करके एक सुनिश्चित विचार-दर्शन का रूप ग्रहण कर चुका था। इस समय तक सूफी मत ने भारतीय वेदान्त था बौद्ध विचारधारा के अनेक तत्त्व आत्मसात् कर लिए थे और वह खौफे खुदा, खौफे मौत, खौफे जहन्नुम और खौफे गुनाह की अपनी प्रारम्भिक प्रेरणाओं से बहुत आगे जाकर चेतना की एकता प्रतिपादित करने वाले 'वहदतुलवजूद' सिद्धान्त को विकसित कर चुका था। शेख नूरूद्दीन तथा उनके अनुयायी मुसलमान ऋषियों ने इस सिद्धान्त को, जिसमें उपनिषदों के अद्वैत दर्शन की स्पष्ट प्रतिध्वनि सुनायी देती है, अपने काव्य द्वारा सहज बोधगम्य और ग्राह्य बनाने में विशेष योग दिया।

सूफीमत और भारतीय विचारधारा : समन्वय के सूत्र

कश्मीर में सूफी मत और भारतीय विचारधारा को एक और धरातल पर समन्वित होने का अवसर मिला। यह धरातल त्रिक् सिद्धान्त पर आधारित कश्मीर के शैव-दर्शन का था, जिसके इस्लाम के आगमन तक लगभग छः शताब्दियों में विकसित विचार-सूत्र यहां के सामूहिक लोक चित्त के निर्माण में

सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्वों के रूप में अपनी पहचान स्थापित कर चुके थे। शैव दर्शन के इस प्रभाव ने कश्मीर में इस्लामी तस्सवुफ को किस सीमा तक परिवर्तित किया, यह संकेत कश्मीरी सूफी कवियों द्वारा रचित उस काव्य में देखा जा सकता है जिसे स्वयं उन्होंने "शास्त्र" की संज्ञा दी। कश्मीरी शैव दर्शन के अनुसार विश्व शिव का आत्म-प्रकाशन है—उसका काव्य। जैसे काव्य कवि की कल्पना में अन्तर्हित रहता है, वैसे ही विश्व भी शिव में अन्तर्हित हो जाता है। ईश्वरीय चेतना से अभेद का बोध और उससे एकाकार हो जाना ही जीवन का चरम लक्ष्य है। शैव दर्शन के ये विचारसूत्र इन सूफी कवियों की अभिव्यक्ति में भी लगभग ऐसी ही शब्दावली में मिलते हैं। नीला क्रैम कुक ने कश्मीरी कविताओं के 'The Way of the Swan' नाम से किये गये अपने अनुवाद की भूमिका में विचार व्यक्त किया है कि अब्बासिद युग के बाद से ही अरफान के कवि-दार्शनिकों और कश्मीरी शैव चिन्तकों के लेखन में एक-से-वैचारिक तत्त्वों का समान्तर विकास देखा जा सकता है। इस संदर्भ में लेखिका ने बगदाद के कीमियागर जबीर इब्न हय्यान और वसुगुप्त के शिष्यों द्वारा रचित ग्रन्थों को तुलनीय माना है। और अभिनव गुप्त तथा इब्न सिना के ईश्वरीय चेतना सम्बन्धी अनुभवों की समानता की ओर ध्यान आकृष्ट किया है। मानवीय चेतना की अखण्डता पर बल देते हुए कश्मीरी सूफी कवियों ने उसके समस्त रूपों में ईश्वर को प्रतिच्छायित माना है, मानो यह समस्त सृष्टि उसका विराट दर्पण हो। उनके विचार सोमानन्द जैसे शैव चिन्तकों के ईश्वर, प्रकृति और आत्मा के सम्बन्धों को व्याख्यायित करने करने वाले दर्शन सूत्रों की याद दिलाते हैं। इस प्रकार का वैचारिक साम्य सूफी विचारधारा के कश्मीर में सहज लोक-ग्राह्य होने का एक बड़ा कारण हो सकता है।

कश्मीर और सूफीमत

चौदहवीं शती में जब इस्लाम के आगमन के साथ-साथ सूफीमत का भी कश्मीर में प्रवेश हुआ तो शिवसूत्रों के सांचे में ढले कश्मीरी मानस को अपने संस्कारों को यतकिंचित् अक्षुण्ण रखने की संभावना इसी विचारधारा में दिखायी दी होगी। कठमुलाओं के भयंकर अविवेकपूर्ण प्रहारों के बावजूद इसी रंग में कश्मीरी व्यक्तित्व निखर सका। एक ओर से सिकन्दर बुतशिकन, मिर्ज़ा हैदर दुगलत और कुछ मुगल तथा अफगान शासकों व अन्य मतान्ध लोगों ने शरिअत और सुन्नत की स्थापना के नाम पर धार्मिक अत्याचारों और नृशंसताओं द्वारा कश्मीर को रौंद डाला तो दूसरी ओर से सूफी संतों और कवियों ने 'वहदतुल-वजूद' जैसी धारणाओं के प्रतिपादन द्वारा लोकचित्त को गहराई से प्रभावित किया। चिश्ती, नकशबन्दी, कुब्रवी, सोहरावर्दी और नूरबख्शी आदि सूफी

सम्प्रदायों ने कश्मीर में अपनी जड़ें फैलाने के बाद विचार और कविता के क्षेत्रों में जो क्रान्ति उत्पन्न कर दी वह कठमुल्लाओं द्वारा प्रचारित धर्मतन्त्र के संकीर्ण दृष्टिकोण को परास्त कर अपना एक व्यापक लोकप्रिय आधार स्थापित कर सकी। इस आधार के पीछे सूफी मत के मूल इस्लामी ढांचे में आ जुड़े बौद्धों को 'सब्बं खनिकं' और 'आप्प दीपो भव', भारतीय वेदान्त के 'सोऽहम' और 'तत्त्वमसि' तथा कश्मीर शैव दर्शन के 'ईश्वर प्रतिभिज्ञा' जैसे विचार सूत्रों का महत्त्वपूर्ण हाथ रहा है। अठारहवीं शती में अब्दुल बहाव नूरी ने अपने ग्रन्थ 'फतूहातुल कुब्रविया' में इस क्रान्ति का तथा इन आध्यात्मिक सम्पर्कों का एक रोचक इतिहास प्रस्तुत किया है।

आज कुछ लोग इस बात पर ज़ोर दे रहे हैं कि तस्सवुफ पर भारतीय, यूनानी तथा शामी ईसाई धार्मिक विचारधाराओं का प्रभाव अत्यन्त गौण है और अपने मूल रूप में वह कुरान द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों ले नि सृत नींव पर खड़ा है। कश्मीर विश्वविद्यालय के कश्मीरी विभाग द्वारा १९७६ में आयोजित एक विचारगोष्ठी में एम० एम० शैदा द्वारा पढ़ा गया लेख 'तस्सवुफ और उसका मूल स्रोत' इस प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व करता है। शैदा के अनुसार 'इस्लामी तस्सवुफ केवल इस्लाम से ही निकला है। यह वह तस्सवुफ है जो प्रारम्भ में ही प्रकट हुआ। इसकी बुनियाद 'तस्सवुफि-मोहम्मदी' की पाक सीरत पर है। इसके पश्चात इसकी नयी-नयी शाखायें और फूल विकसित हुए, किन्तु वृक्ष इस्लाम का ही रहा। इस बात के दावेदार स्वयं सूफी हज़रात हैं, चाहे वे किसी भी सूफी सम्प्रदाय से सम्बन्ध क्यों न रखते हों।......इस तस्सवुफ ने इबादत (उपासना) और रियाज़त (साधना) के उसूल दिये। इसने फिक्र और तदबुर की शिक्षा दी, ईश्वर की ओर मन लगाने का उपदेश किया। जन्नत की ओर से बुलावा तथा जहन्नुम का भय दिया, किन्तु खुदा की मोहब्बत को सबसे ऊंचा स्थान दिया। इसकी बुनियाद एहसास पर है। अमल इसका सार तत्त्व है। इसने दुनिया में रहकर भी दुनिया से किनारा करना सिखाया। यह शुद्ध इस्लामी तस्सवुफ है। दुनिया का कोई भी मज़हब इस इस्लामी तस्सवुफ में सम्मिलित नहीं, न हिन्दू वेदान्त, न ज़रदुश्ती सिद्धान्त, न ईसाई आध्यात्म और न साधना और उपासना का कोई दायरा।''[२] शैदा साहब, जुनियत बगदादी, बायज़ीद बिस्ताई, और हसन बहारी तथा राबा बसरी को ही इस तस्सवुफ के मूल प्रतिपादक मानते हैं और इसके विश्वासों को किताब तथा सुन्नत से निःसृत। पर यहां सवाल उठता है कि इस्लाम यदि हर प्रकार से परिपूर्ण धार्मिक विचारधारा है तो इसे तस्सवुफ की आवश्यकता क्या पड़ी? यही नहीं अलबरूनी से लेकर हार्टन, बलूश्त, मास्यून, गोल्डनलेहर, ब्राउन और ओलियरी जैसे विद्वानों, जिनका हवाला स्वयं शैदा साहब ने दिया है, द्वारा प्रतिपादित यह मत कि भारतीय वेदान्त, बौद्धमत,

अफलातूनी दर्शन, ईरानी तथा ईसाई रहस्यबाद ने तस्सवुफ को अपना वर्तमान रूप प्रदान किया, को कैसे गलत मान लिया जाए? सूफीवाद को इस्लाम के प्रारम्भिक युग तक ही सीमित रखा जाए तो 'वहदतुलवजूद', 'हम ओस्त', 'फ़ना' और 'बक़ा' जैसी अवधारणाओं का क्या होगा? 'अरफान' किसे कहेंगे, जिसे सूफीमत का मूलाधार माना जाता है? इस बात से कैसे इनकार किया जा सकता है कि मध्य-एशिया के जिन देशों में सूफीमत ने विशेष ज़ोर पकड़ा, वह पहले बौद्ध धर्म के भी केन्द्र रह चुके हैं और इब्राहिम-बिन-ओहम द्वारा राजकुमारत्व छोड़कर गृहत्याग की कथा महात्मा बुद्ध के गृहत्याग से काफी साम्य रखती है, कि बौद्ध भिक्षुओं से ही मुसलमान फकीरों ने माला का प्रयोग सीखा। मंसूर द्वारा दिया गया 'अनहलक' का नारा क्या भारतीय वेदान्त के 'अहं ब्रह्मोस्मि' से प्रेरित नहीं? और क्या उसे अलग कर देने पर सूफी साधना निष्प्राण नहीं हो जाती? किन्तु साथ ही इस बात से भी इनकार नहीं किया जा सकता कि भारतीय तथा अन्य विचारधाराओं के गहरे प्रभाव के बावजूद सूफीमत की मूल आधारभूमि इस्लाम ही है। सूफी काव्य का सर्वोत्तम अंश मुसलमान सूफियों द्वारा रचित है, कि सूफी साधक और संत कुरान में प्रतिपादित विचारों से निरन्तर सम्पर्क बनाये रखते आये हैं। उन्होंने इस्लाम के पैगम्बर को अपने मत का मूल प्रतिपादक और कुरान की कुछ आयतों और हदीसों को उसकी नींव माना है। अन्यत्र ग्रहीत तत्त्वों को भी कुरान की उक्तियों से जोड़ने का उनका प्रयत्न रहा है ताकि, जैसा कि अमीन कामिल ने 'सूफी शायर, भाग-१' की भूमिका में लिखा है,[३] वे गैर-इस्लामी प्रतीत न हों और इस्लामी समाज में उन्हें सहज स्वीकार किया जाये। कश्मीरी सूफी कवियों ने मंसूर की त्रासदी का जो बार-बार उल्लेख किया है वह भी इसी तथ्य की ओर संकेत करता है। अतः जब हम यह कहते हैं कि कश्मीर में शैव दर्शन के प्रभाव से तस्सवुफ का रूप काफी परिवर्तित हुआ, तो हमारा यह अभिप्राय नहीं कि वह मूल इस्लामी आधारभूमि से टूट गया। इसी परिप्रेक्ष्य में हम कश्मीरी सूफी काव्य का अध्ययन और मूल्यांकन प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेंगे।

शेख नूरुद्दीन और उनके शिष्य कवियों द्वारा रचित कुछेक पदों के बाद कश्मीर में सूफी कविता को याकूब सर्फी और ख्वाजा हब्बीबुल्लाह ने गति दी। किन्तु इन दो कवियों ने अपनी काव्य-रचना फारसी भाषा में की है। इन्हीं की भांति बहुत से कश्मीरी हिन्दू कवियों ने भी सूफी काव्य से शब्दावली उधार लेकर शैव-दर्शन से प्रेरित फारसी गज़लें लिखी। इस बीच जलालुद्दीन रूमी, हाफिज़ शीराज़ी, इब्नुलफरीद जामी, निज़ामी, गज़नवी, मुहीउद्दीन इब्न अरबी और इस्मत बुखारवी जैसे प्रख्यात फारसी और अरबी कवियों की रचनाएं कश्मीरियों के भाव-संस्कार का अंग बन चुकी थी। फना और बक़ा, वज्द और

और हाल के अनुभावों को गूंथती हुई इस काव्य-संपदा ने आध्यात्मिक प्रतीकों की एक पूरी परम्परा को अपने साथ लाकर यहां प्रतिष्ठित किया। यह परम्परा दाय के रूप में कश्मीरी सूफी कवि को अनपढ़ होने के बावजूद प्राप्त हुई और उन्नीसवीं शती में तो अरफान यहां की मिट्टी में अपने पूरे सौन्दर्य के साथ प्रस्फुटित और पल्लवित हुआ। फारसी और अरबी सूफी कविता में व्यंजित आध्यात्मिक अनुभव को यहां के कवियों ने अपनाया ही नहीं, फिर से जिया। कश्मीरी ग्राम कवि आरिफ बन गया और जामी की तरह ईश्वर को शाश्वत सौन्दर्य के रूप में परि-भाषित करता हुआ उसके 'ज़हूर' को समस्त सृष्टि में व्यापक देखने लगा। उसने अपने आप को "शास्त्र" का भी प्रवक्ता माना और अद्वैत वेदान्त तथा शैव-दर्शन के विचार-सूत्रों को अपनी काव्य पंक्तियों में प्रतिगुंजित करता रहा। शून्य की बौद्ध और औपनिषिदिक अवधारणाओं को भी उसने काव्य की भाषा में प्रतीकों के माध्यम से अपने अटपटे ढंग से प्रस्तुत किया।

कश्मीरी सूफी काव्य का नवोन्मेष

कश्मीरी सूफी काव्य का अधिकांश गीतों और गज़लों के रूप में रचा गया है, जिनमें स्त्री और पुरुष के उत्कट और तीव्र प्रेम के रूपक के माध्यम से चरम् सत्ता और आत्मा के पारस्परिक सम्बन्धों की प्रगाढ़ता की ओर संकेत किया गया है। रोमांसीय प्रेम पर आधारित होने पर भी कश्मीरी सूफी कविता काव्य के रूप में बहुत कम निबद्ध हुई है। यद्यपि प्रेमाख्यानक मसनवियों से तस्सवुफ के अर्थ ध्वनित करने के प्रयत्न किये गये हैं, इसका हम एक विशिष्ट धारा के रूप में में उन्मेष देखते हैं। फारसी सूफी कविता के प्रभाव और अन्यत्र ग्रहीत तत्त्वों के बावजूद यह काव्य अपनी एक अलग और विशिष्ट पहचान बना सका, यद्यपि हर कवि प्रतीकात्मकता और सांकेतिकता के एक जैसे धरातल पर खड़ा नजर आता है, एक जैसी शब्दावली में बात करता हुआ लगता है। अभिव्यक्ति के मौलिक स्तर भी इस काव्य में उद्घाटित होते हैं। पर रूढ़ भंगिमाओं और मुहावरों की पुनरा-वृत्ति के कारण कई स्थलों पर यह भी प्रतीत होता है कि एक कवि दूसरे को दोहरा रहा है। संगीतमयता कश्मीरी सूफी काव्य का एक विशिष्ट गुण है और लोग प्रायः उसी के प्रवाह में वह जाते हैं, उसकी गूढ़-गाढ़ सांकेतिकता और रहस्यमयता की प्रवृत्ति के कारण यद्यपि सही अर्थ को समझने में मुश्किल होती है। यह प्रवृत्ति इतनी प्रबल है कि कई स्थानों पर बेहद उलझे प्रतीक अत्यन्त निजी हो गये हैं। शाह गफूर और स्वछ क्राल से लेकर समद मीर और अहद ज़रगर तक का काव्य दुरूहता के प्रति इस मोह का साक्ष्य प्रस्तुत करता है। 'हम ओस्त' (सोऽहम्) सूफी कवियों के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण दार्शनिक सूत्र है जिसे वे विभिन्न प्रकार से रेखांकित करने का प्रयत्न करते है। इन कवियों में

कितने सच्चे 'साधक' थे, कितने नहीं—इसकी तह में जाना मुश्किल है। फिर कमाल का आरिफ कमाल का कवि भी हो—यह ज़रूरी नहीं। आज सूफी कविता का स्वर उतना महत्त्वपूर्ण नहीं, पर समद मीर और अहद ज़रगर जैसे कवि इस बात का स्मरण दिलाते हैं कि बीसवीं शताब्दी में भी यह एक विशिष्ट धारा रही है। हिन्दू दार्शनिक सूत्रों से तस्सवुफ का समन्वय करने वाले कवि शाह गफूर के बारे में हम अन्यत्र लिख चुके हैं। उनकी 'धारणायि दारुन सूहमसू', और 'सुओस पानय; जैसी रचनाएं कश्मीरी सूफी काव्य की उपलब्धि मानी जाती है।

स्वछ क्राल (मृत्यु : १८५७)

ईश्वरीय सत्ता और मानवीय चेतना की एकता को सरस गीतों में गूंथने वाले सूफी कवियों में स्वछ क्राल का नाम महत्त्वपूर्ण है। तस्सवुफ का 'हम ओस्त' (सोऽहम्) विचार-सूत्र उनकी रचनाओं में एक विशिष्ट काव्यात्मक दीप्ति से कौंध उठता है। गहरी रहस्यानुभूति को सहज-सरल शब्दावली में स्वछ क्राल इस कलात्मकता से रूपान्तरित करते हैं कि उसका सम्प्रेषण एक साथ अनेक स्तरों पर हो जाता है। आध्यात्मिक अर्थों को महत्त्व देने वाली लोगों को उसमें सूफी साधना के निगूढ़ तत्त्वों के संकेत तो मिलते ही हैं, सामान्य पाठक के लिए भी बोधगम्य बिम्बों और प्रतीकों के सहारे व्यक्त भाव की गहराइयों में प्रवेश करना कठिन नहीं होता।

कश्मीर के पुलवामा तहसील के एक गांव में जनमे स्वच्छ क्राल के जीवन के बारे में बहुत कम तथ्य उपलब्ध हैं। केवल इतना भर ज्ञात है कि वे प्रसिद्ध मसनवीकार महमूद गामी (मृत्यु १८५५ ई०) के समकालीन थे और पेशे से, जैसा कि उनका नाम ही स्पष्ट करता है, कुम्हार। कश्मीरी सूफियाना संगीत की महफिलों में लोकप्रिय होने के बावजूद इनके उपलब्ध गीतों की संख्या अधिक नहीं। कोई ग्यारह गीत राजकीय कलचरल अकादमी की ओर से प्रकाशित और अमीन कामिल द्वारा संपादित 'सूफी शायर—भाग १, में संग्रहीत हैं। लघु छन्दों में निबद्ध इन गीतों में शब्दों और भावों की सरल स्पष्ट भंगिमा और सरस संगीतमयता एक ऐसे प्रभाव की सृष्टि करती है जिसे अनदेखा नहीं किया जा सकता है।

'दप्योमस त ् दपूनम' (मैंने पूछा उसने उत्तर दिया) स्वछ क्राल की सर्वाधिक लोकप्रिय गज़लों में है जिसमें सूफी दर्शन और साधना के अनेक सूत्र संवाद शैली में व्याख्यायित किये गये हैं। ये संवाद काल्पनिक हैं, कवि और उसके "बालपने के मीत" यानी आत्मा और ईश्वर के बीच। प्रत्येक पंक्ति में स्थापना और प्रति-स्थापना की तकनीक का प्रयोग किया गया है. जो सीधे प्रभावित करती है। एक-एक करके अनेक विचार-बिन्दु प्रज्जवलित होकर अपनी कौंध छोड़ जाते हैं।

प्रश्न और उत्तर दोनों ऊपर से अत्यन्त सरल प्रतीत होते हैं पर सतह से नीचे जाने वाले के लिए जीवन और जगत, व्यक्ति चेतना और विश्व चेतना, सूफी साधनाओं की विभिन्न अवस्थाओं और दशाओं के बारे में निगूढ़ तात्त्विक चिन्तन की ओर संकेत करते हैं —

मैंने कहा, "नुक्ता (रहस्य) तो था नहीं,
फिर कहां से आया ?"
उसने उत्तर दिया कि "इश्क के मार्ग से परिपक्व होकर आया।"
मैंने कहा, "इश्क का यह नुक्ता (रहस्य) मुझ पर भी प्रकट करो"
वह बोला, "तुम पर प्रकट करूं तो तुम इसे रखोगे कहां"
मैंने कहा, "मुझे अपने होने के बारे में समझाओ"
वह बोला, "पहले स्वयं अपनी सीमाओं को समाप्त करना सीखो"
मैंने पूछा, "भीतर क्या है, और बाहर क्या ?"
उसने कहा, "जो बाहर है, वही भीतर है"
मैंने पूछा, "तो फिर तुम्हारा मकां कहां है ?"
वह बोला, "वह स्थान जो कभी आबाद होता है तो कभी बीरां।"

और इसी प्रकार यह संवाद उस बिन्दु पर समाप्त होता है जहां ज्ञान का अंजन लगाकर सत्य और असत्य का भेद स्पष्ट हो जाता है और जहां सभी सीमाएं ढह जाती हैं और केवल एक असीम रह जाता है।

एक अन्य रचना में कवि अपने आपको ईश्वर के आत्म-प्रकाशन का एक माध्यम भर कहता है और उस 'कुछ नहीं' का अर्थ स्पष्ट करता है जिससे 'सब कुछ' निःसृत है—

हता पान॒ ब॒ कुस गोस
पानय ओस ब॒ बहानय...

ओरे मैं ! मैं कौन हूं भला ?
सब कुछ वही है, मैं तो एक बहाना हूं
कुछ नहीं था तो कुछ ज़रूर था
कुछ नहीं का अर्थ कुछ ज़रूर है
जो कुछ था वही था
मैं तो सिर्फ बहाना हूं।

कुछ नहीं था तो कुछ अवश्य था, क्योंकि 'कुछ नहीं' (अनस्तित्त्व) में से 'कुछ' का अस्तित्त्व विद्यमान नहीं हो सकता)। 'कुछ नहीं' 'कुछ' के होने की पूर्वास्था है। विश्व का अस्तित्त्व था किन्तु रहस्य में विलीन और इसी 'कुछ नहीं' होने के रहस्य का अर्थ यह कौन प्रकट कर रहा है। बस वही एक है। मैं उसके अस्तित्त्व को

व्यक्त करने वाला मात्र एक माध्यम हूं।

'कुछ नहीं' अर्थात शून्य का दर्शन कश्मीरी सूफियों के लिए एक प्रिय विषय रहा है जिसके द्वारा वे अपने इस सूत्र को व्याख्यायित करते हैं कि ईश्वर एक सौन्दर्य सत्ता है जिसका रूप सारी सृष्टि में उद्भासित होता है। केवल वही एक सत्य है, और उसमें विलय ही मानव जीवन का चरम उद्देय है। किन्तु वह असीम है और अपनी सीमाओं के रहते हुए व्यक्ति चेतना का उसमें विलय असंभव है—यही अवस्था है जिसमें आनन्द ही आनन्द शेष रहता है, शेष सभी कुछ छूट जाता है। असीम और ससीम के इस रहस्य की सबसे बड़ी शर्त है 'दर्दे मुहब्बत' (प्रेम की पीर)। 'वसल', दर्दे मुहब्बत के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं। परोक्ष प्रिय की प्राप्ति के लिए निरन्तर एक तड़प, एक आकुलता जो अपने-आप में एक परितृप्ति है। यह विरोधाभास सूफी साधना की आधार शिला है। प्रेम की यह पुरातन पीर एक ऐसी पूंजी है जिसे पाकर व्यक्ति शहंशाह बन जाता है और मांगने के लिये उसे कुछ भी नहीं रह जाता। इन्हीं भावों को अपने एक प्रसिद्ध गीत में स्वछ क्राल ने व्यक्त किया है जिसकी पहली पंक्ति है "वा' सिल क्या छुय वनान कथ, हा' सिल दर्दे मुहब्बथ"।

दर्द की यह कैफियत समस्त कश्मीरी सूफी काव्य पर तारी है जिससे बिद्ध होने के कारण ही स्वछ क्राल की कविताओं में कुछ ऐसा सोज़ मिलता है कि अर्थ के गहरे स्तरों से अपरिचित होने पर भी वे सुनने-पढ़ने वाले के मन को देर तक अपनी अनुगूंजों से भर जाती हैं। आत्मा और परमात्मा के राग-सम्बन्धों की व्याख्या में उन्होंने परम्परा से चले आये आध्यात्मिक प्रतीकों का प्रयोग तो किया है ही; उन प्रतीकों को नये रूपों में या नये अर्थों में ही व्यंजित किया है। और अपने एक मौलिक प्रतीक-विधान की भी सृष्टि की है। पानी और नाव के प्रतीक के प्रयोग द्वारा अपनी एक विशेष रूप से लोकप्रिय कविता में साधना और साध्य के अन्योन्याश्रय को, गुणात्मक व्यक्ति के सम्बन्ध की व्याख्या करते हुए कवि ने अद्वैत भाव की जिस ढंग से व्यंजना की है उससे वेदान्त और औपनिषिदिक उक्तियों का स्मरण होता है—

जिसकी यह झील है, उसकी है नाव भी
झील में हवा है, हवा में झील है
... ...

पानी और नाव है, नाव और पानी है
साध्य और साधन
साधन और साध्य
एक हैं दोनों ही—दोनों बस एक हैं
परस्पर गुथे हैं, परस्पर आश्रित हैं

छोटा जल-स्रोत है और उसमें नदी है
पूरी की पूरी समायी है, वसी है
जिसकी यह झील है, उसकी है नाव भी

स्वछ क्राल ने अपने-आपको सृष्टि और उसके उद्गम, व्यक्ति और उसके गन्तव्य, अस्तित्व और अनस्तित्व के प्रश्नों में उलझाया है और यही स्थिति उनकी कविता की आधार-भूमि है। वे मंसूर की भांति 'अनहलक' (मैं सत्य हूं) की रहस्यानुभूति से विभोर होने का संकेत देते हैं, किन्तु 'फना' से पहले इस तथ्य के उद्घाटन के लिये मंसूर को डांटते प्रतीत होते हैं कि वह उसका पात्र नहीं था अतः "कौवे की तरह कांय-कांय करता रहा।" एक चरम् सत्य की उपलब्धि के लिए बार-बार असत्य का मन्थन करने की अर्थहीन प्रक्रिया के प्रति कवि ने अपनी उकताहट व्यक्त की है—

असत्य के जल का मैं कितना मंथन करूं ?

न्याम साहब

कश्मीरी सूफी कवियों में अभिव्यक्ति की सरलता न्याम साहब (१८०५-१८८०) की विशिष्टता है। उलझाव और दुरूहता से मुक्त उनका काव्य हमें सूफी विचारों की सुपरिचित भूमि पर ले जाता है जहां आत्मा और ईश्वर के अभेद का फलसफा सहज लौकिक प्रेमाकर्षण के गीतों में ढलता है। चिन्तन की गहराइयां या भाव की उत्कटता इस काव्य में नहीं, किन्तु उलटबांसी की गांठें भी नहीं जो कश्मीरी सूफी कविता में अधिकतर मिलती हैं। शायद इसी कारण न्याम साहब की रचनाएं आम जनता में अपेक्षाकृत अधिक प्रसार पा सकी हैं और कला की बारीकियों के लिए न सही, सीधी-सरल भाषा में सूफी प्रेम भाव की अभिव्यक्ति के लिए ही सही उन्हें सूफियाना महफिलों में आज भी लोकप्रियता प्राप्त है।

श्रीनगर के चींक्राल मुहल्ला में १८०५ ई० के आसपास जनमे न्याम साहब (वास्तविक नाम मुहम्मद नईम) पेशे से शालबाफ थे। जिस कारखाने में वे शाल बुना करते वहीं उनकी वृद्धावस्था में कश्मीरी के एक और विख्यात् सूफी कवि शम्स फकीर भी काम करने आये। शाल बुनने की-सी कारीगरी न्याम साहब की कविता में तो उतर नहीं आयी, पर शालों के ताने-बाने के साथ-साथ वे गीतों और गजलों का भी ताना बाना १८८० ई० में अपनी मृत्तु पर्यन्त बुनते रहे। अमीन कामिल ने अपनी पुस्तक 'सूफी शायर'—भाग-१ में उनकी १६ कविताएं संकलित की हैं, पर कवि की बहुत-सी रचनाएं संकलित नहीं हो पायी हैं।

सूफी कविता में न्याम साहब ने कोई नया आयाम नहीं जोड़ा। उनका भाव-क्षेत्र सीमित था। उन्होंने सुपरिचित शब्दावली में सूफी रहस्यवाद के ज्ञात-ख्यात तत्त्वों को काव्य की सतह पर उभारा और ऐसा करते हुए उसी रूपक और बिम्ब-

विधान का सहारा लिया जिसकी सूफी कविता में परम्परा थी। भाव और अर्थ की गहराइयों में भी वे उतरे नहीं और न काव्य सौन्दर्य की बारीकियों में ही उलझे। मगर उनकी कविता में ऐसा कुछ अवश्य है कि उनकी रचित अनेक गजलें और गीत आज भी बहुत से लोगों को कंठस्थ हैं। शायद अभिव्यक्ति का आयासहीन सीधापन और कहीं कही वह मिठास जो लोक काव्य का सहज तत्त्व है।

आत्मा और परमात्मा के सम्बन्धों की स्त्री-पुरुष प्रेम की भाषा में व्याख्या-व्यंजना और चेतना की अखण्डता और एकता की अनुभूति इन दो धुरियों पर उनकी काव्य-कल्पना गतिमान है। शून्य अथवा 'न कुछ' में से विविध, रूप-रंग-मय सृष्टि का विकास भी एक ऐसा विषय है जो उनके काव्य में आवृत्ति पाता है। 'कम्यू शीश़ च्योवनस मय' — किस पैमाने से उसने मुझे मधुपान कराया कवि की सर्वश्रेष्ठ रचना मानी जाती है, जिसमें मदिरा के सुपरिचित प्रतीक द्वारा सूफी साधना की स्थितियां संकेतित हुई हैं—

जिसे मैं पुकारू वह तो मेरे पास में है
किस शीशे से उसने मुझे मधुपान कराया ?
मैंने साज़ के सभी तार कस लिये
छहों तरफ से उसे बन्द कर डाला
किन्तु साज़ की आवाज़ तो मेरे अपने पास थी
किस शीशे से उसने मुझे मधुपान कराया ?
एक अकेले से एक अकेला निकला
तो एक अकेला रहा, कभी चुका नहीं
यह बात मैंने अपने आप से कही
किस शीशे से मदिरा ढालकर उसने मुझे पिलाई ?

न्याम साहब का एक अन्य गीत विशेष प्रसिद्धि पा सका है, 'तस छु म्योन नाव' जिसमें ईश्वरीय चेतना के साथ व्यक्ति-चेतना की एकात्मता और अभेद का भाव व्यंजित है। इस गीत में न्याम साहब दार्शनिक प्रतीकों में बात करने के कारण उतने सरल-सुवोध नहीं रह पाये हैं जितने उन रचनाओं में जिनमें केवल स्त्री और पुरुष के प्रेम का रूपक है। गीत की पंक्तियों में चेतना की मूल नदी को पी डालने का आह्वान है—

मैंने उसे उथले में, गहरे में खोजा
कि सहसा याद आया कि जो मेरा नाम है—वही उसका है।
आंखें उसके एकान्तिक अकेलेपन पर मुग्ध हो चलीं
यह दरिया कहां से निकला है ?
इस निर्मल दरिया को पी डालना है
मुझे साहसा याद आया कि उसे मेरा ही नाम है

कुछ मैंने उसमें देखा कि मैं उसके पीछे पागल हो गया
मैं प्रकाश ढूंढ़ने को निकल चला
पर प्रकाश की गति को झेल सकूं, तब ना
मुझे याद आया कि जो मेरा नाम है वही उसका है ।

कवि ईश्वरीय चेतना को एक अनंत अखण्ड प्रवाह के रूप में देखता है जो सब कहीं व्याप्त है । केवल वही सत्य है ओर विभिन्न रूपों में भासमान है । वेदान्त के अद्वैत दर्शन की-सी भाषा बोलते हुए कवि अपनी एक कविता में कहता है—

जल से जल की उत्पत्ति हुई
जल ही सब कुछ है ।
जल ही ताज पहने हुए पुरुष है
वह तो स्वयं सूर्य है, स्वयं चन्द्र है
स्वयं दिया है
वहां एकत्व और आधिक्य समा नहीं पाते

चरम सत्ता का एकत्व गिनती का एकत्व नहीं, कर्त्ता, क्रिया और कर्म का एकत्व है । अलकुर्खी के शब्दों में तस्सवुफ खुदा की इन्हीं हकीकतों का परिज्ञान है ।

न्याम साहब के "दिल न्यूम हुसनन ज़ुल्फन त़ खालन, वुनि छुम ज़ालन आसनय आर" (उसके सौंदर्य ने, लटों ने तिल ने, मेरा दिल ले लिया है) जैसे गीतों में ईश्वर के विराट सौन्दर्य को नारी सौन्दर्य में रूपायित है, जिसको पाने की तड़प सूफी काव्य की जान है । यहां भारतीय सूफी परम्परा के अनुरूप ईश्वर को प्रेमिका के रूप में प्रस्तुत किया गया है, किन्तु कवि के अन्य गीतों में आत्मा ही प्रिय की प्रतीक्षा में आकुल-व्याकुल प्रेमिका है—

वन त़ वें'स्य बालयार म्योन कर इये ?

सखि कह तो मेरे बालपने का मीत कब आयेगा ?

अ'म्य या'र्य क'रनस बाम्बरे,
हूरे म्यें न्यूनम च़ूरि दिल

यार ने मुझे भरमा दिया
मुझ सून्दरी का दिल चुरा लिया !

'बो'म्बरो क्याह छ़ारान त़ ग्वारान
व्वल़ प्रारान छस यम्ब़रज़ल

भौंरे तू किसे ढूंढ़ रहा है ?
मैं नर्गिस तेरी प्रतीक्षा में खड़ी हूं।

इस प्रकार के गीत है, जो शैली की दृष्टि से लोकगीत प्रतीत होते हैं। यदि यह न कह दिया जाये कि इन्हें किसी सूफी कवि ने लिखा है, तो इन गीतों को प्रेम को लेकर रचे गये सामान्य लोक गीतों से भिन्न मानना मुश्किल है। इनमें न्याम साहब की कविता अधिक कोमलता से धड़कती है और हम कुछ क्षण यह अनदेखी करने को तैयार हो जाते हैं कि न्याम साहब की रचनाएं छन्द या लय की दृष्टि से शिथिल हैं, कि उनमें शब्दों की उबा देनेवाली पुनरावृत्ति हैं, कि उनमें कला का अभाव है, अनगढ़नपन है।

रहमान डार

स्त्री और पुरुष के राग-सम्बन्धों की प्रगाढ़ता में "मारफत" के संकेत पाने वाले रहमान डार कश्मीरी के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सूफी कवियों में हैं। कुछ विद्वान श्रीनगर के छत्ताबल मुहल्ले में जनमे इस कवि को मसनवीकार महमूद गामी का समकालीन मानते हैं और १८९७ ई० को उनकी मृत्यु-तिथि, किन्तु मुहीउद्दीन हाजिनी ने सन् १९०० ई० को उनकी मृत्यु का वर्ष बताया है। उन्होंने एक घुम्मकड़ दरवेश का जीवन जिया, और कश्मीरी काव्य को 'शषरंग' के रूप में एक ऐसी कृति प्रदान की जो ऐन्द्रिक प्रेम की ऊषमा से धड़कती है। यौनाकर्षण और सूफी रहस्यावाद का इतना निकट का सम्बन्ध कश्मीरी कविता में पहली बार उन्होंने ही जोड़ा।

रहमान डार ने यद्यपि 'मांछ तुलूर' (मधुमक्खी) शीर्षक से एक अन्यापदेशिक कविता तथा अनेक गीतों और गजलों की रचना भी की, उनका नाम विशेषतया 'शषरंग' से सम्बद्ध है, जो उनकी ख्याति का मुख्य आधार है। आठ-आठ पंक्तियों की इस छः पदों वाली कविता को कश्मीरी काव्य की एक उपलब्धि माना जाता है। मन को पकड़ती-सी उदास किन्तु तृष्णा से उत्तप्त लय, ऐन्द्रिक संवेदनों को उद्दीप्त करने वाले बिम्ब और मधुर संगीतात्मकता के कारण यह कविता आज व्यापक रूप से लोकप्रिय है। कविता में अपने प्रेमी द्वारा परित्यक्ता एक स्त्री की उत्कट मिलनाभिलाषा और रतिकामना, बेचैनी और तड़प की मार्मिक अभिव्यक्ति है, जिसे कवि ने आध्यात्मिक अनुभव के साथ गूंथने का प्रयत्न किया है। प्रणय-तृषा इसमें इतनी स्पष्ट और प्रबल रूप से उबल पड़ती है कि रहमान डार की उद्घोषणा* के बावजूद लोग इसे आध्यात्मिक सांकेतिकता के कारण नहीं दैहिक मूल्यों की सरस अभिव्यंजना के रूप में पसन्द करते हैं। ईश्वर से एकात्म होने को विकल साधक की तड़प भी इससे ध्वनित-संकेतित होती है, पर यह क्षीण सांकेतिकता ऐन्द्रिक पक्ष के सामने गौण होकर रह गयी है। अपने

प्रणयी को आकुल-व्याकुल पुकारती पगलायी-सी प्रेमिका का भाव-बिम्ब आद्यान्त कविता पर छाया हुआ है और उसके सौन्दर्य का मूलाधार है। लोकगीतों की-सी शैली कविता के प्रभाव का और घना बना देती है—

> पापों से वह डरता नहीं
> प्रेम की आग में वह मुझे जलता छोड़ गया
> पूस में पत्तों-सा उसने मुझे झरा दिया

रहमान डार की 'मांछ तुल़र' (मधुमक्खी) रूपक के आयामों से युक्त एक कविता है, जो मधुमक्खी, मक्खी, मधु के छत्ते और कवि के बीच संवाद के रूप में रचित है। यहां मधुमक्खी विचार या बुद्धि है, मक्खी सांसारिक कामना और मधु का छत्ता आत्मा है। संवाद का उपसंहार प्रस्तुत करते हुए कवि अनेक रूप-मय सृष्टि की एक ही अखण्ड चेतना एक चरम-सत्ता से उत्पत्ति को सांकेतिक अर्थ के रूप में रेखांकित करता है। किन्तु कविता की दृष्टि से 'मांछ तुल़र' सफल नहीं है, यद्यपि इस प्रकार के संवाद की तकनीक का यह कश्मीरी कविता में पहला प्रयोग है। अमीन कामिल को आपत्ति है कि इसमें कवि ने पात्रों के मुंह में अपने संवाद भरे हैं, रूपक के पात्रों के अर्थ को स्वयं प्रकट किया है और अंत में इससे उभरते नुक्तों की अपनी ओर से व्याख्या की है।[१]

रहमान डार का सूफी रूप उनकी गजलों और गीतों में अधिक निखरा है। यहां आध्यात्मिक अनुभव कविता की भाषा में रूपान्तरित हुआ है और सूफी चिन्तन के निगूढ़ तत्त्व सूक्ष्म सांकेतिकता द्वारा ध्वनित हुए हैं। उपनिषदों के 'नेति-नेति' की भांति 'नफी' अर्थात् इनकार का सूफी साधना-पद्धति में विशेष महत्त्व है। इनकार से से प्रारम्भ करने के बाद ही चरम सत्ता के अस्तित्व का प्रमाण प्राप्त हो सकता है। और अपने वास्तविक स्वरूप का परिज्ञान भी। इसी परिज्ञान को रेखांकित करते हुए रहमान डार उसे इस "खाकदान" (मिट्टी के पात्र शरीर) की सबसे बड़ी शोभा मानते हैं। यह परिज्ञान इस बात का बोध कराता है कि आदमी मूलतया अपरिसीम हैं। देश और काल के बन्धनों से परे शून्य के निर्बन्ध वातावरण में मुक्त उड़ान भरने वाली चेतन सत्ता। देश और काल की सीमाएं इस संसार को जकड़े हुए हैं और यह संसार क्षणिक है—मनुष्य नहीं, वह तो ज्योतिर्मय स्वरूप है, चरमसत्ता के असीम प्रकाश का व्यक्त रूप। 'वुज़नोवुम संसार' जैसी गजलों में सूफी विचार के ये रहस्य-बिन्दु उद्घाटित होते हैं। किन्तु काव्य के धरातल पर ये किसी सार्थक स्थिति को आलोकित नहीं करते। इस दृष्टि से लोक शैली में रचित' कमि स्वनि रो'टनम यार' (किस मेरी सौत ने मेरे मीत को रोक लिया है) और 'मलाल त्राव म्योनुय' (मेरी नाराजगी छोड़ दो) जैसे गीत भावपूर्ण होने के कारण अधिक प्रभावित करते हैं यद्यपि उनका भी आधारभूत कथ्य तस्सवुफ ही है—

मारफति मयि स॒त्य गोस बेदिल बेदार
प्रज़नोवुम संसार
बुनियादि आदम छु लानिहायत
दुनिया छु नापायेदार
शिन्या ग'छिथी वोतुस ब॒ मतलब
हदव लो'बस न॒ तार

मारफत की मदिरा से मैं सचेत हो गया
और मैंने संसार को पहचान लिया।
मनुष्य मूलतया अपरिसीम है
क्षणिक है तो यह दुनिया
शून्य से गुज़र कर ही मैं इस अर्थ तक पहुंचा
सीमाओं में रहकर मैं उसका पार नहीं पाता

मदिरा और मदिरालय रहमान डार के प्रिय प्रतीक हैं, जिनके द्वारा कवि ने 'वज्द' और 'हाल' की भावस्थितियों की ओर संकेत किया है। स्पष्टतया यह फारसी कविता से लिया गया पारम्परिक और रूढ़ प्रतीक है, और रहमान डार ने इसे कोई नया अर्थ नहीं दिया है, किन्तु उनके गीतों में इसकी आवृत्ति तस्सवुफ की सूखी भूमि को कुछ रस से सिक्त कर जाती है और उनकी कविता को महज़ सूक्तियां बन जाने से बचाती है।

वाज़ा महमूद

कश्मीरी सूफी कवियों में सर्वाधिक प्रयोगशील कवि वाज़ा महमूद (१८४५-१९२४) रहे हैं, जिन्होंने नये छन्दों, नये रूपाकारों, नये प्रतीकों और बिम्बों द्वारा रूढ़ हो चली सूफी कविता को गति देने का प्रयत्न किया। इस दृष्टि से वे सभी सूफी कवियों से अपना अलग स्वर, अलग पहचान स्थापित करने में सफल हो सके हैं। इसके लिए उन्हें लीक से हटकर अपने लिए शैली और विषय के क्षेत्र में नये रास्ते बनाने पड़े हैं। महमूद की प्रयोगशील प्रतिभा का सही मूल्यांकन नहीं हुआ है, यद्यपि अब्दुल अहद आज़ाद ने गज़लों की साहित्यिकता परिपक्वता और नये विषयों की तलाश के लिये उनकी तत्परता की प्रशंसा की है। आज़ाद लिखते हैं, "अन्य सूफी कवियों की तुलना में वाज़ा महमूद की गज़लें अधिक परिपक्व हैं। चुस्त रदीफ़-काफिया, हमवजन अल्फाज़ का इस्तेमाल, तरकीबों की मुनासिब बन्दिश इन गज़लों का जाहिर हुस्न है। ऐसा भी प्रतीत होता है कि शायर नये विषय ढूंढ़ रहा है और उसने काफी वक्त नये ख्याल पैदा करने में खर्च किया है।"[६]

अमीन कामिल ने महमूद की प्रयोगशीलता को "एक अलग रंग पैदा करने के

शौक" से प्रेरित माना है।[7] "सामान्य से भिन्न रदीफ-काफियों या नये विषयों का प्रयोग कवि ने भले ही किया हो, पर शायरी ने उसका साथ नहीं दिया है, जिसके परिणामस्वरूप उसके कलाम में (लोक शैली में रचित दो एक गीतों को छोड़कर, विशेष जान नहीं है और न आम सूफी शायरों का-सा सोजीगुदाज)।"[8] पर कामिल यह भूल जाते हैं कि लीक से हटकर नये प्रयोग करने की भी अपनी सार्थकता है, भले ही वह सूफी विचार संदर्भों की सीमाओं के अन्तर्गत क्यों न हो। वाज़ा महमूद को यह श्रेय अवश्य मिलना चाहिए कि सूफी विचार को नये ढंग से नये बिम्बों-प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त करने का उन्होंने प्रयत्न किया है और इस प्रयत्न में उनका कवि पीछे छूट गया हो, ऐसी बात नहीं। जिस शायराना जज्बे की बात कामिल करते हैं, उससे उनकी कविता उतनी ही रिक्त या युक्त है जितनी अन्य सूफी कवियों की रचनाएं। अनुभव अथवा रहस्यानुभूति के स्तर पर वे उतना ऊंचा न उठ सके हों जितना शम्स फकीर, पर सूफी कविता को "कविता" बनाने में उनकी देन अवश्य रही है। एक बात जो उन्हें अन्य कश्मीरी सूफी कवियों से अलग करती है, यह है कि वे कवि पहले थे और सूफी बाद में, जबकि अन्य सूफी कवि पहले सूफी थे और बाद में कवि।

वाज़ा महमूद की देन केवल नये रदीफ़ काफिये अपनाने तक ही सीमित नहीं। कहीं-कहीं आश्चर्यजनक रूप से ताजे बिम्बों के प्रयोग द्वारा वे रहस्यवादी भावस्थितियों का उद्घाटन करते हैं—

> इश्क के दरिया में वह मौजें उठाने लगी
> तो भला किसकी नाव पार उतरती ?
> उस भंवर में कितनी ही नावें फंस गयीं
> (ओ सुन्दरी, यों सरे-बाज़ार न निकल !)

या "गाश आमय ल'तिये' की ये पंक्तियां—

> मेरा दिल भर आया
> पर मैं द्वार से बाहर न निकली
> स्वयं आकाश मेरे घर आ गया

सूफी कविता की रूढ़ और जड़प्राय शब्दावली और परम्परागत रूप से अलग ये बिम्ब एक नयी दिशा का परिचय देती हैं, जिसके महत्त्व को अस्वीकारा नहीं जा सकता।

वाज़ा महमूद की गज़लें साहित्यिक कसौटी पर खरी उतरते हुए भी नयेपन का आभास देती हैं, तो उनके गीत लोक-शैली की ताजगी को सुरक्षित रखे हुए हैं। आध्यात्मिक भाव-संकेतों को छोड़ भी दिया जाए, तो गीत के स्तर पर भी

वे अपनी छाप छोड़ जाते हैं। "व्वल गूर करयो" (आओ तुम्हें दुलराऊं) जैसे गीतों की पंक्तियां इस बात का प्रमाण प्रस्तुत करती हैं। शहर और गांव की युवतियां आज भी वाज़ा महमूद के गीत गुनगुनाती हुई "रो'व" (एक कश्मीरी लोक नृत्य) करती हैं, जो उनकी व्यापक लोकप्रियता का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

वाज़ा महमूद की बहुत-सी रचनाएं आज उपलब्ध नहीं हैं। होतीं तो सूफी कविता में उनकी प्रयोगशीलता का और अधिक साक्ष्य जुट पाता। फिर भी उनकी जो भी कविताएं उपलब्ध हैं उनमें से अधिकांश सूफी संगीत की महफिलों में गानेवाले गायकों को खूब कंठस्थ हैं। दरअसल इन महफिलों के कारण ही महमूद के बहुत-से गीत और गजलें सुरक्षित रह सकी हैं। अतः इस संदर्भ में मुहम्मद अमीन कामिल का यह कथन कि लोगों के मिज़ाज से ऊंची या बाहर होने के कारण उनकी रचनाएं सुरक्षित नहीं रह सकी होंगी, सही नहीं प्रतीत होता। वाज़ा महमूद ही नहीं अन्य कश्मीरी सूफी कवियों का भी बहुत-सा काव्य आज अनुपलब्ध है, और जो अंश उपलब्ध है उसका समुचित सम्पादन नहीं हो पाया है।

सूफी शायरी में नयापन लाने के लिये प्रयत्नशील इस कवि के जीवन के बारे में भी तथ्य पूरी तरह ज्ञात नहीं है। १८४५ में उसका जन्म हुआ और वह श्रीनगर के नवाब बाज़ार मुहल्ले में रहता था—कुछ के अनुसार एक नानवाइन के यहां। मृत्यु आज़ाद के अनुसार १९१६ में हुई, पर मुहीउद्दीन हाजिनी के अनुसार १९२४ ई० में। प्रो० जियालाल कौल और अमीन कामिल भी इसी तिथि का समर्थन करते हैं।

शम्स फकीर

कश्मीर में सूफी रहस्यवाद की रचनात्मक उपलब्धियों का सर्वोच्च शिखर शम्स फकीर (१८४३-१९०४) की कविता में दृष्टिगोचर होता है। "शास्त्र" अर्थात भारतीय विचार दर्शन से प्रेरित-प्रभावित तस्सवुफ की परम्परा के शम्स फकीर सबसे महत्त्वपूर्ण और सर्वाधिक लोकप्रिय प्रतिनिधि थे। अद्वैत के अंतर्बोध को रागात्मक धरातल पर उन्होंने सहज गीतात्मक अभिव्यक्ति दी है। रहस्यानुभूति के आध्यात्मिक संकेतों का काव्य की भाषा में ऐसा मार्मिक उद्घाटन बहुत कम सूफी कवि कर पाये हैं। प्रो० ज़ियालाल कौल के शब्दों में, "उनमें वह गुण है जो रहस्यवाद को कविता बनाता है।"[1]

श्रीनगर में जनमे शम्स फकीर का वास्तविक नाम मुहम्मद सिद्दीक़ भट्ट था। शुरु-शुरु में उन्होंने शाल बुनने के एक कारखाने में काम किया जहां उनका सम्पर्क प्रसिद्ध सूफी कवि न्याम साहब से हुआ। पच्चीस वर्ष की आयु में वे अमृतसर चले गये और एक सूफी फकीर के पास बारह वर्ष बिताये। लौटने पर अनंतनाग

में आकर रहने लगे जहां उन्होंने विवाह भी किया। पर विवाह के कुछ काल बाद वे साधना के लिए कुर्सीपुर चले गये और वहीं १६०४ में उनका देहान्त हुआ।

शम्स फकीर की कविताओं का कुछ भाग प्रकाशित हो चुका है। राज्य कल्चरल अकादमी की ओर से प्रकाशित 'सूफी शायर' के तीसरे भाग में अमीन कामिल ने कवि के कुछ गीतों-गज़लों को संपादित-संकलित किया है। पर शम्स फकीर की लोकप्रियता का आधार सूफियाना संगीत की महफिलों के माध्यम से उनकी रचनाओं का गांव-गांव में प्रसार है जहां लोग विभोर मन से आज भी उन्हें कंठस्थ किये हैं। अब्दुल अहद आज़ाद का विचार है कि उनके "बाज खयालात और मज़ामीन (विषय) उलझे हुए हैं, या फिर हमारी ही समझ नहीं आते। लोग उनपर झूमते हैं। महफूम (अर्थ) पूछो तो हेच।"[११] अमीन कामिल शम्स फकीर को एक "बाकमाल सूफी" मानते हैं जिनका अनुभव "रंग-बिरंगा" है और जिनकी जानकारी विस्तृत है पर शायरी ने उनका "उतना साथ नहीं दिया है।"[१२] देती तो शम्स फकीर, बकौल कामिल साहब, "कश्मीरी साहित्य में सीमाएं निर्धारित करने वाले एक व्यक्तित्व होते।"[१३] पर कवि के रूप में शम्स फकीर का स्थान लोक-मानस में गौण हो और एक सूफी-संत के रूप में अधिक—ऐसी बात नहीं। उनकी अभिव्यक्ति में रहस्यवादी रागचेतना जिस रूप में संवेदित हुई है उसने अध्यात्म को काव्य और काव्य को आध्यात्म बना दिया है।

आध्यात्म और काव्य की यह अंतःक्रिया उनकी कविता की श्रेष्ठता का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है। मसलन् उनकी प्रसिद्ध कविता "शून्य से परे मेरा वसेरा था", जहां सांकेतिकता के सहारे गहन आध्यात्मिक अनुभूति को अभिव्यक्ति देती है, वहां कलात्मकता ऊंचाइयों का भी स्पर्श करती प्रतीत होती है। इस कविता में जाल में फंसे राजहंस के रूपक द्वारा अस्तित्व के मूलभूत सवालों तक पहुंचने की कोशिश है। जाल में फंसते हुए राजहंस का विभ्रम अस्तित्वमान मनुष्य की स्थिति की ओर संकेत करता हुआ नजर आता है—

> मैंने देखा आग में पर्वत भी जल रहे थे
> मुझे लगा जल में बिछा जाल
> हरी घास का मैदान है
> और मैं आखिर
> उसमें फंस कर रह गया!

एक अन्य गीत में कवि ने संगीत के रूपक उधार लेकर सूफी साधना की अवस्थाओं की ओर इशारा किया है—

> घुंघरू बांध कर मैंने

रुनझुन-रुनझुन-रुनझुन ध्वनि सुनी
घुंघरू खोले
तो वह ध्वनि कहां चली गयी ?

अंततः कवि को यह संगीत अपने भीतर सुनाई देता है—
मेरे भीतर कहीं
चंग और रबाब बज रहे हैं
गूंज भीतर है, पर बाहर सुनायी दे रही है
वहां जहां बेकार है
मेरा "पढ़ना" और "करना"—सब कुछ

परमसत्ता को "प्रिय" कहकर सम्बोधित करने की शैली शम्स-फकीर की भी है। रहस्यवादी प्रेम की विभिन्न स्थितियों को उन्होंने निगूढ़ आध्यात्मिक अर्थों से सम्बद्ध किया है। इस प्रेम की पीड़ा से विकल मन का बिम्ब उनके गीतों में बार-बार उभरता है—
अपने प्रेम की ज्वाला में
जब से तुमने मुझे जलाया
तब से मेरा-तुम्हारा मेल हुआ
तुम्हारी कही बात मैंने जब अपने कानों से सुनी
तबसे मेरा-तुम्हारा मेल हुआ
मैं तो हूं वन का चन्दन वृक्ष
जिसे तुम प्रेम की कुल्हाड़ी से काट लाये हो
.. ..
तबसे मेरा-तुम्हारा मेल हुआ

यह प्रेम "दर्द के परदे" के नीचे पनपने वाला संबन्ध है। वहां जहां "राजरानी" के साथ चौसर का खेल खेला जाता है—
आयेगी वह राजरानी
और हमारे साथ खेलेगी चौसर का खेल
वहीं दर्द के परदे के नीचे मेरी जगह है

कभी "प्रिय" और कभी "प्रिया" के रूप में कवि ने ईश्वर के असीम सौंदर्य का वर्णन किया है, जो कभी-कभी ऐन्द्रिकता के धरातल का भी स्पर्श करता है—
आंखों की पुतलियों में मैंने
मदिरा के प्याले भरकर रखे हैं

पर वह बेपरवाह मेरे निमंत्रण पर आयेगा क्या ?
आयेगा तो उसे गले लगाकर
वांहों में भींच लूंगी
ताकि मुझे छलकर
वह फिर भाग न पाए

कवि के अनुसार यह इश्क ही ईश्वर का "ज़हूर" है—उसका प्रकट रूप है। इसी ज्योतिर्मय रूप में वह सबके मन में प्रकाशित होता है—

इश्क की आग ने
मेरे तन को जला डाला
क्या कहूं ? यही तो ज़हूर है उसका

शम्स फकीर ने "शास्त्र" अर्थात् भारतीय अद्वैत दर्शन का संदर्भ अपनी अनेक कविताओं में दिया है और उससे सम्बन्धित शब्दावली का मुक्त प्रयोग किया है। शाह गफूर की भांति वेदान्त की अनुगूंज उनकी पंक्तियों में सुनायी देती है। "शास्त्र" की रीति का पालन करने के लिये उन्हें जिस "लोहे को तपाना-गलाना" पड़ा है, उसकी ओर उन्होंने कई बार संकेत किया है—

मैंने शास्त्र का पालन किया—
लोहे को गलाया
कसौटी पर मेरा सोना शायद खरा नहीं निकला
जन्मों भटकने के बाद
मैं लौट आया हूं तुम्हारे पास
और तुम मेरे कहे को सुनते ही नहीं !

यह वह अवस्था है जिसमें कवि "सोऽहम" का मंत्र जपता है; शरीर का "परित्याग" कर "निर्मल ब्राह्मण" का साक्षात्कार करता है; "सत्‌गुरु" की दिखायी विधि के अनुसार "कर्म के सहारे धर्म के क्षेत्र में घूमता है"; स्वप्न सुषुप्ति, जागृति और तुरीयावस्था में सम्पूर्ण विश्व का भ्रमण करता है; असत् को जलाकर और सत् का पालन करके "राजहंस" की भांति "मुक्तामाल" पा लेता है।

रहस्यानुभव को रूपकों मे बांधते-बांधते, प्रतीकों के माध्यम से उसे संकेतित करते-करते शम्स फकीर कहीं-कहीं दुरूह और अस्पष्ट भी हो जाते हैं। एकान्तिक भाव-साधना से सम्बद्ध उनके प्रतीक इतने उलझ जाते हैं कि सहज बोधगम्य नहीं रहते—दिमाग पर ज़ोर दिये बिना उनका अभिप्राय खुलता नहीं। पर

यह अकेले शम्स फकीर की ही स्थिति तो नहीं, समस्त सूफी काव्य की स्थिति है।

अहमद बटवारी

अहमद बटवारी (१८४५-१९१८) अपनी अन्यापदेशिक कविता 'नय' के लिए विशेषरूप में ख्यात हैं, जिसे कश्मीरी सूफी काव्य की शीर्षस्थ उपलब्धियों में गिना जाता है। अपने गीतों और गज़लों की संगीतात्मकता, माधुर्य और भाव-सौन्दर्य के लिए भी वे काफी लोकप्रिय हैं, पर 'नय' की रहस्यवादी प्रतीकवत्ता उसे एक विशिष्टता प्रदान करती है। इस कविता में कवि का रचनाकौशल उस सजग कलाकार का है जो थोड़े शब्दों में गहरे अर्थ भर देने का प्रयास करता है। रहमान डार की 'शषरंग' की भांति इसे भी कश्मीरी सूफी कविता के चरम उन्मेष की प्रतिनिधि रचना कहा जा सकता।

इस कविता में बटवारी ने रवीन्द्र ठाकुर की भांति अपने आप को विराट की वंशी के रूप में देखा है, हवा जिसके छिद्रों से खेलकर एक ऐसा संगीत उत्पन्न करती है जो बरबस बहा ले जाता है, प्रिय के साथ एक कर देता है, "मन की नदी में तन को स्नान" कराता है। किन्तु विराट की वंशी बनने तक व्यक्ति को मौन कितना दर्द झेलना पड़ता है, कितने आघात सहने पड़ते हैं, अपने आपको किस निर्ममता से विंधवाना पड़ता है, इसका एक पूरा इतिहास है। यह इतिहास आत्मकथात्मक ढंग से स्वयं 'नय' सुनाती चलती है कि कैसे वह घन-वन में एक हरा-भरा वृक्ष थी और कैसे उस पर लकड़हारे की कुल्हाड़ी का निर्मम प्रहार हुआ। कैसे उसे वन से अलग करके जल में लकड़ी के कुन्दे के रूप में प्रवाहित किया गया, फिर गढ़ा गया, छेदा गया, नया आकार दिया गया। फिल्म की भांति खुलती हुई इस कथा की विभिन्न स्थितियां सूफी-साधना की फ़ना और बका आदि अवस्थाओं की ओर सूक्ष्म और कलात्मक ढंग से संकेत करती चलती है। इस अन्यापदेशिक विधान के अन्तर्गत सात छेद सात ऋषियों द्वारा दिखाये गए सात बुर्ज (साधना की सात अवस्थाएं) हैं— आंगन से गगन तक व्याप्त !

'नय' (बांसुरी) बनना एक कायाकल्प है। पर 'नय' बन जाने पर जो दिव्य-संगीत छिड़ता है वह ऐसा लगता है जैसे शीराज़ी की आवाज़ इन्द्र के गले से निकलकर दोनों लोकों में गूंज रही हो—

> आवाज़ि शीराज हलके इन्द्राज़
> वुज़ान दवन जहानन

हवा इस बांसुरी-ध्वनि को सारे वातावरण में व्याप्त कर देती है—

> हवा ने मुझे उड़ाकर फिज़ा में पहुंचा दिया।

'नय' में इस बात का संकेत है कि "मकां" (घर) का महत्त्व "मकीं" (रहने वाले) से है, वह सत्ता जिसकी सांस नय में संगीत उत्पन्न करती है। उसकी पहचान ही व्यक्ति को यह कहने पर विवश कर देती है कि "बेशक मैं खुदा हूं", मानो "केशव ईश्वर" ने उसे अपना विराट रूप दिखा दिया हो।

तथ जायि वा'तिथ 'अन' परनावय
तमि शायि मन सावनावय
केशव-ईश्वरुन जमअ बोलनावनय
हरमल बिहिथ वरनस

अहमद बटवारी की "नय" मौलाना रूमी की कविता पर आधारित है, किन्तु ग्रहीत प्रेरणा को कवि ने मौलिक ढंग से व्यक्त करने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार 'नय' विराट के साथ व्यक्ति का तादात्म्य करा देती है—

'नय' एक गेय रचना है जिसके छन्द विशेष रूप से संगीतात्मक हैं। 'नय' शब्द को लेकर शब्द क्रीड़ा भी इसमें कवि ने बहुत की है और किसी-न-किसी तरह इसकी आवृत्ति के लिए गुंजाइश निकाली है—

इश्क नय, दरद नय लागनय दीदनय
नय-नय नय-नय-नय
नय-नय-नय-नय छिम दवान दिहानय
तस सिवाय बेंयि कांह नय

"नय" की प्रत्यय के रूप में आवृत्ति के साथ-साथ यहां श्लेष और यमक का चमत्कार भी है जो "नय" के "नहीं री" अर्थ को लेकर संभव हुआ है। यहां उपनिषदों के 'नेति नेति' की भी क्षीण प्रतिध्वनि है। बटवारी बहुत कम पढ़े-लिखे थे, हिन्दू दर्शनों का उन्होंने अध्ययन नहीं किया था, किन्तु सूफियों को दाय के रूप में जो औपनिषदिक विचार-सूत्र मिले थे, उससे उनका परिचित होना स्वभाविक ही था

अपनी कुछ गज़लों और गीतों में भी बटवारी कलात्मक ऊंचाइयों का स्पर्श कर सके हैं। विशेषकर गीतों के क्षेत्र में उन्होंने उसके परम्परागत रूपाकारों से हटकर कुछ नये प्रयोग भी किए हैं जो प्रभावित करते हैं। उनके गीतों-गज़लों में "ल'जिमो फ़ुलया बादामवारे, द्रायि अ'छिदारि ती वुछने" (बादाम के फूल खिल उठे हैं, रूपसियां उन्हें देखने को चली हैं।

"काजल से संवरी तुम, वास्तव में शोभित लगती हो" जैसी कविताओं में परोक्ष सत्ता के सौन्दर्य की परछाई नारी-रूप में देखी गयी है। "ड्यूठमस कैंह नय" (मैंने तो उसका कुछ भी नहीं देखा) कविता कश्मीरी सूफी कवियों के प्रिय विषय "कुछ नहीं" में सब कुछ के आभास को लेकर लिखी गयी हैं...

मैंने उससे कुछ नहीं कहा, कुछ भी नहीं

मैंने उसका कुछ भी नहीं देखा, कुछ भी नहीं
बिल्कुल कुछ नहीं, कुछ भी तो नहीं।
किन्तु हर जगह वह खाविन्द दिखायी देता है
भाव-विभोर उसकी ओर चलता चल
कासिद के लिए न दिन हैं, न रात
नहीं कुछ नहीं, मैंने उसका कुछ नहीं देखा

"इन्द्र के दरबार में परियां नग़मा कर रही हैं" जैसे कुछ गीतों में संगीत अधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व के रूप में उभरता है।

अन्य कश्मीरी सूफी कवियों की भांति अहमद बटवारी ने भी "शास्त्र" की परम्परा अपनाकर हिन्दू देवताओं, मिथकीय पात्रों, तीर्थों तथा साधना सम्बन्धी शब्दावली का सांकेतिक प्रयोग किया है। विष्णु, कृष्ण, महागणेश गंगाराज, रावण, सीता, राम, शंकर, शिव, नारायण आदि शब्द उसकी "जान छुम जहानस सत्य" शीर्षक कविता में विशेष रूप से प्रयुक्त हुए हैं, यद्यपि सूफी साधना के संदर्भ में प्रतीकात्मक अथवा सांकेतिक अर्थों को द्योतित करते हुए।

परम्परा के अन्तिम प्रतिनिधि

सूफी कविता बीसवीं शताब्दी में नयी काव्य-प्रवृत्तियों के उदय के साथ ही लुप्त नहीं हुई, एक समान्तर धारा के रूप में प्रवाहित होती रही। आधुनिक युग में जिन कवियों ने इसे गति दी इनमें समद मीर और अब्दुल अहद ज़रगर विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। बदलती परिस्थितियों और परिवेश के दबाव से असम्पृक्त, बदलते जीवन मूल्यों और समस्याओं के प्रति उदासीन ये दोनों कवि चिदाकाश में तस्सवुफ की उड़ान भरते रहे। अपने युग के मानवीय यथार्थ से नहीं "वहदतुल वजूद" और "लाहूत" "नासूत" की अवधारणाओं से जुड़ी इनकी रचनात्मकता रहस्यानुभूति के लिए रूपक तलाशने तक ही सीमित रही। ऐसी स्थिति में एक बड़ा खतरा यह था कि ये सूफी काव्य की रूढ़ शब्दावली और बासी-उक्तियों की ही आवृत्ति से अधिक कुछ करने में असमर्थ होते, पर इन्हें यह श्रेय जाता है कि सीमित और सुपरिचित भाव-क्षेत्र में भी इन्होंने नये रूपकों, नये भाव-बिम्बों और प्रतीकों का प्रयोग करने की कोशिश की। इस दृष्टि से समद मीर और अहद ज़रगर को हम कश्मीरी सूफी काव्य-परम्परा के अंतिम प्रतिनिधि भले ही मान लें, उन्हें इस परम्परा के अन्तर्गत गौण अथवा मामूली स्थान नहीं दे सकते। दोनों कवियों को अपने क्षेत्र में जो लोकप्रियता प्राप्त है वह ध्यान अवश्य आकृष्ट करती है।

समद मीर

समद मीर १८६३-१६५५) महजूर के समकालीन थे, पर महजूर ने जहां कश्मीरी काव्य में एक नये युग का सूत्रपात किया, समद मीर सूफी शैली की काव्य रचना में ही लगे रहे। वे सूफी रहस्यवाद की उस परम्परा के साधक कवि थे जिसकी नींव में वेदान्त और शैव-दर्शन है। कश्मीरी सूफी शब्दावली में इसे, जैसाकि हम अन्यत्र कह चुके हैं, "शास्त्र की परम्परा" कहा जाता है और यह "सोऽहम्" अथवा "शिवोऽहम" की अद्वैत भावना पर आधारित है। समद मीर के काव्य में आत्मा और ईश्वर के पारस्परिक सम्बन्धों की व्यंजना इसी भाव-भूमि पर हुई है।

१८६३-६४ ई० के आसपास श्रीनगर में जनमे समद मीर को कविता पिता खालिक मीर से विरासत में मिली थी। आरीकशी का पैतृक धन्धा भी उन्होंने शुरू में अपनाया, पर २५ वर्ष की आयु में वे अपने गांव नम्बलहार लौट आये। यहीं उन्होंने सूफ़ी-साधना की दीक्षा ली। बीच-बीच में वे श्रीनगर आते-जाते रहे पर अपने जीवन के अंतिम वर्षों में एकान्त में ही अपना अधिक समय बिताने लगे। ६ जनवरी, १६५६ को प्रातः काल सोते में ही उनका देहान्त हुआ।

"व्यक्तरावुन प्योम" (सब निभाना पड़ा मुझे) को समद मीर की पहली कविता माना जाता है, जिसकी रचना उन्होंने महाराजा हरिसिंह के महल में मजदूरी करते हुए की थी। इस कविता में कवि ने संकेतों में अपने जीवन की कथा कही है। उसके बाद मीर ने सैकड़ों गीतों और गज़लों के अतिरक्त लोककथा पर आधारित एक लघु प्रबन्धकाव्य "अकनन्दुन" की रचना की।

समदमीर की रचनाओं की व्यापक लोकप्रियता का उसकी संगीतमयता में निहित है। ललित शब्द-योजना, अंतवर्ती तुक और अनुप्रास का कलात्मक प्रयोग उनमें मधुर श्रावणिक प्रभावों की सृष्टि करता करता है। अंतर्मुखी भाव-साधना और रहस्यवादी दर्शन से सम्बद्ध प्रतीक मीर को कहीं-कहीं दुर्बोध भी बनाते हैं। फिर भी आध्यात्मिक अनुभव जिस रूप में ढलकर उनके काव्य में आया है, उसे श्रेष्ठ कलात्मकता की संज्ञा दी जा सकती है।

समद मीर का कवि वस्तुतः उनके भीतर के सूफी पर आश्रित है और उनका सूफी उनके कवि रूप पर। यही वजह है कि सूफी रहस्यवाद उनके काव्य में भाव-पूर्ण अभिव्यक्ति की बांह गहते हुए नज़र आता है। उनके प्रतीक, उनके बिम्ब, उनकी उपमान-योजना—सब इसी द्वाभा से मंडित हैं। उनके काव्य के केन्द्र में यह विचार है कि ज़र्रे से लेकर आफ़ताब तक सारी सृष्टि में एक परम सत्ता का प्रकाश व्याप्त है और मानव जीवन भी उसी व्याप्ति का एक प्रकट रूप है। इस रहस्य को ज़ाहिद या धर्मोपदेशक नहीं समझ सकते, न पुस्तकीय ज्ञान से इसे

जाना जा सकता है। परमात्म-सत्ता की इस अखण्ड चेतना से एकात्म होने में ही जीवन की सार्थकता है। एक होने का यह एहसास सारे दुख और विषाद को दूर करता है। अद्वैत की अवस्था में साधक की स्थिति गूंगे या बहरे की-सी हो और साक्षी तथा साक्ष्य का अन्तर मिट जाता है। 'गमस को'र शादि रुवख्सत' (गम को उल्लास ने विदा किया) जैसे अपने अनेक गीतों और गज़लों में कवि हमें विचार और अनुभूति के इस धरातल पर खड़ा मिलता है।

सूफी साधना-पद्धति में एकात्मता के अनुभव को गोपन रखने का जो महत्त्व है, समद मीर ने अपनी कविताओं में उसे रेखांकित किया है। विराट से मिलन एक ऐसा अनुभव है जिसे प्राप्त करने के लिये नयनों को श्रवणमय और श्रवणों को नयनमय करना पड़ता है, और साथ ही होठों को सी लेना भी—

तुम्हारे नयन अगर श्रवणमय हो जाएं
तो हर रात तुम्हारे लिये मुक्ति की रात होगी
मगर ऐ साहिबे होश (सचेत साधक)
तुम्हें होठों को सी लेना पड़ेगा

इस कविता में समद मीर ने "इश्क के मज़हब" की व्याख्या की है और अपने आप को दिव्य-संगीत छेड़ने वाली एक मिज़राब के रूप में देखा है।

जिन गीतों में कवि ने एक प्रेमी के रूप में ईश्वर के प्रति प्रेम-निवेदन या उसके असीम सौन्दर्य का बिम्बांकन किया है, वे विशेष रूप से भावपूर्ण होने के कारण काफी लोकप्रिय हुए हैं। "ओ नये मास के चांद" उनका ऐसा ही एक गीत है जो संगीत की महफिलों में विभोर होकर गाया जाता है। इस गीत में एक रूप-विह्वल हृदय के भाव बड़े सुन्दर बिम्बों में व्यक्त हुए हैं—

ओ नये मास के चांद !
यों छिप मत
मेरी मिट्टी से तूने
ये इतने मधुपात्र बनाये हैं,
ओ कुम्भकार !
तेरी पुकार परा
ले यह मैं दौड़ी आयी
सुन, मुझे टेरने वाले ओ !

"कुछ नहीं" अथवा अव्यक्त शून्य सूफी दर्शन का एक ऐसा सूत्र है जिसकी व्याख्या को समद मीर ने अपनी कई कविताओं का कथ्य बनाया है। "कुछ नहीं" कवि के लिये एक ऐसा बिन्दु है जिससे व्यक्त विश्व में व्याप्त परम सत्ता तक पहुंचने के लिए प्रस्थान किया जा सकता है। यह "कुछ नहीं" ही वह है जो "सब कुछ" को अर्थ देता है और अस्तित्व के गहन रहस्यों का उद्घाटन करता है।

शायद इसी कारण कवि "कुछ नहीं" के बारे में इतना कुछ कह गया है। उसके शब्दों में कहें तो इस बेरंग ने अनेक रंग दिखाये हैं—

'कुछ नहीं' एक बाग है
जिसे समद मीर सजा रहा है
जिसका कोई नाम नहीं
उसीसे निकला है यह सब कुछ
'कुछ नहीं' के फूल शुरू में ही खिले
यह तुम्हारी किस से पहचान हो रही है—
सचेत रहो !

समद मीर का काव्य परिमाण में विपुल हैं, पर उसका समुचित मूल्यांकन नहीं हुआ है। ज़म्मू-कश्मीर राज्य की कल्चरल अकादमी ने मोतीलाल साकी के सम्पादन में कवि का सम्पूर्ण कृतित्व 'कुलयाते समद मीर' शीर्षक पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया है। इसकी भूमिका में कवि की वैचारिक पृष्ठभूमि और उसकी उपलब्धियों को प्रकाशवृत्त में लाने का अच्छा प्रयास है, लेकिन उसकी कविता के कई दुर्बोध अंशों की व्याख्या प्रस्तुत नहीं की गयी है।

अहद जरगर

अहद जरगर (१९०८-८४) समद मीर की ही भांति अपने समय के संदर्भों और समस्याओं से असम्पृक्त तस्सवुफ की एकान्तिक भूमि पर रचनाशील कवि रहे हैं। सामाजिक जीवन के यथार्थ का कोई मूल्य नहीं, अंतर्जगत के रहस्यानुभव ही उनके लिये यथार्थ हैं। कश्मीरी में सूफी रहस्यवाद के इस अंतिम प्रतिनिधि ने विपुल काव्य का सर्जन किया है जिसका अधिकांश भाग प्रकाशित भी हुआ है। यह काव्य एक सीमित पाठक वर्ग में आज भी लोकप्रिय है।

अहद ज़रगर की सर्वाधिक चर्चित प्रवृत्ति को प्रायः "त्रास की कविता" (हॉरर पोएट्री) की संज्ञा दी गई है। भयानक और बीभत्स बिम्बों के प्रयोग द्वारा सूफी साधना के गुह्य रहस्यों की ओर संकेत इस प्रवृत्ति की पहचान है। कवि जब अपने ही पिता का वध, अपनी ही मां से व्यभिचार, अपने ही बच्चों के टुकड़े-टुकड़े करके दरिया में डालने की बात करता है तो पढ़ने वाले के मन में एक सिहरन-सी पैदा होना स्वाभाविक है—

सुनो, ग़ौर से सुनो—
अपने पिता की गर्दन पर वार करो
जिससे जन्म लिया है तुमने
उसीसे सहवास करो
जाओ और अपने भाइयों को खत्म कर दो—

यही है वह इकरार
जिसे किया है अहद ज़रगर ने काफिर बनकर
अपनी संतान के टुकड़े कर डालो
और मांस डाल दो दरिया में
जिससे विवाहित हो
दूध पियो उसी के स्तनों का
ऐसा न हो कि कोई अय्यार आये
और बाधा डाले—
काफिर बनकर मैंने यह इकरार किया है।

यहां कवि वास्तव में हिन्दी के सिद्ध कवियों की भांति उलटवांसी की भाषा में बोल रहा है। इन भयावह बिम्बों के बारे में उसने स्वयं स्पष्ट किया है कि वह प्रतीकों में अपनी बात कह रहा है—

प्रतीक की गज़ल कही है अहद ज़रगर ने यह

यद्यपि इस प्रवृत्ति ने सर्वाधिक ध्यान आकृष्ट किया है, पर यह अहद ज़रगर के काव्य में बहुत देर तक बनी नहीं रही। अमीन कामिल ने अफसोस ज़ाहिर किया है कि "एक नयी आवाज़" कश्मीरी साहित्य में "उभरते-उभरते दब गयी" और इस रंग में "मुल्लाओं के हुक्मे काफिर" या "आम लोगों की नासमझी" के कारण कवि ने अधिक नहीं लिखा।[१४] वस्तुस्थिति यह है कि यह कवि द्वारा "त्रास की कविता" अथवा "हॉरर पोएट्री' लिखने का कोई प्रयास नहीं था। यह तो उलटवांसी की शैली में रहस्यवादी गुह्य साधना के रहस्यों की ओर संकेत करने का एक ढंग था। पर था यह कश्मीरी काव्य के पाठकों के लिए अत्यंत दुर्बोध क्योंकि इस प्रकार के भयावह प्रतीकों से वे परिचित नहीं थे। हां, इस प्रकार की बीभत्सता कश्मीरी लोककथा 'अकनन्दुन' में ज़रूर थी और शायद यह संयोग मात्र नहीं कि अहद ज़रगर ने इस कथा को लेकर भी एक काव्य की रचना की है। जहां तक गुह्य शब्दावली का सवाल है 'कुलार्णव तंत्र' जैसे कश्मीरी तांत्रिक ग्रन्थों में उसका प्रयोग मिलता है। पर भयावह प्रतीकों के माध्यम से अपनी बात को कहने का यह प्रयत्न अहद ज़रगर का बिलकुल अपना था।

दुरूहता और अस्पष्टता अहद ज़रगर के काव्य की एक ऐसी प्रवृत्ति है जिसने उसकी अन्य विशेषताओं को पृष्ठभूमि में धकेल दिया है। दरअसल तस्सवुफ की अवधारणाओं और साधना के संकेतों को भावपूर्ण काव्य का रूप देने की कोशिश में ही अहद ज़रगर की विशिष्टता को देखा जा सकता है। चेतना की अखंडता और परमसता से एक्य की भावना उनके काव्य का मूल स्वर है। आत्मा और परमात्मा के सम्बन्धों की प्रगाढ़ता को स्त्री-पुरुष प्रेम के सुन्दर रूपकों द्वारा

संकेतितकि करते हुए उन्होंने कई अच्छी गीतों की सृष्टि की है। "सुय म्ये" दिलस कान" (मेरा हृदय बस उसी बाण से बिंधा है) जैसी रचनाएं एक कवि के रूप में उनकी उपलब्धियों का प्रतिनिधित्व करती हैं। इस कविता में (आलौकिक) प्रेम की उत्कटता को काफी मौलिक और प्रभावशाली बिम्बों में उद्घाटित किया गया है जैसे—

मेरी देह लपट का एक वृक्ष है—
लपट, जो क्षण-क्षण तेज होती जाती है

परम सत्ता से अद्वैत के बोध को अहद जरगर ने सूक्ष्म सांकेतिकता के माध्यम से भावपूर्ण भाषा में अभिव्यंजित किया है। इस संदर्भ में उनकी बहु-उद्धृत कविता 'एक नुक्ता है यह तुम्हें जगाने को' विशेष उल्लेखनीय है। इस कविता की कुछ कुछ पंक्तियां इस प्रकार हैं—

मैं ही हूं शमा, मैं ही परवाना
मैं ही प्रकाश का स्रोत
मैं ही उद्भासित करता हूं
सूर्य और चन्द्र को
....
बगिया भी मैं ही हूं—मैं ही बौर
मैं ही इस जलवे का नज़ारा करने वाली बुलबुल
मैं ही हूं प्रेम की सुगन्ध से भरा फूल

समद मीर की भांति अहद जरगर ने भी "कुछ नहीं" की दार्शनिक अव-धरणा को लेकर कुछ कविताएँ लिखी हैं। 'बुछुम के˘ह नय' (मैंने कुछ भी तो नहीं देखा) शीर्षक कविता को इस संदर्भ में उदाहरण के रूप में लिया जा सकता है—

'कुछ नहीं' का मेल हुआ 'कुछ नहीं' से
'कुछ नहीं' को देखा मैंने आंखों के सम्मुख
आखिर यह 'कुछ नहीं' है क्या ?
मुझे छला तो नहीं 'कुछ नहीं' ने ?

अहद ज़रगर ने अपने काव्य में "शास्त्र" की उस परम्परा का "पालन" भी किया जिससे शम्स फकीर और समद मीर इतने अभिभूत हैं। 'तपस्वी शिव से मैंने पूछा' इस प्रकार की हिन्दू दार्शनिक-धार्मिक शब्दावली और अवधारणाओं का प्रयोग करने वाली उनकी एक महत्त्वपूर्ण कविता मानी जाती है, जिसमें कवि को "हर स्थान से ओम् की पुकार" सुनायी दी है।

संदर्भ संकेत

१. द वे ऑफ द स्वैन : पृ० १८
२. अनहार : का'शिरि अदबुक फिक्री पो'तमंजूर (विशेषांक)—पृ० ७२-७४
३. सूफी शायर (भाग १)—पृ० २४-२५
४. "मारिफत वनान रहमान"—रहमान मारफत की बात कर रहा है
५. सूफी शायर (भाग २)—पृ० ६५
६. कश्मीरी ज़बान और शायिरी (भाग २)—पृ० ४०७-८
७. सूफी शायर (भाग २)—पृ० ६०
८. उपरोक्त—पृ० ६१
९. उपरोक्त
१०. स्टडीज़ इन कश्मीरी—पृ० ७३
११. कश्मीरी ज़बान और शायरी (भाग २)—पृ० ३४२
१२: सूफी शायर (भाग २)—पृ० ५७
१३. उपरोक्त
१४. उपरोक्त—पृ० ७०

: ९ :

गद्य का प्रारम्भ

'मिलिन्द पन्ह्' और 'बृहत्कथा' : अनुमानों की भित्ति

कश्मीरी में गद्य की परम्परा का सूत्रपात १९वीं शती में हुआ, साहित्यिक गद्य का इससे भी एक शती पश्चात्। इससे पूर्व कश्मीरी गद्य में कोई रचना न हुई हो, यह संभव तो नहीं लगता पर किसी भी लिखित साक्ष्य के अभाव में इस विषय में प्रामाणिक रूप से कुछ कहना कठिन है। केवल मौखिक परम्परा से प्राप्त किस्सों और लोक-कथाओं के आधार पर कश्मीरी गद्य के प्रारम्भिक स्वरूप और स्थिति के बारे में कोई धारणा बनाना ग़लत होगा, क्योंकि एक तो लोक-साहित्य का रूप परिवर्तित होता रहता है और दूसरे इन कथाओं के मूल स्रोत विशुद्ध कश्मीरी न होकर उत्तर भारतीय और अन्य देशीय भी हैं।

वस्तुस्थिति पर प्रकाश डाल सकने वाली सामग्री के सर्वथा अनुपलब्ध होने के कारण अनुमान का सहारा लेने की प्रवृत्ति कुछ हद तक समझी जा सकती है, पर शोध के सार्थक प्रयत्न इस दिशा में दरअसल हुए ही नहीं है। नतीजे के तौर पर कुछेक लाल-बुझक्कड़ों की ऐसी बन आयी है कि वे कश्मीरी गद्य की परम्परा को उस काल में धकेलने की कोशिश करते हैं जब स्वयं कश्मीरी भाषा का कोई पृथक् अस्तित्व न था। इस संदर्भ में इन लोगों ने 'मिलिन्द पन्ह्' और 'बृहत्कथा' को कश्मीरी में प्रारम्भिक गद्य-रचना के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करके इस क़दर उछाला-पटका है और अचरज में डाल देने वाली ऐसी-ऐसी बातें कह डाली हैं कि मन की तरंग और तथ्य में अन्तर करने की कोई गुंजाइश ही नहीं रह जाती। उदाहरणतया भाषा-विज्ञान, इतिहास और मानव-जाति शास्त्र को एक साथ टंगड़ी देकर चारों खाने चित्त गिरा देने में सिद्धहस्त प्रो० मुहीउद्दीन हाजिनी साहब का 'मिलिन्द पन्ह्' के बारे में यह फर्माना है—

"आज यह बात भी कही जाती है कि बौद्धों का महान विद्वान् नागसेन भी शायद कश्मीरी था। उसने अपनी किताब 'मिलिन्द पाम्हा' उस समय भी कष्टवाड़ी कश्मीरी (कश्मीरी की कष्टवाड़ी बोली) में प्रश्नोत्तर के रूप में रची थी। इसका

पाली और सिंहली भाषाओं में अनुवाद हुआ। भूल तो रहा नहीं, किन्तु अनुवाद अवशिष्ट रह गया, क्योंकि इसके कुछ काल बाद ही बौद्धों का ह्रास हुआ...।"[1]

अब हाजिनी साहब से कौन कहे कि आप न तो प्राकृत जानते हैं न पाली, न सिंहली न संस्कृत, फिर क्यों ईसा से दो शती पूर्व रची गयी कृति की भाषा को "कष्टवाड़ी कश्मीरी" कहते हैं, जबकि उस समय कश्मीरी की कष्टवाड़ी बोली तो दूर, कश्मीरी भाषा का कोई पृथक् आकार तक न उभरा था। पर हाजिनी साहब को कहने से कौन रोक सकता है? आखिर उनकी कल्पना की उड़ान को यहां तथ्य मानकर चलने की प्रवृत्ति नहीं है? फिर उनके पास प्रमाण भी तो है—जियालाल नाज़िर का लेख "क्या नागसेन कश्मीरी था?" जो 'गुलरेज़' के जुलाई १९५३ अंक में प्रकाशित हुआ था। नाज़िर साहब ने हाजिनी साहब से भी आगे जाकर वर्तमान कालीन कश्मीरी के 'पोन' (फाला) शब्द से प्राचीन पाली-प्राकृत 'पन्ह' को व्युत्पन्न मानते हुए लिखा है कि 'मिलिन्द पान्हा' (!) के पाली अनुवाद में कश्मीरी न जानने के कारण अनुवादक ने अनेक कश्मीरी शब्दों को ज्यों का त्यों रहने दिया है। इस तरह वर्तमान कालीन कश्मीरी पाली से भी प्राचीन हुई!

नाज़िर साहब ने 'मिलिन्द पन्ह' को गद्य का उत्कृष्ट नमूना कहा है, जो कि वह है, पर कश्मीरी गद्य का नहीं। 'मिलिन्द पन्ह' (< सं० 'मिलिन्द प्रश्न') की मूल भाषा संभवतः उत्तर-पश्चिमी भारत में उस समय प्रचलित कोई प्राकृत थी जो पाली से काफी समता रखती थी। कश्मीरी से उसका कोई सम्बन्ध नहीं, यद्यपि कश्मीरी भाषा के विकास में पाली की परत भी विद्यमान है। कृति में प्रसिद्ध बौद्ध विचारक नागसेन तथा यूनानी शासक मिनैण्डर द्वितीय (मिलिन्द) के बीच हुए संवाद को प्रश्नोत्तर के रूप में लिपिबद्ध किया गया है। नागसेन इसके लेखक नहीं हैं। यद्यपि बौद्ध दर्शन और सृष्टिशास्त्र से सम्बद्ध विचार उन्हीं के द्वारा व्याख्यायित हैं।

गुणाढ्य की विश्वप्रसिद्ध कवि 'बृहत्कथा' को लेकर प्रो० हाजिनी ने और भी अधिक मनोरंजक "तथ्यों" का रहस्योद्घाटन किया है। मसलन् यह कि बृहत्कथा बौद्ध "अन्दाज़ेफिक्र" (विचार-पद्धति) का प्रतिनिधित्व करती थी, जबकि 'पंजतन्त्रा' (!) ब्राह्मण "विचार पद्धति" को अपने ढंग से समझती है। बृहत्कथा और 'पंजतन्त्रा' के मूल हस्तलेख ब्राह्मणों और बौद्धों के पारस्परिक मनमुटाव के कारण एक दूसरे की प्रतिद्वन्द्विता में नष्ट कर दिये गये, "जो विभिन्न युगों में कश्मीर में चलती रही थी।"[2] अन्त में अपने युग की कश्मीरी के "क्लासिकी शाहकार" बृहत्कथा को ब्राह्मण विद्वानों ने हो-हल्ला करके हड़प लिया।[3]

हाजिनी साहब तथा उनकी बात को प्रमाण मानने वाले स्वयंसिद्ध विद्वानों ने किस आधार पर गुणाढ्य को कश्मीर का निवासी और बृहत्कथा की भाषा को कश्मीरी कहा है, यह उन्होंने स्पष्ट नहीं किया है। सम्भवतः पैशाची प्राकृत और

कश्मीरी को एक ही भाषा मान लेने के कारण उनका ऐसा आग्रह है। 'बृहत्कथा' और गुणाड्य के बारे में और अधिक जान लेने की उन्होंने कोई ज़रूरत ही न समझी, क्योंकि एक बार उन्होंने जब निश्चय कर लिया कि 'बृहत्कथा' कश्मीरी भाषा में लिखी गयी थी, फिर इस निश्चय को बदलने के लिए वे क्योंकर तैयार होते ? अब हाजिनी साहब और उनकी शिष्य मंडली को कौन समझाये कि गुणाड्य प्राकृत भाषा ओर साहित्य के महान संरक्षक उज्जैन के महाराज सातवाहन के सभा-पण्डित थे। महाराज सातवाहन "हाल" के नाम से भी लोकप्रसिद्ध थे उनके द्वारा रचित सतसई प्राकृत साहित्य की मूल्यवान कृति मानी जाती थी। गुणाड्य 'बृहत्कथा' को पैशाची में लिखने को इसलिए विवश हुए थे कि वे महाराज सात-वाहन को छः महीने में संस्कृत सिखाने की शर्त हार गये थे और उन्हें पिशाचों की बस्ती में रहना पड़ा था। स्पष्ट है कि पैशाची उनकी अपनी भाषा न थी, और केवल पैशाची में रचित होने के कारण ही 'बृहत्कथा' की भाषा कश्मीरी नहीं हो जाती।

यह भी निश्चित नहीं कि 'बृहत्कथा' एक गद्य कृति थी। बुद्धस्वामी के 'बृहत्कथा श्लोक संग्रह' से आभास मिलता है कि कृति गद्य में न होकर पद्य में रही होगी। कीथ ने उसे गद्य में रचित माना है, पर आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने विश्वास प्रकट किया है कि "मूलकथा पद्यबद्ध थी और वहीं से प्राकृत भाषा या लोकभाषा में पद्यबद्ध कथाओं को लिखने की परम्परा शुरू होती है।"[४]

बडशाह का जीवन चरित्

श्रीवर का हवाला देकर यह भी कहा जाता है कि सुल्तान ज़ैनुलाबिदीन (१४२०-१४७०) के शासनकाल में कश्मीरी भाषा में गद्य लिखा गया, जिसका एक उदा-हरण पंडित नोत्थ सोम द्वारा लिखित 'जैनचरित' नाम की कृति है। लेकिन यह केवल अनुमान मात्र है। कृति के अनुपलब्ध होने के कारण इस बारे में निश्चय से कुछ नहीं कहा जा सकता, यद्यपि इस बात की अधिक सम्भावना है कि बादशाह का यह जीवन चरित्र पद्यबद्ध रहा होगा। आश्रयदाताओं के जीवन को लेकर चरित-काव्य लिखने की प्रथा आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार 'भारतीय भाषाओं में सातवीं शती के बाद तेजी से चल पड़ी है।'"[५] इन चरित् काव्यों में गद्य के प्रयोग की सम्भावना तो बनी हुई है, पर इन्हें मूलतया गद्य-कृतियां कहना उचित न होगा क्योंकि कथा अथवा आख्यायिका आदि के लिए गद्य का बंधन केवल संस्कृत में था।

ज़ैनुलाविदीन के ही समय में रचित एक काव्य कृति 'बाणासुरकथा' की जो १६वीं शती में लिपिबद्ध एकमात्र प्रति आज बूह्लर के प्रयत्नों से उपलब्ध है, उसमें हाशियों पर लिपिकार ने कश्मीरी में "टीका" दी है। "टीका"—अर्थात् कठिन शब्दों के अर्थ। लेकिन किसी सम्पूर्ण वाक्य के उपलब्ध न होने के कारण

उसे तत्कालीन कश्मीरी गद्य का नमूना नहीं कहा जा सकता।

लिखित साक्ष्य का अभाव

वस्तुस्थिति यह है कि १९वी शताब्दी के पूर्व के कश्मीरी गद्य का कोई भी उदाहरण आज प्राप्य नहीं है। इस दिशा में, जैसा हम पहले कह चुके हैं, कोई शोध-प्रयत्न भी नहीं हो रहा, अतः केवल अनुमानों और अटकलों के आधार पर कोई भित्ति खड़ा करना व्यर्थ होगा। १९वीं शती से पूर्व की एक भी गद्य-कृति के सुरक्षित न रहने का एक कारण यह भी हो सकता है कि कश्मीरी भाषा को कभी राज्याश्रय प्राप्त नहीं रहा और न किसी सुसंगठित धर्म-सम्प्रदाय का संरक्षण ही। गद्य तो दूर पद्य की भी स्थिति इससे कुछ भिन्न नहीं रही · केवल कुछ गिनी-चुनी पद्य रचनाएं ही हमारे हाथ लग सकी हैं, उनमें भी अनेक मौखिक परम्परा से। शेष सब लोक-साहित्य के अंतर्गत आता है। कश्मीर में वैचारिक अभिव्यक्ति और राजकीय व्यवहार की भाषा पहले तो संस्कृत और बाद में फारसी रही है। कश्मीरी की सम्भावनाओं के अनुकूल स्थिति कभी रही ही नहीं। उसे कभी यह अवसर दिया ही नहीं गया कि उसका उन कार्यों के लिए प्रयोग हो जिसके लिए गद्य का व्यवहार होता है।

१९वीं शती में डोगरों के शासन काल में फारसी की जकड़ कुछ ढीली हुई तो उर्दू और अंग्रेज़ी का प्रवेश हुआ। अंग्रेज़ों ने कभी कश्मीर पर सीधे शासन नहीं किया पर उनका प्रभाव किसी न किसी रूप में यहां की राजनीतिक स्थिति पर पड़ता रहा। अंग्रेजी शिक्षा और उसके साथ-साथ आधुनिक सभ्यता के प्रसार के कारण यहां भी परिस्थितियां बदलनी शुरू हुईं कमोबेश उसी अंदाज़ में जिसमें भारत के अन्य भाषिक क्षेत्रों में। प्रेस, अखबार आदि की सुविधाओं ने इस परिवर्तन को विशेष रूप से गति दी। लेकिन इस सबके बावजूद कश्मीरी में गद्य का वह उन्मेष दृष्टिगोचर न हुआ जिसने हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में एक क्रांति उपस्थिति की। कश्मीरी के विकास की गति अवरुद्ध रहने के लिए जम्मू-कश्मीर राज्य की भौगोलिक संरचना भी कुछ उत्तरदायी है, क्योंकि इस राज्य के विभिन्न क्षेत्रों में कश्मीरी के अतिरिक्त डोगरी, लद्दाखी, पहाड़ी, बल्ती, दरदी आदि भाषाएं बोली जाती हैं जिनके बीच एक केंद्रीय अथवा सम्पर्क भाषा के रूप में उभरने में कश्मीरी असमर्थ रही। यही कारण है कि फारसी का प्रभाव कम होने पर उर्दू तथा अंग्रेज़ी शिक्षा तथा सरकारी कामकाज की भाषाओं के रूप में सामने आयीं।

लिपि की समस्या

एक बड़ी समस्या लिपि की भी रही है। कश्मीरी के लिए किसी सर्वमान्य लिपि

का विकास देर तक हो नहीं पाया। कश्मीर की प्राचीन लिपि शारदा का व्यवहार एक विशिष्ट वर्ग तक ही सीमित था। नागरी अथवा रोमन लिपि कश्मीरी भाषी क्षेत्र के एक बहुत बड़े वर्ग को स्वीकार्य न थीं, जबकि फारसी अथवा अरबी लिपि में इस भाषा की ध्वन्यात्मक विशिष्टताओं को व्यक्त करने की क्षमता न थी। यह स्थिति स्वतंत्रता के बाद भी बनी रही। चूंकि फारसी-अरबी लिपि, अपनी सीमाओं के बावजूद, अधिक प्रचलित थी, स्वतंत्रता के बाद शेख मुहम्मद अब्दुल्ला के नेतृत्व में बनी नयी सरकार ने कश्मीरी के लिए इसी लिपि को विकसित करने के उद्देश्य से एक विशेष समिति का गठन किया जिसके सदस्य थे प्रो० श्रीकंठ तोषखानी, गुलाम अहमद अशाई, प्रो० जिया लाल कौल तथा मिर्ज़ा गुलाम हसन बेग 'आरिफ'। कश्मीरी लिपि समिति ने नस्ख(अरबी) लिपि में कुछ ध्वनि-चिह्नों को जोड़कर कश्मीरी के लिए उसके प्रयोग की सिफारिश की। इस लिपि में कश्मीरी प्राइमर तथा कुछ प्रारम्भिक पाठ्य पुस्तकें भी लिखी गयीं। पर १९५५ में नस्तालीक़ (फारसी) लिपि को ही कुछ अतिरिक्त ध्वनि-चिह्नों के प्रयोग के साथ अपनाया गया। सरकार ने इस लिपि की मान्यता प्रदान की और आज इसी का प्रयोग हो रहा है।

बाइबल के अनुवाद

जो हो, कश्मीरी गद्य का पहला रूप हमें १८२१ में प्रकाशित इंजील के एक भाग के कश्मीरी अनुवाद में ही मिलता है। यह अनुवाद श्रीरामपुर के मिशनरी पादरियों ने करवाया और इसे शारदा लिपि में छपवाया। इसके लिए उन्होंने फाउन्ड्री में कश्मीरी लिपि का टाइप तैयार करवाया। १८२७ और १८३२ में इसी लिपि में बाइबल के दो अन्य भाग प्रकाशित किये गये। यह अनुवाद संभवतः एक विशिष्ट पाठक वर्ग को ध्यान में डालकर कराया गया था। इसमें कश्मीरी हिंदुओं द्वारा व्यवहृत बोली का ही अधिकतर प्रयोग किया गया। बाइबल के इन अनुवादों के बाद शारदा टाइप में और कोई पुस्तक नहीं छपी।

१८८४ में अधिसंख्य कश्मीरी मुस्लिम वर्ग में ईसाई मत के प्रचार के उद्देश्य से ब्रिटिश बाइबल सोसाइटी ने न्यू टेस्टामैण्ट का कश्मीरी अनुवाद करवाया जो फारसी लिपि में प्रकाशित हुआ। इसका एक संशोधित संस्करण 'ओल्ड टेस्टामैण्ट' के अनुवाद सहित १८९९ में लुधियाना में छपवाया गया। यह अनुवाद पादरी टी० आर० वार्डे ने अपनी देख-रेख में यार मुहम्मद खां द्वारा करवाया। इस अनुवाद में फारसी लिपि में कश्मीरी ध्वनियों को व्यक्त करने के लिए विशेष चिह्नों का प्रयोग किया गया था। फारसी-बहुल होने पर भी इसकी भाषा बोलचाल की कश्मीरी से सादृश्य रखती है।

बाइबल के कुछ भागों का कश्मीरी अनुवाद रोमन लिपि में भी छपा है।

ट्रिनिटेरियन बाइबल सोसाइटी, लन्दन द्वारा संभवतः १९ वीं शती के अन्त में प्रकाशित इस अनुवाद की ओर किसी का ध्यान न जाने के कारण कश्मीरी गद्य के विकास के संदर्भ में यह अर्चाचित और उपेक्षित रहा है, जबकि शारदा और फारसी लिपियों में प्रकाशित अनुवादों की ग्रियर्सन तथा अन्य विद्वानों ने विशेष चर्चा की है। इस अनुवाद का एक उदाहरण नीचे दिया गया है—

तौ पत॒ दो'प ते'म्य; बे॑यि तिमन, ब॒ छुस गछान त॒ तो'ह्॒य छां'डिब ग्ये॑ त॒ पन॒न्यन ग्वनाहन अन्दर म'रिव; ब॒त छुस गछान त॒ तो'ह्य छिव॒ न॒ तिथ ह्यकान; त॒त'म्य दो'प तिमन तोह्य छिव॒ बो'न्यिम त॒ ब॒ छुस हे॑र्युम, तो'ह्य छिव॒ ये॑मि दुनियाह्यिथक त॒ ब॒ छुस न ये॑मि दुनियाहुक, अवय खा'त्र॒ वो'न॒ मव॒ यि ज़ि पन॒न्यव ग्वनाहन अंदर म'रिव।

(युहन्ना स॒न्ज इंजील, पृ० ५४)

बाइबल के इन सभी कश्मीरी अनुवादों की एक बहुत बड़ी शैलीगत विशेषता बोलचाल की भाषा से उनकी निकटता है। वाक्य-विन्यास वाक्यों के लम्बे होने पर भी व्युत्क्रमित न होकर सहज, सामान्य और सरल है— मूल-सा संतुलित और संगत।

अन्य धार्मिक साहित्य

कश्मीरी गद्य में धार्मिक साहित्य की रचना बाइबल के अनुवादों के साथ ही समाप्त नहीं हो जाती। ईसाई पादरियों की तरह मुसलमान मौलवियों ने भी इस्लाम के सिद्धान्तों और उपदेशों के प्रचार के लिये कश्मीरी में पुस्तकें लिखीं और कुरान शरीफ के अनुवाद करने के प्रयत्न किये। इनमें मौलवी याह्या द्वारा लिखित "तकसीरे कुरान" और नुरुद्दीन कारी की 'का'शिर मिसल॒ किताब' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। 'मिसल॒ किताब' प्रश्नोत्तर शैली में लिखी गयी और उसमें नमाज़, हज, ज़कात आदि विषयों की व्याख्या है। एक उदाहरण है :

सवाल—ज़कात कथ छि वनान ?

जबाब—ज़कात छि वनान माल पाक करनस
त॒ वेबाक करनस तमि हिस्स॒ निश॒ युस
हिस्स॒ अल्लाह तालाहन त॒ तिहन्द्य
रसूलि रहमतन (सल्लिलाह अल्लैहि वसलम)
थममंज पतुन मुकरर क'रिथ थो'व।"

इस्लाम धर्म के उपदेशों को लेकर लिखी गयी एक अन्य उल्लेखनीय पुस्तक "शरअ मुहम्मदी" है। कुरान शरीफ का सबसे अच्छा कश्मीरी अनुवाद मौलवी यूसुफ शाह द्वारा कृत माना जाता है जो लिखा तो बीसवीं शती के दूसरे-तीसरे

दशक में गया था, पर प्रकाशित पाक-अधिकृत कश्मीर में बहुत देर बाद हुआ। इन धार्मिक पुस्तकों का गद्य फारसी-अरबी बहुल; क्लिष्ट, बोझिल, व्युत्क्रमित और अलंकृत है—बोलचाल की भाषा से काफी भिन्न।

कश्मीरी ज्यामिति

किसी धर्मेतर विषय पर कश्मीरी गद्य में लिखी गयी पहली पुस्तक है पं० रामजू दर की "तारीखे इक्लिदस जज़बाने कश्मीरी।" यूक्लिड की ज्यामित के प्रथम भाग का यह अनुवाद १८७६ में फारसी लिपि में प्रकाशित हुआ। कश्मीर में छपीं यह कश्मीरी की प्रथम पुस्तक थी। इसमें ज्यामिति की परिभाषाओं और प्रमेयों के लिये व्यवहृत गद्य का सरल और साफ-सुथरा रूप विशेष ध्यान आर्कषित करता है। साहित्यिक कृति न होने पर भी कश्मीरी गद्य के इतिहास में इसका एक अपना स्थान है। इसकी भाषा के कुछ उदाहरण हैं—

रेखा—र॒ख ग'यि ज़ेछर पनाह् रो'स्त

सीधी रेखा—स्य'ज़ र॒ख ग'यिं स्व॒ य्वस॒ आसि द्वन
फे॑यंन मंज़ मेजिमच़्व र॒खव छ़ो'ट।

बिन्दु—फ्यो'र : र॒खि हुन्द अख अन्द छु आसान फ्यो'र।

पायथागोरस का प्रमेय—

योदवय कुनि स्वमि कूंजि त्रे॑कूंजलचन लंज्यन
पे॑ठ्य यिन् करन॒ सो'म्य च़ो'कूंजल, अद॒
गछ़ि आसुन तमि लंजि हुन्द सो'म् च़ो'कूंजल
युस स'मिस कूंजस स्पे॑दि स्यो'द आसि बे॑यन
द्वन लंज्यन ह॒द्यन सम्यन च़ो'कूंजलन सो'म।

शैक्षिक पुस्तकें : प्रो० तोषखानी का योगदान

कश्मीर के प्रसिद्ध भाषाविद् तथा विद्वान प्रो० श्रीकंठ तोषखानी ने कश्मीरी का शैक्षिक माध्यम के तौर पर पहला गम्भीर और महत्त्वपूर्ण प्रयोग किया। उन्होंने 'ग्रं'ज़ व्यद' शीर्षक से अंकगणित की एक पुस्तक कश्मीरी में नागरी लिपि में लिखी जिसमें प्रयुक्त शब्दावली काफी सरल, सहज और बोधगम्य है। नागरी लिपि में कश्मीरी की विशिष्ट ध्वनियों को व्यक्त करने लिये उन्होंने विशेष निर्देशक चिह्नों का प्रयोग किया। प्रो० तोषखानी द्वारा संशोधित नागरी लिपि का आगे चलकर कश्मीरी के लिये व्यापक प्रयोग हुआ। इसी लिपि में उन्होंने अछर जान शीर्षक से कश्मीरी अक्षर-बोध की दो पुस्तिकाएं लिखीं जिनमें भाषा के प्रारंभिक ज्ञान के अतिरिक्त पत्र-लेखन आदि का भी परिचय दिया गया था। (१९३१ में प्रो० तोषखानी ने रोमन अंतर्राष्ट्रीय लिपि में भी 'अक्षर-

माल' शीर्षक से दो प्राइमरों की रचना की)। इसके अतिरिक्त १९२७ के आस पास उन्होंने प्रारंभिक भूगोल तथा स्वास्थ्य-विज्ञान पर भी स्कूल स्तर की दो पुस्तकें कश्मीरी भाषा में लिखीं। प्रो० तोषखानी द्वारा रचित ये पुस्तकें उन्हीं के द्वारा स्थापित वीमेन्स वैलफेयर ट्रस्ट के स्कूलों में कई वर्षों तक पढ़ाई जाती रहीं। यह बात इसलिए विशेष उल्लेखनीय है कि कश्मीरी में साहित्येतर शैक्षिक विषयों पर पुस्तकें लिखने की ओर अब-अब ध्यान दिया जाने लगा है। प्रो० साहब ने स्वरचित पाठ्य-पुस्तकों के शिक्षण के लिये शिक्षकों के लिये एक मार्ग-दर्शिका पुस्तक की भी कश्मीरी में रचना की। साहित्येतर कश्मीरी गद्य के विकास में प्रो० तोषखानी के इस योगदान को विशेष रूप से उल्लेखनीय कहा जा सकता है।

साहित्यिक गद्य : पूर्व पीठिका––लोककथा साहित्य का संकलन

कश्मीरी साहित्यिक गद्य की प्रारंभिक स्थिति पर दृष्टिपात करने से पूर्व-पीठिका के रूप में दो-एक बातों का उल्लेख ज़रूरी है। १९वीं सदी के उत्तरार्द्ध से कुछ पहले ही कुछ विदेशी तथा स्थानीय विद्वानों ने कश्मीरी भाषा और व्याकरण में विशेष रुचि दिखलाना शरू किया[१] और कश्मीरी लोक साहित्य को प्रकाश में लाने की दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य किया। १८८५ में पादरी जॉन हिल्टन नावेल्स ने कश्मीरी लोक-कथाओं और किस्सों को "फोक टेल्स ऑफ कश्मीर" शीर्षक से संकलित-सम्पादित किया। १८९३ में इस पुस्तक का दूसरा संस्करण भी लन्दन से प्रकाशित हुआ। इससे पूर्व नावेल्स ने कश्मीरी कहावतों और मुहावरों को संकलित करके पुस्तक रूप में प्रकाशित किया था। डॉ० रत्नलाल शान्त नावेल्स द्वारा किये कश्मीरी लोक-कथाओं के संकलन को, "कश्मीरी गद्य की पहली कृति" मानते हैं।[७] लोक-कथाओं के इस संकलन को कश्मीरी गद्य की कृति माना जा सकता है या नहीं इस बहस में न जाते हुए यह अवश्य कहा जा सकता है कि इस प्रकार के संकलनों ने साहित्यिक गद्य लेखन के लिये एक वातावरण तैयार किया। राजतरंगिणी के विख्यात अनुवादक ऑरेल स्टाइन ने भी "हातिम्स टेल्स" शीर्षक से कश्मीरी किस्सों को पुस्तक रूप में संकलित किया, जिसे ग्रियर्सन ने सम्पादित करके १९२३ में प्रकाशित किया। स्टाइन ने ये किस्से उस समय के एक मशहूर किस्सागो हातिम तेली की ज़बानी १९१२ में सुने थे। इनमें से अनेक कहानियां भारतीय तथा अन्य देशीय मूल की हैं, पर बहुत-सी कहानियां मूलतया कश्मीरी हैं। किस्सागोई की शैली कश्मीरी अवश्य है, यद्यपि कश्मीरी के सामान्य कर्त्ता-क्रिया-कर्म पर आधारित वाक्य-विन्यास का व्युत्क्रम उसमें मिलता है।

पत्र-पत्रिकाओं की भूमिका

कुछ पत्र-पत्रिकाओं से भी कश्मीरी में गद्य-लेखन को विशेष गति मिली। ये थीं लाहौर से प्रकाशित 'बहारे कश्मीर', श्रीनगर के श्रीप्रताप कालेज की वार्षिक पत्रिका 'प्रताप' तथा 'गाश' नाम का समाचार पत्र। 'बहारे कश्मीर' का प्रकाशन जुलाई १९२३ में प्रारम्भ हुआ और कुछेक वर्ष के बाद बन्द हो गया। यह पत्रिका लाहौर के प्रवासी कश्मीरी पंडितों की संस्था 'कश्मीरी पंडित एसोशिएशन, की ओर से प्रति मास तीन भाषाओं – उर्दू, हिन्दी तथा कश्मीरी में निकलती थी। कश्मीरी भाग प्रो० श्रीकंठ तोषखानी द्वारा संशोधित नागरी लिपि में निकलता था। इसकी सम्पादिका यद्यपि कहने को कोई श्रीमती कमला बकाया थीं, हर अंक प्रो० श्रीकंठ तोषखानी के प्रयत्नों का ही रूप हुआ करता था। 'बहारे कश्मीर' में प्रो० तोषखानी के स्त्री-शिक्षा, समाज-सुधार, कश्मीरी भाषा आदि विषयों पर अनेक लेख प्रकाशित हुए हैं, जिन्हें हम कश्मीरी निबन्ध का प्रारम्भिक रूप मान सकते हैं। 'श्रीप्रताप कॉलेज की पत्रिका 'प्रताप' के कश्मीरी विभाग का प्रकाशन १९३६ ई० में फारसी तथा देवनागरी लिपियों में शुरू किया गया। फारसी लिपि में सम्पादित भाग प्रो० जियालाल कौल तथा नागरी लिपि में सम्पादित भाग प्रो० श्रीकंठ तोषखानी के निरीक्षण में प्रकाशित हुआ। इस पत्रिका की कश्मीरी गद्य-साहित्य के सृजन और विकास में विशेष भूमिका रही है। १९३९ में कवि महजूर के पुत्र मुहम्मद अमीन ने 'गाश' नाम का एक साप्ताहिक समाचार पत्र निकाला। कश्मीरी के इस प्रथम समाचार पत्र के कुछ ही अंक निकले थे कि द्वितीय महायुद्ध छिड़ने पर इसका प्रकाशन बन्द हो गया। इस पत्र में कश्मीर की सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक स्थिति से सम्बधित समाचार छपते थे, जिनका एक नमूना इस प्रकार है :

"क'शीरि प्यठ् लाहोर तामथ यियि आ'यिन्द् हवा'यी जहाज़न ह्न्दि ज़रियि डाक निन् तृ अनन्। बे'यि आसन लूख ति यिवान-गछ़ान ह'वा'यी जहाज़न ह्न्दि ज़'रियि। लिहाज़ा छु अमि खा'त्र् इंतिज़ाम यिवान करन्। अख हवा'यी गर् यियि पीर पंजाल को'हस प्यठ बनावन्। यिमन सार्यन्य चीज़न हुन्द खर्च दियिअंग्रेज़ हकूमत। किराय् आसि कशीरि प्यठ् लाहोर तान्य अ'किस सवारि पंदाह र्बप्यि।"[१]

कश्मीरी भाषा का प्रथम उपन्यास

डॉ० रतनलाल शांत कश्मीरी में रचनात्मक गद्य के प्रारम्भ को सामूहिक प्रयासों का नतीजा मानते हुए लिखते हैं—"यह बात महत्त्वपूर्ण है कि इस काल के साहित्यिक प्रयासों की प्रकृति मूलतया सामूहिक अथवा सामुदायिक है। अर्थात् इस

काल में मौलिक कश्मीरी लेखन की सचेत शुरूआत कहानी, उपन्यास अथवा निबंध से नहीं हुई, प्रत्युत नाटक से हुई जो प्रकृति से सामूहिक है।"[10] अन्य इतिहासकारों ने भी कश्मीरी गद्य साहित्य की प्रथम रचना पं० नन्दलाल कौल के नाटक "सत॒च्य क'ह्वट" ("सत्य की कसौटी") को माना है। पर यह तथ्य नहीं है। कश्मीरी में रचनात्मक गद्य का प्रारम्भ प्रो० श्रीकण्ठ तोषवानी लिखित एक लघु उपन्यास "लीला" से होता है। इसमें लीला नाम की लड़की के संघर्ष की कथा है जिसे शिक्षा द्वारा अपने व्यक्तित्व के स्वतंत्र-विकास की कोशिश के लिये घर और समाज के पुरातन-पंथी लोगों का विरोध सहना पड़ता है। यह उपन्यास, जो १६२३ के आस-पास लिखा गया था, तत्कालीन कश्मीरी हिन्दू समाज में स्त्रियों की स्थिति को उद्घाटित करता है। "लीला" का प्रकाशन धारावाहिक रूप में "बहारे कश्मीर" पत्रिका में हुआ था। ये अंक अब प्राप्य नहीं हैं, लेकिन मूल पाण्डुलिपि का एक अंश अभी प्रस्तुत लेखक के पास सुरक्षित है। उपन्यास की भाषा में बोलचाल की कश्मीरी का मूल और शुद्ध रूप अपनी सहजता में निखर उठा है। कश्मीरी साहित्यिक गद्य की तत्कालीन स्थिति को दर्शाने के लिये, "लीला" से कुछ पंक्तियां नीचे उद्धृत की जाती हैं—

"हार॒ नवम वा'च। आनन्द काकनि गरि छु जं'गी बाज॒ बजान। लूक॒ सास छुख आँगनस मंज़ चामुत। काच॒र॒ हुन्द येँनिवोल छु तिकि ह॒न्दि च'सिथ। ग्यार छि खर्चन॒ यिवान। द्वयि बजि रा'च हं॒ज़ि म्वक॒लेयि लग॒न क॒रिथ। सुब॒ह॒चि सति बजि छु संज़ सपदान महाराज़॒ स॒न्दि नेरनुक। ग्यद॒माल ख'च आनन्द काकस निश॒। वुठन आ'सस प'त्र॒ ल'जम॒च'बुथिस आ'स॒स नीज॒र॒ छ़ठ कीरिथ गा'मच। आनन्द काकस कुन व'छ़ कल॒ ब्वन छ॒निथ द'छिनि अथ॒ वग॒व्य तुजि चटान, "लीलायि छुख दूर॒हा'र्य कन च़टिथ न्यूमुत।"
("लीला"—खंड ४)

छोटे-छोटे वाक्यों द्वारा स्थिति-चित्रण का यह प्रयास अपनी यथार्थवादी भंगिमा के कारण विशेष रूप से द्रष्टव्य है। इस प्रारम्भिक औपन्यासिक कृति पर कश्मीरी साहित्य के इतिहासकारों की दृष्टि का बिल्कुल न जाना कश्मीरी शोध और समीक्षा की शोचनीय स्थिति को द्योतित करता है।

नाट्य साहित्य : प्रारंभिक रचनाएँ

कश्मीरी में नाट्य रचना की सुस्पष्ट परम्परा का सूत्रपात निःसंदेह पं० नन्दलाल कौल के नाटक "सत॒च्य क'ह्वट" ("सत्य की कसौटी") से होता है, जिसे डॉ० शान्त के शब्दों में, "सामूहिक प्रयास के संदर्भ में भी देखा जा सकता है, क्योंकि एक सफलतापूर्वक मंचित नाटक केवल नाटककार की रचना तक ही सीमित नहीं होता। १६२६ में लिखित इस नाटक के मंचन में रंगकर्मी और दर्शक-श्रोता जिस

उत्साह से सम्मिलित हुए वैसा कश्मीरी रंगमंच के इतिहास में बहुत कम देखने को मिला है।" "सत् च्य क'हवट" (सत्य की कसौटी) में पं० नन्दलाल कौल ने राजा हरिश्चन्द्र की सत्य-निष्ठा, चारित्रिक गरिमा तथा दृढ़ आत्मबल से संबंधित प्रसिद्ध पुराण कथा को नाटक का रूप दिया है। चरित्रांकन, घटना-विकास में संघर्ष की स्थिति तथा संवादों की तीव्र सवेदनात्मकता—ये ऐसे तत्त्व हैं जिनके कारण इस नाटक का प्रभाव लोक-चित्त पर विशेष रूप से व्यापक और गहरा रहा है। अतिशय भावात्मकता, संवादों की तुकबन्दी युक्त योजना तथा त्रासद स्थितियों के प्रभाव को हल्का करने के लिये हास-परिहास का समावेश आदि नाटक पर पारसी रंगमंच का स्पष्ट प्रभाव दर्शाते हैं। अपने समय में "सत् च्य क'हवट" नाटक लोगों की कल्पना पर इस तरह छा गया कि गाँव-गाँव से लोग इसे देखने के लिये श्रीनगर आया करते। इस नाटक की अनुकृति में लिखे गये नाटकों का कश्मीरी में पूरा ताँता लग गया। पं० ताराचंद 'विस्मिल' (१९०४-१९४७) इस नाट्य-कृति से इतना अधिक प्रभावित हो गये कि उन्होंने हरिश्चन्द्र की कथा को लेकर ही एक नाटक "सत् च वथ" (सत्य का पथ) लिख डाला जो १९३८ में प्रकाशित हुआ। इसके अतिरिक्त 'विस्मल' ने "अक् नन्दुन", "प्रेम् च क'हवट' (प्रेम की कसौटी) तथा "रामावतार" नाटकों की भी रचना की जो यह दर्शाते हैं कि वे पं० नन्दलाल कौल के प्रभाव ने अन्त तक मुक्त नहीं हो सके थे।

इस युग के एक और नाटककार थे गुलाम नबी "दिलसोज़" (१९१६-१९४१) जिन्होंने "शोद्" (नशेबाज़), "लैलामजनूँ" और "शीरीं-खुसरो" जैसे हल्के-फुल्के मनोरंजन-प्रधान नाटक लिखे। "दिलसोज़" के नाटक अत्यंत लोकप्रिय हुए। इतने कि राजपाल एण्ड सन्ज़ नाम की एक ग्रामोफोन कम्पनी ने इन्हें रिकॉर्ड कर लिया।

संस्कृत नाटकों के अनुवाद की ओर पं० नीलकंठ शर्मा (१९१६-७६) का ध्यान गया। मास के "स्वप्न-वासवदत्तम्" के स्वतंत्र अनुवाद के अतिरिक्त उन्होंने "बिल्वामंगल" नाम का एक नाटक भी लिखा। कश्मीरी में पौराणिक कथाओं पर आधारित नाटकों की परम्परा स्वतंत्रता के बाद तक चलती रहीं। इन नाटकों में "रामुन राज" (राम-राज्य), "प'ज़ पतिव्रता" (सच्ची पतिव्रता), "सती सावित्री", "भक्त प्रह्लाद", "शंकर-पार्वती", "कृष्ण-जन्म" आदि उल्लेखनीय हैं। इन्हें समाज सुधार समिति जैसी संस्थाएं श्रीनगर में मंचित करती रहीं। १९४५ में "इप्टा" (इंडियन पीपुल्स थियेटर एसोसिएशन) की स्थापना के बाद ही कश्मीरी में मंचीय किन्तु अपेक्षाकृत साहित्यिक नाटकों की रचना शुरू हो सकी। पर इससे कुछ वर्ष पूर्व १९३८ में प्रो० मुहीउद्दीन हाजिनी का नाटक "ग्रीस्य सुन्द गर्" (कृषक का घर) रचा गया। श्री प्रताप कालेज की पत्रिका "प्रताप" में इस नाटक का एक अंश प्रकाशित हुआ। इसके बाद यह नाटक धारावाहिक रूप

में "गुलरेज़" नाम की पत्रिका में प्रकाशित हुआ। किसानों के शोषण को लेकर लिखा गया यह कश्मीरी का पहला यथार्थवादी नाटक है। नाटककार का दावा है कि यह नाटक देहातों में अत्यन्त लोकप्रिय हुआ और इसके दो संस्करण प्रकाशित हुए।।[११] अवतार कृष्ण रहबर तथा गुलाम नवी ख़्याल द्वारा सम्पादित "का'शुर नसर" (कश्मीरी गद्य) शीर्षक संकलन की भूमिका में इसे कश्मीरी का प्रथम आधुनिक नाटक कहा गया है।[१२] "ग्रीस्य सुन्द गर" आधुनिक केवल इस दृष्टि से है कि इसमें आधुनिक नाटकों की-सी तकनीक का प्रयोग किया गया है जो पं० नन्दलाल कौल आदि के नाटकों से भिन्न है। पर सही अर्थों में आधुनिक गद्य लेखन की शुरूआत कश्मीरी में १९४७ के बाद से ही मानी जा सकती है।

काल-विभाजन

हमें यह मानने में कोई हिचक नहीं होनी चाहिए कि कश्मीरी गद्य की ये सभी प्रारंभिक रचनाएं साधारण कोटि की हैं। इनका महत्त्व ऐतिहासिक अधिक है और उसी दृष्टि से इनका यहां उल्लेख किया गया है। इस सम्पूर्ण कालावधि में कुछ बहुत धीमी गति से कश्मीरी गद्य का विकास हुआ और विभिन्न विधाओं में (कहानी को छोड़कर) रचना के प्रयास हुए। लेकिन कोई असाधारण गद्य-कृति सामने नहीं आयी। इस कालावधि को इन गिनी-चुनी रचनाओं के आधार पर बांटने की कोशिश कुछ इतिहासकारों ने किये हैं। प्रो० जियालाल कौल ने अध्ययन की सुविधा के लिये कश्मीरी गद्य को १८८५ से १९२५ तक, १९२५ से १९४७ तक तथा १९४७ से वर्तमान युग तक तीन काल-खण्डों में बांटा है।[१३] अवतार कृष्ण रहबर ने यह विभाजन केवल दो कालों में सीमित कर दिया है—(अ) राजा-महाराजाओं के समय का गद्य-साहित्य अथवा १८२१ से १९४७ तक का गद्य (आ) वास्तविक प्रगति का युग अथवा वर्तमान काल—१९४७ से आज तक।[१४] डॉ० रत्नलाल शान्त ने कश्मीरी गद्य के इतिहास का काल-विभाजन इस प्रकार किया है—

जन्म काल—सन् १८०० तक
प्रादुर्भाव काल—सन् १८०० से १९०० तक
संवृद्धि काल—सन् १९०० से १९४७ तक
विकास काल—सन् १९४७ से आज तक[१५]। सन् १८०० से पूर्व कोई सामग्री उपलब्ध न होने के कारण केवल कल्पना का आश्रय लेकर किया गया काल-विभाजन कश्मीरी गद्य के अध्यन की दृष्टि से सार्थक नहीं माना जा सकता। यों इस काल-विभाजन के विषय में स्वयं डॉ० शान्त ने स्वीकार किया है यह मोटे तौर पर किया गया है। हम कश्मीरी गद्य की विकास-यात्रा की सही दिशाओं को पहचानने में इस प्रकार के काल-विभाजनों को सहायक नहीं समझते, अतः हम गद्य

की विभिन्न विधाओं—उपन्यास, नाटक, कहानी, समीक्षा आदि के विकास के आधार पर ही उसका अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयास करेंगे।

संदर्भ-संकेत

१. "का'शिर शायरी"—प्रो० मुहीउद्दीन हाजिनी, प्रकाशक : साहित्य अकादेमी
२. "मकालात" —प्रो० मुहीउद्दीन हाजिनी : पृ० २६
३. उपरिवत्
४. "हिन्दी साहित्य का आदिकाल" : प्रकाशक बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना : पृ० ६१
२. वही : पृ० १२
६. इनमें आर० सी० चीलिच, कैप्टेन गॉडविन, एल० बी० ब्राउरिंग, डब्ल्यू० जे० एमिली आदि उल्लेखनीय हैं। १८७९ में पाणिनि के व्याकरण की शैली में पं० ईश्वर कौल ने कश्मीरी 'शब्दामृत' शीर्षक से कश्मीरी के एक व्याकरण की रचना की जिसे १८९८ में बंगाल की एशियाटिक सोसायटी ने प्रकाशित किया।
७. नसर्‌च किताब : प्रकाशक—कश्मीरी विभाग, कश्मीर विश्वविद्यालय : पृ० १९
८. जैसे पत्रिका के १९२३ के अंक में प्रकाशित उनका लेख "ज़ुव त्‌चम" (जीवन और त्वचा)
९. प्रो० जियालाल कॉल द्वारा अपनी पुस्तक "स्टडीज़ इन कश्मीरी" के पृ० १०१ पर उद्धृत।
१०. नसर्‌च किताब : पृ० २१
११. का'शुर नसर : सम्पादक; अवतार कृष्ण रहबर तथा गुलाम नबी ख्याल : प्रकाशक, कल्चरल अकादमी, जम्मू कश्मीर : पृ० ३५ पर उद्धृत
१२. वही : पृ० ३५
१३. स्टडीज़ इन कश्मीरी : पृ० ९५
१४. का'शुर नसर : पृ० १३
१५. नसर्‌च किताब : पृ० १३

खण्ड २

आधुनिक परिदृश्य

: १० :

महजूर और उनके समकालीन

गुलाम अहमद महजूर : नये काव्य युग का प्रवर्तन

बीसवीं शती के प्रवेश द्वार पर पहुंचकर भी कश्मीरी काव्य में किसी ऐसे बदलाव का आभास नहीं मिला कि उसकी प्रकृति और प्रवृत्ति को आधुनिक कहा जा सके, बल्कि एक ठहराव दृष्टिगोचर हुआ—तस्सवुफ के धुंधलकों और ह्रासशील फारसी काव्य की रूढ़ियों में दिशाओं के खो जाने की स्थिति, जिससे आगे कश्मीरी कवि की दृष्टि जा नहीं पा रही थी। महमूद गामी की 'ग्रीस्तनामा' (देहाती की कथा), और अकबर लीन की 'जिन्य मजूर' (लकड़हारा) जैसी रचनाओं में यथार्थवादी भाव-दृष्टि का हल्का-सा स्पर्श जरूर उभरा था, जिसे हकानी और नामी, वाज़ा महमूद और अहमद बटवारी जैसे कवियों ने एकदम अनदेखा कर दिया। परम्परा के खोल में बन्द इन कवियों का काव्य-संसार समय की हवाओं से असम्पृक्त और सुरक्षित था। इस बीच कश्मीर सिक्खों के दौर से गुज़र कर डोगरा महाराजाओं की सामंती शासन-व्यवस्था की जकड़ में चुका था और जम्मू-कश्मीर राज्य की स्थापना हो चुकी थी। उधर अंग्रेज़ी शिक्षा और सभ्यता तथा भारतीय नवोन्मेष के प्रभाव भी यहां परिलक्षित होने लगे थे और रूढ़ियों की ऊपरी सतह के नीचे समाज में परिवर्तन की प्रक्रिया गतिमान हो रही थी। ऐसी स्थिति में कवि गुलाम अहमद महजूर (१८८५-१९५२) इस संक्रमण के प्रतिनिधि और प्रवक्ता के रूप में सामने आये। उनकी रचनात्मक अभिव्यक्ति के एक छोर पर रसूलमीर की इश्किया गज़ल की अनुगूंज थी तो दूसरे छोर पर अपने समय और समाज की चेतना को स्वर देने की अकुलाहट। महजूर पुराने और नये युग के बीच एक ऐसा सेतु बनकर उपस्थित हुए जिससे गुज़रे बिना कश्मीरी काव्य के आधुनिक विकास का दिशा-अध्ययन असंभव है। नये विषय, नयी भाव-भूमि, नयी भाषा—सर्जनात्मकता के एक नये स्तर की कश्मीरी काव्य में उद्‌घाटित करने में महजूर की भूमिका विशिष्ट रही है। नया इस दृष्टि से कि मध्ययुगीन चेतना से मुक्त

होकर बीसवीं शती से जुड़ने का यह प्रथम उपक्रम था।

श्रीनगर से २५ मील दूर मित्रिगाम में ३ सितम्बर, १८८५ में जनमे गुलाम अहमद को फारसी और अरबी भाषाओं का ज्ञान पैतृक विरसे में प्राप्त हुआ था। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा भी फारसी में ही हुई थी और जब १९०५ में वे मिडल तक शिक्षा प्राप्त करने के बाद अमृतसर जा पहुंचे तो मौलना बिस्मिल और अल्लामा शिवली जैसे आलिमों के सम्पर्क में फारसी का यह रंग और भी गहरा हो गया। इतना कि उन्होंने इसी भाषा में काव्य-रचना की शुरूआत की। लेकिन युग के बदलने के साथ फारसी की वह पहली की-सी सत्ता और महत्ता नहीं रह पायी थी और उसका स्थान आहिस्ता-अहिस्ता उर्दू और अंग्रेज़ी ले रही थीं। महजूर ने भी उर्दू में गज़ल लिखने की आज़माइश की, पर इस दिशा में बहुत आगे न जा सके—यद्यपि लुधियाना में, जहां वे १९११ में चले गये थे, एक उर्दू कवि आफत लुधियानवी के प्रभाव और प्रोत्साहन के कारण उन्हें अपने लिए इस भाषा में कुछ गुंजाइश दिखाई दी थी।

कश्मीर लौटने पर एक पटवारी की हैसियत से महजूर को गाव-गांव, घूमना पड़ा और यहां के लोक-जीवन से निकट सम्पर्क का अवसर मिला। उन्होंने देखा कि लोक-मानस को फारसी या उर्दू का काव्य नहीं, कश्मीरी गीतों की रस-लहर आंदोलित-उद्वेलित करती है। उनके मन में यह अहसास पैदा हो गया कि ह्रास-शील फारसी कविता की रूढ़ अलंकृतिथों और बासी उपमानों की अनुकृति में की गयी काव्य-रचना जड़ और प्रभावशून्य है। महजूर ने अपने आपको लोक-चेतना और जनभाषा के स्वस्थ-सरल-स्वच्छ भाव-धरातल से जोड़ा और १९१८ में अपनी पहली कश्मीरी गज़ल "क्या बेवफाई दिलदार को शोभा देती है?" लिखी इस गज़ल में रसूल मीर की अनुगूंज स्पष्ट है जो देर तक महजूर के काव्य में बनी रही। अपनी प्रारम्भिक कश्मीरी रचनाओं पर रसूल मीर के गहरे प्रभाव के बारे में महजूर स्वयं सचेत थे। इसे स्वीकार करते हुए उन्होंने एक गज़ल में लिखा है कि रसूल मीर की पुरानी शराब को ही वे नये पैमानों में उडेल रहे हैं। यही नहीं एक अन्य गज़ल में उन्होंने अपने आप को रसूल मीर का ही प्रतिरूप कहा है—

दर्द की सूरत पर से रसूल मीर
परदा सरका कर चला गया—
लेकिन महजूर बनकर फिर आया।

महजूर ने कश्मीरी में अपनी प्रारंभिक रचनाओं में रसूल मीर का अनुकरण अवश्य किया पर फारसी-बोझिल उनकी शैली और लहजे को न अपनाकर अधिक सहज-सरल और बोलचाल की कश्मीरी के निकट भाषा का प्रयोग किया। भाषा ही नहीं उपमान और बिम्ब-योजना में भी उन्होंने लीक को छोड़कर अपने लिए एक नयी राह बनायी और कश्मीर घाटी के फूलों और पहाड़ों, झरनों और

नदियों, खुले आकाश और बदलते ऋतुक्रम से अपनी प्रेरणा ग्रहण की। इस दृष्टि से हुस्न और इश्क जैसे परम्परागत विषय पर लिखी गयी उनकी गज़लों में जहां प्रेम की विकल प्रतीक्षा, मिलन की तड़प, मान और मनुहार की भावस्थिति झलकती है, वहां एक नयी सौन्दर्य-कल्पना और अभिव्यक्ति की ताज़गी भी, मन पर छाये कश्मीर घाटी के उन्मुक्त सौन्दर्य का इन्द्र-धनुष भी। इस तरह महजूर ने कश्मीरी गीत-परम्परा को वहां से आगे बढ़ाया जहां उसे रसूल मीर छोड़ गये थे।

महजूर में शब्दों के संगीतात्मक मूल्यों के प्रति एक विशेष सजगता दिखायी देती है, जिसे उन्होंने महमूद गामी से ग्रहण किया था, और साथ ही मन को सीधे प्रभावित करने वाली उक्ति की सहजता और माधुर्य भी, जिसके लिए उन्हें हब्बा खातून के गीतों से प्रेरणा मिली। १९२६ के एक खूबसूरत दिन गांव की युवतियों के मुंह से हब्बा खातून के एक गीत, "वलो म्यानि पोशे मदनो" सुनने पर उनके मन में एक ऐसी झंकार उठी जो "म्यानि पोशि मति जानानों" गज़ल में जाकर व्यक्त हुई। अब तक महजूर कश्मीरी और उर्दू गज़ल के बीच दोलायमान थे। अब उन्होंने कश्मीरी को ही अपनी अभिव्यक्ति का एकमात्र माध्यम बनाने का निश्चय किया। अपनी कविता के प्रारम्भिक विकास में महजूर पर चाहे जिन भी कवियों का रंग चढ़ा हो, धीरे-धीरे उनका अपना एक विशिष्ट और अलग स्वर, अपना एक अलग लहजा विकसित हुआ जिसकी पहली झलक ग्राम युवती पर लिखे गये उनके प्रसिद्ध गीत में मिलती है। गांव के स्वतन्त्र वातावरण में गोडी करती हुई, श्रम-जल-शोभित ग्राम कन्या के सौन्दर्य का जो बिम्ब इस गीत में उभरता है वह कश्मीरी कविता के लिये एक बिल्कुल नयी चीज़ थी। उसके यौवन को कवि ने लोलुप आंखों से नहीं देखा, न घिसे-पिटे उपमानों का विषय बनाया, बल्कि रूप और सौन्दर्य की एक ऐसी उठान के रूप में प्रस्तुत किया है जिसकी सार्थकता और परिपूर्णता श्रम में है। अभिजात और कुलीन घरों की असूर्यम्पश्या स्त्रियों से तुलना करते हुए कवि उसके स्वतंत्र व्यक्तित्व के आकर्षण को रेखांकित करता है—

> अभिजात ललनाओं की तुझसे समता ही क्या ?
> वे खिड़कियां-दरवाज़े बन्द किये घरों के भीतर
> बेकार बैठी रहती हैं।
> तू खेत में आस्तीन चढ़ाये गुनगुनाती है
> गोडी करते हुए तेरी बाहें थक-थक चूर तो नहीं हो जातीं ?
> ओ ग्राम युवति, नागज़ीन, ओ सुन्दरी !

इस गीत से महजूर ही नहीं, कश्मीरी काव्य में भी एक नये स्वर की शुरुआत होती है। रवीन्द्र ठाकुर इसके अनुवाद को पढ़कर इतना प्रभावित हुए थे कि उन्होंने

महजूर को कश्मीर का वर्ड्सवर्थ कहा था।

'गीस्यकूर' शीर्षक इस गीत में वर्ग-संघर्ष के संकेत देखना व्यर्थ होगा। महजूर के काव्य में एक नया और सार्थक मोड़ वर्तमान शती की तीसी में आया, जब उन्होंने हुश्न और इश्क के परम्परागत और सूखते हुए स्रोतों को छोड़कर सामाजिक चेतना को अपनी अभिव्यक्ति का धरातल बनाया। उन्होंने यह अनुभव किया कि कविता को नयी गति और नयी दिशा देने के लिए जन-समाज की आकाँक्षाओं और संघर्ष से जुड़ना ज़रूरी है। यह एक ऐसा दौर था जब कश्मीर के सामाजिक और राजनीतिक वातावरण में एक हलचल और बेचैनी पैदा हो रही थी। भारत-व्यापी स्वतंत्रता आंदोलन का एक ज़बर्दस्त प्रभाव कश्मीरी जन-मानस पर पड़ा और उसमें एक नये जागरण के बीज बो गया। शेख अब्दुल्ला के नेतृत्व में महाराजा के सामंती शासन को चुनौती देता हुआ राजनीतिक आंदोलन १९३८ तक आते-आते तीव्र हो चला और इसके साथ महजूर की कविता में इस नये जन-जागरण की धड़कनें प्रतिध्वनित हुईं। इकबाल के "सारे जहां से अच्छा" से प्रेरित होकर लिखे गये "गुलशन वतन छु सोनुय" (गुलशन यह वतन हमारा है) से लेकर "वलो हा बागवानों"(ओ, बागबां, आओ)जैसी कविताओं में महजूर ने अपने समय की वास्तविकता को पहचाना और उसे अभिव्यक्ति दी। लेकिन युग और समाज के अंतर्द्वन्द्वों और संघर्षों को स्वर देते हुए महजूर ने गुल और बुलबुल के प्रतीकों की आड़ ली। सरकारी नौकर होने के कारण सीधे और स्पष्ट शब्दों में अपनी बात कहने का साहस उन्हें कदाचित न हुआ हो, फिर भी इन घिसे हुए प्रतीकों को उन्होंने नया रूप और नयी अर्थवत्ता अवश्य प्रदान की और उनके माध्यम से जन-समाज की बेचैनी, आकांक्षाओं और सपनों की ओर संकेत किया। इस नयी अर्थवत्ता के अंतर्गत "सोयी हुई बगिया" की "बुलबुल के अफसाने" सुनने को प्रेरित करते हुए कवि ने कश्मीरियों को एक नये युग की सुबह में आंखें खोलने का संदेश दिया। १९३८ में यह सांकेतिकता क्रान्ति के एक सशक्त और स्पष्ट निर्घोष में परिणत हुई, जबकि कवि ने "बगिया के माली" को "नयी बहार का सामान" पैदा करने की प्रेरणा दी—

> बागबान रे, नव बहार की शान ज़रा पैदा कर...
> खिलें फूल, बुलबुल फैलाये पंख, कि वह सामान ज़रा पैदा कर।
> ला आंधी-भूकम्प, गरज ! तूफान ज़रा पैदा कर !

इस और ऐसी ही अन्य कविताओं में महजूर एक नये बसन्त के अग्रदूत के रूप में सामने आते हैं। फूलों के खिलने और नयी बहार के आने में उनका गहरा विश्वास बारम्बार व्यक्त हुआ है—

जाड़ा बीतेगा ही, हिम पिघलेगा, फिर बाहर आयेगी
ओ महजूर ! साज़ इश्क का रख तो तू तैयार !

लेकिन यह "नयी बहार" यानी आज़ादी जब आई तो महजूर उन लोगों में से थे जिनका मोहभंग तीव्रतम था। "लालो, लालो हा गुलिलालो" और 'आज़ा'दी' जैसी कविताओं में "वीरानों में नयी दुनिया" बसाने वाले "नये-कश्मीर" के इस गायक ने अपने असंतोष और विक्षोभ को अभिव्यक्ति दी—

यह आज़ादी स्वर्ग की हूर है,
यह घर-घर घूमती फिरे तो क्यों ?
यह तो केवल कुछ एक घरों के अन्दर ही
झूमती, अंगड़ाइयां लेती नज़र आ रही है।
यह आज़ादी कहती है कि मैं
सरमायादारी को नष्ट कर दूंगी
शायद इसीलिए अपनों से भी
सरमाया बटोर रही है यह।
गरीबी, मुफलिसी, अंधाधुन्ध मनमानी, ज़बां-बन्दी
इसी की शुभ छाया हम पर डालती हुई।

इस भ्रम-भंग की कटुता और तीखेपन का अहसास 'आज़ा'दी' की इन पंक्तियों की १९४५ में लिखी गयी एक अन्य कविता में व्यक्त की आशा और विश्वास से तुलना करने पर हो सकता है—

महजूर के गीतों की एक और विशेषता इनकी नयी लय और छन्द-विधान है जो हिन्दुस्तानी राग-रागनियों पर आधारित है।

महजूर ने कुल मिलाकर अधिक नहीं केवल पचहत्तर गीतों और गज़लों की रचना की है। इनमें से अधिकांश गीत साधारणता के स्तर से ऊपर नहीं उठते, लेकिन ऐसी भी अनेक रचनाएं है जिनमें जीवन, प्रेम और सौंदर्य के प्रति उनकी आस्था रेखांकित है। जन-समाज की सरल आकांक्षाओं और उमंगों से तादात्म्य स्थापित करने और परम्परा और प्रयोग के समन्वय की प्रवृत्ति इन्हें विशिष्टता प्रदान करती है। महजूर में विद्रोह का अकुण्ठ स्वर हमें सुनायी नहीं देता; उनमें मानवीय अनुभव का कोई गहरा पक्ष भी उद्घाटित नहीं होता, क्योंकि जैसा मास्टर ज़िन्दा कौल ने कहा है, "गहराइयों से वे अपरिचित थे।" फिर भी प्रेमोल्लास के रूमानी स्पन्दनों के साथ-साथ नये पुराने मूल्यों की टकराहट और सामाजिक जागरण का संदर्भ उन्हें एक ऐसी भूमिका में उपस्थित करता है जो एक नये काव्य-युग के प्रवर्तक की ही हो सकती है। महमूद शहरी ने अपने आकर्षक स्वर में गा-गाकर उनके गीतों को जन-सामान्य तक पहुंचाया और उन्हें अपने युग के सर्वाधिक लोक प्रियकवि के रूप में प्रतिष्ठित किया। आज महजूर की कविता

हमारे लिए वह आकर्षण नहीं रखती, पर आधुनिक युग के कश्मीरी काव्य में उनके महत्त्व को इनकारा नहीं जा सकता।

अब्दुल अहद आज़ाद : क्रांति-चेतना

कश्मीरी काव्य के आधुनिक विकास के संदर्भ में अब्दुल अहद आज़ाद (१६०३-४८) का नाम प्रायः अपने वरिष्ठ समकालीन महजूर के साथ लिया जाता है। यद्यपि आज़ाद और महजूर विचार के एक समान धरातल पर खड़े नज़र आते हैं, और १६३५ में महजूर की ही प्रेरणा से आज़ाद ने अविछिन्न रूप से कश्मीरी में लिखना शुरू किया था, आज़ाद का रचना-व्यक्तित्व महजूर से अधिक प्रखर और प्रबुद्ध है। उनकी संवेदना-दृष्टि अधिक व्यापक और साफ है, उनकी काव्य-चेतना अधिक गहरी, मानवीय नियति के सवालों से उनकी सम्बद्धता सच्ची। कश्मीरी काव्य के इतिहास में वे पहले कवि हैं, और अकेले विद्रोही कवि हैं, जिन्होंने क्रान्ति को सतही बेचैनी या वैचारिक उत्तेजना के स्तर पर ग्रहण न करके पूरी सच्चाई से मानवीय स्थिति में परिवर्तन लाने का एकमात्र रास्ता माना और उसके प्रति गहरी प्रतिबद्धता का परिचय दिया। अपने समय के जीवन और समाज के प्रति असंतोष और आक्रोश को व्यक्त करते हुए उन्होंने रैडिकल मार्क्सवाद की वैचारिक भूमि पर खड़े होकर मानव मुक्ति के लिए संघर्ष को अपनी कविता का मुख्य स्वर बनाया। महजूर से १८ वर्ष छोटे होने के बावजूद परम्परा के ढांचों को तोड़कर एक नये भावबोध से सम्पन्न, प्राणवान रचनाओं की सृष्टि करके उन्होंने कश्मीरी कविता को तस्सवुफ की दलदल और नाज़ो-नियाज़ और साज़ो-गुदाज़ की रूमानी गुदगुदाहाहट से एक झटके में मुक्त कर दिया। प्रगतिवादी कवियों की एक पूरी पीढ़ी ने उनके द्वारा तैयार किये गते रास्ते से ही अपनी काव्य यात्रा शुरू की। आज़ाद की इस विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण देन को या तो भुला दिया जाता है, या उसे काफी गौण बनकर पेश किया जाता है। वस्तुस्थिति यह है कि उनका लहजा और मुहावरा आधुनिक कविता के अधिक निकट है, और महजूर की छाया में उन्हें देखने वाले उनकी रचनात्मकता की सही परख या पहचान प्रस्तुत नहीं कर पाये हैं।

काव्य-विकास के तीन चरण

आज़ाद ने कश्मीरी में अपनी पहली गज़ल की रचना केवल पन्द्रह-सोलह वर्ष की आयु में की थी, लेकिन फिर वे उर्दू की ओर मुड़े, जहां से १६३५ में महजूर के प्रभाव के कारण ही वे कश्मीरी की ओर लौटे। उनके अभिन्न मित्र और 'कुलयाति आज़ाद' (आज़ाद के सम्पूर्ण कृतित्व) के संकलनकर्त्ता डॉ० पद्मनाथ गंजू ने उनकी कविता के विकास के तीन चरण माने हैं। अपनी काव्य-रचना के प्रारम्भिक युग

में उन्होंने परम्परागत शैली में कुछ गज़लें और दो मसनवियां लिखीं। दूसरे दौर में उन्होंने अधिक परिपक्वता का परिचय देते हुए प्रेम सम्बन्धी कुछ गज़लें और गीत लिखे और उसके साथ-साथ कुछ नज़्मों की भी रचना की। अपनी रचनात्मकता के तीसरे चरण में आज़ाद ने नज़्म को मानवीय समस्याओं को उठाने के एक गंभीर माध्यम के रूप में सफलता से विकसित किया। यह आज़ाद की कविता का उत्कर्ष-बिन्दु था जिस पर पहुंचकर उन्होंने 'दरियाव' (नदी) 'पांचादर' (प्रपात), 'शिकवा-इ-इबलीस' (शिकवा इबलीस से) 'इन्कलाब', 'वन्‌ चया'र' (वन का चीड़) जैसी शीर्षस्थ कृतियों की रचना की, जिनमें से कई 'पयामे आज़ाद' संग्रह में संकलित है। इन नज़्मों पर इकबाल के प्रभाव को बहुत अधिक आंका गया है। यद्यपि इस प्रभाव में इन्कार नहीं किया जा सकता, आज़ाद की 'दरियाव' जैसी सशक्त कृतियों में उनकी मौलिक ऊर्जा का तीव्र प्रवाह है। जिस वैचारिक ढांचे के अंतर्गत आज़ाद की अधिकांश श्रेष्ठ कृतियां रची गयी हैं, वह एम० एन० राय द्वारा प्रतिपादित रैडिकल मार्क्सिज्म रहा है। आज़ाद अधिक पढ़े-लिखे न थे और पेशे से एक मामूली अध्यापक से ऊपर कभी न उठ सके, लेकिन उनकी बौद्धिक चेतना इतनी प्रखर थी कि वह अपने समय का अतिक्रमण करती प्रतीत होती है।

आज़ाद ने जड़ हो चुके पुराने सांचों को तोड़कर कश्मीरी काव्य में एक नयी चेतना फूंक दी। वे शुरू से ही इस बात के प्रति सचेत थे कि उन्हें जो कहना है वह पहले नहीं कहा जा चुका है और उनकी कथन-भंगिमा भी नितान्त भिन्न और नयी है—

> अफसान्‌ जुदा, साज़ तय सामान जुदा ग्योन···
> मेरा अफसाना अलग है, साज़ और सामान अलग
> मेरा मयखाना और है, शीशा और पैमाना भी

एक नयी बात कहने का अहसास उन्हें जिस काव्य-युग में हुआ, वह सचमुच रचनात्मक ह्रास का, जड़ीभूत संवेदना का और भाव-विपन्नता का युग था। फारसी काव्य की कृत्रिम और निम्नस्तरीय अनुकृतियों में तस्सवुफ या हुस्नो-इश्क के नाम पर पाठकों की एक पूरी पीढ़ी के काव्यास्वादन की क्षमता को भ्रष्ट और विकृत किया गया था। इस सारी स्थिति को बदलते हुए आज़ाद ने चेतना पर पड़े अपने समय की राजनीतिक-सामाजिक स्थिति के दबावों को एक नये तेवर के साथ पेश किया।

प्रारम्भ में लिखी गयी प्रेम-सम्बन्धी उनकी गज़लों में भी एक ताज़गी और निराली भंगिमा, एक आकर्षक नयापन दृष्टिगोचर होता है जिसमें गुलो-बुलबुल और शमा-परवाना की पिटी-पिटाई प्रतीकात्मकता के स्थान पर सामाजिक जीवन और परिवेश से लिए गये उपमानों का महत्त्व है, जैसे—

प्रेम के अखबारों में आज़ाद, अपने विचारों के मोती बिखेर रहा है
क्या अखबार के खरीददार, ऐसे संवाददाता को पसन्द करेंगे ?

शीघ्र ही आज़ाद रैडिकल मार्क्सवाद के प्रभाव में आये और हुस्नो-इश्क की नाज़ुक ख्याली बहुत दूर छूट गयी। उन्होंने "कोमल-कोमल, सुन्दर-सुन्दर" रूमानी भावुकता को व्यर्थ समझा जो अन्याय के विरोध में खड़े पुरुष के संकल्प को कमज़ोर बनाती है—

उस प्रेम से कहीं अच्छी तो गुलामी का तौक है
जो प्रेम खड़े जवां मर्द को धराशायी कर दे

गज़ल हो या नज़्म, आज़ाद ने अपनी शायरी के अन्तिम दौर में पूंजीवाद के भयानक चेहरे, भूख के विकराल रूप, मानव-गरिमा को खण्डित करने वाली विचारधाराओं की घिनौनी असलियत को अनावृत्त करने की कोशिश करके शोषण से मुक्त समाज व्यवस्था का सपना प्रस्तुत किया है। इन कविताओं में आर्थिक और सामाजिक विषमता के प्रति तिलमिलाहट और अन्यायपूर्ण परिस्थितियों के बीच यंत्रणाएं झेलने को विवश आदमी के प्रति एक गहरी सहानुभूति मिलती है। भूख, गरीबी और असामनता को आज़ाद मानवीय नियति न मानकर पूंजीवाद द्वारा उत्पन्न विकृतियों के रूप में देखते हैं जिन्हें दूर करने के लिए वे पिटे हुए आदमी को क्रान्ति के लिए प्रेरित करते हैं—

आवरण फाड़ो, उमंगों से हटा दो तो नक़ाब
और लाओ इन्कलाब, और लाओ इन्कलाब !
जिन्दगी क्या—इन्कलाबों की किताब
इन्कलाबी - इन्कलाबो - इन्कलाब !

आज़ाद के क्रांति-दर्शन में केवल नारेबाज़ी नहीं, मानवीय स्थिति को बदलने के लिए एक सच्ची तड़प है। इसी संदर्भ में उन्होंने महाराजा के सामन्ती शासन के विरुद्ध कश्मीरियों के राजनीतिक आंदोलन से अपने आपको जोड़ा, जो द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान उग्र रूप धारण कर रहा था। इसके लिए उन्होंने महजूर की तरह गुलो-बुलबुल की आड़ की कोई ज़रूरत न समझी। इसे इन्होंने राष्ट्रीय स्वतन्त्रता और अंतराष्ट्रीय परिस्थितियों के परिदृश्य में ही प्रस्तुत किया। समता, बंधुत्व और स्वातंत्र्य पर आधारित नयी व्यवस्था के लिए सर्वहारा के संघर्ष की सफलता के बारे में आज़ाद पूर्णतया आश्वस्त थे, जिसके पीछे संभवतः मनुष्य की संभावनाओं के प्रति उनकी सुदृढ़ आस्था कार्यरत थी। यह अदम्य आशावाद उनके काव्य का एक प्रमुख स्वर है—

ग्रीष्म आये तो इन हिम की अट्टालिकाओं की नींव हिल जायेगी
वसन्त काल के बादलों की गर्जन और बौछार से
बर्फ के पहाड़ टुकड़े-टुकड़े हो जायेंगे।

मनुष्यमात्र की एकता में विश्वास के कारण ही आज़ाद ने संकुचित राष्ट्रवाद तथा धर्म और जाति पर आधारित भेद की भावना को अस्वींकार किया। वे हर उस विचारधारा के प्रति सशंक थे जो आदमी को आदमी से अलग करती है—धार्मिक मतवाद की संकीर्णता के प्रति विशेषकर, जिस पर उन्होंने खुले और कड़े प्रहार किये। धर्म को उन्होंने गति देने वाली शक्ति के रूप में नहीं, आदमी का शोषण और मानवता को विभाजित करने वाले तत्त्व के रूप में देखा। इसी बिना पर राष्ट्रप्रेम को भी उन्होंने अंततः एक संकीर्ण भावना माना जो मनुष्य और मनुष्य, देश और देश, राष्ट्र और राष्ट्र के बीच दीवारें खड़ी करती है। उनकी दृष्टि में मनुष्यता के भौगोलिक, धार्मिक अथवा जातिगत विभाजन अप्राकृतिक हैं—

यदि धर्मों और राष्ट्रों को अलग-अलग रखना
प्रकृति का उद्देश्य होता
तो हरेक के लिए अलग-अलग ज़मीन
अलग-अलग आकाश होता।

"दीनदारी" और "वतनदारी" की संकीर्णता पर चोट करते हुए आज़ाद इतनी हीं निर्भीकता और दृढ़ता के साथ मनुष्य के संकल्प को तोड़ने वाले नियतिवाद को अस्वीकार करते हैं। आदमी अपनी समस्याओं का हल आकाश को ताकने से नहीं कर सकता—

कितने भूख के मारे आर्त्त होकर आकाश को ताक रहे हैं,
उस लामकां पर भी काश, रुपयों का खज़ाना होता!

अपनी दुखद स्थिति से मनुष्य को मुक्ति के लिए अपनी यात्रा आखिर खुद ही तय करनी होगी, अपने ही विवेक और अन्तरतम के सच का सहारा लेना होगा। लेकिन खुद ही उसने अपने रास्ते में नियति, स्वर्ग, नरक और ईश्वरत्व की अवधारणाओं को कांटों-सा बिछा दिया है —

चलना तुझे खुद ही होगा
लेकिन अपने मार्ग में तूने
खुद ये कितने कांटे बो डाले
भाग्य, नियति, स्वर्ग, जहन्नुम और खुदायी!

आज़ाद की कविताओं में अक्सर सम्बोधन का लहजा मिलता है। कोई-न-कोई संदेश, चुनौती या चेतावनी देता हुआ कवि एक मंच पर से बोलता हुआ-सा प्रतीत होता है—विशेषकर वहां जहां कवि राजनीतिक सवालों को उठाता है। इसे कवि पर इकबाल का प्रभाव माना जा सकता है, लेकिन इस प्रभाव के नीचे सभी जगह उनकी कविता दब गयी या कुंठित हो गयी हो—ऐसी बात नहीं। वह रेटरिक का आवरण फाड़कर अपनी चौंध दिखा ही जाती है। 'दरियाव' (दरिया) 'वन्‌च या'र' (जंगल का चीड़) 'पॉंचादर' (प्रपात) और 'व्यथ' (वितस्ता) जैसी रचनाओं

में जिस बिम्ब-विधान और प्रतीक योजना का प्रयोग कवि ने किया है वह उन्हें रचनात्मकता की एक नयी भूमि पर स्थापित करता है। 'दरियाव' (दरिया) उनकी शीर्षस्थ कृति है, और कश्मीरी काव्य की एक उपलब्धि, जिसमें आज़ाद ने नदी के प्रतीक के माध्यम से अपने आत्मकथ्य को सामने रखा है—

मैं पीछे हटने का आदी नहीं,
आगे ही आगे जाना मेरा स्वभाव है
मैं गुल नहीं कि मुझे अपना शृंगार करना है
बुलबुल नहीं हूं कि अपने नीड़ का निर्माण करना है
मैं भंवरों में, इनकलाबों में, भूचालों में खुश हूं

अपने उत्साह में किनारों-बांधों को तोड़ता हुआ
ऊंचाइयों और नीचाइयों को सम बनाता हुआ बहता हूं
कठोर बाधाओं के सिर पर से लांघता हुआ
मैं उनके होश उड़ा देता हूं
मैं द्वन्द्वों में पड़ता नहीं,
लेकिन द्वन्द्वों से घबराता भी नहीं हूं
कठिन दीवारों और बलाओं
से टकराता हुआ चलता हूं
और फिर अपने बिखरे-बिखरे अस्तित्व को समेटता हूं
चट्टानों को काटता हुआ, पहाड़ों को गिराता हुआ
मैं जंगलों में उन्मुक्त घूमता हूं
ज़िन्दगी का सोज़ मुझे सफरों और मंज़िलों में मिलता है।

गहराइयों और ऊंचाइयों, बाड़ों और बांधों को
देखकर मैं तिलमिला उठता हूं
मैं समता की तलाश में अपना सिर पटकता फिरता हूं
तभी पानी होकर अंगारों का-सा उन्माद है मेरा

अपनी धरती के लिए, अपने युग के लिए मेरी हर सांस समर्पित है
मैं सभी के लिये हूं, लेकिन निस्संग भी हूं—
किसी के लिये ठहर नहीं सकता !
प्रतीक्षा में बैठा नहीं रह सकता
सफर और मंजिलों में मुझे जिन्दगी का सोज मिलता है।

अपने आप को सबके हित के लिए समर्पित मानने वाले इस क्रान्तिकारी कवि की, जिसे "बन्दगी में ज़िन्दगी की हार" नज़र आती थी, १४ अप्रैल, १९४९ को केवल ४५ वर्ष की आयु में मृत्यु हुई।

मास्टर ज़िन्दा कौल : आस्था और आस्तिकता का स्वर

महजूर और आज़ाद ने जिस नये काव्य युग का सूत्रपात किया उसके सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कवियों में ज़िन्दा कौल 'मास्टरजी' (१८८४-१९६५)हैं। उनकी कविता में राजनीतिक और सामाजिक सरोकारों के प्रति वह व्यग्रता नहीं मिलती जो महजूर और आज़ाद के काव्य में है। 'मास्टर जी' आस्तिकता और आस्था के कवि हैं। मनुष्य और ईश्वर के विछिन्न रिश्ते को फिर से जोड़कर समसामयिक संदर्भों में उनकी सार्थकता को उद्घाटित करने का प्रयत्न उनकी कविता को अपने समकालीनों से अलग एक विशिष्ट दिशा प्रदान करता है। आध्यात्मिक रहस्यवाद की अभिव्यक्ति कश्मीरी कविता के लिये कोई नयी विषयभूमि न थी, और 'मास्टरजी' के समय में भी उस लीक पर जाने वाले कवियों की एक अच्छी-खासी भीड़ उपस्थित थी। 'मास्टर जी' की विशिष्टता इस बात में है कि उन्होंने ईश्वर और मनुष्य के रागात्मक सम्बन्धों को आधुनिक धरातल प्रदान किया। इस दृष्टि से वे रवीन्द्रनाथ ठाकुर के अधिक निकट प्रतीत होते है। प्रो० जियालाल कौल के शब्दों में, "जो बात ज़िन्दा कौल की कविता को कश्मीरी रहस्यवादी कविता की लम्बी परम्परा से पृथक करती है वह है उसका आधुनिक स्वर, और जो बात उसे अधिकांश आधुनिक काव्य से अलग करती है वह है उसका रहस्यवाद।"[1] 'मास्टर जी' आधुनिक मनुष्य की शंका, दिग्भ्रम और पीड़ा का समाधान तलाशते हुए आध्यात्मिक रहस्यवाद के ऊर्ध्वलोक में पहुंच जाते हैं। ईश्वर उनके लिए मनुष्य का वह लक्ष्य-बिन्दु है जहां सब अन्तर्विरोधों, अन्तर्द्वन्द्वों का शमन हो जाता है।

एक दरिद्र परिवार में जन्म लेने के कारण ज़िन्दा कौल ने बचपन में गरीबी का दंश झेला था। पंगु और पस्त कर देने वाली परिस्थितियों में पल-बढ़कर वे श्रीनगर के एक स्कूल में अध्यापक नियुक्त हुए और तभी से सम्मान और स्नेह से उन्हें लोगों ने 'मास्टर जी' कह कर सम्बोधित किया और जब आध्यापक का पेशा छोड़कर वे सरकारी शोध और पुरातत्व विभाग में स्थानान्तरित हुए, तब भी वे लोगों के लिए 'मास्टर जी' ही बने रहे। जीवन के दुखों को जिस शांति और धैर्य से उन्होंने झेला उसे हम उनकी कविता में भी बिम्बित पाते हैं। उनका चिन्तनशील, किन्तु उदात्त-करुणामय व्यक्तित्व उनके रचना-संसार पर भी आद्यान्त छाया दिखायी देता है।

यद्यपि छोटी उम्र में ही 'नार हा' (आग) जैसी कविता में वे अपनी क्षमता प्रदर्शित कर चुके थे, कश्मीरी में नियमित रूप से कविता लिखना उन्होंने १९४२

में शुरू किया। इससे पूर्व वे उर्दू, फारसी और हिन्दी में लिखा करते थे। 'पत्र-पुष्प' शीर्षक से उनकी हिन्दी कविताओं का एक छोटा-सा संकलन दिसम्बर १९४० में प्रकाशित हुआ, जिसमें जीवन और मृत्यु जैसे विषयों पर उनके भाव व्यक्त हुए हैं। उर्दू में भी उनकी 'क्लर्कों' जैसी कई गज़लें लोकप्रिय हुईं। कश्मीरी को उन्होंने अपनी सर्जनात्मक क्षमताओं के माध्यम के रूप में जब पहचाना तब वे ५९ वर्ष के हो चुके थे।

शायद कश्मीरी में काव्य-रचना की प्रेरणा उन्हें परमानंद की रचनाओं का संकलन और अनुवाद करते हुए मिली। एक तरह से उनकी अपनी कविताएं परमानंद का आधुनिक संस्करण हैं, क्योंकि दोनों में आदमी की भीतरी दिव्यता को उद्घाटित करने का प्रयत्न है। कश्मीरी में 'मास्टर जी' ने कुल मिलाकर सैंतीस कविताएं लिखी हैं, जिनमें गीत और गज़लें भी शामिल हैं। छन्द-वैविध्य इन कविताओं के आकर्षण का एक विशेष पक्ष है। संगीतमय शब्दों के प्रयोग से श्रावणिक प्रभावों की उत्पत्ति के प्रति 'मास्टर जी' सचेत और सचेष्ट रहे हैं। इस प्रक्रिया में उन्होंने कश्मीरी काव्य को फारसी छन्द-प्रवृत्ति से भिन्न अनेक मौलिक और नयी छन्द-संरचनाएं प्रदान कीं। है 'मास्टर जी' की कविताओं का संकलन 'सुमरन' (सुमिरिनी) शीर्षक से पहले १९५१ में नागरी लिपि में दो भागों में प्रकाशित हुआ। बाद में दो कविताओं को छोड़कर शेष पैंतीस कविताएं इसी शीर्षक से फारसी लिपि में भी प्रकाशित हुई, जिसके लिये कवि को १९५६ का साहित्य अकादमी पुरस्कार प्राप्त हुआ। एक कवि के रूप में 'मास्टर जी' की ख्याति का आधार यह थोड़ी-सी कविताएं ही हैं, लेकिन इनमें से 'प्रेमुक-निशान' (प्रेम की निशानी), 'नातया'री' (नातैयारी), 'जूगिराय' (योगीराज), 'सन्या'स्य' (सन्यासी), 'करनावि तारख ना' (मांझी ले चल पार) 'मजबूरिया-लाचा'रिया' (विवशता) तथा कुछेक गजलों को कश्मीरी कविता की उपलब्धियों में गिना जा सकता है।

जैसा हम कह चुके हैं, 'सुमरन' में संग्रहीत ज़िन्दा कौल की कविताओं का प्रधान स्वर एक अदृश्य भाव-सत्ता के रूप में ईश्वर के प्रति अनुराग-भावना है। इस भाव-सत्ता को किसी धार्मिक अथवा दार्शनिक अवधारणा के रूप में कवि प्रस्तुत नहीं करता, बल्कि एक आंतरिक निश्चलता, एक भीतरी शांति के बिन्दु पर, जहां विचार या तर्क नहीं पहुंच सकता, उसकी उपस्थिति का अनुभव करता है। जर्मन कवि रिल्के की भांति जिन्दा कौल मनुष्य के लिये ईश्वर की आवश्यकता ही नहीं, ईश्वर के लिये मनुष्य की आवश्यकता की ओर संकेत करते हैं। ईश्वर मनुष्य की प्रतीक्षा करता हुआ उसका चिरंतन प्रेमी है, जो समय-समय पर उसे अपने पत्रों द्वारा संदेश भेजता है—

समय-समय पर वह मुझे पत्र भेजता रहता है
रंग-बिरंगे कागजों पर लिखे हुए इन पत्रों के रूप अनेक हैं—
फूलों से भरा मैदान, सरोवर, तारों-भरा आकाश,
नदी जिससे अहरबल जैसे अनेकों प्रपात झरते हों
कोई गीत-मुखर वन पाखी
कोई तितली
नारिगस के फूल
कुलांचे भरते हुए हिरनों की जोड़ी
कोई सुन्दर युवक,
कोई रूपसी
कोई ज्ञानी व्यक्ति
इच्छाओं के तुरंग पर आरोहित
कोई सच्चा साधु
जिसके पास कुछ भी नहीं
लेकिन जो सारे संसार को अपना मानता है।

(नातया'री)

इस कविता में यह भी संकेतित किया गया है कि ईश्वर मनुष्य की प्रतीक्षा में है, लेकिन मनुष्य अभी उससे मिलने के लिये तैयार नहीं।

मनुष्य ईश्वर का दिया हुआ प्रेम का स्मृति-चिन्ह भले ही खो बैठे, ईश्वर उसे अपने से विमुख होने का कोई बहाना नहीं देगा—

डिग कर, भटक कर, दिग्भ्रमित होकर
हम उसे अपना मुंह भला कैसे दिखायें ?
(शायद तुम कहना चाहो)
लेकिन उससे विमुख होने के ये बहाने बेकार होंगे
हम उससे कितना ही क्यों न कतरायें—
उसका प्रेम हमें कैसे छोड़ सकता है ?
यह गठबन्धन चिरन्तन है
कोई बच्चों की दोस्ती नहीं।

(प्रेमुक निशान्)

हिन्दी के छायावादी कवियों की भांति ज़िन्दा कौल को भी पहाड़ों, वनों, तारों में एक चेतन सत्ता के संकेत-संदेश मिलते हैं—

ईश्वर का कोष परिपूर्ण है
स्मृति-चिन्हों की उसके पास क्या कमी है ?
पर्वतों पर, घन-वनों में—

उसकी निशानियां बिखरी पड़ी हैं
कुसुनित उपवनों में लहलहाती हुई
तारों में चमकती हुई
वह अपनी निशानियां छोड़ गया है !

(प्रेमुक निशान्)

विराट के रहस्य-संकेतों को बटोरते हुए और उससे मनुष्य के राग-सम्बन्धों की खोज के बीच ज़िन्दा कौल मानवीय नियति से सम्बद्ध पीड़ा और विवशता के बोध से विचलित और उद्वेलित हो उठते हैं। जीवन की अर्थहीनता और प्रयोजन-हीनता को लेकर आधुनिक मन की प्रश्नाकुलता उनकी अनेक कविताओं में अभि-व्यक्ति पाती है। संसार की अपार और अव्याख्येय दुखमयता तथा प्रकृति की उदासीनता कवि की चेतना पर एसा दबाव डालती है कि एक परम कारुणिक प्रेममय ईश्वर के प्रति शंका का भाव उसकी आस्था को झकझोरता प्रतीत होता है। आस्था और शंका का यह द्वन्द्व काफी तीव्रता के साथ 'मजबूरियां' (विवशता) शीर्षक कविता में मूर्त हुआ है। भूख-प्यास, आर्थिक चिन्ताओं और जीवन के संघर्षों में टूटे हुए आदमी की निरुपाय स्थिति का विचलित कर देने वाला बिम्ब उभारते हुए यह कविता एक निरपेक्ष कल्पित सत्ता के रूप में ईश्वर की पीड़ित मनुष्यता के प्रति करुणा में संदेह को व्यक्त करती है—

कभी किसी सुदूर अतीत में किसी ने
किसी छाया-आकृति को देखा
हमारे कानों ने वही कुछ सुना
हमारे हृदय ने उसी पर विश्वास कर लिया
उसको हमने हमसे रूठकर
किसी कोने में छिपा हुआ मान लिया
वह तो बस कानों में रुई डाले बैठा है
कभी हमसे हमारा हाल नहीं पूछता
कभी हमारी खोज-खबर नहीं लेता
सोचता नहीं कि—
जिन्हें मैं मृत्यु के अंधेरे में
पर्वतों और घाटियों में मुझे खोजते हुए छोड़ आया हूं,
उन पर क्या बीती है।
(सौंदर्य को भला किसकी परवाह है ?)

लेकिन संदेह से अधिक यह स्वर शिकायत का प्रतीत होता है और कविता की

परिणति कीर्केगार्द की तरह "आस्था में छलांग" (a leap into faith) में होती है। शंका और दिग्भ्रम अन्ततः मानवीय चेतना में व्याप्त प्रेम-शक्ति के प्रति विश्वास में विलीन हो जाते हैं। पीड़ा सह रहे मनुष्य का यह बिम्ब कवि की कुछ गज़लों में भी उभरता है और चेतना के गहनतम स्तरों को छू लेता है। "विरह से दग्ध हृदय बहार का क्या करेगा ?" और "हमारे दर्द की उस चारासाज़ को खबर होगी ?" ऐसी ही गज़लें हैं जिनमें कवि की आन्तरिक वेदना व्याप्त हुई है। अस्तित्व की समस्याओं और मानवीय पीड़ा के प्रति प्रश्नाकुलता का यह स्वर कश्मीरी कविता में सर्वथा नया था। मानवीय स्थिति की गहराइयों में उतरकर ऐसे सवाल कभी पहले पूछे नहीं गये थे। यह और बात है कि पीड़ा का यह तीव्र अहसास भी कवि के भीतर आस्था के स्तम्भ को डांवाडोल नहीं कर सका।

'मास्टर जी' को प्रायः समाज की चेतना से असंपृक्त एक ऐसे निस्संग कवि के रूप में देखा जाता रहा है जिसे ठोस वास्तविकताओं के स्थान पर आध्यात्मिक अतिकल्पनाओं से अधिक सरोकार है। लेकिन 'करनावि तारख ना' (नाविक ले चल पार) उनकी एक ऐसी शीर्षस्थ कविता हैं, जिसमें सामाजिक विषमताओं, आर्थिक अभावों और नैतिक दुर्बलताओं से निर्मित समकालीन स्थिति के प्रति असंतोष और अस्वीकार की भावना व्यक्त करते हुए कवि ने ऐसे संसार का स्वप्न प्रस्तुत किया जहां—

सब के लिये काम होगा,
कोई होगा नहीं बेकार
जहां रोग, कुरूपता और बुराई
मनुष्य के विकास को कुण्ठित नहीं करेगी
जहां किसी के पास कम और किसी के पास ज्यादा—
यह विषमता नहीं होगी
जहां तोपें धुआं नहीं उगलेंगी
आकाश से बम नहीं गिरेंगे—
कोई किसी का शत्रु नहीं होगा,
और न सेनाएं भिड़ती हुई नज़र आयेंगी
ऐसे संसार में ले चल मुझे, ओ नाविक !

सब के सुख, सब की सुविधा के इस जगमगाते लक्ष्य-बिन्दु की उपलब्धि, भौतिक समता और उच्चतर मानवीय मूल्यों पर आधारित इस यूतोपिया की रचना 'मास्टर जी' कीं कविता के एक और दिक् को उद्घाटित करती है, लेकिन यह उसका मूल धरातल नहीं। प्रेम की विराट भाव-सत्ता के रूप में ईश्वरीय चेतना की व्याप्ति का गहरा बोध और एक आध्यात्मिक मानवतावाद जो अपनी सहज करुणा में मानवेतर को भी आबद्ध करता है कवि के रचना-मानस की

मौलिक पहचान प्रस्तुत करता है। आदमी को "प्रेम के समुद्र में दर्द का तूफान समेटे हुए" एक बुलबुला मानने वाले इस कवि की यह विशिष्टता है कि अपनी समस्त रहस्यवादी भंगिमा के बावजूद उसका मुहावरा अपने समकालीनों की अपेक्षा आधुनिक है।

मिर्ज़ा आरिफ

मास्टर ज़िन्दा कौल के अतिरिक्त महजूर युग के अन्य प्रतिनिधि कवियों में मिर्ज़ा आरिफ, मीर गुलाम रसूल नाज़की और गुलाम रसूल फाज़िल को उल्लेखनीय माना जा सकता है। इन कवियों ने महजूर की परम्परा को आगे बढ़ाते हुए या उसमें कुछ नये स्वर जोड़कर, कश्मीरी कविता को प्रगतिवाद की देहरी तक पहुंचाया। इस दृष्टि से इन्हें संधि युग के कवि भी कहा जा सकता है— यद्यपि ये लोग आज भी अपनी विशिष्ट भंगिमा में लिखे जा रहे हैं। इनमें से मिर्ज़ा गुलाम हसन बेग आरिफ (ज० १९१०) को स्वयं महजूर ने वैचारिक दृष्टि से आज़ाद के बाद अपना सहगामी माना है। आरिफ उस क्रान्ति के पहरेदार के रूप में सामने आये जिसका स्वप्न महजूर ने देखा था और जो सामंती शासन को उलटकर किसान और मज़दूर राज की स्थापना के लिए संघर्ष की प्रेरणा दे रही थी। आरिफ ने प्रारम्भ में 'दुस्' (दुशाला) जैसी कविताओं में कारीगरों के शोषण के विरुद्ध आवाज़ उठायी। 'बान् हा'ज्य बाल' (बानिहाल पर्वत) में उन्होंने हिमाच्छादित दर्रे के पार रोटी-रोज़ी की तलाश में निकले कश्मीरी मज़दूरों की तकलीफ की तस्वीर खींची। एक नयी समाज व्यवस्था के लिए किये जा रहे जन-संघर्ष का जयघोष उन्होंने अपनी बहुचर्चित कविता 'मगर कारवां सोन' (मगर हमारा क्रान्ति का कारवां आगे बढ़ता ही गया) जैसी कविताओं में किया। लेकिन शीघ्र ही महजूर की तरह आज़ादी आने के बाद का मोहभंग भी उन्होंने अनुभव किया—

> कसाई ही बदले
> ज़िबह का अन्दाज़ वही पुराना रहा

इस मोहभंग ने आरिफ की कविता को व्यंग्य की ओर मोड़ा जिसके माध्यम से उन्होंने आज़ादी के बाद की परिस्थितियों के प्रति आशंका, असंतोष और अस्वीकृति को व्यक्त किया। व्यंग्य का यह स्वर आरिफ की रुबाइयों में कभी-कभी बहुत तीखा हो उठता है, विशेषकर उस क्रान्ति की विफलता को देखकर अपने आप को वे कभी जिसका पहरुआ मानते थे। इस दृष्टि से आरिफ की कविता अपने समय के सामाजिक-राजनीतिक संदर्भों से जुड़ी है —

> अवाम को इन्कलाब ने जो कुछ दिया
> उसकी अजब तकसीम खुदा ने कर दी
> आम जनता के हिस्से गोलियां आयीं

और कुछ खास लोगों के हिस्से थैलियां
इन्हें दुख-दर्द मिला, तो उन्हें ऐश और शराब

× × ×

इन्सानी माल की अजब सौदागरी है यह
ख्यालों की चाबी चन्द चालाक लोगों के हाथ में है
शहंशाही ने हमें मूंड कर रख दिया था
और सिर्फ चमड़ी बची रही
आज लोकराज ने उस चमड़ी के भी जूते बना लिये।

× × ×

सरमायादार ने उसे "बदबख्त" कहा
और राजनीतिक बाज़ीगर ने "हाकिम"
इसने उसे खाने को टुकड़े तो दिये
लेकिन उसने उसके चीथड़े भी छीन लिए
गरीबों ने एय्यारों को सिर्फ रंग बदलते हुए देखा है

सामाजिक या राजनीतिक चेतना ही आरिफ की कविताओं की भाव-भूमि नहीं रही है, उन्होंने धर्म और प्रेम के विषयों को लेकर भी रुबाइयां और चतुष्पदियां कही हैं, नज़्में लिखी हैं। उनकी रुबाइयों का एक संग्रह 'रुबाइयाति-आरिफ़' के नाम से प्रकाशित हुआ है, जिस पर इकबाल का प्रभाव कहीं-कहीं दृष्टिगोचर होता है। उमर खैयाम की रुबाइयों का भी उन्होंने कश्मीरी अनुवाद किया है।

गुलाम रसूल नाज़की

मीर गुलाम रसूल नाज़की (१९०९—) की कश्मीरी रूबाइयों का संग्रह 'नमरूद नामा' यद्यपि १९६४ में प्रकाशित हुआ, संवेदना और बोध के स्तर पर वे भी महजूर युग के ही कवि कहे जा सकते हैं। अधिकांश काव्य रचना उन्होंने उर्दू में की है। कश्मीरी में जो कुछ उन्होंने लिखा है उसमें समसामयिक राजनीति के अलग रहने की प्रवृत्ति नज़र आती है, यद्यपि सामयिक परिस्थितियों की बिडम्बनाओं पर आरिफ की भांति उन्होंने भी चोट की है। व्यंग्य का स्वर महत्त्वपूर्ण होते हुए भी उनकी कविता का मुख्य स्वर नहीं। उनकी कोशिश यह रहती है कि वे चुस्त और चुभती हुई सूक्तियों की सृष्टि करें—और विषय इश्क से लेकर धर्म और प्रकृति तक कुछ भी हो सकता है। 'नमरूदनामा' में संग्रहीत उनकी अधिकांश रुबाइयों पर इकबाल के विचारों का काफी प्रभाव पड़ा है, जिसे स्वयं उन्होंने स्वीकारा है।

फाज़िल कश्मीरी

गुलाम अहमद फाज़िल (१९१४-) ने महजूर की परम्परा की पृष्ठभूमि में लोक जीवन से लिए गये विषयों पर गीतों व गज़लों की रचना की। सीधे-सरल भावों को सीधी-सरल भाषा में व्यक्त करती हुई उनकी रचनाएं लोकगीत परम्परा का ही एक अंश प्रतीत होती हैं। 'क्रालकूर' (कुम्हार की बेटी) और 'प'ह'ल्य कूर, (गडरिये की बेटी) जैसी कविताएं, जो आम लोगों में काफी लोकप्रिय हुई हैं, महजुर की 'ग्रीस्य कूर' (ग्राम युवती) से प्रेरित होकर लिखी गयी हैं। 'ज़ूनि मंज़ डल' (चांदनी में डल झील) उनकी एक और बहुचर्चित और लोकप्रिय कविता है, जिसमें प्रकृति का दृश्यात्मक सौंदर्य चित्रांकित है। फाज़िल ने धार्मिक विषयों को लेकर भी कविताएं लिखी हैं। उनकी कविताओं की विशेषता गीतात्मकता में है, गहरी अनुभूति या मानवीय स्थिति के प्रति सजगता उनमें ढूंढना व्यर्थ है। बस खुशनुमा लयों की एक झंकार है उनकी कविता जो साधारण लोगों में लोकप्रिय तो है, पर जिसमें सतह से ऊपर उठने की क्षमता नहीं। फाज़िल की रचनाओं के दर्जनों संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं और 'कलामे फाज़िल' के शीर्षक से उनकी चुनी हुई कविताओं का संकलन भी जिसमें नज़्में, गज़लें, गीत और रुबाइयां सभी कुछ शामिल हैं।

रसा जाविदानी

गज़ल की परम्परा को भद्रवाह के अब्दुलकदूस रसाजाविदानी (१९०१-) ने जारी रखा। वे उर्दू से कश्मीरी में आये। 'नवरंगे गज़ल' शीर्षक से उनकी कश्मीरी गज़लों का एक संग्रह प्रकाशित हो चुका है, जिसमें उनका गज़ल लिखने का अपना एक विशिष्ट अन्दाज़ दृष्टिगोचर होता है।

लाला लक्ष्मण

परम्परागत शैली में लिखने वाले कवियों में हानद चवलगाम के लक्ष्मण राज़दान जो लाल़ ल'ख्यमन' के नाम से प्रसिद्ध हैं, अपने ढंग के निराले कवि हैं। अपने आस-पास इन्हें जो कुछ भी अटपटा, विचित्र या असंगत लगा, उसको उन्होंने अपनी कविता में उपहास का आलंबन बनाया। यह व्यंग्य या हास्य कभी-कभी शिष्टता की सीमा का उल्लंघन भी करता है, पर लाला लक्ष्मण की नीयत हमेशा साफ होती है। कश्मीर का यह लोकप्रिय हास्य कवि पेशे से डाकिया था। उसने सब पर हंसा है, अपने आप पर भी। उसकी 'तोत़ गुदऱन्य चाय' (चायपान—गुदर के तोताराम के घर) 'गाड़ द्यगुल' (मछली का देगचा), 'सर्व़ मज़कूर्य'(सर्वानन्द मज़कूरी, जो कवि का मित्र था) और 'लाल़ ल'ख्यमन शकदारे द्राव' (लाला

लक्ष्मण शकदर बनकर चले) कविताएं विशेष रूप से प्रशंसित हुई हैं और आज भी लोगों को गुदगुदाती हैं क्योंकि इनमें उन्हें अपने परिचित परिवेश का बेढंगापन नज़र आता है। 'लाल ्ल'ख्यमन शकदारे दाव' इतनी प्रसिद्ध हुई कि उसके कारण लक्षमण राज़दान का नाम 'लाल ्ल ख्यमन' पड़ा। लाला लक्ष्मण की मृत्यु यद्यपि १९६४ में हुई, उनकी अधिकांश रचनाएं १९४५ से पूर्व ही सामने आ चुकी थीं।

समद मीर और अहद ज़रगर ने महजूर के युग में भी सूफी-काव्य की परम्परा को ही आगे बढ़ाया और उसमें अपना एक विशेष स्थान बना लिया। आधुनिक कश्मीरी कविता के समान्तर बहने वाली इस धारा की अन्यत्र विस्तार से चर्चा की जा चुकी है। यहां उसके उल्लेख का अभिप्राय केवल इतना है कि आज़ादी के बाद कश्मीरी कविता के तीव्रता से बदलते हुए तेवरों को एक परिप्रेक्ष्य में देखने और समझने का प्रयत्न किया जाये। १९५२ में महजूर की मृत्यु के बाद कुछ ही दशकों के अन्दर कश्मीरी कविता की प्रकृति और प्रवृत्ति में इस तीव्रता से परिवर्तन आया कि आज महजूर और उनके समसामयिकों की रचनाएं एक सुदूर अतीत युग का आभास देती हैं।

संदर्भ-संकेत

१. स्टडीज़ इन कश्मीरी : पृ० ८६

: ११ :

समकालीन कश्मीरी कविता

प्रगतिवादी काव्यान्दोलन

अक्तूबर १९४९ में पाकिस्तानी कबाइलियों के आक्रमण और महाराजा के सामन्ती शासन के आकस्मिक पतन के फलस्वरूप लोक शासन की स्थापना ने उथल-पुथल की एक ऐसी स्थिति पैदा की जिसका सीधा प्रभाव कश्मीरी साहित्य के समूचे परिदृश्य पर पड़ा। नई परिस्थितियों में वामपंथी बुद्धिजीवियों ने सम्भावनाओं के एक विराट क्षितिज को उभरते हुए देखा। कबाइली हमले में, जिसने सारे कश्मीर की चेतना को गहराई से झकझोरा, उन्हें आंग्ल अमेरिकी साम्राज्यवाद की साज़िश नज़र आयी जिसका उद्देश्य कश्मीर की नयी पायी हुई आज़ादी को छिन्न-विछिन्न करना था। उधर नयी सरकार द्वारा लागू किये गये भूमि-सुधारों ने राजनीतिक और आर्थिक गुलामी के विरुद्ध संघर्षरत जन-समुदाय को एक नये स्वप्न के कगार पर ला खड़ा किया। अपने समय की चेतना से जुड़ते हुए युवा कवियों के एक नये वर्ग ने सामाजिक बदलाव और सर्वहारा क्रान्ति के स्वप्न को पूरे उत्साह और आवेश से बुलन्द किया। इससे पूर्व ऐसा ही स्वर आज़ाद की कविता में भी गूंजा था और संकट और संक्रमण की इस स्थिति का सामना करने के लिए सामाजिक चेतना के उन्मेष की प्रक्रिया पहले ही शुरू हो चुकी थी। पर नये कवियों ने शायद पीछे मुड़कर इतना न देखा जितना वे उर्दू और अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य के प्रगतिवादी आंदोलन से और रूसी और चीनी क्रान्तियों से प्रेरित-प्रभावित हुए। कश्मीरी साहित्य के सारे वातावरण पर क्रान्ति का ऐसा भावावेश तारी हुआ कि प्रगतिवादी धारा के लेखकों को सचमुच यह विश्वास हुआ कि एक नयी समाजवादी व्यवस्था की स्थापना बिल्कुल निकट है। बाद की परिस्थितियों ने इस भ्रम को भंग किया, पर नये संसार को भी उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर हो रही विचारधाराओं की टकराहट के रूप में व्याख्यायित किया।

इस नये काव्यान्दोलन को दिशा और गति देने वाले कवियों में दीनानाथ

नादिम सबसे आगे रहे। इसे अपना स्वरूप स्पष्ट करने के लिये 'क्वंग पोश' पत्रिका का मंच मिला। आंदोलन को संगठित करने में १९५० में स्थापित कौमी कल्चरल फ्रंट जो बाद में कल्चरल कांफ्रेंस में परिवर्तित हो गया, की भी विशिष्ट भूमिका रही। युवा कवियों की एक पूरी पीढ़ी जिनमें रहमान राही, नूर मुहम्मद रोशन, मुहम्मद अमीन कामिल वगैरह के नाम महत्त्वपूर्ण हैं, नादिम के प्रगतिवादी स्वर में स्वर मिलाती हुए सामने आयी। मार्क्सवादी विचारधारा के प्रति प्रतिबद्ध इन कवियों को यह भ्रम हुआ कि शायद वे जन-संघर्षों के स्वरूप-निर्माण की स्थिति में हैं। अतः उन्होंने इस युग में जो कविताएं रचीं उनमें साम्राज्यवादी और सामंतवादी व्यवस्था के विरुद्ध उत्तेजक मुहावरा अधिक है, कविता कम। जिस क्रान्ति का उद्घोष उन्होंने आग उगलने वाली भाषा में किया उसका आधार तत्कालीन परिस्थिति की वास्तविकता में न होकर उनकी कल्पना में था। वर्ग-चेतना पर आधारित संघर्ष का उनका स्वर जितना अयथार्थ था, उतना ही ज़ोर-दार उन कवियों की अभिव्यक्ति थी। फिर भी कविता के पुराने चौखटों को तोड़ कर छन्द, विषय, शिल्प और अनुभूति के क्षेत्र में उन्होंने नयापन लाया और उन दिशाओं की ओर संकेत किया जिन्हें ग्रहण करके भविष्य की कविता का विकास होना था।

जैसा कहा जा चुका है, प्रगतिवादी कवियों में **दीनानाथ नादिम** (१९१६-) का स्वर सबसे अधिक प्रखर था। नादिम ने अंग्रेज़ी, उर्दू और हिन्दी में कविताएं लिखीं, पर १९४६ से उन्होंने 'व्वथी बाग़ च कुकिली' (ओ बाग की कोकिला जाग) जैसी सशक्त कविता द्वारा कश्मीरी में प्रवेश किया और तब से इसी भाषा को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। आज़ादी के बाद प्रगतिवादी आंदोलन के प्रतिनिधि कवि के रूप में क्रान्ति का संदर्भ लिये उन्होंने जिन कविताओं की रचना की उनमें अधिकांश नारेबाज़ी की हद को छूती हैं, पर साथ ही एक ऐसी गति और शक्ति का परिचय भी देती हैं जो कश्मीरी काव्य में पहले कभी न देखी गयी थी। इस संदर्भ में उनकी 'जंगबाज़ खबरदार' और 'ब़ ग्यव़ न अज़' (आज न मैं गाऊंगा) जैसी कविताओं को उदाहरणस्वरूप लिया जा सकता है, जिनमें उस युग की राजनीतिक परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में युद्ध और शांति के मसलों को स्पष्ट राजनीतिक पूर्वाग्रह के साथ भावावेश के स्तर पर प्रस्तुत किया गया है। क्रान्ति में अपने खून का रंग और खून में क्रान्ति का रंग देखने वाले नादिम ने "सरमायादारी" और "साम्राज्यवादियों" को चुनौती देते हुए काव्य को शुद्ध नारेबाज़ी का माध्यम ज़रूर बनाया, पर कुछ ऐसी श्रेष्ठ शांति कविताएं वे कश्मीरी को दे गये जिनमें युद्ध की अमानवीयता का तीव्र विरोध है। 'म्ये॔ छम आश पग़ह़ च' (मुझको तो कल की आशा है) और 'अमन अपीलि प्यठ दस्ख़त' (अमन अपील पर दस्खत) इसी प्रकार की कविताएं हैं जिनके महत्त्व

से केवल राजनीति प्रेरित होने के कारण इनकार नहीं किया जा सकता। राज-नीतिक प्रचार को एक तरफ छोड़कर प्रगतिवादी दौर में लिखी गयी नादिम की कविताओं के बारे में यह कहना गलत न होगा कि अन्याय और गैरवरावरी पर आधारित सामाजिक-व्यवस्था के प्रति आक्रोश उनका मुख्य स्वर है। इन कविताओं में उत्पीड़ितों की आकांक्षाओं को वाणी देने का और मानव यातना के बिम्ब को उभारने का प्रयत्न है। वस्तुतः कश्मीरी कविता को नादिम की यह एक बड़ी देन है कि उन्होंने उसकी बिषयभूमि का विस्तार किया और उसे सामाजिक यथार्थ के प्रति संवेदनशील बनाया।

इससे भी बड़ी देन नादिम की भाषा और काव्य-शिल्प के क्षेत्र में रही है। नये कथ्य के अनुरूप एक नयी भाषा और नये रूप-विधान की अनिवार्यता को महसूस करते हुए उन्होंने परम्परागत रूढ़ियों को तोड़ा और पहली बार कश्मीरी में मुक्त छन्द का प्रयोग किया। नादिम द्वारा प्रयुक्त मुक्त छन्द में छन्दहीन अभिव्यक्ति का आग्रह भर नहीं है, पंक्ति की लम्बाई और लघुता में अर्थ प्रसार और अभिप्रेत की प्रेषणीयता के लिये पूरा क्षेत्र प्रस्तुत करने का प्रयत्न है। मुक्त छन्द ही नहीं सॉनेट से लेकर हायकू शैली तक में लिखने के सार्थक प्रयोग उन्होंने किये और इस प्रक्रिया में कश्मीरी कविता को अपना निजी मुहावरा दिया। उनका 'गाश् तारुख' (भोर का तारा) कश्मीरी में लिखा गया पहला सॉनेट है। उनका एक और सॉनेट 'फूली चपाती सा चांद चढ़ा' प्रयोगशीलता की दृष्टि से महत्त्व रखता है: इसमें भूख की पीड़ा को एक सर्वथा नयी और अछूती बिम्ब-योजना द्वारा संवेदित किया गया है—

पर्वत के पीछे से एक दिन
फूली चपाती-सा चांद निकल आया
चांदी-से तन के दाग़ दिखाता
तार-तार हो चुके ऊनी पट-सा
निकला चांद
थकी मज़ूरिन को ठगकर
ज्यों थमा दिया हो ठेकेदार ने
साथ रेज़गारी के कोई
रुपया खोटा
चांद चढ़ा फूली चपाती-सा
हुए पहाड़ भूख से पीड़ित
चूल्हा बुझा दिया बादल ने
लेकिन वन परियों ने फिर चौका चमकाया
और श्रृंग सब हुए अन्न की ढेरी जैसे!

जहां तक भाषा का सम्बन्ध है नादिम ने कश्मीरी की शक्ति और संभावनाओं

का उपयोग ही नहीं, विस्तार भी किया। शब्दों के आंतरिक संगीत के प्रति वे खास तौर पर जागरुक रहे हैं और बिम्बों और प्रतीकों की सृष्टि में वे जिस कदर मौलिक हैं, शायद ही कोई दूसरा कश्मीरी कवि होगा।

उनकी अभिव्यक्ति में कश्मीर की मिट्टी की गंध है। अपनी मिट्टी से जुड़े होने के नाते नादिम मायकोव्स्की और गार्सिया लोर्का की याद दिलाते हैं।

नादिम की कविताओं का प्रथम संग्रह 'शिहिल्य कुल' शीघ्र प्रकाश्य है।

अब्दुल रहमान राही (१९२५-)—अपनी काव्य-यात्रा के प्रारम्भ में उस काफिले में जा शामिल हुए जिसके अगुआ नादिम थे। शुरू-शुरू में प्रगतिवादी भाव-भूमि पर रची गयी उनकी कविताओं में नादिम की ही गूंज-अनुगूंज रही, किन्तु शीघ्र ही उन्होंने अपनी एक निजी पहचान को विकसित किया और उस काव्यान्दोलन के एक प्रमुख प्रवक्ता के रूप में प्रतिष्ठित हुए। राही की इस दौर की कविताओं में मार्क्सवादी विचारधारा मनुष्य के भविष्य में एक अदम्य विश्वास के रूप में प्रकट हुई। उनमें अन्याय और विषमता के कड़ुवे अंधेरों में जी रहे दबे-पिसे लोगों के लिए एक नये सूरज के उगने का संदेश है—

> यह अंधेरा, ये बिजलियां, ये तूफान
> कहां रहेंगे—
> जब सुबह का सूरज
> किरणें बिखेरता उगेगा ?

इस दौर में राही के लिये समाजवादी स्वप्न समय की वास्तविकताओं के द्वारा जगाया गया एक नया स्वप्न है और यह नया स्वप्न नयी वास्तविकताओं को आकार देता है। राही की विशेषता यह है कि इसका चित्र प्रस्तुत करते हुए भी वे प्रायः अपने आपको नंगी प्रचारात्मकता से बचाने में सफल हुए हैं जो नादिम की कविताओं में खास तौर पर खटकती है। राही सन् '५३ के आसपास उर्दू में लिखना छोड़कर कश्मीरी में आये। 'सन ़व ़न्य साज़'(मार्मिक संगीत)की गज़लों के प्रारंभिक उन्मेष के बाद उन्होंने 'नवरोज़ि सबा' (नयी सुबह की हवा का नग़मा)/राग विशेष का नाम शीर्षक बत्तीस कविताओं के संग्रह में सत्य और स्वप्न के द्वन्द्व को अधिक कलात्मक और परिपक्व स्वर में प्रस्तुत किया। इन कविताओं में ज़िन्दगी को नये रूपों और नये रंगों में देखने की बेचैनी है, नयी सुबहों और नयी शामों की प्रतीक्षा है—

> ज़माना अभी न जाने कितनी नयी सुबहें नयी शामें दिखायेगी
> ज़िन्दगी जाने कितने नये रंग आज़मायेगी
>
> × × ×
>
> दुनिया एक ही करार से कैसे रह सकती है
> जुनूं क्या अपने ज़ोर नहीं आज़मायेगा ?

'मगर व्यथ मा छ शों" गिथ' (सोयी नहीं है वितस्ता) जैसी कविताओं में उन्होंने

जन-संघर्ष के स्वरूप और दिशा के प्रति अपनी बौद्धिक जागरूकता ही नहीं दिखाई, अपने सहभागी होने का भी परिचय दिया है। 'अ'ज़िच्य कथ' (आज की बात) शीर्षक कविता में कवि ने "आज के सवालों का आज ही जवाब" मांगते हुए क्रान्ति के एक अमूर्त स्वप्न को साकार करने की व्यग्रता दिखायी है। इसमें उस शत्रु के चेहरे को पहचानने की कोशिश भी की गयी है—

जो हमारे कल के सपनों में आग लगा रहा है

वर्तमान को बदलने की छटपटाहट और कल की आशा को रेखांकित करती हुई यह कविता उथल-पुथल का आवाहन करती है—

आओ बन्धु ! आज भारी उथलपुथल मचायें
आज नहीं तो फिर कब उठोगे ? जागोगे ?

इस रौ में कभी-कभी, यद्यपि बहुत कम, उनकी कविता नारेबाज़ी की सीमा का भी स्पर्श करती है—

हमारे खून से अपने दामन में मोती जड़ता है जागीरदार,
चांदनी के प्रकाश में हमारा पसीना प्यालों में भरता है जागीरदार

'नवरोज़ि सबा' में कवि एक नये मनुष्य की प्रतिष्ठा के लिये यत्नशील दिखाई देता है जो "उथलपुथल और क्रान्ति में पनप कर उन मनहूस ताकतों को लात मारकर आगे चलता है, जो अन्याय, शोषण और अत्याचार पर आधारित जर्जर व्यवस्था को बनाये रखने के लिये ज़िन्दगी को बांचना चाहती है···? वह मनुष्य जो पूरे धैर्य और जागरूकता के साथ अपनी नियति का आप निर्माण कर रहा है।"[२] इस संग्रह की कविताओं में अभिव्यक्ति के दबावों से प्रेरित नये प्रयोगों के ज़रिये राही ने अपनी काव्य-चेतना के उस पक्ष का उद्घाटन किया है जो आगे चलकर अधिक स्पष्ट आयाम ग्रहण करता है। गज़ल के क्षेत्र में ये प्रयोग विशेष रूप से सार्थक-सफल रहे हैं, जिसे कवि ने नया बौद्धिक संस्कार देने की कोशिश की है। 'ज़िन्दगी' शायद साहित्य-अकादमी पुरस्कार प्राप्त इस संग्रह की श्रेष्ठतम कविता है। वर्तमान जीवन के कठोर यथार्थ और भविष्य की सुखद कल्पना की टकराहट इसमें दो बिम्बों के माध्यम से प्रस्तुत की गयी है। पहला बिम्ब उस मां का है जिसके बेटे को पुलिस आधी रात को गिरफ्तार करके ले जाती है और दूसरा बिम्ब उस मां का है जो स्कूल में छुट्टी के समय के उल्लास भरे वातावरण के बीच अपने बच्चे के घर लौटने की प्रतीक्षा करती है। पहला बिम्ब प्रस्तुत करते समय कवि को ज़िन्दगी एक मुंडे बालोंवाली बुढ़िया-सी लगती है और दूसरी स्थिति में एक सुकुमार रूपसी।

राही अपनी कविता के प्रगतिवादी मोड़ को इतना पीछे छोड़ चुके हैं कि आज जब वे आधुनिक कश्मीरी कविता के प्रमुख प्रतिनिधि के रूप में प्रतिष्ठित हैं, उस ओर देखना कुछ अजीब लगता है। पर यह भी सच है कि प्रगतिवादी दौर में ही राही के काव्य-व्यक्तित्व के जो आयाम उभरने शुरू हुए थे, वे आगे चलकर उनकी

अलग पहचान बनाते हैं।

राही की भांति ही **मुहम्मद अमीन कामिल (१६२४)** भी प्रगतिवादी धारा के एक महत्त्वपूर्ण कवि के रूप में उभरे — नादिम से भी अधिक क्रान्तिकारी उत्साह के साथ। उनकी प्रारम्भिक कविताओं का संग्रह 'मस मल ़र' (रस गागर) १६५६ में प्रकाशित हुआ जिसमें छंद, भाषा और रूप-विधान के क्षेत्र में प्रयोग की प्रवृत्ति मिलती है; साथ ही प्रचारवादी मुद्रा अपनी पूरी नग्नता में उभरती है। मज़दूरों और किसानों को होशियार रहने की चेतावनी देता हुआ उनके स्वर का आवेश उग्रता की सीमाएं छू लेता है, जिसमें कविता प्राय: खो जाती है। गुलेलाला और ओसकणों का सौंदर्य-बिम्ब प्रस्तुत करते हुए भी कवि सहसा मंच पर आकर अपनी राजनीतिक मान्यताओं और मताग्रहों को व्यक्त करने लगता है। फिर भी इन कविताओं में विषय और संवेदना का नयापन और बिम्ब-विधान की सार्थक संयोजना विशेष रूप से ध्यान आकृष्ट करती है, सामाजिक चेतना का विकसित होता हुआ रूप भी। यह सामाजिक चेतना जहां प्राकृतिक वातावरण से लिये गये प्रतीकों में व्यंजित हुई है वहां भाव-संवेदन का स्तर नारेबाज़ी से ऊपर उठकर कलात्मकता के धरातल का स्पर्श करता है। 'चोन यावुन'(तुम्हारा यौवन)'गुलेलाला', 'आल्युक पोश ़नूल' (घोंसलों में वन पाखी) और 'विगनि वन ़वुन' (परियों का गायन) इसी प्रकार की कविताएं हैं, जिनमें संबोधनात्मक लहजे के स्थान पर बिम्बों के प्रयोग द्वारा संवेदन की सघनता उत्पन्न करने का प्रयत्न है। नज़्म के अतिरिक्त 'मसमल ़र' (रस गागर) में ग़ज़ल के क्षेत्र में भी प्रयोग किये गये हैं; विशेषकर भाषा के स्तर पर, जिसे बोलचाल का लहजा प्रदान करने की रचनात्मक कोशिश की गयी है। कुछ स्थलों पर कामिल की कविता प्रयोगशीलता के एक ऐसे बिन्दु को उद्घाटित करती है जो आधुनिक मुहावरे की ओर संकेत करता है। जैसे 'गुलेलाला' की कुछ पंक्तियों में—

> गुलेलाला लाल परिधान पहने
> एक किसान लड़की है या जलती हुई मशाल
> या कहार बिटिया के ब्याह के लिये —
> पालकी ले आये हैं।
> या सड़क पर किसी बच्चे की—
> लाल टोपी गिर पड़ी है
> (उसे यह मिल जाती तो अच्छा था)!

नूर मुहम्मद रोशन (१६१६-) की प्रगतिवादी आन्दोलन में उल्लेखनीय भूमिका रही है। नादिम की ही भांति उनकी राजनीतिक कविताओं में गरज और चमक है। कहीं-कहीं व्यंग्य का तीखा स्वर भी सुनायी पड़ता है। इसके माध्यम से उन्होंने "प्रतिक्रियावादियों" के ढोंग और मिथ्याचार को बेनकाब किया है। एक

कविता में अपने शहीद हुए पुत्र की कब्र पर फूल बरसाने आये पाखंडी राजनेताओं के विरुद्ध एक मां से कहलवाया गया है कि इन लोगों ने "पुरानी व्यवस्था के तकियों के सहारे आराम करके" क्रान्ति के प्रति विश्वासघात किया है। एक अन्य कविता 'श्रम' में कश्मीर के भारत के साथ विलय को छिन्न-भिन्न करने की कोशिश करने वाली शक्तियों पर चोट की गयी है। रोशन कविता को जागीरदारी के खिलाफ़ जिहाद का माध्यम बनाते हुए ललकारते हैं—

मैं तो मेहनतकश हूं, मेरी ही यह पैदावार है
यह ज़मीन, यह आसमान मेरा, मेरा संसार है
रोशन मेरे यौवन का यह जोशीला अंगार है
मुझको लानी नयी व्यवस्था, नया ज़माना
मुझे नया इन्सान, नया यह जहां बनाना।

आज़ादी के बाद लोगों की आशाओं और आकांक्षाओं को छिन्न-विच्छिन्न करने वाले नेताओं को भी उन्होंने अपने व्यंग्य का लक्ष्य बनाया, लेकिन रोशन की श्रेष्ठ कविताएं वे हैं जिनमें उन्होंने लोक-गीत के तत्त्वों का उपयोग किया है। फसल काटने के गीतों, लोरियों और मज़दूरों द्वारा श्रम-परिहार के लिये गायी जाने वाली पंक्तियों की शैली का इस्तेमाल करते हुए उन्होंने काम में व्यस्त आदमी के जीवन का जो रूप प्रस्तुत किया हैं, वह शुद्ध प्रचारात्मक धरातल से कभी-कभी ऊपर उठता हुआ दिखायी देता है। रोशन की अधिकांश कविताओं में आग और तूफ़ान का उत्तेजक मुहावरा भले ही हो, कविता नहीं है। यद्यपि क्रान्ति के लिये उनकी प्रतिबद्धता में ईमानदारी ज़रूर है। 'बहार' शीर्षक उनकी कविता में आधुनिकता के स्पर्श को भी पहचाना जा सकता है। प्रगतिवादी दौर के बाद से रोशन एकदम चुप हो गये हैं।

गुलाम नवी फिराक (१९२२) में राही के साथ ही प्रगतिवादी तेवर से अपने काव्य-लेखन की शुरुआत की। प्रगतिवादी आंदोलन में सक्रिय रहने के वावजूद उनकी संवेदनाएं १९वीं शती के अंग्रेजी रोमाण्टिक काव्य के समवर्ती बनी रहीं। अपने समय और सामाजिक परिवेश से सम्पृक्ति के स्थान पर प्राकृतिक वातावरण का सहारा लेकर रोमाण्टिक भावनाओं के संसार में संचरण करने की उनकी प्रवृत्ति हिन्दी के छायावादी कवियों की याद दिलाती है, यद्यपि छायावादियों की-सी कलाचेतना का आभास उनकी कविताएं नहीं देतीं। 'बुलबुलस कुन' (बुलबुल से) उनकी इस दौर में रची गयी श्रेष्ठतम कविता मानी जाती है, जिसमें कीट्स के 'ओड टु नाईटिंगेल' की प्रेरणा और प्रभाव को स्पष्ट देखा जा सकता है।

अर्जुन देव मजबूर (१९२२) प्रगतिवादी दौर के एक और उल्लेखनीय कवि है, जिन्होंने मार्क्सवादी सिद्धान्तों में अपनी आस्था को बनाये रखा और आज भी बनाये रखे हुए है।

प्रगतिवादी कवियों में **अब्दुल सत्तार रंजूर** (१६१७) ऐसे है जो कवि से अधिक सक्रिय राजतीतिक कार्यकर्त्ता रहे हैं। 'बांगे इन्कलाव' और अन्य दर्जन भर छोटे-छोटे काव्य-संग्रह उनके प्रकाशित हुए हैं। अपनी राजनीतिक कविता का स्वर उन्होंने नहीं बदला।

नयी राहों की खोज

१६४७-५७ के दशक में प्रगतिवादी काव्यान्दोलन विशेष रूप से सक्रिय रहा। १६५६-५७ के आते-आते उसके कमज़ोर पड़ने के संकेत मिलने शुरू हुए और १६६० के आसपास वह आखिर बिखर गया। इसका एक कारण उन राजनीतिक परिस्थितियों में परिवर्तन था जिन्होंने एक आदर्शवादी धुन्ध फैलाकर यह भ्रम पैदा किया था कि उनकी कविता सचमुच एक नयी सामाजिक व्यवस्था लाकर ज़िन्दगी को नया रूप दे सकती है। इस भ्रम के टूटते ही कश्मीरी कवि को लगा कि उसकी दिशाएं खो गयी हैं और वह आधार-भूमि कहीं खिसक गयी है जिस पर खड़े होकर वह सर्वहारा क्रान्ति के संभावनाओं की तलाश कर रहा था। प्रगतिवादी दौर में कविता ने एक आदेशात्मक और उपदेशात्मक लहजा ग्रहण करते हुए जिन नारों को हवा में उछाला था और भविष्य के जिन सुनहरे सपनों को प्रस्तुत किया था वे अचानक झूठे पड़ते हुए नज़र आये। आहिस्ता-आहिस्ता यांत्रिक सामूहिकता के नीचे दबी वैयक्तिक चेतना ने सिर उठाना शुरू किया, यहां तक कि कविता को एक वैयक्तिक प्रक्रिया मान लिया गया और समाज के सरोकारों से असंबद्ध निजी अनुभव की अभिव्यक्ति को रचनाशीलता की एक आवश्यक शर्त। अपनी ही पुरानी मान्यताओं के आगे प्रश्नचिन्ह लगाते हुए प्रगतिवादी कहलाने वाले कवि अब एक नयी काव्य-भूमि पर खड़े हुए।

प्रगतिवाद ने कश्मीरी कविता को एक यथार्थोन्मुख दृष्टि प्रदान की और उसे रहस्यवादी कुहासे से निकालकर अपने समय और समाज की समस्याओं के प्रति सजग बनाया। लेकिन इस चेतना को संवेदना के स्तर पर व्यंजित करने के स्थान पर मताग्रह और राजनीतिक आवेश के स्तर प्रस्तुत किया, जिससे कविता सपाट बयानबाज़ी भर रह गयी। इस आवेश और इन नारों का खोखलापन सिद्ध होने से जो स्थिति पैदा हो गयी उसने कवियों को विवश किया कि वे अपने रास्ते की आप तलाश करें। शुरू-शुरू में, संभवतः प्रगतिवादी अति-सामूहिकता की प्रतिक्रिया में राही, कामिल वगैरह कुछ कवि नव-रूमानी काव्य-प्रवृत्ति की और मुड़े। उनका दमित मानस अवसर पाते ही रोमाण्टिक मनोभावों में अपना प्रसार पाने लगा। नव-रूमानवाद के तत्त्व राही की 'नवरोज़िसबा' की कुछ गजलों में पहले से ही मौजूद थे और इसका उत्कर्ष उनके तथा अन्य समकालीन कवियों की उन रूमानी कविताओं में देखा जा सकता है, जिनमें प्रेम और सौन्दर्य के प्रति

एक मोहाविष्ट दृष्टि है। कुछ कवियों ने अपनी अभिव्यक्ति को अधिक काव्यात्मक बनाने के उद्देश्य से कविता को वास्तविक जीवन के संदर्भों से काटकर रूपवाद अथवा कलावाद का आश्रय लिया। जो हो, कश्मीरी कविता की प्रकृति में परिवर्तन की प्रक्रिया दृष्टिगोचर होने लगी, जिसकी परिणति आधुनिकवाद अथवा आधुनिक बोध की प्रतिष्ठा में हुई। यह आधुनिकवादी भंगिमा कश्मीरी ने उर्दू की नयी कविता से ग्रहण की, यद्यपि संवेदना और बोध के स्तर पर एक बदलाव की सूचना दीनानाथ नादिम की कुछ कविताएं पहले ही दे चुकी थीं।

आधुनिक संवेदना का उन्मेष

कश्मीरी कविता में आधुनिक संवेदना एक ऐसे बिन्दु पर उभरती दिखायी दी जहां मताग्रह से प्रेरित भावोत्तेजना का स्थान सजग प्रश्नशीलता ले रही थी, जहां ज़िन्दगी के प्रति पारम्परिक दृष्टिकोण अपना अर्थ खो बैठा था। मानवीय स्थिति की सरल-सीधी परिभाषाओं को अस्वीकार कर उसके गहन, संशिलिष्ट और जटिल रूप को समझने का आग्रह बढ़ा। आधुनिक मनुष्य के विसंगत और अन्तर्विरोधों से पूर्ण यथार्थ से साक्षात्कार और आस्थाओं के टूटने तथा मूल्यों के ढहने से पैदा हुए संकट में से उसके गुज़रने की प्रतीति ने कश्मीरी कवि को अभिव्यक्ति के नये धरातलों की खोज के लिए प्रेरित किया। यह खोज उनके प्रामाणिक काव्यानुभव से सम्बद्ध थी अथवा आधुनिक कविता के रूढ़ तेवरों को अपनाने की एक कोशिश, इसके बारे में बहुत कुछ कहने की गुंजाइश है। इतना ज़रूर हुआ कि कश्मीरी कवि ने अपने लिए एक नई दिशा पाई, जहां अकेलेपन का बोध, भय, संशय, विवशता, दिशाहीनता और कुंठा की स्थितियां उसके लेखन का संदर्भ बनीं। इस स्थिति को राही ने इन शब्दों में प्रस्तुत किया है : "पुरानी कविता के आदमी को लगता था कि वह एक सुस्थिर और सार्थक व्यवस्था का महत्त्वपूर्ण अंग है। उसने अपने समाज को अच्छी तरह से जान-पहचान लिया था और वह उसमें मिल गया था। अपनी कला उसे स्वर्गीय धरोहर लगती थी और जीवन निर्माण अपनी सामाजिक ज़िम्मेदारी। लेकिन (विज्ञान की) नकारात्मक क्रान्ति की लपेट में आया हुआ नया कवि न तो विश्वासों और सिद्धान्तों की व्याख्या करता है न किसी आदर्श का प्रचार। उसकी आस्थाएं मर गयी हैं और वह शून्य में लटक गया है। मूल्यों में वह गरिमा नहीं रही और ज़िन्दगी निरर्थक और निरुद्देश्य हो गयी...। विश्वास ढह गये और शंकायें बिफरा गयी। गांव का समरस जीवन सिकुड़ता गया और शहर का तनाव फैलता गया। व्यक्ति मर गया और समूह उभरकर सामने आया। बन्धन कट गये और रिश्ते टूट गये और अजनवीपन और अकेलेपन ने घेर लिया।"[३]

कश्मीरी कवि के लिये सब कुछ के निषेध और निर्थकता का यह बोध सच-

मुच आधुनिकता का प्रस्थान बिंदु रहा अथवा नहीं, एक सीमित कालावधि में उसने विकास के एक लंबे क्रम को पार ज़रूर किया है। प्रयोग को आधुनिकता की एक अनिवार्य शर्त मानते हुए उसने कविता में नये संवेदनों को व्यक्त करने के लिए कविता के परम्परित रूप-विधान को तोड़ दिया। उसके प्रयासों को पहले विरोध और फिर आतंक की दृष्टि से देखा गया, क्योंकि इस नये काव्य-बोध के साथ बहुत से लोग अपने आपको सहजता से जोड़ न सके। इन लोगों के इस आरोप में सच्चाई भी हो सकती है कि कश्मीरी कविता में आधुनिकवाद की प्रतिष्ठा एक सहज विकास का परिचय न देकर आरोपित और आयातित प्रवृत्ति जान पड़ती है। आज के कश्मीरी कवि के आधुनिकता बोध को इसलिये भी शक की नज़रों से देखने की गुंजाइश पैदा होती है कि थोड़ा-सा कुरेदने पर उसकी मध्ययुगीन मानसिकता नज़र आ सकती है। इसका आशय यह नहीं है कि कश्मीरी कवि की संवेदना-दृष्टि में कोई अन्तर नहीं आया, केवल इतना कि यह अंतर उतना गहरा नहीं जितना इसे प्रदर्शित किया जाता है।

दीनानाथ नादिम : सतत प्रयोगशीलता

कश्मीरी कविता के बदले हुए मिज़ाज और मुहावरे के प्रारम्भिक संकेत दीनानाथ नादिम की कविताओं में प्रगतिवादी दौर के अन्तिम चरणों में ही मिलने लगे थे, जब उन्होंने "रद्दी कागज़ अखबार कॖन्यिव" (रद्दी कागज अखबार बेचो) जैसी कविताओं में व्यंग्य के माध्यम से अपने भ्रम के टूटने का परिचय दिया था। १९६० के आस-पास काव्य-बोध की एक नयी मंज़िल की ओर बढ़ने वाले कवियों में हम उन्हें सबसे आगे पाते हैं। प्रगतिवादोत्तर दौर में उन्होंने शुरू-शुरू में प्रयोगवादिता के नाम पर रूपवाद की ओर अपना रुझान दिखाया जो "लखचि छु लखचुन" (लक्खी के तिल हैं) और 'नाबद ट्यठॖव्यन' (मीठा-कड़वा) आदि कविताओं में व्यक्त हुआ—उनकी इस प्रकार की कविताओं के विचारधारा के आग्रहों से मुक्त रूप में कुछ लोगों ने उनकी "कलात्मक परिपक्वता" का पता पाया और मूल्यों के ध्वंस की सांकेतिक व्यंजना देखी। 'नाबद ट्यठॖनव्यन' में स्त्री-पुरुष के शारीरिक-सम्बन्धों के जैविक पक्ष का सौन्दर्य बिम्बों द्वारा संकेतित किया गया है। वर्जित सेक्स के आनन्द और पीड़ा के लिये यौन प्रतीकों का प्रयोग परम्परागत हुस्न और इश्क की शायरी से भिन्न प्रभाव ज़रूर पैदा करता है, पर इस नयेपन के बावजूद यह कविता उस आधारभूमि से रहित है जिस पर नादिम का सही रचना-व्यक्तित्व उभरता है। यह भूमि उन कविताओं को विशिष्टता प्रदान करती है जिनमें जन समूह से बिदककर व्यक्तिवादी खोल में घुसने के बजाय वे मानवीय स्थिति के मूलभूत प्रश्नों से अपने को जुड़ा पाते हैं। इस प्रकार की कविताओं में 'जलॖर्य ज़ा'ज्य' (जाले) का विशेष उल्लेख किया जा सकता है। यह

कविता आज के आदमी की चेतना पर छाये मकड़जालों और गर्दोगुब्बार का बिम्ब प्रस्तुत करती है---

ओह-ओह-ओह यह गर्दोगुब्बार !
घूरे का यह ढेर, राख का यह अंबार
दम घुटता है खिड़की खोलें
झोंका स्वस्थ हवा का आये
शायद ये जाले गिर जाएं !

स्वस्थ हवा के झोंके के लिये खिड़की खोलने का प्रयास नादिम की कविता का केन्द्रीय भाव है जो उन्हें एक अदम्य आशावादी कवि के रूप में प्रस्तुत करता है। आशावादिता का यह स्वर 'सुबह गाही' (प्रभात पाखी), 'बे॑यि आर्यि बहार॒च शे॑छ' (फिर वसन्त का संदेश मिला), 'रा'च़ ह॒न्द्य त्रे॑ प'हर' (रात के तीन पहर) जैसी कविताओं से उभरता है। नादिम अपनी कविताओं में कोई-न-कोई संदेश भी टांकते हैं, यद्यपि सीधे-सपाट राजनीतिक संबोधन का लहजा उन्होंने अब छोड़ दिया है। आधुनिक जीवन के तनावों और अन्तर्विरोधों से गुज़रने का परिचय देते वे कम दिखायी देते हैं।

रंगीन भाषा की संगीतात्मक लयमयता का मोह और शब्दों की आवृत्ति की प्रवृत्ति के कारण नादिम की कविता का टोन आधुनिक कविता से मेल नहीं खाता। वर्णन और विवरण के विस्तारों और बिम्बों की अनावश्यक बहुलता में उनके काव्य संवेदनों की सघनता बिखर जाती है। पर इधर नादिम की कविता संजीदगी से एक नये विकास की ओर बढ़ रही है। लम्बी-लम्बी कविताओं के स्थान पर उन्होंने कश्मीरी के प्राचीन छन्द 'वाख' और जापानी 'हायकू' आदि के तत्त्वों का उपयोग करते हुए कुछ लघु कविताओं की रचना की है। इनमें वर्णनात्मकता के स्थान पर सांकेतिकता, और बिखराव के स्थान पर संयम मिलता है। 'हा' रिसाथ' (घटनाएं) शीर्षक से रची गयी ये लघु कविताएं जीवन के विसंगत रूप को सघन बिम्बात्मकता के स्तर पर उद्घाटित करती हैं--

आईने का एक बेशक्ल टुकड़ा
धूल की ढेरी पर चमक फेंक रहा है।
कहीं से आयी एक गाय---
और उसमें एकटक देखने लगी अपना रूप
एक कुतिया चली आयी और उस पर
अपनी सांसों की भाप छोड़कर चली गयी
एक पागल औरत ने उसे उठाकर
एक चीथड़े के सुपुर्द कर दिया
इसके बाद क्या हुआ, किसने देखा ?

अनुभव के अर्थ को परोक्ष रूप से बिम्बों में संकेतित करने की यह प्रवृत्ति 'ग्रहुन' (ग्रहण) शीर्षक कविता से शुरू हुई थी। आज नादिम की कविताओं में सूत्रात्मक संक्षिप्तता गयी है, जो प्रयोगात्मकता का एक नया दिक् खोलती है। वस्तुतः एक आधुनिक कवि के रूप में नादिम का महत्त्व उसकी इसी सतत प्रयोगशीलता में है।

रहमान राही : आधुनिकवाद की प्रतिष्ठा

कश्मीरी में आधुनिक कविता के बोध और मुहावरे को विकसित करने में रहमान राही का हाथ सबसे महत्त्वपूर्ण रहा है। पूर्ववर्ती काव्य की भाववादी दुनिया से बाहर आकर उन्होंने वैचारिकता को अपनी रचनात्मक-प्रवृत्ति के केन्द्र में स्थापित करने का प्रयास किया। वास्तविकता को देखने-समझने के लिये भावात्मकता के स्थान पर बौद्धिक दृष्टि को अपनाया। मताग्रहों से मुक्त इस दृष्टि का उदय बोध के एक ऐसे बिन्दु पर हुआ जहां न कवि के पास किसी दर्शन का आधार था, न धर्म का, न कोई विश्वास ही शेष रहा था न आदर्श। सिर्फ जीवन की अर्थहीनता और निरुद्देश्यता का एक तीखा अहसास चेतना पर दबाव डाल रहा था। आस्थाओं के टूटने और मूल्यों के ढह जाने से पैदा दिशाहीनता, संशय, निराशा और लाचारी की भयपूर्ण स्थितियां उनके काव्य में विचार और संवेदना के एक नये धरातल पर उजागर हुईं।

प्रगतिवादी दौर की सामूहिक सरोकारों की चेतना का स्थान राही में व्यक्तिवादिता को रचनाशीलता की अनिवार्य शर्त मानने के आग्रह ने लिया। यह व्यक्तिवादिता दृश्यबोध की उस सीमा के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया के रूप में उभरकर आयी जो समस्त सत्य को केवल बाहरी रूप में ही देखता मानता था। "नवरोज़िसबा" के बाद जिस नवरूमानवादी रुझान का परिचय राही ने दिया वह इस व्यक्तिवादी चेतना का ही एक रूप था। १९६० के आस-पास उनमें भाव बोध के स्तर पर एक बदलाव लक्षित हुआ और आधुनिक मनुष्य के अकेलेपन, आस्थाहीनता और अलगाव के संदर्भों को उन्होंने काव्य में बिम्बित करना शुरू किया। 'कारि दरिया सलसबील', 'ख्वाब त़ आ'ही' (स्वप्न और आशीष), 'रेंह त़ रक्स, (लपट और नृत्य) और 'पय छु ज़ुल्मात वुज़ान' (अन्धेरा उमड़ रहा है) आदि कविताएं इस बदलाव की सूचना लिये हुए है। वर्णन और विवरण की प्रवृत्ति कवि की संवेदना के संक्रमण का पता देने वाली इन कविताओं में भी बनी रही, लेकिन 'पय छु ज़ुल्मात वुज़ान' में उनकी रचनात्मकता का एक नया पक्ष सामने आया। इस कविता में राही ने वास्तविकता के विभिन्न स्तरों को उद्घाटित करने के लिये प्रतीकवादी पद्धति का प्रयोग किया। सतह से नीचे के अर्थों तक पहुंचने के लिये प्रतीकों के प्रयोग की यह प्रवृत्ति आगे चलकर राही की कविताओं की एक विशेष पहचान बन गयी।

राही की कविता समसामयिक मानवीय स्थिति के बारे में बुनियादी सवालों से टकराते-उलझते अपनी विकास-यात्रा की वर्तमान मंज़िल तक पहुंची। आज का आदमी पूर्व निर्मित वैचारिक सांचों में इन सवालों के जवाब न पाकर "हां" और "ना" की जिस अस्पष्ट और धुंधली संधि-भूमि पर आकर विमूढ़ हो गया है, राही ने अपनी कविता में उसे छूने-पहचानने की कोशिश की। 'बदवीन' शीर्षक कविता में उन्होंने आधुनिक मानव व्यक्ति के संशय और अनिश्चय की उस स्थिति को रेखांकित किया जो उसके विश्वासों के झूठा पड़ जाने का आभास देती है।

अकेलेपन को आदमी की नियति मानते हुए राही में यह अहसास घना होता गया कि उसे अपने सवालों के उत्तर आप तलाश करने हैं, क्योंकि उधार ली गयी दृष्टि उसकी कोई मदद नहीं कर सकती। उसे अपने युद्ध खुद लड़ने हैं, अकेले अपने सफर तय करने हैं। अपने अन्तर्द्वन्द्वों का समाधान खुद करना है, केवल अपने व्यक्तिगत विवेक का सहारा लेकर, क्योंकि अन्य सभी सहारे खिसक गये हैं, बेमानी हो गये हैं—

> गिरते हुए जिस पहाड़ से हमने पीठ टिकायी है—
> वही पानी हो गया।
> ज़हर खाकर हम जिस भी समुद्र में कूदने को हुए—
> वही अदृश्य हो गया

'अज्ञेय' की तरह व्यक्ति की अद्वितीयता का बोध जो राही की 'हन्दि पोश' (घासफूल) जैसी कविताओं में अत्यन्त तीव्रता के साथ उपस्थित है, अकेलेपन के संत्रास से जुड़ा हुआ नज़र आता है। अपने आपको "हर चीज़ से अलग" और "हर चीज़ को अपने आपसे अलग" पाकर व्यक्ति निराश और कुंठित हो जाता है। अपने इर्द-गिर्द की दुनिया की निर्थकता उसकी चेतना को तोड़ती-कचोटती है और वह अपने आप में सिमट आता है। राही के ही शब्दों में "सारे भ्रम, सारी परछाइयों को छोड़कर अपनी आंखों से अपने परिवेश और अपनी जिन्दगी को परखते हुए आधुनिक लेखक जो देखता है, बिना किसी आड़ के और बिना किसी भय के प्रस्तुत करता है। बाह्य जीवन जब उसे बेहद निरर्थक प्रतीत होता है और आन्तरिक जीवन से टकराव का अनुभव करते हुए वह अधिक अपने आपको टटोलने लगता है। उसे लगता है कि देश और समाज उतना खतरे में नहीं है, जितना उसका अकेला आप। वह अपने अकेले अस्तित्व की रक्षा करना चाहता है। आधुनिक लेखन की इस प्रवृत्ति को राही की कविताएं बिम्बित करती हैं, और वे आन्तरिक और बाह्य यथार्थ को उसकी सम्पूर्णता में ग्रहण करने की कोशिश करते हैं। यह कोशिश उन्हें जीवन और मृत्यु, होने और न होने के अस्तित्ववादी चिन्तन की ओर प्रेरित करती हैं। और यह चिन्तन उन्हें मूलभूत प्रश्नों की ओर ले जाकर एक प्रकार की आधुनिक धार्मिकता अथवा रहस्य-

वादिता में परिणति पाता है, जैसा "सदा" (हथकड़ी की आवाज़) शीर्षक कविता में लक्षित किया जा सकता है—

> तू जो कुछ भी है, मेरी फरियाद सुन,
> तुझसे ही कहता हूं, जो उष्णता के
> प्रथम स्पन्दन से पहले जाग्रत था,
> और सब कुछ के बर्फ हो जाने के बाद भी संवेदनशील रहेगा,
> तू जो कुछ भी है, मेरी फरियाद सुन, तुझसे ही कहता हूं।
> मैं : समुद्र के सामने हवा का एक झोंका
> सूर्य के सामने एक रोशनी का धब्बा
> आंधी के सामने एक छोटा-सा घास-फूल
> तू यदि है तो मेरी फरियाद सुन
> मेरी इन विमूढ़ आंखों में प्रवेश कर
> और उन्हें दिखा कि भटकाव की शुरुआत कैसे हुई।
> ....
>
> तू जहां से भी आया है, मुझे तेरी पदचाप
> अपनी श्वास-नली के बिल्कुल करीब महसूस होती है।

१९७० के बाद राही ने "नसरी नज़्म"— गद्य की लय पर लिखी गयी कविता का विकास करके एक महत्त्वपूर्ण प्रयोग किया। नादिम की अतुकान्त कविता से आगे जाकर राही ने पंक्तियों के लम्बान अथवा संकोचन का आधार विचार को बनाया और अनुप्रास अथवा नादसौंदर्य के स्थान पर शब्द के आंतरिक संगीत का ख्याल रखा, जो आधुनिक संवेदना के उद्घाटन के अधिक उपयुक्त है। राही ने आधुनिक जीवन की असंगत स्थितियों के बिम्ब प्रस्तुत किये हैं :—

> वे पेड़ों की छाल खा चुके थे
> और मैं तारकोल की गर्म सड़क पर
> टैक्सियों के पहिये के
> अच्छिन्न मौसम की जुगाली कर रहा था
> न तो उन्होंने पूछा,
> न मैं ही समझ सका
> कि सड़क के उस पार
> जो धूल उठी
> क्या किसी ने अपने खुरों से खुरचा
> या सड़क की पटरी ही धंस गयी ?
>
> ['द्रामुन']

'आ'न् वुछिथ' (आईना देखकर) और 'अख शबीह' (एक बिम्ब) जैसी कविताओं

में सभ्यता के तमाम आवरणों को उतार कर आदमी के भीतर छिपे पंजे मारते और दांत चमकाते हुए पशु का बिम्ब बार-बार उभरता है। 'हन्दि फोनूस' (धास-फूल), 'त्रॅ कोरि' (तीन लड़कियां) 'तख़लीक' (रचना) 'लीला' और' म्युल' (मेल) आदि को इधर लिखी गयी राही की श्रेष्ठतम कविताओं के रूप में चर्चित किया गया है। यह कविताएं विशेष विषयों का चुनाव नहीं करती, आधुनिक मानवीय स्थिति की भयावहता का बोध उत्पन्न कराती हैं।

राही १९७० के बाद लिखी अपनी कविताओं में अपने आस-पास की सामान्य से सामान्य वस्तु को भी प्रतीक का गहरा धरातल प्रदान करने की कोशिश करते हैं, और उसके माध्यम से जीवन स्थितियों के अर्थ उद्घाटित करते हैं, 'रूद' (बारिश) की इन पंक्तियों में—

न बिजली है न बादलों की गरज
बच्चे तक, और बच्चों की मां भी
चित्त पड़ गये
आंगन के मुर्गे दड़बे में सिमट गये
और बारिश की धाराएं
दीवार में छेद करती हुई
बह निकलीं
समन्दर का निमन्त्रण तो ठीक था
लेकिन छतरी की तीलियां ही टूट गयी हैं
कम्बल को खा गयी है दीमक
और ऊपर से
पड़ रही है
बारिश !

आज के जीवन के पेचीदा यथार्थ की अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त भाषा और प्रतीकों की खोज ने राही के सामने संप्रेषणीयता की समस्या पैदा की है। शब्द के महत्त्व के प्रति उनकी जागरूकता को 'म्युल' शीर्षक कविता में देखा जा सकता है, लेकिन इस जागरूकता के बावजूद राही की कविताओं में एक सायास पैदा की गयी जटिलता और दुर्बोधता मिलती है जो अमूर्तन के अतिरेक का परिणाम है। इस दुर्बोधता को उन्होंने एक उपलब्धि के रूप में प्रस्तुत करने की वस्तु बना दिया है। बिम्बों और प्रतीकों के स्तर पर निर्मित यह दुर्बोधता संप्रेषण में एक अनावश्यक बाधा ही मानी जा सकती है, क्योंकि इससे राही की कविताओं का पहेली का-सा रूप हो जाता है जिसका लाख माथा-पच्ची करने पर भी कोई सही अर्थ लगाना संभव नहीं हो पाता। कभी-कभी तो ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्व-निश्चित अवधारणाओं और विचारसूत्रों को राही सायास बिम्बों-प्रतीकों में ठूंसने

को कोशिश करते हुए झूठे तेवरों को दर्शाते हैं।

राही की कविता के बारे में एक और बात कहना ज़रूरी है। प्रायः अनुभव के सभी बाह्य संदर्भों से उसे काटकर वे एक निरपेक्ष सत्ता के रूप में स्थापित करते हैं; कविता की संदर्भात्मक प्रकृति को अस्वीकार करते हुए एक शुद्ध कलात्मक इकाई के रूप में उसकी स्वायत्तता पर ज़ोर देते हैं। भाषा का आधुनिक बोध के अनुरूप परिवर्तित करने का उनका आग्रह समझ में आ सकता है, लेकिन इस प्रक्रिया में उनकी कविता अकादमिक दायरों के अन्दर सिमटी हुई और कृत्रिम लगती है – उसमें खुलापन नहीं है। उसमें वह जीवंतता नज़र नहीं आती जो अनुभूति को सीधे जीवन से प्राप्त करने से मिलती है। इस निर्णय पर पहुंचना अनिवार्य हो जाता है कि राही में भाषा को माध्यम के स्थान पर साध्य बनाने की प्रवृत्ति है।

नज़्म के साथ-साथ राही ने गज़ल को भी आधुनिक संवेदना के अनुरूप एक बौद्धिक लहजा प्रदान करने की कोशिश की। इसका प्रभाव गज़ल के शब्द-चयन और भाषा और संरचना पर पड़ा है। राही की गज़ल प्रायः भावात्मक न होकर बौद्धिकता का आभास देती है और कभी-कभी वह हुस्न और इश्क के अपने पुराने और प्रिय विषय पर आकर बारीक ख्यालों का ताना-बाना बुनने लगती है। इस प्रकार की गज़लों का रूमानी भाव-बोध यह सवाल पैदा करता है कि एक ही काव्य-भूमि पर राही कैसे संवेदना के दो स्तरों को एक साथ उद्घाटित कर पाते हैं।

मुहम्मद अमीन कामिल

कश्मीरी कविता को नया लहजा देने वाले कवियों में अमीन कामिल प्रमुख हैं। काव्य-बोध और आस्वाद के एक अलग धरातल को उद्घाटित करने का उनका दावा इस हद तक सही है कि वे अपना एक निजी मुहावरा विकसित करने में सफल हुए हैं। अपनी विषय-वस्तु को वर्तमान स्थितियों से चुनते हुए वे आधुनिक मनुष्य की समस्याओं के प्रति जागरूकता का परिचय देते हैं। उनकी कविता में अधुनिक-वादी बोध परम्परा के निषेध की पृष्ठभूमि में उभरता है। लेकिन आधुनिकवादी प्रवृत्ति को वे इस हद तक ले जाने के पक्ष में नहीं हैं कि व्यक्ति अपनी खोल में सिमट कर रह जाए और काव्यानुभव इस सीमा तक जटिल और निजी हो जाए कि कविता पहेली का रूप धारण करके उलझाव पैदा करे। इस संभावना के खतरे की ओर अपने कविता-संग्रह 'लव् त् प्रव्' (ओस और किरणें) में उन्होंने साफ इशारा किया है ''···आधुनिक कविता में इस बात का बेहद अंदेशा मौजूद है कि कवि अपने भीतर सिमट कर रह जाए। अगर ऐसा हुआ तो कविता ऐसी पेचीदा पहेली बन जाएगी कि माथापच्ची करने पर भी कोई अर्थ नहीं निकलेगा। बहर-

हाल देखना यह है कि इस किस्म की कविता हमें कितनी दूर तक अपने साथ ले सकती है।"[5] कामिल "इस किस्म की कविता" के साथ नहीं चले। काव्यानुभव के नितान्त वैयक्तीकरण से बचकर उन्होंने उसे सामाजिक संदर्भों से जोड़ने की कोशिश की। अकेलेपन और अस्तित्व की सारहीनता की अनुभूति उनमें ज़रूर है पर वे इस समस्या का समाधान दूसरों से जुड़ने की कोशिश में तलाशते हैं। कश्मीरी के आधुनिकवादी कवियों में वे इस दृष्टि से बिल्कुल अलग नज़र आते हैं कि उन्होंने अपनी कविता को राजनीतिक-समाजिक समस्याओं के दबाव से निरपेक्ष रखने की कोशिश नहीं की। कला की स्वायत्तता की अवधारणा और उसके शाश्वततावादी समाधानों में कामिल का विश्वास नहीं। इस संदर्भ में उनकी दो पंक्तियां उद्‌धृत की जा सकती हैं—

> कला शाश्वत रहस्यों को खोल रही है
> चाभियां नहीं हैं, लेकिन तालों के तो ढ़ेर लगे हैं।

प्रगतिवादी दौर में जिस आवेशपूर्ण अभिव्यक्ति से कामिल ने अपने काव्य-लेखन की शुरूआत की थी, उसे शीघ्र ही पीछे छोड़कर वे अपने लिए एक अलग राह के अन्वेषण में लग गए। कुछ देर नवरोमानवाद की भावकक्षा में भटकने के बाद उन्होंने अपने काव्य में रचनात्मकता की एक नयी दिशा को उपलब्ध किया, जिसने १९६५ में "लव्‌ त्‌ प्रव्‌" (ओस और किरणें) की कविताओं को विशिष्टता प्रदान की। १९६७ में प्रकाशित 'बेॅयि सुय पान' (फिर वही अपनावा) और १९७३ में प्रकाशित "प'दिस पो'द छ़ाय"(पद-पद की छाया) में प्रायोगिकता और आधुनिक संवेवना की यह दिशा संभावना के एक पूरे क्षितिज को उजागर करती हुई दिखायी दी। यद्यपि रोमानी तत्त्व बने रहे, आधुनिक जीवन के नये यथार्थ की व्यंजना के उपयुक्त एक सार्थक प्रतीक योजना और बिम्ब-विधान के द्वारा कामिल ने तत्कालीन काव्य-बोध को बदलने में विशिष्ट भूमिका निभायी। इस बदलाव की चेतना 'न्यथ्‌ न'न्य माने' (निर्वसन अर्थ) जैसी कविताओं में आभासित होती है। इसमें कवि को "सोच के पैमानों" के तंग पड़ने का अहसास "नंगे अर्थों" की ओर ले जाता है और वह व्यंग्यपूर्ण लहजे में कहता है—

> अक्षरों की मख़मल नायाब हो गयी है
> जाया हो गए हैं
> निर्वसन अर्थ !

स्वयं कामिल की कविता "अक्षरों की मख़मल" से अधिक इन्हीं नंगे अर्थों की कविता है।

कविता की अद्वितीयता की अवधारणा को अस्वीकार करते हुए कामिल अलंकारिक तत्त्वों से दामन बचाने की कोशिश करते हैं, गो इस कोशिश में वे पूरी तरह सफल हो सके हैं—ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसका कारण यह है कि

उनका काव्यानुभव शब्द-केन्द्रित है, और सार्थक शब्द की तलाश में वे सुन्दर शब्द की ओर झुककर कभी-कभी अपनी कविता को शाब्दिक क्रीड़ा बना देते है, जिसके पीछे हमेशा एक सुनिश्चित दृश्यबोध अथवा अनुभूत सत्य नहीं रहता। वर्तमान स्थितियों के बहु-आयामी संदर्भों को व्यंजित करने के लिए वे प्रतीकीकरण का भी सहारा लेते हैं, जैसा उन्होंने 'जंगुल (जंगल), प्रे॑न्य शाहारा' (उजला राजपथ) और 'नीलनाग' जैसी कविताओं में विशेष रूप से किया है। 'जंगुल' में चेतना पर पड़ रहे परंपरा के दबाव को ''दूर तक जाल फैलाये'' जंगल के बिम्ब द्वारा से व्यक्त किया गया है जो ''ज़ालिम और बेमुरव्वत'' होते हुए भी मानवीय नियति का रहस्य छिपाये हुए है—

पांव थक हार गये,
शौक तक पुराने पड़े
दम-ब-दम लेकिन है
ताज़ा और जवां जंगल।
नियति से अपनी पूरी तरह परिचित
है मेरी नियति का भी राज़दां जंगल।
एक बेमिसाल इतिहास गौरव का
आप कल्हण है, आप दास्तां जंगल

''प्रे॑न्य शाहराह'' (उजला राजपथ) शीर्षक कविता में आधुनिक जीवन की लक्ष्यहीनता, संशय, भ्रम-भंग और निस्सारता को राजपथ के प्रतीक के ज़रिये प्रस्तुत किया गया है—

दूर एक लम्बा ठंडा उजला राजपथ है
नि:शब्द, शांत रहस्यमय
....

राजपथ, जहां न कोई मील का पत्थर है न सराय
समय खामोश, जिसका न कोई आज है न कल
गुलाब की कोई पंखुड़ी नहीं—
न किसी कांटे की नोक
न उंगली के पोरों का दर्द, न हथेली के बीच खुशबू
न पलकों का झपकना, न किसी पंख की फड़फड़ाहट
जो घुटे वातावरण में हलचल पैदा करे
....

न पानी ही बाकी बचा है, न मृगजल का स्वप्न
सिर्फ कुछ नहीं-कुछ नहीं-कुछ नहीं-है सब ओर।

यह एक खौफनाक स्थिति है, जिससे कामिल की बहुत-सी कविताओं में साक्षात्कार

होता है। "नीलनाग" शीर्षक कविता में कवि ने अपनी सांस्कृतिक अस्मिता और जड़ों की तलाश की है। आधुनिक संदर्भ में प्राचीन हिन्दू मिथकों का प्रयोग कामिल के काव्य की एक और विशेषता है। वे प्रतीक निर्माण की प्रक्रिया में राही की तरह जटिल नहीं हुए हैं, यद्यपि अनावश्यक विस्तार और बिखराव के कारण अपने प्रतीक विधान से हमेशा अपेक्षित प्रभाव पैदा नहीं कर सके हैं। यह बात उनकी बिम्ब-रचना के बारे में भी कही जा सकती है। कभी-कभी परस्पर असंगत और असंबद्ध बिम्ब संवेदन को सघन नहीं होने देते, यद्यपि कभी-कभी उनके बिम्ब काफी धारदार होते हैं, खासतौर पर जब वे समसामयिक स्थिति की विसंगति और विडंबना की पहचान उनके माध्यम से प्रस्तुत करते हैं - जैसे 'आदम छु ज़्यनय' (अभी पैदा नहीं हुआ आदमी) कविता में इन पंक्तियों में—

अभी भी बन्द कमरों के अन्दर आज़ाद उड़ान
कांच की खिड़कियों से सिर टकरा रही है।

या 'ज़ख्मी बुता' (घायल अहम्) में यह बिम्ब—

समय के जाड़े में बर्फ हो चुकी है तमाम आवाज़ें
शब्द की राख और सदियों की ठंडी आंच
अर्थ बात की दरारों के बीच
धुएं-से चेहरे लिये हुए!

या फिर एक अन्य कविता में भय का यह बिम्ब—

कल रात पेड़ों से यकायक गिर पड़े घोंसले
कल रात खामोशी बड़ी भयानकता से चीख उठी।

'पगाह कोर गछ़ख' (कल कहां जाओगे) में वर्तमान से असंतुष्ट और कल के प्रति आशंकित कवि की जीवन के मौसम को बदलने की छटपटाहट बिम्बित हुई है—

धूप में निकलूं तो सीने में ताप चुभ जाएगा
छांव में बैठूं, तो तन का रक्त जम जायेगा
कोई भी मौसम यहां वसन्त का आश्वासन नहीं।

× ×

समय दोजान हो, प्रसव की पीड़ा में व्याकुल
लोगों की भीड़, लेकिन सब अपनी-अपनी फिक्र में
रास्ते में कोई पैरों का निशान
अपना पट या चित्त नहीं दिखायेगा

हर कदम ऐसा पड़ेगा मानों भटक रहा हो
सूर्य होगा बस कुछ ही हाथ ऊंचा
और भयंकर ठंड केवल कुछ ही कदम नीचे !

अमीन कामिल मूलतया नयी गज़ल के कवि हैं। उन्होंने गज़ल को परम्परागत सौंदर्य बोध से विच्छिन्न करके समसामयिक स्थितियों के संप्रेषण का एक सार्थक माध्यम बनाया। भावुकता और संगीतात्मतता को विदा देकर उन्होंने गज़ल में बौद्धिकता और नयी संवेदना का समावेश करके उसे भाव की नयी भूमि और विषय के नये क्षेत्र प्रदान किये। कामिल के हाथों में कश्मीरी गज़ल एक ऐसी विधा बन गयी जिसमें वैयक्तिक अनुभव सबके अनुभव से परिवेशगत यथार्थ के धरातल पर जुड़ता है। इस रिश्ते को सहज और प्राकृतिक बनाने के लिये कामिल ने बोलचाल की भाषा का रचनात्मक प्रयोग करके उसे परम्परागत अर्थ-बोध से मुक्त किया। यही नहीं गज़ल के औपचारिक लहजे को उन्होंने एकदम बदलकर आम बोलचाल के नज़दीक लाया। सुन्दर और लुभावनी भाषा के स्थान पर ठोस वास्तविकता को व्यंजित करने वाले इस लचीले अनौपचारिक लहजे के प्रयोग ने कश्मीरी गज़ल को निःसंदेह एक बिल्कुल नया आयाम दिया। दरअसल गज़ल के रूपाकार में उन्होंने एक मूलभूत परिवर्तन लाया जिसके लिए उन्होंने जड़ और निष्प्राण छन्द-विधान को तोड़कर नये रचनात्मक तकाज़ों के अनुरूप छोटे-छोटे द्रुत गति छन्दों का प्रयोग किया, जिनमें स्थापना और प्रतिस्थापना की तकनीक के द्वारा एक तनाव व्यंजित करने की क्षमता है। कहीं-कहीं उनकी गज़ल ऊंचे स्वर में स्वगत्-कथन का भी आभास देती है और कहीं-कहीं बिम्ब और उपमानों के उपकरणों से रहित वक्तव्य का-सा रूप ग्रहण करती है। लेकिन कुछ स्थलों पर उनकी गज़ल चुस्त फिकरेबाज़ी मात्र बनकर रह जाती है या फिर अनावश्यक वाग्मिता।

कामिल की गज़ल का यह विशिष्ट लहजा 'लव, त, प्रव' में संग्रहीत कुछ गज़लों में पहली बार उभरा, 'बे'यि सुय पान' में विकसित हुआ और ''प'दिस पौद छाय'' में अपनी तमाम विशेषताओं सहित पूरे असरकारी ढंग से उपस्थित हुआ। 'प'दिस पो'द छाय' मूलतया कामिल की गज़लों का ही संग्रह है। इन गज़लों में अपने समय और उसके सवालों की पहचान मौजूद है। समसामयिक स्थितियों के अहसास से प्रेरित ये गज़लें परिवेश की विसंगतियों, विकृतियों और विद्रूपताओं को अनावृत्त करती हैं—

इस शहर में न आया
कोई नबी, न कोई रसूल
केवल रक्त बीज पैदा हुए, खुदा पैदा नहीं हुआ
इस शहर में

जब-तब केवल परायी परछाइयां ही
हृदय के बीच उभरती-मिटती रहीं
अपना आप कभी नज़र नहीं आया इस शहर में।
उफ ! यह विरल हवा, संकरी गलियों का यह अंधेरा
घनी-संकुल आबादी
जो आया फिर नज़र नहीं आया
इस शहर में।

अस्मिता को ही निगल जाने वाले इस परिवेश में आदमी का जीवन वैसा ही लक्ष्यहीन हो गया है जैसे टिकट लगे बन्द लिफाफों में बिना पते के खत—

टिकट लगे हुए बन्द लिफाफों में
डाकखाने के बेपता ख़त हैं हम

कामिल की गज़ल की एक बड़ी विशेषता व्यंग का प्रयोग है, जिसके माध्यम से वे अपने समय के राजनीतिक जीवन की असलियत को उघाड़ कर रखते हैं। व्यवस्था के प्रति खीझ और विरोध और उसकी निर्लज्जताओं पर प्रहार उनकी गज़लों की एक केन्द्रीय प्रवृत्ति है जो विभिन्न संदर्भों में अपने तीखेपन का अहसास कराती हैं। समसामयिक स्थिति का अस्वीकार उनकी एक गज़ल की इन पंक्तियों में पूरी कड़ुवाहट के साथ मिलता है—

हमारे देश की ठंडी हवा—वाह क्या खूब !
हम तो बस हवा पर बचे हैं खाली
हमारा रहबर है महात्मा गांधी
कातते हम हैं चरखा बैठे ठाली

या फिर इन पंक्तियों का स्पष्ट राजनीतिक व्यंग्य—

इस शहर के आप हैं वाली जिनाब !
गर्ज़ है दर्शन करूं आली जिनाब !
नाचती हर घर के आगे लक्ष्मी
पीट कर माथा गयी काली जिनाब !
बिन पिये हैं झूमते सब आमो खास
आयेगी किसको यह कलाली जिनाब !
हम भी तो देंगे दुआएं रात-दिन
हम भी तो घरवाले हैं, आली जिनाब !

कामिल व्यवस्था की उस गिरफ्त से पूरी तरह परिचित हैं जो अंडे के भीतर से पक्षियों के बच्चों के पंख नोच सकती है—

तुम अंडे के छिलके के भीतर
अपनी 'पिच-पिच' किये जा रहे हो

टूट जायेगी यह झिल्ली
और एक-एक पंख नोच लेगा कौआ !

जीवन की प्रयोजनहीनता, हुस्नो-इश्क की रूमानियत और अकेलेपन का संत्रास कामिल की गज़लों में भी है, लेकिन यह इन गज़लों का मूल-स्वर नहीं। कामिल इस बात के प्रति सचेत हैं कि आज का आदमी "अपने-अपने भंवर में घिरा हुआ सिर्फ अपने आपको ही पुकारता है", लेकिन वे यह भी जानते हैं कि "अकेली आवाज़ का कोई अर्थ नहीं" और वे अपने-आपको सभी की आवाज़ों का गुम्बद बना अनुभव करते हैं—

कल मैं सारे संसार का गुम्बद था
पांव से लेकर सिर तक आवाज़ ही आवाज़ !

और ऐसी स्थिति में अपने उस रचनात्मक दायित्व को भी पहचानते हैं जिसके एह-सास से—

कहे बिना ही ज़बान तलवार बन गयी
लिखे बिना ही कलम सलीब बन गयी !

इस तरह से कामिल की गज़ल बोलचाल की भाषा के बेतकल्लुफ लहजे में आज के आदमी की बेचैनी और ज़िन्दगी को अर्थ देने की छटपटाहट को स्वर देने की कोशिश करती हैं।

अक्सर गज़ल के ही ढंग पर कामिल अपनी नज़्म भी लिखते हैं। गद्य की लय पर भी उन्होंने कुछ छोटी-छोटी कविताएं लिखी हैं जिनमें 'मर्सी' (मर्सिया) विशेष चर्चित हुई है। यह कविता अमानवीकरण के वातावरण में आज के मनुष्य की संवेदनात्मक जड़ता को लेकर लिखी गयी है। एक अन्य कविता में कवि ने व्यक्तित्व के विघटन का यह बिम्ब प्रस्तुत किया है—

मेरे नाम के अक्षरों को
हवा ने बिखेर दिया
कैसे मिलाऊं उन्हें ?
कहां-कहां से एकत्रित करूं ?

एक और छोटी कविता का यह व्यंग्य दृष्टव्य है—

कसाई के फलसफे पर
फिदा है
भेड़ !

कामिल हुस्न और इश्क जैसे विषयों को पूरी तरह से छोड़ सके हैं या परम्परा से हटकर इन विषयों को उन्होंने सब कहीं नये अन्दाज़ से पेश किया है—ऐसी बात नहीं। रोमानी भावबोध और नयी-संवेदना दोनों के तत्त्व साथ-साथ उनमें मिलते

हैं, जिसका उदाहरण 'रा'वम्‌ च़ हां'कल' (गुम हुई सांकल), 'याद करेमख'(तुझको मैंने याद किया था), और 'ख्वश अंदाम राथ' (सुन्दर रात) जैसी कविताओं में मिलता है।

गुलाम नबी फिराक : रोमाण्टिक काव्य की अनुगूंज

प्रगतिवादी दौर की समाप्ति पर जब कश्मीरी काव्य में प्रयोगवादी प्रवृत्ति विकसित हो रही थी और आधुनिकतावादी रुझान लक्षित हो रहा था, गुलाम नबी फिराक (१६११) अंग्रेज़ी की रोमाण्टिक काव्य परम्परा से अपनी प्रेरणाएं प्राप्त कर रहे थे। १६५५ में मार्क्सवादी विचारधारा के प्रभावों से अपने आपको मुक्त करके फिराक ने 'महवूब्‌न्य कबरि प्यठ' (महबूब की कब्र पर) कविता लिखकर रोमाण्टिक काव्य के प्रेम, दर्द तथा सौंदर्यवादी भाव-संसार की ओर रुख किया। इसके बाद वे अपनी कविताओं में रोमाण्टिक मूड उगाते रहे और कल्पनात्मक सौंदर्य के रंगों से रोमांचित होने का आभास देते रहे।

बीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में भी १६वीं शती के अंग्रेज़ी रोमाण्टिक कवियों की अनुगूंज फिराक की कविताओं में बनी हुई है, जैसे 'बुलवुलस कुन' (बुलबुल से) में, जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है, कीट्स के 'ओड टु नाइटिंगेल' की। फिराक प्रकृति के चारों ओर फैले हुए सौंदर्य पर मुग्ध होकर अपनी मनस्थितियों को उस पर आरोपित करते हैं। जैसे, वहार को देखकर कभी उनमें उल्लास का भाव जागता है—

> पेड़ के तले
> ऊपर-नीचे
> चांदी ही चांदी सब कहीं है
> तुमने मिज़राब बनाया
> मैंने खिले फूलों का आनन्द लेना शुरू किया।
> हृदय ने उमंगों की पतंगों की डोर दी
> बहार की यह आदत है कि वह दृष्टि भ्रमित करती है।

तो कभी बहार उन्हें एक बांझ नज़र डालती हुई प्रतीत होती है—

> मैं भी सड़क पर फूलों की झोली लिये खड़ा होता
> लेकिन हर बहार यहां बांझ नज़र लिये आयी

प्रकृति के विभिन्न रूपों में अपने उल्लास और आवेश या अवसाद और निराशा के भावों की छाया देखते हुए फिराक अपने कल्पना के आकाश में निर्बन्ध उड़ान भरने की रोमाण्टिक मुद्रा का प्रदर्शन तो करते हैं, पर उनकी अभिव्यक्ति सौन्दर्य की सूक्ष्म रंगतों को समेटने में समर्थ नहीं हो पाती। यही कारण है कि सौन्दर्य के प्रति

एक मुग्धभाव, एक बीते युग के मोह, अवसाद और अकेलेपन के अहसास के बावजूद उनकी अधिकांश कविताएं घिसे हुए शब्दों की स्तरहीन आवृत्ति से आगे नहीं जा सकीं। कुछ कविताओं में फिराक ने कोलरिज के प्रभाव में अव्याखेय भयों को व्यक्त किया है। 'रात की प्रेत छायाएं' शीर्षक कविता में कमरे में बिजली के अचानक बुझ जाने से पैदा अंधेरे में कवि की तांबे-सी लाल चमड़ी वालो और विकृत दांतों वाली भयानक आकृतियां दिखायी देने लगीं, और उसके मन की यह स्थिति हुई—

भय ने मेरी आंखों के शबनम को सुखा दिया
मेरे शरीर का हर जोड़ सुन्न पड़ गया है
मेरा हृदय बुरी तरह से धड़क रहा है
अंग थरथरा रहे हैं
हर शिरा जैसे बेजान हो रही है
ज़बान जैसे बंधी हुई है
भीतर एक चीख का मुंह बन्द हो गया है।

इधर की कुछेक कविताओं में उनकी अभिव्यक्ति अधिक कलात्मक है और संवेदना और मुहावरे का रूप आधुनिक हो गया है जिसका एक उदाहरण उनकी 'हृचिव ल'र' (लकड़ी की इमारत) में मिलता है—

खंभों में तेज़ लपट अभी रंग बदल रही थी
इमारत ऊपर से नीचे तक सारी जल रही थी
कहीं न कोई बच्चा था, न हंगामा, न अट्टहास !

फिराक ने नज़्मों के अतिरिक्त गज़लें भी लिखी हैं जिनमें उनकी सौन्दर्यवादी रोमाण्टिक प्रवृत्ति अधिक तीव्रता से उभरी है। फिराक की कविताओं का अभी तक कोई संग्रह प्रकाशित नहीं हुआ है।

गुलाम रसूल संतोष

अंतर्राष्ट्रीय ख्याति-प्राप्त चित्रकार गुलाम रसूल संतोष (ज० १९२९) की रचनात्मकता का एक आयाम उनकी कविताओं में उद्घाटित होता है। संतोष ने १९५६ से कविता लिखना शुरू किया 'व्यसम्येन्य नूरां (नूरां—मेरी सहेली) जैसी प्रारम्भिक कविताओं की भावुक और रूमानी दुनिया से बाहर आ कर वे आज असीम से साक्षात्कार के सूक्ष्म बोध-बिन्दु को प्रक्षेपित करने का प्रयत्न कर रहे हैं जहां शब्द और शून्य, प्रकृति और पुरुष की तांत्रिक अवधारणाएं आधुनिक संदर्भ में नये अर्थों को ध्वनित करती प्रतीत होती हैं। उनकी हाल की कविताएं एक आध्यात्मिक उल्लास का आभास देती हैं जिसका उत्स व्यक्तिचेतना और विराट के रहस् सम्बन्धों की अंतरंग भूमि है। संतोष के अनुसार अनंत, अव्याखेय, शब्दातीत मूल

सृजनात्मक शक्ति को शब्द में प्रतिबिम्बित करने का प्रयास ही उनके लिये काव्य रचना है, वैसे ही जैसे तंत्र में बीजाक्षरों में सम्पूर्ण भाषा समाहित रहती है। १९६९ में संतोष को उनके काव्यसंग्रह 'बे स्वख रूह' (भटकती आत्मा) के लिये साहित्य अकादमी पुरस्कार प्राप्त हुआ है। इधर कुछ वर्षों से उन्होंने 'वाख' और 'वचन' जैसे कश्मीरी के लाड़ले काव्य-रूपों में सफल प्रयोग किये हैं।

मुज़फ्फर आज़िम

मुज़फ्फर आज़िम (१९३४-) की कविताओं में प्रेम और सौन्दर्य की उल्लासमय और आवेशपूर्ण अभिव्यक्ति है। आज़िम ने १९५५ से कश्मीरी में लिखना शुरू किया। उनकी कविताओं के दो संग्रह 'ज़ोलान' (कड़ियां) और 'मनिकामन' (मनोकामना) प्रकाशित हुए हैं। 'ज़ोलान' में आज़िम मूलतया रोमाण्टिक स्वप्नशीलता और रूपतृषा के कवि के रूप में उभरते हैं। बाहरी दुनिया और सामाजिक परिवेश से असंतुष्ट होकर एक कल्पनालोक के सौन्दर्य में खो जाते हैं या फिर घायल अहं की कुंठा, उदासी और अकेलेपन को स्वर देते हैं। आज़िम की कविता में मधुर और कोमल शब्द-चयन द्वारा एक संगीतात्मक लय को उभारकर रोमानी मस्ती पैदा करने की प्रवृत्ति है। यह संगीतमयता उनके काव्य का सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व है, जिसे उन्होंने अपनी नज़्मों और गजलों के केन्द्र में रखा है। ज़िन्दगी के प्रति मुग्धता और विस्मय का भाव और स्वप्निल सौंदर्य का आकर्षण आज़िम को बांधे रखता है। 'मार अमरुक' (प्रेम की ज्वाला), 'कलवाल' (मधु-विक्रेता) और 'हुस्न त ज़िंदगी' (हुस्न और ज़िंदगी) आदि कविताएं इसी आकर्षण को व्यंजित करती हैं, भावाकुलता और उन्मुक्त कल्पनाशीलता के स्तर पर जिसमें कवि कठोर वास्तविकताओं से अपनी रोमाण्टिक मुक्ति तलाशता है। वुलर पर उड़ान भर रही टिटहरी का गीत उसके मन में प्रेमोल्लास को तरंगित करता है—

> वुलर में लहरें मचल रही थीं
> और छांव में बैठा हुआ था मैं
> कि टिटहरी अपना मीठा गीत लिये
> आसमान की ओर उड़ान भरती दिखाई दी
> सहसा प्रेमोल्लास उमड़ पड़ा
> और दिल की धड़कन तेज़ हो गयी
> लगा कि मैं शराब का एक समन्दर देख आया हूं
> और मधु-पात्र लिए खड़ा हूं।

और शाम की रंगीनी में वन में चीड़ों के नीचे बैठे कवि को लगता है कि वनपरियां आकाश से उतरकर मदिरा वितरण कर रही हैं—

कभी साहस करके शाम के बाद वन में बैठोगे तो
हवा के झोकों में लहराते चीड़ों में सरसराहट होगी
और दो क्षणों में किवाड़ खुल जायेंगे
शायद आकाश से उतरकर कोई वन-परी
मदिरा बांट रही होगी।

'मनिकामन' में संग्रहीत आज़िम की नज्मों और गज़लों में मधु-मदिरा की मस्ती और स्वप्निल कल्पना के स्थान पर नयी संवेदना की भाव-भूमि है, जिस पर खड़े होकर कवि ने प्रयोगशील होने की कोशिश की है। ये प्रयोग उनके रोमानी भाव-बोध को छिपा नहीं सके हैं, जो किसी-न-किसी रूप में बना रहता है, जैसा "अड च'ट्य वामन" (अकाल मुरझाये कोंपल) जैसी कविताओं में देखा जा सकता है। एक अन्य कविता 'हमसूस' (अफसोस) में आज़िम कोहरे के नीचे जमे रंगों, खुशबुओं और सपनों तक सूर्य की किरणों को पहुंचाना चाहते हैं—

माघ के आने पर
कोहरे के नीचे दबे
टटके
शबनमी
रंग
खुशबुएं और स्वप्न—
सूर्य तुम्हारी किरणें
वहां तक कब पहुंचेंगी?

किसी-किसी कविता में मूल्यों के टूटने का दर्द उभरता है और कहीं-कहीं कवि व्यंग्य का स्वर अपनाने की कोशिश करता है, पर व्यंग्य उभर नहीं पाता। कुछेक कविताओं में आज के मनुष्य की मानसिक बेचैनी और जीवन की आधार-हीनता की अनुभूति दृष्टिगोचर होती है।

चमनलाल चमन : रोमानी मूल्यों का टूटा कांचमहल

'शबन'म्य शार' (शबनमी गीत) के कवि चमनलाल चमन (१६३७-) की प्रारम्भिक कविताओं पर भी रोमाण्टिकता का गाढ़ा रंग है। शुरू-शुरू में भावाकुल प्रेम और स्वप्नशीलता और सौन्दर्य कल्पनाओं के रंग बिखेरते हुए वे सामने आये। पर आहिस्ता-आहिस्ता उनकी संवेदनाओं का क्षेत्र विस्तृत हुआ और प्रेम के अवसाद और उल्लास के साथ-साथ आज के जीवन की ऊब, अर्थहीनता और बासीपन को उन्होंने अपनी कवितओं में अभिव्यक्ति दी। 'शबन'म्य शार' में चमन उन्हीं के शब्दों में, "स्वप्न की कलियों से आलिंगन" करते हुए मिलते हैं। अब तक प्रकाशित एकमात्र संग्रह होने के नाते एक कवि के रूप में चमन की पहचान

इसी काव्य संकलन के रोमानी रचनाकार के रूप में की जाती है। सौन्दर्य की खोज, आकांक्षा और अतृप्ति, अकेलापना और उदासी को लेकर लिखी गयी इन कविताओं में भावाकुलता का अतिरेक है। चमन की कविता का प्रौढ़, परिपक्व तथा गंभीर स्वर दरअसल 'शबन'म्य शार' के प्रकाशन (१९६३) के बाद ही उभरा, यद्यपि 'व'छ' 'दा'र' (खुली खिड़की) जैसी कुछेक कविताओं में नयेपन की आकांक्षा और बेमानीपन के अहसास को पहले ही अभिव्यक्ति मिल चुकी थी—

इस खिड़की ने कभी कोई नयापन नहीं देखा
इसके लिये सुबह वही रही और शाम वही

ज़िन्दगी के बासीपन और ऊब की इस अनुभूति के साथ-साथ रोमानी मूल्यों के अचानक कांच-सा टूटकर बिखर जाने का आघात भी चमन की कविता में मिलता है। यह उनकी काव्य-यात्रा का एक नया मोड़ है। सौन्दर्य को हर कण में देखने वाले कवि को अब रोमानी मूल्यों का जगमगाता प्रभामण्डल अब छिन्न-विच्छिन्न होता दिखायी देता है—

कांच-महल जैसे चिटककर चकनाचूर हो गया
मोतियों की झालर भी छिन्न-विच्छिन्न हो गयी
और कुछ भी समझ में न आया
लगा कि पांव के नीचे लपटें जल रही हैं
गला सूख गया
ज़बान के टुकड़े-टुकड़े हो गये······

सौन्दर्य-कल्पना के आकाश से गिरकर ठोस यथार्थ से टकरा जाने का अनुभव 'म्ये', मा ल'ज्यम्‌च् नज़र' (मुझे नज़र तो नहीं लगी) शीर्षक कविता में मिलता है। इस कविता में मूल्यों के संक्रमण की प्रक्रिया में समाज से बेगाने हुए व्यक्ति का मोहभंग व्यक्त हुआ है। 'पहचान' कविता परिवेश की क्षुद्रता और विडंबनाओं के बोध से निकली है। आज चमन समसामयिक जीवन से सम्बन्धित सवालों को उठाते हुए नज़र आते हैं, विशेषकर नगरीय परिवेश में मध्यवर्ग के व्यक्ति की घुटन टूटन, तनाव, और अकेलेपन के भावों को। आधुनिक मनुष्य को पंगु बना देने वाले अमानवीकरण के प्रति भी उनमें एक तिलमिलाहट नजर आती है— यद्यपि वह बहुत क्षीण है। 'आदम' शीर्षक कविता में सभ्यता के आवरणों के नीचे मनुष्य के आदिम पशु रूप को उघाड़ा गया है। इधर की कविताओं में चमन व्यक्तिगत अनुभूतियों के माध्यम से आज के आदमी की स्थिति को प्रस्तुत करने लगे हैं।

गुलाम नबी ख्याल

गुलाम नबी ख्याल (१९३६-) भी चमनलाल चमन की तरह मूलतया नज़्मों के कवि हैं। ख्याल की प्रारम्भिक कविताओं में भावाकुलता की प्रधानता और

रोमानी आवेश है, जिसका परिचय 'प्रागाश' (प्रकाश) शीर्षक उनके काव्य-संग्रह से मिलता है। 'ज़ंजीरि हुन्द साज़' (जंजीर का साज) अठारह महीने जेल में रहने की अवधि में लिखी गयी कविताओं का संकलन है जिनमें कोई उल्लेखनीय बात नहीं। पर बाद की कुछ कविताओं में नये नैतिक मूल्यों के अन्वेषण का प्रयास है और 'शमाह त॒ शा'यिर' (शमा और शायर) 'ख्वाबन हुन्द सराब' (स्वप्नों के मृगजल) 'नारुक स्नान' (अग्नि स्नान) 'ये॑लि ख्वदा मूद' (जब खुदा मर गया) 'बनी आदम', 'यथ शाहरस मंज़' (इस शहर में) उनकी कुछ चर्चित कविताएं हैं जिनमें मानवीय नियति और परिवेशगत यथार्थ के संदर्भों से जुड़ने का प्रयास है। 'प'तिमि प'हरुक ख्वाब" (पिछले पहर का स्वप्न) जैसी इधर की कविताओं में उन्होंने मनुष्य के लिये संघर्ष और भटकाव के स्थान पर शांति और तृप्ति की ज़िन्दगी की कामना की है।

मरगूब बानिहाली

मरगूब बानिहाली (१९३७-) समसामयिक काव्यधारा के महत्त्वपूर्ण कवियों में से हैं। बानिहाल के एक दूरस्थ गांव में पैदा हुए गुलाम मुहम्मद गीरी 'मरगूब बानिहाली' ने बहुत थोड़े समय में ही 'परतविस्तान' शीर्षक से एक काव्य-संग्रह प्रकाशित करके कश्मीरी कवियों की अग्रिम पंक्ति में अपना स्थान बना लिया। मरगूब के काव्य का महत्त्व उसकी प्रयोगशीलता में है। उन्होंने भाषा और शिल्प के स्तर पर विशेष क्षमताओं का परिचय दिया है। गज़ल और रुबाई से लेकर फ्रांसीसी कवि एपोलिनिये द्वारा शुरू की गयी ठोस कविता के क्षेत्र तक में उन्होंने विविध प्रयोग किये हैं। वैयक्तिक अनुभूतियों की परम्परा से हटकर एक नये जीव-विधान और प्रतीक-योजना को प्रस्तुत करके उन्होंने अपना एक निजी स्वर विकसित किया है। इस्लामी दार्शनिक विचार पर भी उनकी कुछ कविताएं आधारित हैं। मरगूब की विषयभूमि यद्यपि नयी नहीं है पर अभिव्यक्ति का नयापन उन्हें विशिष्टता प्रदान करता है। 'परतविस्तान' पर उन्हें साहित्य अकादमी पुरस्कार प्राप्त हो चुका है।

मोतीलाल साक़ी

मोतीलाल 'साक़ी' (१९३६-) की कविता में आध्यात्मिक बेचैनी और आत्मिक गहराइयों के प्रति विशेष आकर्षण है। 'मो' दुर्य ख्वाब' (मधुर स्वप्न) उनका पहला काव्य-संग्रह है जिसका प्रधान स्वर रोमानियत का है। लेकिन अपने दूसरे काव्य-संग्रह 'मनसर' में वे आध्यात्मिक रहस्यवाद की ओर मुड़े हैं और कहीं-कहीं लल्लेश्वरी और सूफी कवियों के-से स्वर में आज के आधारहीन जीवन में आस्था और आस्तिक मूल्यों की खोज की बात करते है। 'मनसर' में उनकी रुबाइयाँ और

मुक्तक, नज़्में और गज़लें संग्रहीत हैं। कुछ रुबाइयों में उमर खैयाम की अनुगूंज सुनायी देती है और कुछ में 'वाख' का-सा लहजा अपनाकर आध्यात्मिक चेतना में पैठने का प्रयत्न है। साक़ी की नज़्मों की एक विशेषता है हिन्दू और यूनानी मिथकों का आधुनिक संदर्भों में प्रयोग। आकार में छोटी होने के कारण उनकी कविताओं में प्राय: बिखराव नहीं दिखायी नहीं देता। भाषा के क्षेत्र में साक़ी ने 'शुद्ध' कश्मीरी शब्दों के प्रयोग द्वारा एक खास प्रभाव पैदा करने की कोशिश की है। कहीं-कहीं लोक-गीतों की जैसी सरल और संगीतमय भाषा और लय का उपयोग उन्होंने किया है। 'मनसर' पर मोतीलाल साक़ी को साहित्य अकादमी ने पुरस्कृत किया है।

मक्खनलाल बेकस

मक्खनलाल बेक़स (१९३९-) की कविताओं में नगरीय परिवेश की घुटन और मध्यवर्गीय व्यक्ति के संघर्ष के विम्ब मिलते हैं। बेकस मूलतया नज़्म के कवि हैं।

रसूल पोंपुर

रसूल पोंपुर (१९३९ –) ने विविध जीवनानुभवों को आधुनिक संदर्भों में उतारने की कोशिश की है। पोंपुर ने गज़ल और नज़्म दोनों विधाओं में अपने ढंग से प्रयोग किये हैं। उन्हीं के शब्दों में 'परम्परा का पालन करते हुए भी नयेपन की उपलब्धि" उनका ईमान है। 'सफेद संगर' उनका पहला प्रकाशित कविता संग्रह है।

युवा स्वर

पिछले दो-ढाई दशकों में जिन अन्य कवियों ने कश्मीरी काव्य की वर्तमान धारा को अपनी-अपनी रचनात्मक क्षमता के अनुसार गति दी, उनमें वासुदेव 'रेह' (१९२६-) मक्खनलाल कंवल (१९३६-) मुहीउद्दीन गौहर, मोतीलाल नाज़, (१९३७-) गुलाम अहमद गाश (१९४१-) राधे नाथ मसरत (१९३९-), मुहम्मद हसन अहसन (१९३६-), मशल सुलतानपुरी (१९३६-) गुलाम मुहम्मद आजिर आदि उल्लेखनीय है। इन कवियों ने नयी परिस्थतियों से पैदा हुई सामाजिक समस्याओं को अपने काव्यानुभव का अंश बनाकर अपने-अपने ढंग से प्रस्तुत किया। इधर सन्, ७० के बाद युवा कवियों की नयी पीढ़ी उभर कर सामने आयी है जिनका दावा है कि उन्होंने नये यथार्थ की अभिव्यक्ति के लिये कविता और बोल-चाल की भाषा के बीच सभी अन्तर समाप्त कर दिये हैं। इस पीढ़ी के कवि "ढहे हुए मूल्यों और टूटते हुए रिश्तों" को अपने जीवन की एक ऐसी वास्तविकता के रूप में स्वीकार करते हैं, "जिसे बदलने का कोई भ्रम उनमें शेष नहीं।"

समकालीन वास्तविकता को सीधे संवेदना के स्तर पर झेलने का भी उनका दावा है, जिसका एक पक्ष उनके लिए अस्तित्व के बेमानीपन और रिक्तता है। इनमें आधुनिक संदर्भों के प्रति जागरूकता जरूर है, लेकिन अलगाव, अकेलापन, बेगानगी, जीवन की अर्थहीनता आदि आधुनिक काव्य की रूढ़ियों की विषय और मुहावरे के स्तर पर प्रायः अनुभूतिशून्य आवृत्ति की प्रवृत्ति भी इनमें विशेष है। इसका एक कारण उर्दू की उस आधुनिकवादी काव्यधारा का प्रभाव है जिसका प्रतिनिधित्व 'शबखून' जैसी पत्रिकाएं करती हैं। इन समकालीन कवियों में रफीक राज, शफी शौक, गुलशन मजीद, इकबाल फहीम, मंजूर हाशिमी और ज़फर विशेष संभावनाओं का आभास देते हैं, यद्यपि उपलब्धि की दृष्टि से उन्होंने अभी कुछ खास नहीं दिया। मुश्किल यह है कि आधुनिकवादी उत्साह में ये कवि जिन मंज़िलों की ओर इशारा करते हैं, वे समसामयिक भारतीय और विश्वकाव्य के संदर्भ में पुरानी पड़ गयी हैं। प्रगतिवाद की प्रतिक्रिया की अति में उन्होंने अनुभव को सामाजिक संदर्भों और समकालीन समस्याओं से विच्छिन्न करके कविता को एक स्वायत्त कलात्मक इकाई के रूप में प्रस्तुत करने का आग्रह दिखाया है, जो आज के संदर्भ में अपना अर्थ खो चुका है।

संदर्भ संकेत

१. स्टडीज़ इन कश्मीरी, पृ०२६७
२. नवरोजि सबा : आमुख : पृ० ८
३. अन हार : का'शरि अदबुक फिक्री पो'तमंजू र : जदीदियथ, पृ०, ११२
४ उपरोक्त : पृ० १६४
५. लव त प्रव : आमुख, पृ० ६

: १२ :

कश्मीरी नाटक

यथार्थवादी नाट्य-लेखन का प्रारंभ

कश्मीरी गद्य की शुरुआत के संदर्भ में कश्मीरी नाटक की प्रारम्भिक स्थिति की चर्चा हो चुकी है। पंडित नन्द लाल कौल के पौराणिक विषय पर आधारित नाटक 'सत ॖच क'ह्व'ट' (सत्य की कसौटी) में पारसी रंगमंच के प्रभाव के अंतर्गत शिल्प, शैली और संवेदना का जो धरातल उभरता है, वह धीरे-धीरे बदलकर मुहीउद्दीन हाजिनी के "ग्रीस्त सुन्द गर ॖ" (किसान का घर) में कुछ अधिक यथार्थवादी रंग ग्रहण करता है। लेकिन 'ग्रीस्त सुन्द गर ॖ' आधुनिक कश्मीरी नाटक का प्रारम्भ नहीं माना जा सकता, जैसा कि शफी शौक और नाजी मुनव्वर ने कश्मीरी साहित्य के अपने इतिहास में सिद्ध करने की कोशिश की है।[1] 'सत ॖच क'ह्व'ट' की शैली में लिखे नाटकों का सिलसिला बहुत देर तक चलता रहा। इनमें दीनानाथ द्वारा लिखे गये 'हव्वा खातून', 'अक ॖनन्बुन", 'सत्यवान सावित्री' तथा सर्वानन्द भान का 'औलाद' आदि नाटक शामिल हैं। १९४५ में 'इप्टा' (इंडियन पीपुलस थियेटर एसोसिएशन) की स्थानीय शाखा स्थापित करने के प्रयत्नों के बीच कश्मीरी में मौलिक यथार्थवादी नाटकों की आवश्यकता अत्यन्त तीव्रता से महसूस की गयी। इस संदर्भ में प्रायः प्रेमनाथ परदेसी द्वारा लिखे नाटक 'बत ॖहृर' (रोटी की लड़ाई) का मान लिया जाता है जिसके गीत कथित रूप से महजूर ने लिखे थे। यह भी कहा जाता है कि खाद्य समस्या को लेकर लिखे गये इस नाटक को कश्मीर के तत्कालीन गर्वनर ने मंचित होने की अनुमति नहीं दी और लेखक को इसे नष्ट करना पड़ा। लेकिन लगता है कि इस नाटक के लिखे जाने और कागज से मंच पर उतरने के असफल प्रयास की कहानी सिर्फ एक कहानी है।

प्रेमनाथ परदेसी के नाटक

कश्मीर में कबाइली आक्रमण के बाद १९४७-४८ में एक ऐसा बदलाव आया

जिसने यहां के राजनीतिक, साहित्यिक और सांस्कृतिक जीवन को एक नयी गति प्रदान की। एक नये स्वर्ण-युग के स्वप्न देखे गये और भारतव्यापी प्रगतिवादी आंदोलन के अंतर्गत लेखन को उसे साकार करने का उपकरण माना गया। प्रगतिवादी विचार-दृष्टि के प्रक्षेप के लिए यहां 'कौमी-कल्चरल महाज़' नाम की संस्था की स्थापना हुई जो बाद में 'कल्चरल कान्फ्रेंस' और 'कल्चरल कांग्रेस' के नाम से सांस्कृतिक गतिविधियों को प्रेरित-प्रभावित करती रही। नाटक को अपने वैचारिक आग्रहों के प्रचार का एक सशक्त माध्यम मानते हुए इस संस्था ने कश्मीर में एक नया रंगमंच अभियान शुरू किया जिसके अंतर्गत परदेसी का ही नाटक 'शहीद शेरवानी' १९४९ में व्यापक स्तर पर मंचित हुआ। कबाइली आक्रमण का विरोध करते हुए नृशंसता से मारे गये मकबूल शेरवानी के जीवन पर केन्द्रित इस नाटक में हिन्दू-मुस्लिम संबंधों का आदर्श रूप प्रस्तुत करने का प्रयत्न है। नाटक का स्पष्ट प्रचारवादी तेवर सामंती शासन को समाप्त करके सत्ता संभालने वाली लोक सरकार की स्थिति को सुदृढ़ करने के प्रयोजन के साथ जुड़ा है। यह नाटक कई देहातों में भी खेला गया और वहां के दर्शकों में इसको खासी लोकप्रियता मिली, पर जहां तक नाटकीय शिल्प-संरचना का संबंध है, 'शहीद-शेरवानी' एक बेहद शिथिल नाटक था। वस्तु-संयोजना की दृष्टि से भी यह एकदम सतही रचना थी। परदेसी के और दो नाटक 'डालर साहब' और 'त्रें बटा चोर' (तीन बटा चार) पूरे विचारधारात्मक जोश के साथ जगह-जगह खेले गये। इनकी सीधी प्रचारात्मकता इनके साहित्यिक महत्त्व को बिल्कुल नगण्य बना देती है। पहले नाटक में "डालर साम्राज्य" की शाज़िश और उसके राजनैतिक उद्देश्य को नंगा किया गया है। दूसरे में किसानों में ज़मीन पर अपने अधिकार के प्रति चेतना फैलाने की कोशिश की गई है। भूमि-सुधारों को विषय बनाकर लिखे गये इस नाटक का संदेश है कि किसान फसल के तीन चौथाई भाग का मालिक है। परदेसी के ये तीनों नाटक प्रकाशित नहीं हुए। इन्हें कश्मीरी नाटक साहित्य के अंतर्गत नहीं बल्कि कश्मीरी रंगमंच के संदर्भ में चर्चित किया जा सकता है।

गीत-नाट्य

अपनी अत्यन्त धीमी यात्रा में कश्मीरी नाटक १९५३ में एक नये मोड़ पर आ पहुंचा जब दीनानाथ नादिम ने "बों'म्बुर य'म्बरज़ल" (भंवरा और नरगिस) लिख कर गीत-नाट्यों का एक सिलसिला शुरू किया। इन गीत-नाट्यों में प्रायः स्थानीय लोक-कथा अथवा लोक-विश्वासों का प्रगतिवादी दौर की राजनीतिक मान्यताओं के प्रतिपादन के लिये नारेबाज़ी के स्तर पर प्रयोग किया गया है। 'बों'म्बुर य'म्बरज़ल' में शान्ति के मसले को रूपकबद्ध किया गया है और यह दिखाया गया है कि शान्ति की युद्ध पर, सत्य की असत्य पर और न्याय की अन्याय पर सदा

विजय होती है। युद्धकामी और शान्ति-समर्थक शक्तियों की उसमें एक विशिष्ट दृष्टिकोण से व्याख्या की गयी है, जिससे कश्मीर की तत्कालीन राजनीतिक स्थिति के संदर्भ में पक्षधरता की एक स्पष्ट भंगिमा प्रकट होती है। भौंरे और नरगिस के विरुद्ध तूफान और पतझड़ के संघर्ष का गुललाला तथा अन्य फूलों की सहायता से विफल हो जाना और नव-बसन्त के आगमन पर उनके मिलन का जो दृश्य इस गीत-नाट्य में प्रस्तुत किया गया है वह अपनी समस्त प्रतीकात्मकता के बावजूद एक अत्यन्त स्पष्ट सरलीकरण मात्र है। फिर भी संगीतात्मकता और गान के तत्त्व "बो'म्बुर य'म्ब्रज़ल" में काफी सफलता से विन्यस्त हैं और इसे एक विशिष्ट कृति बना देते हैं। पूर्व नियोजित ही सही, प्रतीक पात्रों की क्रिया-प्रतिक्रिया और घात-प्रतिघात के कारण नाटकीयता का एक धरातल भी उसमें उभरता है। 'बो'म्बुर य'म्ब्रज़ल' कश्मीरी में लिखा गया पहला गीत-नाट्य हैं। मंच पर इसका तेरह बार प्रभावी प्रस्तुतीकरण किया जा चुका है। इनमें रूसी नेताओं, बुल्गानिन और ख्रुश्चेव के कश्मीर आगमन के अवसर पर किया गया प्रस्तुतीकरण भी शामिल है।

१९५६ में दीनानाथ नादिम ने नूर मुहम्मद रोशन के सहयोग से एक और गीत-नाट्य 'हीमाल-ना'गराय' (हीमाल और नागराय) लिखा। यह गीत-नाट्य कश्मीर की एक प्रसिद्ध लोक-कथा पर आधारित है। शिल्प और गठन की दृष्टि से यह गीत-नाट्य उतना ही कमज़ोर है, जितना कि गीतात्मकता की दृष्टि से सशक्त है। गीत-नाट्य, छाया-नाटक और मंचीय नाटक – इन तीनों विधाओं की तकनीक के एक साथ प्रयोग ने इसे असंतुलित बना दिया है। इसके अतिरिक्त 'नीकी बंदी' (नेकी-बदी) नाम का एक अन्य गीत-नाट्य नादिम ने लिखा जिसका कथ्य नेकी की बदी पर विजय और मनुष्य और मनुष्य के बीच स्नेहपूर्ण सम्बन्धों की स्थापना है।

नादिम ने अपने गीत-नाट्यों का सिलसिला 'व्यथ' (वितस्ता), 'सफर त् शेहँजार' (सफर और छाया) तथा 'शिहिल्य कुल' (छायादार वृक्ष) लिखकर आगे भी जारी रखा। इनमें 'व्यथ' (वितस्ता) विशेष रूप से उल्लेखनीय माना जा सकता है। इस गीत-नाट्य में, जो १९७० में लिखा गया, नादिम ने वितस्ता नदी को शांति व सौंदर्य और बन्धुत्व का प्रतिनिधित्व करनेवाली कश्मीर की सांस्कृतिक परम्परा के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत किया है। कश्मीर को एक भूखंड नहीं, एक विशिष्ट सांस्कृतिक चेतना का प्रतीक बनाकर नादिम ने इस गीत-नाट्य में वह गहराई लाने की कोशिश की है जो उनके पहले के गीत-नाट्यों में नहीं मिलती। संगीत, नृत्य, गान और नाटक का रंगमय परिदृश्य इसमें एक विशिष्ट प्रभाव के साथ प्रस्तुत किया गया है। तकनीक की दृष्टि से यह पूर्वी और पश्चिमी शैली दोनों की विशेषता से युक्त है।

गीत-नाट्य लिखने का प्रयोग अमीन कामिल और रहमान राही ने भी किया। कामिल ने एक कश्मीरी लोक-कथा पर आधारित 'बो'म्बुर-लोलरे' नाम के गीत-

नाट्य की रचना की जिसमें रोमानी काव्यमयता ने नाटकीय स्थिति को उभरने का कोई अवसर नहीं दिया है। शायरी भी अनेक स्थानों पर सतही और सपाट हो सकती है।

राही के गीत-नाट्य 'ये'लि मोत लोलस फो'र' (जब मौत ने प्रेम को लूटा) में भी विषय और संवेदना का धरातल रोमानी है। गोर्की की कविता पर आधारित यह रचना राजनीतिक दृष्टिकोण के सीमित दायरे से मुक्त हैं, लेकिन नाटकीय संवेदना की तीव्रता का कोई एहसास नहीं दे पाती। वस्तुतः इन गीत-नाट्यों का कश्मीरी नाटक के विकास के संदर्भ में उल्लेख केवल ऐतिहासिक है और कश्मीर में रंगमंच के अभियान से सम्बन्धित है।

कश्मीर-उत्सव और अख्तर मुहीउद्दीन के नाट्य-प्रयास

गीत-नाट्यों की यह बाढ़ मंच के लिये उपयुक्त नाट्य-आलेखों के उपलब्ध न होने के कारण ही उमड़ आयी थी और इसे गति मिली तत्कालीन सरकार द्वारा जश्ने-कश्मीर अथवा कश्मीर उत्सव के आयोजन से। उस दौर के कुछेक रंगमंचीय नाटक भी कश्मीर-उत्सव की ही उपज कहे जा सकते है। इनमें अख्तर मुहीउद्दीन के नाटक 'शीश् त सं'गिस्तान' (शीशा और पत्थर) तथा 'नस्ति हुन्द सवाल' (नाक का सवाल) इस दृष्टि से उल्लेखनीय है कि इनमें यथार्थ के अपेक्षाकृत अधिक विश्वस-नीय धरातल का स्पर्श है। 'नस्ति हुन्द सवाल' (नाक का सवाल) एक यूनानी मिथक पर आधारित प्रतीकात्मक नाटक है। इसकी गति बहुत धीमी है और चरित्रांकन शिथिल और सपाट है। अख्तर मुहीउद्दीन ने अपनी ही एक कहानी 'आपन होर जंग' (आपा ने जंग हारी) का नाट्य रूपान्तरण भी किया। यह एक प्रहसन था जिसमें मध्यवर्गीय परिवेश में स्त्रियों के आचरण पर व्यंग्य है।

प्रोत्साहन के सरकारी प्रयास

इससे पूर्व १९५५ में राज्य सरकार द्वारा बाढ़-पीड़ितों की सहायता के लिये शुरू किये गये अभियान के अन्तर्गत अली मोहम्मद लोन का नाटक 'विज़ छ सा'न्य' (बेला हमारी है) और पुष्कर भान के 'यातन या तडाख' मंचित हुए जो बेहद मामूली स्तर के हैं।

इस बीच १९६० में रवीन्द्र शतवार्षिकी के अवसर पर एक प्रेक्षागृह टैगोर हाल की स्थापना हुई जिससे कश्मीर में नाटकों के मंचन और प्रस्तुतीकरण के लिये रंगकर्मियों को विशेष सुविधा प्राप्त हुई। राज्य की सांस्कृतिक अकादमी ने भी वार्षिक नाट्योत्सवों तथा नाट्य-आलेख प्रतियोगिताओं का आयोजन करके कश्मीरी लेखकों को मंच के लिये नाटक रचने का प्रोत्साहन देने का प्रयत्न किया। इससे कश्मीरी नाटक को गति अवश्य मिली किन्तु परिणाम बहुत अधिक प्रेरणा-

जनक नहीं रहा। हद से हद यही कहा जा सकता है कि सरकार की ओर से किये गये इन प्रयत्नों से नाटक के क्षेत्र में रचनाशीलता के लिये एक प्रेरक वातावरण तैयार हुआ।

अकादमी के नाट्योत्सव और रहबर के नाटक

अकादमी के नाट्योत्सवों के लिये लिखने वालों में अवतार कृष्ण रहबर ने नाटक की दिशा में अपनी रचनात्मक क्षमता का कुछ परिचय दिया। उनके "तलाश" 'ब़छुस च़ूर' (मैं एक चोर हूं) 'वो'ल़ ह्'रिश' (उलझाव) और "अवलाद" (औलाद) की मंच पर सफलता यद्यपि उनकी साहित्यिक श्रेष्ठता का प्रमाण नहीं मानी जा सकती, इन कृतियों ने आधुनिक यथार्थवादी नाट्य-शिल्प के अनुरूप रचना-प्रवृत्ति को प्रेरित करने में एक भूमिका ज़रूर निभायी है। गठन और संरचना की दृष्टि से ये नाटक पूर्ववर्ती कश्मीरी नाटकों से अलग और विशिष्ट हैं। रहबर का एक ऐतिहासिक नाटक 'बडशाह' भी मंचित हुआ, लेकिन बिखराव के कारण वह अधिक प्रभावकारी नहीं रहा। रहबर के ये नाटक अभी तक प्रकाशित नहीं हुए हैं, इस कारण विस्तार से उनकी परख प्रस्तुत नहीं की जा सकती। फिर भी इनमें 'तलाश' का कथ्य और शिल्प की दृष्टि से एक महत्त्व है। इस नाटक में आदमी के अमानवीकरण को निर्ममता से उघाड़ने की कोशिश की गयी है।

कुछ अप्रकाशित किन्तु सफल मंचीय नाटक

रहबर ही नहीं अन्य कई लेखकों के नाटकों का मंचित होकर भी अप्रकाशित रहना उन्हीं तक सीमित एक घटना न होकर कश्मीरी नाटक के सम्पूर्ण परिदृश्य का एक दिलचस्प पक्ष है। बहुत कम कश्मीरी नाट्य आलेख ऐसे भी हैं जो मंचित होने के साथ प्रकाशित भी हुए हैं। इनमें से अधिकांश यद्यपि चर्चित होने के योग्य नहीं, कुछेक नाटक ऐसे अवश्य हैं जिनका अपना महत्त्व है। जैसे अली मुहम्मद लोन का नाटक 'तकदीर साज़', मोतीलाल क्यमू का 'नगर बौ'दा'स्य' (उदास नगर) और हरिकृष्ण कौल का 'नाटुक क'रिव बन्द' (नाटक बन्द करो)। लोन के 'तकदीर साज़' में आज की राजनीतिक पैंतरेबाज़ी और जल का मुखौटा उतारने की कोशिश है। जनता के भाग्य विधाता बन बैठे समाज के तथाकथित प्रतिष्ठित व्यक्तियों की बहयाइयों और सिद्धान्तहीनता पर इस नाटक में चोट की गयी है। मोतीलाल क्यमू का 'नगर वौ'दा'स्य' एक ऐतिहासिक नाटक है, लेकिन इसमें इतिहास मानवीय सम्बन्धों के तनावों को प्रस्तुत करने के लिये एक पार्श्वभूमि मात्र है। हरिकृष्ण कौल ने राम-कथा में हनुमान के चरित्र को वर्तमान संदर्भ में प्रस्तुत करते हुए एक नया आयाम प्रदान किया है और उसके माध्यम से हर अन्याय और असत्य को

निर्विरोध सहने वाले आज के आम आदमी के अपनी स्थिति के प्रति विद्रोह और मोहभंग को उद्घाटित किया है। तीनों नाटकों में वस्तु और शिल्प की प्रयोगात्मक भंगिमाएं विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं। इनका अब तक प्रकाशित न हो पाना भी कश्मीरी नाट्य साहित्य की स्थिति की ओर एक तरह का इंगित है।

रेडियो नाटक

कश्मीरी में नाटक मंच से अधिक प्रसारण माध्यम का आश्रय लेकर विकसित हुआ है। पिछले तीन-चार दशकों में कश्मीरी में रेडियो-नाट्य विधा इस तीव्रता से विकसित हुई है कि कश्मीरी नाटक की कोई भी चर्चा उसे केन्द्र में रखे बिना करना असंभव है। साहित्य के इतिहास में उनका उल्लेख कहां तर्कसंगत हैं, यह कहना मुश्किल है, पर रेडियो की तृप्ति के लिये लिखे गये सैंकड़ों नाटकों में से कुछेक ऐसे अवश्य हैं जो अपनी रचनाशीलता के कारण महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें अली मुहम्मद लोन के 'म्यानि जिगरिकि दादि वौ'थ' (ओ मेरे दिल के दर्द जाग) अख्तर मुहीउद्दीन के 'आदम छु अजब ज़ाथ' (एक अजब जीव है आदमी) शंकर रैना के 'हरुद' (सतझड़), हरिकृष्ण कौल के 'येँलि वतन छु खुर इवान' (जब राहें उलझ जाती हैं) और शांत के 'येलि पन रोव' (खोया हुआ सूत्र) में कश्मीरी में नाट्य-रचना की संभावना और उपलब्धि का एक पूरा क्षितिज उभरता है। सोमनाथ ज़ुत्शी और वंसी निर्दोष के भी कुछ ऐसे नाटक रेडियो से प्रसारित हुए हैं, जो उल्लेखनीय माने जा सकते हैं। इनमें ज़ुत्शी का 'विजिवाव' और निर्दोष का 'दा'न थ'र' (अनार का गाछ) काफी चर्चित हुए हैं। अनेक नाटक राष्ट्रीय प्रसारणों में भी स्थान पा चुके हैं, जिनमें अली मुहम्मद लोन का 'सुय्या' और मोतीलाल क्यमू का 'लल ब़ ' द्रायस लोलरे' पहले रेडियो पर प्रसारित हुए हैं और बाद में मंच पर प्रस्तुत किये गये।

पुष्कर भान का 'मचामा' प्रहसन

लोकप्रियता को अगर कसौटी माना जाये तो पुष्कर भान की 'मचामा' शृंखला का कश्मीरी रेडियो नाटकों में विशेष स्थान माना जा सकता है। इसका कारण संभवतः इसकी रेडियो प्रस्तुति में भाग लेने वाले कलाकारों के अभिनय की निजी विशेषताएं हो सकती हैं। इस नाट्य-शृंखला को रंगमंचीय नाटकों का भी रूप दिया गया और इसका पुस्तक के रूप में प्रकाशन भी, जिस पर भान को साहित्य अकादमी पुरस्कार भी प्राप्त हो चुका है। इन नाटकों का केन्द्रीय पात्र मचामा एक ऐसा व्यक्ति है जिससे कश्मीर के आम लोगों ने अपना तादात्म्य-सा अनुभव किया, क्योंकि उसकी कमज़ोरियों और आकांक्षाओं में उन्होंने अपने-आपको देखा। मचामा स्वयं लेखक के शब्दों में "लाखों का कारोबार करने वाला, अथवा

नैतिकता की अपने मतलब से व्याख्या करने वाला नायक नहीं, बल्कि वह ऐसा नायक है जो अपने-आपको और अपने परिवार को खुश देखना चाहता है। आकाश छूने वाली अट्टालिकाओं के अन्दर जिसका दम घुटता है, जिसने फाके सहे हैं, जिसकी बीवी कार्तिक के चांद-सी पीली पड़ी है। मेरा नायक अपने मां-बाप की अन्तिम आशा है। मेरे नायक को भी अपने जीवन में एक छोटे से बंगले की चाह है, वह अच्छे कपड़े पहनना चाहता है। कब तक वह धन वालों के चेहरे की ओर देखता रहेगा…।"[२]

'मचामा' प्रहसन को कश्मीरी हास्य और व्यंग्य साहित्य को विशिष्ट देन कहना प्रशंसा का अतिरेक है। यह इस बात पर निर्भर करता है कि हास्य और व्यंग्य के बारे में इसके प्रशंसकों की परिकल्पना क्या है। स्वयं भान ने हास्य को कभी खाने का ज़ायका बढ़ाने वाली चटनी कहा है तो कभी एक ऐसा तीर जिसकी चुभन आदमी कभी भूल नहीं सकता।[३] जहां तक उनके प्रहसन का सम्बन्ध है, उसके प्रस्तुतिकरण का स्तर चाहे जो रहा हो, उसके हास्य का स्तर केले के छिलके पर फिसलने पर हंसनेवाले का-सा है—सामान्य और कहीं-कहीं बहुत भौंडा। उर्दू अथवा अंग्रेज़ी शब्दों के गलत उच्चारण से पैदा हास्य का स्तर क्या हो सकता है, इस पर टिप्पणी की आवश्यकता नहीं। जीवन की विसंगतियों और विद्रूपताओं को नंगा करने वाले व्यंग्य का रूप इसमें कहीं उपलब्ध नहीं होता। 'मचामा' हद से हद एक कैरिकेचर है जिसकी सृष्टि करते हुए लेखक की दृष्टि मनोरंजन की अवधारणा से आगे नहीं गयी है। प्राणकिशोर के शब्दों में वह "हंस-हंसकर लोट-पोट कर देने वाला पात्र है।"[४] 'मचामा' की प्रशंसा में लिखे गये ये शब्द अनजाने में ही इसके बारे में सब कुछ कह गये हैं। इसका उद्देश्य हल्की गुदगुदाहट है, जीवन की विद्रूपताओं को उघाड़कर तिलमिलाहट पैदा करना नहीं।

मोतीलाल क्यमू की रंग-यात्रा

कश्मीरी नाटक को समकालीन जीवन की वास्तविकता से जोड़कर उसे नये और सार्थक शिल्प प्रयोगों में प्रस्तुत करने में मोतीलाल क्यमू (जन्म: १९३३) विशेष रूप से सफल रहे हैं। क्यमू आधुनिक एब्सर्ड नाटक तथा कश्मीरी लोक-नाट्य रूप "भांड पा'थ़र" के रंग तत्त्वों के अनोखे समन्वय द्वारा अपने आस-पास के जीवन की बेहूदगियों को नाटक में पकड़कर अपनी रचनाशीलता का एक प्रभावशाली आयाम उद्घाटित करते हैं। वस्तुतः कश्मीरी रंगमंच को अपने विशिष्ट रंग-प्रयोगों द्वारा गति देने में क्यमू की भूमिका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रही है। आधुनिक पश्चिमी नाटक और समकालीन भारतीय लोक तथा साहित्यिक नाटक से भी वे बखूबी परिचित हैं और अपने शिल्प में आवश्यकतानुसार उनके तत्त्वों को विन्यस्त करते हैं। कश्मीरी लोक नाट्य-रूप

"भांड्पा'थ्र" को उन्होंने अपने समय के यथार्थ के बेढंगेपन और विद्रूपताओं को अनावृत्त करने के लिये एक उपयुक्त माध्यम के रूप में विकसित किया है। इस दृष्टि से मौलिकता का परिचय देते हुए उन्होंने पुराने ढांचे से कश्मीरी नाटक को विच्छेदित किया और उसे नयी सर्जनात्मक दिशा प्रदान की।

लोक-नाटक से प्रभाव ग्रहण करते हुए क्यमू अपने नाटकों के केन्द्र में प्रायः विदूषक अथवा मसखरे को रखते हैं जो अपनी उछल-कूद और बेतुकी हरकतों से अनायास ही ज़िन्दगी की विडम्बनाओं और विसंगतियों को बेनकाब करता चलता है। नौकरशाही के हथकण्डे, राजनेताओं की नंगी सत्ता-लोलुपता, परिवेश की समकालीन फूहड़ स्थितियों पर वह हमें हंसने को विवश कर देता है। इस हास्य के पीछे व्यंग्य की एक पैनी दृष्टि साफ झलक जाती है। इस तर्ज़ में रचित क्यमू का पहला नाट्य-संकलन 'त्रुनोव' के नाम से १९६६ में प्रकाशित हुआ, जिसमें तीन नाटक 'त्रुनोव', 'मांगय' और 'मंज़्ल्य निक्' संकलित हैं। ये तीनों नाटक "भांड्-पा'थ्र" का रूपाकार लिये हुए हैं और मंच पर अनेक बार सफलता-पूर्वक प्रस्तुत किये जा चुके हैं। "भांड् पा'थ्र" के प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण तत्त्व, जैसे मसखरी, रंगगीत, गीत संगीत, नृत्य और हास्य-व्यंग्य आदि इनमें अपनी-अपनी विशेषताएं लिये उपस्थित हैं। इनमें से पहले नाटक में आज़ादी के बाद कश्मीर के गांव में अफ़सरशाही के प्रवेश का मज़ाक उड़ाया गया है। गांव में आये हुए एक नये अफसर को लेकर ग्रामीण पात्रों की प्रतिक्रिया द्वारा उपहास की सृष्टि की गयी है। यह अफसर यद्यपि स्वयं नाटक में कहीं भी उपस्थित नहीं (अर्थात् चेहरा-विहीन है) पर सारे वातावरण में आद्यान्त छाया हुआ है। अफसर का घोड़ा तक प्रतीकात्मक रूप लिये हुए है। कुर्सी प्रेम पर तिरछा व्यंग्य करते हुए नाटक-कार ने पात्रों की उस दृष्टि को भी प्रस्तुत किया है जो अफसर को विविध किन्तु अतिरंजनापूर्ण रूपों में देखती है। 'मांगय' भी गांव के ही परिवेश को लेकर लिखा गया नाटक है। इसमें लड़कियों के मोल-तोल की उस प्रथा पर प्रहार किया गया है जो कश्मीर के गांवों में स्वतंत्रता के बाद भी प्रचलित रही। सुन्दर, सीधी और बेखबर लड़कियों का अंगहीन, विरूप, निकम्मे लड़कों अथवा अधेड़ उम्र के व्यक्तियों के साथ छलपूर्वक विवाह करने के घिनौने व्यापार के साथ-साथ ग्राम-जीवन की अन्य विडम्बनाओं पर नाटक में तीखा व्यंग्य है। इस संकलन का सबसे सशक्त नाटक है 'मंज़्ल्य निक्' अथवा 'पालने का पूत' जो हमारे राजनीतिक परिवेश की बेहयाइयों को निर्ममता से छीलकर रख देता है। नारे उछालकर लोगों को बहकावे में रखने और अपने स्वार्थ की पूर्ति करने वाले राजनीतिज्ञों के हथकण्डों पर नाटक में ज़बरदस्त चोट की गयी है। एक निकम्मा और निठल्ला बौना (पालने का पूत) हमारी राजनीति का सही रूप जानकर इन सभी हथ-कण्डों को आजमा कर लोगों को आतंकित करके वोट द्वारा सत्ता हथियाने की

होड़ में कैसे आगे बढ़ने में सफल होता है—इस विडम्बना को प्रस्तुत कर नाटककार नारों को ओढ़नेवाले चेहरे की विरूप सच्चाई को निरूपित करता है। 'पालने का पूत' में नाटककार हमें चारों ओर से व्याप्त भ्रष्टाचार, लूट-खसोट धूर्तता के मूल स्रोतों की बहुत करीब से पहचान कराता है।

क्यमू ने अपना अगला नाटक 'लल ब़ द्रायस लोलरे' १६६२ में कश्मीरी मध्यवर्गीय परिवेश में स्त्री और पुरुष के आपसी सम्बन्धों के टूटने से उत्पन्न स्थिति को लेकर लिखा। इस नाट्य-कृति में पुराने संस्कारों और नयी परिस्थितियों के बीच संघर्षरत नारी के व्यक्तित्व को तोड़ने और अपमानित करने वाले तत्त्वों का घिनौना रूप सामने आता है। आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर होने पर भी डॉ० लीला स्वतंत्र न होकर दुखी है। एक मरे हुए सम्बन्ध का जो नरक ढोने को वह विवश है वह एक नया नाटकीय विषय नहीं, लेकिन इसे कश्मीरी साहित्य में अब तक एक आदर्शवादी "समाज-सुधारक" दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया जाता रहा है जबकि क्यमू ने इसे उन तनावों और दबावों के संदर्भ में प्रस्तुत किया है जो मूल्यों में बदलाव के बावजूद आज की नारी को बराबर तोड़ रहे हैं। डॉ० लीला की विकल्पहीन स्थिति उसे आत्महत्या की ओर ले जाती है। यही यातना प्रभावती की भी है जिसकी आत्महत्या के समाचार से कृति की समस्त नाटकीय गति प्रेरित होती है। नाटक में कथा-स्थिति को एक आर्थिक दृष्टि से मजबूर पिता की दृष्टि से भी उपस्थित किया गया है, जो अपनी बेटी की नरक-यातना का सहभोगी होते हुए भी एकदम असहाय है। नाटक शिल्प की दृष्टि से एक विशिष्ट और नया प्रयोग है जिसमें केवल तीन पात्र हैं, पुरुष, स्त्री और लड़की जो तीन अंकों में तीन रूपों में आते हैं। एक दृष्टि से इस नाटक का प्रत्येक अंक सम्पूर्ण है और तीनों अंक मिलकर प्रभाव को गहरा बनाते हैं। स्वयं नाटककार ने कृति की भूमिका में बताया है इस नाटक का तीसरा अंक पहला बन सकता है और पहला अंक दूसरा और दूसरा अंक तीसरा अंक बन सकता है। इस तरह एक ही स्थिति को तीन आयामों में उद्घाटित किया गया है। यद्यपि यह नाटक आज की नारी की त्रासदी को प्रस्तुत करता है, 'लल ब़ द्रायस लोलरे' का शीर्षक इस बात को ध्वनित करता है कि नारी की स्थिति आज भी वही है जो ललेश्वरी के समय में थी।

१६७२ में ही क्यमू की शीर्षस्थ नाट्य-कृति 'छाय' (छाया) प्रकाशित हुई जिसे कश्मीरी नाटक की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि कहा जा सकता है। नाटककार ने इसे एक "ऐतिहासिक त्रासदी" कहा है, लेकिन यह वस्तुत: समकालीन व्यक्ति की त्रासदी है—आस्थाओं के टूटने और मोहभंग की त्रासदी। इतिहास केवल एक पार्श्वभूमि मात्र है, उसका अपने में कोई अलग महत्व नहीं। राजा ललितादित्य के ऐतिहासिक काल-खण्ड का प्रयोग उसमें केवल समकालीन यथार्थ के तीव्र और

गहन स्तरों के उद्घाटन के लिये किया गया है। कथा केवल ऊपरी तौर से देखने पर ऐतिहासिक है, जब कि नाटक वस्तुतः उसके माध्यम से आज के जीवन के संशय, संत्रास और अस्तित्व के संकट को संकेतित करता है। आस्था और अनास्था के बीच जो संघर्ष चन्द्र और नाटक के अन्य पात्रों के मन में चल रहा है वह एक ठण्डी बर्फीली आंधी की तरह नाटक की समस्त कार्यगति को उत्तेजित किये हुए है। ईश्वर अथवा किसी भी चरम मूल्य में विश्वास के टूटने का विस्फोटक प्रभाव नाटक के अन्त में अत्यन्त भयावह स्थिति उपस्थित करती है। पहले अंक में ही गजेन्द्र हाथी का बेकाबू हो जाना राजा की चामत्कारिक शक्तियों के विषय में गढ़ी गयी मिथक कथाओं के झूठे पड़ जाने की ओर संकेत है। गजेन्द्र हाथी वस्तुतः प्रतीकात्मक आयाम ग्रहण करता हुआ आगे आनेवाली स्थितियों का एक प्रकार से पूर्वाभास दे जाता है। स्वयं राजा, जो नाटक में उपस्थित न होकर भी आद्यान्त विद्यमान है, एक प्रतीक पात्र है। उसके बारे में कथाओं को गढ़ने वाले पात्र— सेनापति वर्द्धमान, राजगुरु आदि स्वयं इस भ्रम-जाल को तोड़कर बर्फ के भयंकर तूफान में अपनी मुक्ति पा लेते हैं। सेनापति वर्द्धमान द्वारा राजा की हत्या कृति का चरम नाटकीय क्षण है जो इस मोहभंग को एक गहन त्रासद प्रभाव के साथ उद्घाटित करता है। चरम सत्ता और चरम मूल्य का प्रतीक राजा का मुकुट नमन के स्थान पर ठोकर की वस्तु बन जाता है। इस स्थिति के लिये मन से तैयार न होने के कारण भूपत जहर खाकर आत्महत्या कर लेता है, लेकिन चन्द्र राजा को मंडित करने वाले प्रभामंडल को छद्म मानता हुआ सायास गढ़े गये झूठ के आगे शुरू से ही प्रश्न चिह्न लगाता है। उसके संवेदनशील मन पर पड़ी संशय की छाया पूरे वातावरण पर छा जाती है। संशय और आस्था के द्वन्द्व के साथ-साथ कृति में अस्तित्व की समस्याओं को भी उठाया गया है। बर्फ के भयंकर तूफान में पात्रों का दिशाएं भूल जाना और सूरज के उगने पर से विश्वास उठ जाना इसके द्योतक हैं। आज के आदमी के भय और संशय की स्थितियों को नाटक में साकार रूप दिया गया है। यह भय अस्तित्व के संकट से पैदा हुआ है। मृत्यु की लम्बी बर्फीली छाया में ही ज़िन्दगी को सही तौर से देखने की दृष्टि मिलती है, क्योंकि मृत्यु सभी मूल्यों को झूठा साबित कर देती है। उसके बाद जो बचा रहता है उसी बिन्दु पर सवाल करता हुआ चन्द्र पूछता है "मैं किस लिये हूं ? मैं किस लिये हूं ? मैं किस लिये हूं ?" इस प्रश्न की आवृत्ति ही नाटक का अंतः स्वर है।

वस्तुतः नाटक का अर्थ अनेक स्तरों और धरातलों पर उद्घाटित होता है और यही उसकी सबसे बड़ी विशेषता है। 'छाय' में नाटककार मानवीय स्थिति और नियति के प्रति एक गहरे सरोकार से जुड़ा हुआ नजर आता है।

१९८० में मोतीलाल क्यमू का एक और नाट्य-संकलन 'नाटक त्र्युच्य' (नाटकत्रयी) प्रकाशित हुआ, जिस पर उन्हें १९८२ का साहित्य अकादमी पुरस्कार

प्राप्त हुआ है। इस संकलन का पहला नाटक 'हरम खानुक आ'न्' पहले हिन्दी में 'दर्पण अन्तःपुर का' नाम से छप चुका था, लेकिन नाटक के कश्मीरी रूप में कई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किये गये हैं। 'दर्पण अन्तःपुर का' गुजरात की भवाई नाट्य शैली में लिखा गया था, जब की 'हरम खानुक आ'न्' को लेखक ने कश्मीरी "भाँड् पा'थ्र्" के रूपाकार में ढाला है। इस नाटक में राजा, रानियों तथा मंत्रियों आदि पात्रों की अजीब और ऊलजलूल क्रियायों, असंगत और अतार्किक संवादों द्वारा बेढंगी और बेतुकी स्थितियों को प्रस्तुत किया गया है। यह वस्तुत. पश्चिम के एब्सर्ड नाटक की तकनीक है जिसके कुछ तत्त्व इस नाटक में भी मौजूद हैं। राजा, रानी और वज़ीरों की अन्तःपुर के दर्पण को लेकर बेमतलब उछलकूद केवल हास्य की सृष्टि के लिये नहीं दिखायी गयी; वह अपने बेतुकेपन में प्रतीकात्मक है, और शासन व्यवस्था के फूहड़पन तथा प्रथापालन की निरर्थकता की ओर एक इशारा है। सबसे महत्त्वपूर्ण है नाटक के अन्त में किया गया संकेत, जब जनसमूह राजा की मृत्यु के बाद उसके दरबार को रौंदता हुआ चारों ओर से उमड़ आता है।

इस संकलन के एक और नाटक, "कां'सि मा रोवमुत 'ह्य क्याह् गोम" (खोया हुआ गांव) में सामंती शासन की समाप्ति के बाद संरक्षण और प्रोत्साहन खो चुके लोक-विदूषक भांडों की स्थिति का चित्र है। 'भाँड् पा'थ्र्' के साथ-साथ कथा का सूत्र आगे सरकाने के लिए नाटक में कश्मीर की परम्परागत दास्तान शैली का भी प्रयोग है। दृश्य और श्रव्य (रेडियो कमेंट्री) दोनों माध्यमों का प्रयोग इसकी तकनीक की एक और विशिष्टता है।

संकलन का तीसरा नाटक है, 'मंज़्ल्य निक्' ('पालने का पूत'), जो 'त्रुनोव' में भी संकलित है। इसकी चर्चा अन्यत्र हो चुकी है।

अली मुहम्मद लोन की नाट्य कृतियां

कश्मीरी नाटक की क्षमता और संभावना का एक छोर अली मुहम्मद लोन (जन्म १९२६) की कृतियों में भी देखने को मिलता है। लोन ने मूलतः रेडियो के लिए नाटक लिखे हैं। इसी माध्यम के द्वारा उन्होंने नाट्य शिल्प के विविध प्रयोगों में अपनी रचनाशीलता को अभिव्यक्ति दी है। 'अगर गाश सोरि' (रोशनी के मन्द होने तक) से लेकर 'आदम. हव्वा त् इबलीस' आदम हव्वा और इबलीस) और 'कंड्य सहराव त् वजूद' (कांटे, वीराना और अस्तित्व) जैसी उनकी रेडियो नाट्य-कृतियों तक उन्होंने समकालीन जीवन और उसकी समस्याओं के परिचित-अपरिचित पक्ष निरूपित किये हैं। इनमें से कुछ नाटक मंच पर भी प्रदर्शित हो चुके हैं। लेकिन उनके मंचन में रेडियो और रंगमंच दोनों के शिल्प का मिला-जुला रूप मिलता है। लोन की नाट्य कृतियों में प्रायः रोमानी भावुकता और आदर्श-वाद की भंगिमाएं हैं।

रंगमंच के लिए लिखे गये नाटकों में लोन को प्रतिष्ठा का आधार 'सुय्या' है जिसका प्रकाशन १९७१ में हुआ। यह नाटक भी पहले रेडियो के लिए लिखा गया था और इसका मंचन १९७७ में हुआ।

'सुय्या' एक ऐतिहासिक नाटक है, जिसमें आज से ग्यारह सौ वर्ष पूर्व के उस काल-खण्ड को पार्श्वभूमि के रूप में चुना गया है जब सुय्या नाम के एक प्रखर मेधावी इंजीनियर ने वितस्ता नदी के विकराल जलप्लावनों और उससे होनेवाली धन-जन की तबाही का युक्ति से शमन किया। बाढ़ और अकाल को अपनी नियति समझ बैठने वाले लोगों को सुय्या ने मनुष्य की अपरिमित शक्ति और मेधा का ऐसा रूप दिखाया कि उसे उन्होंने एक आलौकिक दिव्य पुरुष मान कर उसके व्यक्तित्व का मिथकीकरण कर दिया। अली मुहम्मद लोन के अनुसार उनकी यह कोशिश रही है कि देवत्व के इस प्रभामण्डल के पीछे छिपे आदमी के व्यक्तित्व की विराटता को प्रक्षेपित करें। प्रकृति और मनुष्य के बीच चिरंतन संघर्ष के एक प्रतीक-पुरुष के रूप में भी नाटककार सुय्या के चरित्र को देखता है। लेकिन कश्मीर के इतिहास के इस प्रतिभा पुरुष का मानव-मंगलकारी रूप नाटक में इतना चुंधियाने वाला है कि उसे सहज नहीं कहा जा सकता। नाटककार ने जिस "धीमे-धीमे मिथकीय वातावरण" की बात की है वह वस्तुतः एक ऐसी रोमानी धुन्ध पैदा करता है जिममें सुय्या का व्यक्तित्व आदि से अन्त तक रहस्यमय लगता है। यथार्थवादी दृष्टिकोण का दावा करने के बावजूद नाटककार ने इस रहस्यमयता को जहां-तहां गहराया है। सुय्या को लेखक ने चंडालिनी मां का दूध पीने वाले एक साधारण मनुष्य की तरह प्रस्तुत करना चाहा है, लेकिन वह स्वयं उसकी अतिमानवीय छवि के प्रति मोहाविष्ट है। आवेश के एक क्षण में सुय्या मां को अपने ऐसे रूप से आंतकित करता है जिससे उसकी अतिमानवीयता का रहस्यमय संकेत मिलता है। मां ही नहीं, पत्नी, गुरु और सूत्रधार को भी वह ऐसे क्षणों में इस प्रकार के संकेत से आतंकित करता चलता है। डॉ० रत्नलाल शांत ने ठीक लिखा है "कि इस प्रकार के संकेतों से हमें कृष्ण और यशोदा के प्रसंग याद आ जाते हैं।"[६] मिथकीकरण से मुक्ति के स्थान पर वस्तुतः 'सुय्या' में मिथकीकरण की ओर ऐसा प्रयाण है कि सामान्य मानव चरित्र भी हमें बहुत दूर के प्रतीत होते हैं।

'सुय्या' में नाटककार ने "हृदय और कर्तव्य"; "आराम और कष्ट", "शांत और खोमोश गृहस्थी" और "कठिन-क्रूर श्रम" तथा "हृदय और मस्तिष्क के द्वन्द्व" के स्तर भी उजागर करने की कोशिश की है। लेकिन सच तो यह है कि उसके भावुक रोमानी दृष्टिकोण के कारण कृति में नाट्यानुभूति का बिन्दु तीव्रता से उभर नहीं पाता। सुय्या का चंडालिनी-पुत्र होना नाटकीय द्वन्द्व का एक पक्ष हो सकता था, लेकिन नाटककार इसका कोई विशेष उपयोग नहीं कर पाया है।

'सुय्या' में पश्चिमी नाट्य-शिल्प के साथ-साथ संस्कृत नाटक के सूत्रधार को भी लिया गया है, लेकिन सूत्रधार की भूमिका की स्पष्ट धारणा शायद लेखक के पास नहीं। कथा का सूत्र आगे न बढ़ाकर सूत्रधार सुय्या को कभी उसकी मानव मंगलकारी रूप के प्रति सचेत करता है तो कभी जानकर अनजान और मूर्ख बन जाता है। यही भूमिका समय-समय पर सुय्या के गुरु तथा चंडालिनी निभाते हैं।

रोमानी भावुकता का एक परिणाम नाटक के संवादों की काव्यमयता में भी प्रकट हुआ है। भाषा भी सामान्य बोलचाल से बहुत दूर एक विचित्र रहस्यमयता की परत को लपेटे हुए प्रतीत होती है। 'सुय्या' को समसामयिक कश्मीरी नाटक की एक विशिष्ट कृति माना गया है। शायद नाटक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें कश्मीर की सांस्कृतिक अस्मिता को रेखांकित करने की कोशिश की गयी है। अली मुहम्मद लोन को इस नाट्यकृति के लिए साहित्य अकादमी पुरस्कार प्राप्त हो चुका है।

मुहम्मद सुभान भगत के नाट्य-प्रयोग

सामन्तशाही की समाप्ति के बाद उत्पन्न संक्रमण की स्थिति से गुज़र रहे कश्मीरी गांव के परिवेश और समस्याओं को लेकर मुहम्मद सुभान भगत ने कई नाटक लिखे हैं। एक नाटककार की हैसियत से भगत १९६४ से हमारे सामने आते हैं। इससे पहले वे कश्मीरी के लोक-नाटक 'भांड॒ पा'थ॒र' में शहनाई-वादन का काम किया करते थे। भगत के अब तक दो नाट्य संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं—'तकदीर' और 'दिवयि रंग' (रंगोत्सव)। 'तकदीर' में भगत के तीन नाटक संकलित हैं, 'पो'ज-अपुज' (सच-झूठ) 'यिति छु वनवुन' (यह भी संभव है) और 'तकदीर' संकलित हैं। जिनमें 'भांड॒ पा'थ॒र' से सम्बद्ध होने के बावजूद नाटककार ने आधुनिक नाट्य-शिल्प को अपनाया है और इस कोशिश में वे बुरी तरह से पिट गये हैं क्योंकि वस्तु और चरित्र की उनकी कल्पना बिल्कुल कच्ची और सतही है।

'पो'ज-अपुज' का प्रारंभिक अंश सीधे मुहीउद्दीन हाजिनी के नाटक 'ग्रीस्य सुन्द गर॒' (किसान का घर) से लिये गए हैं और बाद में कथा को दूसरा मोड़ दिया गया है, बल्कि अनेक मोड़, जिनसे बिखराव आ गया हैं और एकसूत्रता टूट गयी है। नाटक के अन्त में जज का शहतूत के पेड़ के नाम से समन जारी करना एब्सर्ड नाटक का तत्त्व हैं जो बाकी नाटक के शिल्प से कहीं मेल नहीं खाता। 'यिति छु वनवुन' में पीरों-फकीरों का वेश धारण करने वाले धूर्तों की कहानी है, जो सीधी-सादी ग्रामीण जनता को ठगते हैं। संकलन का केवल मात्र उल्लेखनीय नाटक 'तकदीर' माना जाता है, जिसमें गांव के नव-धनाढ्यों की धूर्तता और शोषण का चित्र है। नाटक में एक नव-धनाढ्य सीधे-सादे किसान को धोखा देकर उसकी सारी सम्पत्ति अपने लड़के के नाम करता है और अपने निठल्ले और लंगड़े बेटे

का विवाह एक अन्य किसान की लड़की से करवाता है। यही इस नाटक का कथा-सूत्र है।

'दिविय रंग' (रंगोसत्व) में भी तीन नाटक संकलित हैं जिनमें 'भांड ़पा'थ़र' का शिल्प होने के कारण नाटककार अपनी सही ज़मीन पर खड़ा दिखाई देता है। पहले नाटक में गांव के एक पढ़े-लिखे युवक के व्यवहार के अटपटेपन को दिखाया गया है, जो एकदम अस्वभाविक है। दूसरे नाटक 'अक़ नन्दुन' में कश्मीरी की प्रसिद्ध लोक-कथा को 'भांड़-पा'थ़र' के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इस नाटक के संवादों पर अहद ज़रगर की छाया स्पष्ट है।

भगत अपने नाटकों में हास्य पैदा करने की कोशिश में कहीं-कहीं स्वयं हास्यास्पद हो गये हैं। इनके नाटक गांव की समस्याओं का अतिसरलीकृत रूप निबन्धात्मक टिप्पणियों के साथ प्रस्तुत करते हैं। घटना-स्थितियां, पात्रों का चरित्रांकन और संवाद अविश्वसनीय, अस्वभाविक, एकआयामी और सपाट हैं।

कुछ अन्य नाटककार

सजूद सैलानी ने भी कुछ रेडियो तथा मंचीय नाटक लिखे हैं, जिनमें 'तां'त्य को'र' (तांत) और 'गाश-तारुख' (भोर का तारा) और 'रौ'पयि रूद' (रुपयों की बारिश) उल्लेखनीय है। 'गाश तारुख' एक अंग्रेजी कविता पर आधारित है और रेडियो तथा रंगमंच दोनों के लिए लिखा गया है। यही स्थिति 'तां'त्य को'र' (तांत) की भी है जिसकी विषय-वस्तु राष्ट्रीय एकता पर आधारित है। 'रौ'पयि रूद' में फन्तासी का प्रयोग है, और धनाढ्य वर्ग पर व्यंग्य किया गया है।

फारूक मसूदी ने भी 'भांड ़पा'थ़र' के शिल्प का प्रयोग करते हुए एक उल्लेखनीय नाटक 'कालेज पा'थ़र' की रचना की है।

अनुवाद

कश्मीरी में देश की अन्य भाषाओं तथा कुछ विदेशी भाषाओं से नाटक अनूदित भी किये गये हैं, इनमें रवीन्द्रनाथ ठाकुर के 'रवत कर्बी' तथा 'चंडालिका' (अनुवादक : नूर मोहम्मद रोशन) 'मुक्त धारा' (अनुवादक : अली मोहम्मद लोन) 'डाकघर' और 'राजा-रानी' (अनु० अमीन कामिल) तथा 'रीता' (अनु० मिर्ज़ा आरिफ) शामिल हैं। इनके अतिरिक्त इब्सन के 'द घोस्ट्स' का अनुवाद अख़्तर मुहीउद्दीन ने और 'वाइल्ड डक' का अनुवाद सोमनाथ ज़ुत्शी ने किया। रत्नलाल शांत द्वारा चेखब के 'थ्री सिस्टरस' का अनुवाद भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है। रेडियो के लिए मोहन निराश ने भी देशी-विदेशी नाटकों के कुछ अच्छे अनुवाद प्रस्तुत किये हैं।

उपन्यास की तरह ही कश्मीरी नाटक भी रचनात्मक संभावना का कोई

विस्तृत क्षितिज उपस्थित नहीं करता। कुल मिलाकर लिखे गये दर्जन-भर नाटक किसी गहन नाट्यानुभूति अथवा संवेदना-दृष्टि का परिचय नहीं देते। केवल मोती लाल क्यमू और अली मोहम्मद लोन की नाट्य कृतियां ही कश्मीरी रंग-जगत पर अपनी छाप छोड़ सकी हैं। वस्तुतः उपलब्धि के नाम मर 'छाय' और 'सुय्या' ही रचनाशीलता और संवेदना के नये धरातल प्रस्तुत करने वाले नाटक हैं।

संदर्भ संकेत

१. का'शरि अदबुक तवारीख : पृ० १८४।
२. 'मचाम॒' : वे० पुष्कर मान : भूमिका—पृ० १४-१५।
३. उपरोक्त : पृ० १४।
४. सोन अदब (का'शुर ज़बान त॒ अदब) : प्राण किशोर का कश्मीरी नाटक पर लेख : पृ० २९३।
५. 'सुय्या' : भूमिका : पृ० ११।
६. शीराज़ा (दिसम्बर १९७३) : का'शरि ड्रामहुक इरतिका : पृ० ६२।
७. 'सुय्या' : भूमिका : पृ० १३।

: १३ :

कश्मीरी कहानी : प्रकृति और प्रवृत्ति

प्रारम्भिक स्थिति और स्वरूप

आज़ादी के बाद कश्मीरी भाषा के प्रति एक विशेष अनुराग-चेतना का उदय हुआ जिसके नतीजे में विभिन्न गद्य-विधाओं में सृजन को गति मिली। कश्मीरी कहानी का जन्म इसी प्रक्रिया में १९५० के आसपास हुआ जब प्रगतिवादी आंदोलन के अन्तर्गत इस विधा का इस्तेमाल विचारधारा के प्रचार के एक माध्यम के रूप में किया गया। इस बात को लेकर अभी बहस जारी है कि पहली कश्मीरी कहानी दीनानाथ नादिम की 'जवाबी कार्ड' है या सोमनाथ ज़ुत्शी की 'ये॑लि गाश फो'ल' (जब उजाला हुआ)। दोनों कहानियां 'क्वंग पोश" नामक मासिक पत्रिका के फरवरी १९५० के अंक में प्रकाशित हुईं। लेकिन शायद ज़ुत्शी ने अपनी कहानी इससे पहले कश्मीरी कल्चरल कांग्रेस की एक साहित्यिक बैठक में पढ़कर सुनायी। दोनों कहानियां इस बात की गवाही देती हैं कि कश्मीरी कहानी का प्रारंभिक स्वरूप प्रगतिवाद के सांचे में ढला था। अनिश्चय और उथल-पुथल के उस युग में समाजवादी व्यवस्था के लाल सूरज के प्रति आस्था ने कविता और कहानी दोनों क्षेत्रों में रचना कार्य को प्रेरित किया। प्रगतिवादी विचारधारा पर आग्रह के कारण कहानीकारों ने अपनी राजनीतिक मान्यताओं के लिए घटनाओं और चरित्रों की संयोजना की और कथानक का एक भ्रम प्रस्तुत किया। नादिम और ज़ुत्शी के साथ-साथ नूर मुहम्मद रोशन, अज़ीज़ हारून, अर्जुनदेव मजबूर, नूर मुहम्मद भट्ट, सोफी गुलाम मुहम्मद आदि की कहानियां इसी धरातल पर रची गयी हैं। परिवेश की चेतना से युक्त इन कहानी लेखकों के लिये मार्क्सवाद एक विशेष शक्ति साबित हो सकता था यदि उन्होंने सामाजिक संघर्ष के सार्थक संदर्भों, विषमताओं और विसंगतियों के उद्घाटन के लिए कहानी की संरचनात्मक विशेषताओं के अन्तर में प्रवेश करने की क्षमता दिखलायी होती। नादिम दो-तीन और कहानियां—'शीना प्यतो-प्यतो' (गिर री बर्फ़ गिर !) और 'र'य' (चित्ती)

लिखकर एक ओर हो लिये। मूलतया कवि होने के नाते कहानी का रूप-विधान और शिल्प उनकी पहुंच से परे की चीज़ साबित हुई। जुन्शी भी कहानी की दिशा में ज्यादा आगे न जा सके। रोशन, हारून वगैरह 'नेह् गट्' (प्रभात) और 'ज़ून' (चाँद) जैसी दो-एक प्रचारात्मक कहानियां लिखकर चुप हो गये!

कश्मीरी की इन प्रारंभिक कहानियों को पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है कि हर लेखक एक ही बात को कई तरह से दोहराये जा रहा है। आरोपित संवेदना और चरित्रों के स्थान पर रक्त-मांसहीन पुतलियां गढ़ने की प्रवृत्ति के कारण ये कहानियां न तो व्यक्ति के वर्गीकृत स्वभाव का और न आर्थिक जीवन के वैषम्य का ही कहानी शिल्प के परिवृत्त में प्रभावी चित्र प्रस्तुत कर सकीं। हृदय कौल भारती ने इन प्रारम्भिक कहानियों को "रेवड़-भावना" से प्रेरित कहानियां कहा है।[1] परन्तु कहानी लिखने की दिशा में ये प्रयास बेकार नहीं गये। इनमें से अनेक रचनाओं ने उस ढांचे को खड़ा करने में मदद दी जिसने आगे चलकर कश्मीरी कहानी को रचनात्मक आधार दिया।

१९५५ से आते-आते "नयी सुबह" में कश्मीरी लेखक का विश्वास हिलने लगा था और एक भ्रम-भंग की स्थिति पैदा हो रही थी। कश्मीरी कहानी इस दौरान विचारधारा के आत्यन्तिक आग्रह से मुक्त होकर अपनी एक पहचान स्थापित करने की कोशिश में लगी रही। यह कोशिश १९६० तक चलती रही और उसके व्यक्तित्व के कई नये पक्ष उभरकर सामने आये।

१९५०-६० का दशक : अख्तर मुहीउद्दीन की कथा-यात्रा

कश्मीरी में कहानी लेखन के प्रारम्भिक दौर को अख्तर मुहीउद्दीन ने कृष्ण चन्दर जैसे उन उर्दू कहानीकारों के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया कहा है जिन्होंने कश्मीर की प्राकृतिक खूबसूरती और कश्मीरी औरत को लेकर रोमाण्टिक अफसाने लिखे और यहां के समाज की असली सूरत को विकृत रूप में प्रस्तुत किया।[2] अख्तर ने इन कहानियों को प्रतिक्रिया ही नहीं, विरोध की कहानियां भी कहा है। जिनमें पहली बार चेहराविहीन चरित्रों को वास्तविकता के आयाम दिये गये "ताकि कृष्णचन्दरों को मालूम हो जाये कि कश्मीरी समाज पहाड़ों, मर्गज़ारों और खूबसूरत औरतों से ही निर्मित नहीं है, बल्कि उसमें वे तमाम विशिष्टताएं मौजूद हैं जो हिन्दुस्तानी समाज में पायी जाती है।"[3] अख्तर के इस कथन का यह अर्थ लिया जा सकता है कि प्रारम्भिक कश्मीरी कहानी में यहां के वास्तविक परिवेश में यहां के जीवित आदमी का बिम्ब है। परिवेश की यह चेतना १९५५ के बाद लिखी गयी कहानियों में से अधिक व्यापक और गहन होती हुई दिखाई देती है, साथ ही कहानी की स्वरूपगत विशेषताओं और तेवरों को समझने और अपनाने का आग्रह भी। इस बदलाव की सूचना स्वयं अख्तर मुहीउद्दीन (जन्म १९२७)

के पहले कहानी-संग्रह 'सथ संगर' (सात शिखर) में मिलती है।

'सथ संगर' के प्रकाशन को कश्मीरी कहानी के इतिहास में इस दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण घटना माना जा सकता है कि इसमें मतवाद के सूत्रों के स्थान पर मानवीय स्थिति की सच्चाइयों को विषय-भूमि बनाने का प्रयत्न है और साथ ही कहानी की रचनाधर्मी आवश्यकताओं की पड़ताल की प्रवृत्ति। इस संग्रह की 'सुतली का टुकड़ा' और 'कछुआ' जैसी कहानियों में प्रगतिवाद की वैचारिक प्रेरणा स्पष्ट है; किन्तु 'दन्द् वजुन' (दान्ता किलकिल) और 'दरयायि हुन्द येज़ार' (लाल सलवार) आदि कहानियों में नयी संभावनाओं और नयी संवेदनाओं की ओर संकेत है। ये कहानियां जीवन की विभिन्न स्थितियों में व्यक्ति की संवेदनात्मक प्रतिक्रियाओं की कहानियां हैं। सामाजिक संदर्भों से जुड़ी होने के कारण ये अधिक सही लगती हैं। 'दन्द् वजुन' (दान्ता किलकिल) में चमारों की ज़िन्दगी का एक अत्यन्त मार्मिक चित्र प्रस्तुत किया गया है। 'दरयायि हुन्द येज़ार' (लाल सलवार) में एक बूढ़े दम्पति को गठरी में बन्द लाल सलवार को देखकर अपने विवाह के दिनों की याद हो आती है और एक पुराने रोमांस का तार उनकी बूढ़ी नसों में झनझना उठता है। 'सथ संगर' कश्मीरी का पहला कहानी संग्रह है जिसे (१९५८ में) साहित्य अकादेमी पुरस्कार मिला।

अख्तर का दूसरा कहानी संग्रह 'स्वन्ज़ल' (इन्द्र धनुष) उनकी कथा-यात्रा के अगले पड़ाव का परिचय देता है। उनके पात्र, जो अब तक ज्यादातर कैरिकेचर लगते थे, अधिक स्पष्ट और ठोस आयाम ग्रहण करते हैं। किन्तु कहानी शिल्प के साथ प्रयोग करते हुए अख्तर आहिस्ता-आहिस्ता अपनी आधार-भूमि से कटते हुए नज़र आते हैं, जिससे उनकी कहानियों की मौलिक ऊर्जा बिखरती हुई प्रतीत होती है।

अमीन कामिल की कहानियां

१९५० से १९६० तक के दशक में जिन अन्य कथा लेखकों ने कश्मीरी कहानी की पहचान स्थिर करने में योग दिया उनमें मुहम्मद अमीन कामिल (ज० १९२५) का नाम महत्त्वपूर्ण है। कामिल मूलतया कवि हैं और अख्तर की ही भांति उर्दू से कश्मीरी में आये हैं। उनका कथन है कि जो ख्याल शेर न बन सका उसे उन्होंने कहानी का रूप दे दिया। 'क्वकर जंग' (मुर्गों की लड़ाई) 'नो'व तावन' (नयी मुसीबत) 'पो'तकल' और 'फाटक' (काँजी हाऊस) जैसी कहानियों में कामिल की कहानी कला का उत्कर्ष देखा जा सकता है। 'क्वकर जंग' में मुर्गों की लड़ाई के माध्यम से परोक्ष रूप में उनकी मालकिनों के चरित्र का सजीव अंकन है। 'नो'व तावन' में उन परिस्थितियों को रेखांकित किया गया है जिनके चक्कर में पड़कर कालेज की छात्राएं समाज के तथाकथित संभ्रान्त और सम्मानित समझे

जाने वाले धनी और प्रभावशील व्यक्तियों को मामूली सुविधा के एवज़ में अपना शरीर बेचने को विवश हो जाती हैं। 'फाटक' सामंतवादी शासन पर एक व्यंग्य है। और 'पों'तकल' में एक संतानहीना ग्रामीण स्त्री की पीड़ा का मनोवैज्ञानिक चित्र है। अपने समय के ठोस संदर्भों से संबद्ध इन कहानियों की एक विशेषता सामाजिक परिस्थितियों और मानवीय सम्बन्धों के संक्रमित यथार्थ को पकड़ने की कोशिश है। व्यक्ति चरित्र पर केन्द्रित होने के बावजूद इन कहानियों में परिवेश-गत परिदृश्य धुंधला नहीं, बल्कि कहीं-कहीं काफी तीखे रंगों में उपस्थित है। कामिल की कहानियों का एक संग्रह "कथि मज़् कथ" (बात से बात) यद्यपि सन् ६०-७० के दशक में प्रकाशित हुआ (इस कृति पर उन्हें राज्य की कल्चरल अकादमी का पुरस्कार प्राप्त हुआ है), इसमें संग्रहीत अनेक कहानियां कालक्रम, और संवेदना की दृष्टि से भी १९५०-६० के दशक की हैं। कामिल की इन कहानियों के बारे में एक और खास बात लेखक की वह व्यंग्य दृष्टि है जो सामाजिक परिस्थिति के अंकन-आकलन में प्रायः उद्घाटित होती है।

१९५०-६० के दशक के अन्य प्रमुख कथाकार : अली मुहम्मद लोन

इसी काल खण्ड के आस-पास जब कश्मीरी कहानी का रचनात्मक स्वरूप विकसित हो रहा था, प्रगतिवादी प्रस्थान-बिन्दु से आगे चलकर कुछ कथा-लेखकों ने विविध संदर्भ-स्तरों को उभारते हुए उसे समकालीन भारतीय कहानी के समकक्ष खड़ा करने की कोशिश की। इन कहानीकारों ने, जिनमें उमेश कौल अली मुहम्मद लोन, सोफी गुलाम मुहम्मद और अवतार कृष्ण रहबर के नाम उल्लेखनीय हैं, कश्मीरी सामाजिक परिवेश को रूपायित करते हुए जीवन को राजनीतिक मान्यताओं अथवा अपनी यांत्रिक सामूहिकता के कोण से प्रस्तुत करने के बजाय उसके प्रति वैयक्तिक संवेदनात्मक-प्रतिक्रियाओं को कहानी में पिरोया। कहानी के रूप-विधान सम्बन्धी पहलुओं पर उनका ध्यान अधिक गया और कश्मीरी कहानी में ओ' हेनरी और मोपांसा आदि पश्चिमी कथाकारों के शिल्प-सूत्रों का प्रयोग शुरू हुआ। अली मुहम्मद लोन (जन्म १९२७) उर्दू से कश्मीरी में आये। कहानी के क्षेत्र में उनकी देन प्रचुर नहीं रही है, पर उनकी 'फर्ज़् तुज्य' (सींकिया फर्ज़ी) जैसी प्रतिनीधि कथा-कृति कश्मीरी कहानी के विकास के संदर्भ में विशेष चर्चित हुई हैं। 'फर्ज़्-तुज्य' (सींकिया फर्ज़ी) महाराजा के दमनकारी शासन के विरुद्ध कश्मीरियों के राजनीतिक आंदोलन की पृष्ठभूमि में एक औरत के साहस, बलिदान और संघर्ष की कहानी है जिसकी परिणति कटुता में होती है। इस दौर की एक और उल्लेनीय कहानी है 'लपटन लाथर' जो व्यक्ति-चरित्र की विविधता पर आधारित है। लोन की देन यथार्थवादी कथा-लेखन की दिशा में

मानी जाती है, पर रोमानियत उनके नाटक और कहानी दोनों को काफी आच्छादित किये हुए हैं।

उमेश कौल

उमेश कौल (जन्म १६२६) बहुत संभावनाएं लिये कहानी के क्षेत्र में आये। कश्मीरी कहानी के स्वरूप-निर्माण में उनके प्रारम्भिक योगदान के महत्त्व को इनकारा नहीं जा सकता, किन्तु कुछेक कथाकृतियों की रचना करने के बाद उन्होंने चुप्पी साध ली जो आज तक नहीं टूटी है। उमेश की जो भी थोड़ी सी कहानियां उपलब्ध हैं उनकी सबसे बड़ी विशेषता एक सहज मानवीय संवेदना है, लेकिन रोमाण्टिक बोध और भावुकता का अतिरेक उनकी यथार्थ-दष्टि को प्रायः धुंधला कर देते हैं। यह भावुकता भाषा के स्तर पर भी व्यक्त होकर फूल-पत्तियां खिलाती हैं। उमेश कौल शब्दों को रोमानी रंगत देते हुए प्रायः अपनी कहानी में स्वयं उपस्थित होते हैं और जीवन दर्शन सम्बन्धी कुछ सूत्र-वाक्य कहे बिना संतुष्ट नहीं होते। ये सभी विशेषताएं (और दुर्बलताएं) उनकी प्रतिनिधि और बहुचर्चित कहानियां-दल 'अ'ड्य कथ' (आधी बात) 'अख दिवता अख राक्षुस' (एक देवता-एक राक्षस) पढ़ते ही एकदम स्पष्ट होती हैं।

सोफी गुलाम मुहम्मद

सोफी गुलाम-मुहम्मद की अधिकतर कहानियां भी इसी दशक के आस-पास रची गयी हैं। सोफी के यद्यपि दो कहानी-संग्रह "शीश् त् संगिस्तान" (शीशा और पत्थर की इमारत) और "लूस्यम् त्य तारख" (डूबे हुए तारे) प्रकाशित हो चुके हैं, उनकी उल्लेखनीय कहानियां बस दो ही हैं—'च्ंिय चूर' (कोयला चोर) और 'मालद्यद'। 'च्नि चूर' (कोयला चोर) में परिवेशगत यथार्थ की अनुभूति को संवेद्य बनाया गया है। इसमें एक नानवाई मालिक के यहां काम कर रहे नौकरों के माध्यम से श्रम के शोषण से पीतिड़ और आर्थिक तंगी से मजबूर लोगों की लाचारी और दर्द की कहानी कही गयी है। 'मालद्यद' में बाज़ार के परिवेश में एक कुंजड़िन का स्मरणीय व्यक्ति-चित्र अंकित किया गया है और साथ ही औरत के स्वतंत्र व्यक्तित्व को संदेह की दृष्टि से देखनेवाली नैतिकता पर भी एक हल्की सी चोट है। 'लूस्यम् त्य तारख' में कुछ ऐसे वर्गीय चरित्रों के रेखा-चित्र प्रस्तुत किये गये हैं जो नये सामाजिक-आर्थिक परिवर्तनों के कारण अब लुप्त होते जा रहे हैं। और इन लुप्त होते हुए चरित्रों की तरह सोफी गुलाम मुहम्मद की कहानियां भी "डूबे हुए तारे" बन कर रह गयीं।

आवतार कृष्ण रहबर

अवतार कृष्ण रहबर, (जन्म) जिनके पहले कहानी-संग्रह "तो'वरुख" (तबर्रुक) को कुछ आलोचकों ने महज़ रेखा-चित्रों का संग्रह कहकर उपेक्षित किया था, भी कहानी-लेखन के इसी दौर की उपज है। उनकी सफलताएं और कमज़ोरियां उनकी अपनी ही नहीं, इस दौर के आम कहानी लेखकों की सफलताएं और कमजोरियां हैं। इससे किसी को इनकार नहीं कि उनकी 'नार्ᐟ ग'ल्य चाप्-न्य' (अंगारे चबाना) और 'तो'हफ्' जैसी कहानियों में संवेदना और शिल्प के स्तर पर बहुत अंतर है, पर किसी सार्थक प्रयोग दिशा की ओर वे संकेत करती हुई प्रतीत नहीं होतीं। इनकी अनेक कहानियों में पूर्व-दीप्ति की तकनीक का प्रयोग है। पर हृदय कौल भारती का उन कहानियोंके पात्रों के बारे में यह कथन कायल नहीं कर पाता कि "उनका अहसास, उनकी चेतना उनके वातावरण की देन है, जबर्दस्ती से आरोपति सत्य नहीं। इसीलिये इसमें वह सामान्य प्रकार की स्थूल नाटकीयता दृष्टिगोचर नहीं होती जो परम्पराग्रस्त आलोचक को इस कहानी-संग्रह को स्वीकार करने पर आमादा करती है"।[3]

ताज बेगम रेंज़ू

उन लेखकों में जिन्होंने कश्मीरी कहानी की विकास यात्रा के प्रथम चरण में रचनाशीलता का परिचय दिया, ताज बेगम रेंज़ू का भी मान लिया जाता है और इस संदर्भ में उनकी 'ख्वश फहमी' (खुशफहमी) और 'अस्तान डेड़ि तल' (आस्तान की ड्योढ़ी पर) जैसी कहानियों की चर्चा की जाती है। पर ताज बेगम की कहानियों का उल्लेख केवल ऐतिहासिकता की दृष्टि से ही किया जा सकता है, शायद इसलिये भी कि वे कश्मीरी की पहली महिला कहानी लेखक हैं। 'अलाव' उनकी कहानियों का एक मात्र प्रकाशित संग्रह है। काव्य-मयता और भावुकता इन कहानियों की मूल प्रवृत्तियां हैं, जो भाषा के स्तर पर भी व्यक्त हुई हैं।

१९६०-७० का दशक : नया मोड़ पुराने कथाकार

१९५०-६० के दशक में जो कथा-प्रवृत्तियां शिल्प और विषय वस्तु के स्तर पर उभरीं उन्होंने आगे चलककर '६०-'७० के दशक में अधिक स्पष्ट रूप ग्रहण किया। कश्मीरी कथाकार नाटकीय प्रारम्भ, घटनास्थिति के अप्रत्याशित मोड़ और चौंका देने वाली परिणति के लटकों-झटकों से अपनी कहानियों का ताना-बाना बुनता रहा। कहानी में अपने दृष्टि बिन्दु को प्रस्तुत करने के लिये स्वयं उपस्थित होकर इस या उस पात्र के माध्यम से वह अपनी बात कहता रहा। पिछले

दशक के कुछ कहानीकार, जैसे उमेश कौल और सोफी गुलाम मोहम्मद, इस दशक के मध्य तक आते-आते चुक गये, जब कि कुछ लेखकों ने जिनमें अख्तर मुहीउद्दीन, अली मुहम्मद लोन और अवतार कृष्ण रहबर शामिल हैं, अपनी रचनात्मक यात्रा जारी रखी। शिल्प-शैली के कुछ नये कर्व और कथा-दृष्टि के कुछ नये धरातल भी इस दौर में उभरते हुए दिखायी दिये और कश्मीरी कहानी अपनी विकास यात्रा की अगली मंज़िल तक द्रुत-गति से बढ़ी। वस्तुतः कश्मीरी कहानी ने इस यात्रा की सभी मंज़िलें खुद चल कर तय नहीं कीं बल्कि अन्य भाषाओं के कहानी-साहित्य विशेषकर उर्दू, हिन्दी और अंग्रेज़ी के माध्यम से (रूसी और फ्रांसीसी भी) से आत्मसात् की।

इस दौर में अख्तर मुहीउद्दीन की रची कहानियों में कहीं तो व्यक्तित्व के विलक्षण पक्ष को प्रस्तुत करने की पुरानी प्रवृत्ति दिखायी दी, तो कहीं वे कहानी शिल्प के साथ नये प्रयोग करते हुए नजर आये (जैसे, 'कुदजू', 'हतक', और 'लस्सू वलदि महमदू' में)। लेखक की बदली कथा-दृष्टि का परिचय देने वाली कहानियों में 'आदम छु अजब ज़ात' (एक अजीब जीव है आदमी भी) की विशेष रूप से चर्चा हुई है। इस कहानी में, जिसे अख्तर की कहानी कला का उत्कर्ष और कश्मीरी कहानी की एक उपलब्धि माना जाता है, वे उसी रोमाण्टिक यथार्थ-वाद के कृष्णचन्दरीय फार्मूले को अपनाते हुए नजर आते हैं जिसका विरोध उनके विचार में कश्मीरी में कहानी लेखन की शुरुआत का कारण बना। कहानी में कश्मीर के प्राकृतिक सौन्दर्य की पृष्ठभूमि में एक चित्रकर्त्री मेम और एक बूढ़े मांझी के रोमान्स की ट्रेजिडी है, जिसे अत्यन्त भावुकतापूर्ण ढंग से संवेद्य बनाने की कोशिश की गयी है। इस कहानी की विशेषता लेखक के उस सौन्दर्य-बोध में है, जो इसका मुख्य संप्रेष्य बिन्दु है। 'ज़ा'द्य ज़ाल' (जाल) कहानी आधुनिक भाव-बोध के धरातल पर रची गयी है और उसमें अस्मिता का सवाल उठाया गया है। 'गहे ताफ गहे शुहुल' (कभी धूप कभी छाया) नये दौर की उनकी एक और विशिष्ट कहानी मानी जाती है जिसमें समय के कार्य-कारण सम्बन्ध को तोड़कर चेतना प्रवाही लहजा अपनाया गया है। अख्तर ने कहानी के क्षेत्र में जो नये प्रयोग किये हैं वे उन्हें मानवीय अस्तित्व के रहस्यात्मक पक्षों और प्रतीकात्मक सत्यों की राह पर ले गये हैं जैसे 'च़्य छुख च़्य छुख' (तू ही तू है) में। यह उलझाव उनकी पूर्ववर्ती कहानियों की परंपरा से मेल नहीं खाता जिनका मूल स्वर यथार्थ के सीधे अंकन से उभरता है। स्वयं अख्तर के ही शब्दों में उनकी कथा-कृतियां अधिक-से-अधिक "respectable mediccrity" के स्तर पर से ऊंची नहीं उठीं।

सन '६०-७० के दशक में अली मुहम्मद लोन ने कहानी लिखना जारी रखा और अपने-आपको नये आंदोलन के आगे रखने की कोशिश करते हुए प्रयोगवादी

प्रवृत्ति को अपनाया। परन्तु परिमाण में वे अधिक लिख न सके। इस दौर में लिखी उनकी दो-एक कहानियां ही उल्लेखनीय मानी जा सकती हैं, जैसे 'मनुप त् मदनसर' (मनुष्य और प्रेम सरोवर) 'आदम, हव्वा, त् इबलीस' (आदम हव्वा और इबलीस) और 'शून्य'। 'शून्य' में उन्होंने चेतना-प्रवाही लहजे का प्रयोग किया है और कहानी की पुरानी हदों को तोड़कर कथानकहीनता की ओर मुड़ने की कोशिश की है। मानव-जीवन में व्याप्त अर्थहीनता और रिक्ति का बोध इस कहानी का कथ्य है, लेकिन यह अर्थहीनता कथा-स्थिति से संकेतित नहीं होती, बल्कि स्वयं कहानीकार उसके बारे में सीधे वक्तव्य देता है।

अवतार कृष्ण रहबर इस दशक में 'तोहफ्' की-सी अप्रत्याशित परिणति और कटे-छटे संवादों के शिल्प से अधिक आगे न जा सके, यद्यपि इधर 'निर्वाण' जैसी उनकी कुछेक कहानियों में जीवन में अर्थ की प्रश्नाकुल खोज मिलती है। इस कहानी के नायक गौतम की पीड़ा भी बुद्ध की ही भांति जीवन में व्याप्त झूठ और बेमानीपन को पहचानने की पीड़ा है, जिसे कहीं कोई मुक्ति नहीं, कहीं कोई निर्वाण नहीं। 'रहित गा'मच् ज् अ'छ्य' (दो आंखें) उनकी इस दौर में लिखी एक और उल्लेखनीय कहानी है।

बंसी निर्दोष : किस्सागो का रचना व्यक्तित्व

उन कहानीकारों में जिन्होंने सन' ६० से पूर्व ही लिखना प्रारम्भ किया था, किन्तु जिनका कृतित्व '६०-७० में ही उभरकर सामने आया, बंसी निर्दोष का नाम महत्त्वपूर्ण है। निर्दोष कश्मीरी में अपने ढंग के निराले कहानीकार हैं जिनकी रचनाओं की विषय-भूमि और परिवेश अनेक प्रकार की विविधता का आभास देते हैं, लेकिन जिनका शिल्प मोयांसाँ और ओ'हेनरी की कथानक और चरित्र सम्बन्धी अवधारणाओं के सांचे में बन्द है। निर्दोष कश्मीरी मध्यवर्गीय जीवन का एक प्रामाणिक परिदृश्य प्रस्तुत करने की और अपने पात्रों को अजीब स्थितियों में डालकर एक अद्भुत प्रभाव पैदा करने की कोशिश करते हैं। कहीं-कहीं अपने ढंग से पाठकों को पात्रों के आंतरिक जगत की भी झलक दिखाते हैं। पर कथानक में आकस्मिकता, परिणति में चमत्कार, घटना में कौतूहल और शैली में आयासहीन लगनेवाली विवरणात्मकता—कुल मिलाकर एक किस्सागो का रचना-व्यक्तित्व उनकी कहानियों से उभरता है। फिर भी उनमें एक ऐसी ऊर्जा है जो किसी-न-किसी तरह प्रभावित किये बिना नहीं रहती। निर्दोष के तीन कहानी संग्रह 'वाल मरा'यो' (मैं बाला मर जाऊंगी) 'आदम छु इथय बदनाम' (आदमी यूं ही बदनाम है) और 'गिर्दाब' (भंवर) अब तक प्रकाशित हो चुके हैं। इस दृष्टि से वे अकेले कहानीकार हैं जिन्होंने रचना-बहुलता की विशेष क्षमता प्रदर्शित की है। उनकी कहानियों का गुणात्मक स्तर यद्यपि सर्वत्र एक-सा नहीं

है और विषय की दृष्टि से भी उनमें बहुत विविधता है। पर कुछेक कहानियां विशेष चर्चा का विषय बनी हैं। इनमें 'तुल ़र' (मधु-मक्खी) 'म्योन मरुन' (मेरी मृत्यु) 'खोच ़ुन' (डर) 'अजल' (मृत्यु) और 'यि ति छु अख एहसास' (एक एहसास यह भी) शामिल हैं, जो कई दृष्टियों से ध्यान आकर्षित करती हैं। मसलन् 'म्योन मरुन' में एक विचित्र स्थिति— नायक का अपनी मृत्यु के बाद अपने निकटतम सम्बन्धियों के आचरण की विचित्रता और छीनाझपटी को शरीर से मुक्त होकर देखना— कल्पित की गयी है जिसके माध्यम से मानवीय सम्बन्धों के मूल में स्वार्थवृत्ति को उद्घाटित करते हुए उनके झूठेपन की ओर संकेत किया गया है। 'अजल' (मृत्यु) की कथा-स्थिति भी विचित्र है। इसमें कुछ मजदूरों को जंगल में काम करते दिखाया गया है। अचानक बादल गरजते हैं, घोर वर्षा होती है और बिजली कड़कती है। मजदूर जंगल के एक झोंपड़े में घुस जाते हैं। तय होता है कि उनमें कोई एक गुनहगार है, उसके साथ बाकी बेगुनाह न मारे जायें, अतः सभी मज़दूरों को एक-एक करके जंगल के एक पेड़ को छू लेना चाहिए। जिसने गुनाह किया होगा वही बिजली गिरने से मरेगा। सभी मज़दूर ऐसा करते हैं लेकिन समदू मृत्यु के भय से बेहद आतंकित होने के कारण ऐसा करने से इनकार कर देता है। अन्त में उसके हाथ-पांव बांधकर उसे उस दरख्त के पास छोड़ दिया जाता है। उसकी मां भी अपने घबराते हुए और चीखते-चिल्लाते बेटे के पास पहुंच जाती है। इतने में बिजली उसी झोंपड़े पर गिरती है जिसमें बाकी सब मज़दूर शरण लिए हुए थे। इस स्थिति में भी मानवीय व्यवहार के दिलचस्प पक्ष को उजागर करने की बहुत संभावना थी, पर अप्रत्याशित अन्त ने उसे पूरी तरह से नष्ट कर दिया है। 'यि ति छु अख एहसास' (एक एहसास यह भी है) की नायिका विमला विवाहित जीवन के सुख और संतोषपूर्ण क्षणों में भी उस अज्ञात युवक को याद करते ही उदास हो जाया करती है जिसने विवाह से ज़रा पहले मूसलाधार बारिश के एक दिन उसे अपना छाता दे दिया था, जिसे वह पांच साल तक न लौटा सकी थी। पांच साल बाद ननिहाल जाकर उसे पता चलता है कि वह युवक हर बारिश के दिन बिना नागा बिजली के खंभे के नीचे उसकी प्रतीक्षा करता है। युवक का यह कहना कि उसे छाते की नहीं किसी और की चिन्ता थी, विमला के मन को कचोटता रहता है। विमला का पति कोंच-कोंचकर उसके इस रहस्य का पता लगाता है। कहानी में पुरुष की संदेहशीलता की ओर भी संकेत है और नारी मन की रहस्यमय तहों को खोलने की कोशिश भी, लेकिन यह कहानी कन्विन्सिंग न लगकर गढ़ी-गढ़ायी लगती है। निर्दोष कहानी में दिलचस्पी पैदा करने के लिए इसी प्रकार के तत्त्वों का साहरा लेते हैं।

दीपक कौल : 'उसने कहा था' की आवृत्ति

दीपक कौल ने कश्मीरी में 'उसने कहा था' के इतिहास को एक तरह दोहराने की कोशिश की है। कहानी लेखन उन्होंने १९६० से पूर्व ही शुरू किया था और १९६०-'७० के दशक में वे कुछ काल तक मंच पर उपस्थित होकर सहसा चले गये। यद्यपि उनका एक संग्रह 'श्यामरुन' प्रकाशित हुआ बताया जाता है पर उनकी ख्याति का आधार 'सफर त् सप्त्य वा'ल्य' (सफर और सफर के साथी) कहानी ही है, जिसमें मानवीय संबंधों के अर्थाश्रित स्वरूप को संवेदनापूर्ण ढंग से चित्रित किया गला है। अपनों के बेगानेपन और बेगानों के अपनेपन की एक मार्मिक स्थिति को लेकर रची गयी यह कहानी आदमी के अनिवार्य अकेलेपन के दर्द को उजागर करती है। 'कुन मुसा'फिर' (अकेला मुसाफिर) 'छांफ' (छाया-भास) उनकी अन्य उल्लेखनीय कहानियां हैं। डॉ० रत्नलाल शांत ने दीपक कौल की कहानियों में उमेश कौल की भाषा के संकेतात्मक मुहावरे को लक्षित किया है।[५] लेकिन दीपक कौल की भाषा उमेश की भाषा से बिल्कुल अलग, अपनी एक विशिष्टता लिये हुए है।

शंकर रैणा : मृत्युबोध का संवेदनशील कथाकार

डॉ० शंकर रैणा इसी दशक में कश्मीरी कहानी के एक अत्यन्त संभावनापूर्ण हस्ताक्षर के रूप में बहुत तेज़ी से उभरे। उनकी कहानियों में प्रायः मृत्यु के गहरे संत्रास का बोध उभरता है। अस्पताल के उदास वातावरण में यंत्रणाएं झेलते हुए अपने पात्रों में शंकर ने मृत्यु के आतंक से मोहग्रस्त मनुष्य की जिजीविषा को व्यापक मानवीय संवेदना की परिधि में प्रस्तुत किया है। ये पात्र शारीरिक स्तर पर जितने अपंग और असहाय होते हैं, मानसिक स्तर पर उतने ही सक्रिय और भावुक। मृत्यु और जीवन के छाया-प्रकाश में रची गई उनकी कहानियां पीड़ा-बोध के मध्य से सौन्दर्य-संवेदना को उजागर करती हैं। कहीं-कहीं कहानीकार पीड़ा को आदर्शीकृत भी करता हुआ प्रतीत होता है, और कहीं-कहीं तो उसे मॉरबिडिटी की सीमा तक खींचता है।

शंकर स्वयं डॉक्टर थे, रोग में छटपटा रहे आदमी की तकलीफ को उन्होंने निकटता से देखा था और उसे ही अपनी कहानियों की विषयभूमि बनाया। लेकिन भावुकता और रोमानियत के अतिरेक में मनुष्य के जीवन को अर्थ देने की उनकी तड़प बिखर जाती है और उनकी दृष्टि स्थिति की गहराइयों को समेट न पाकर सतह के सत्य को ही छू पाती है।

'ज़ितनि ज़ूल' (किरण दीप्ति) उनकी कहानियों का एकमात्र संग्रह है। इस संग्रह के प्रकाशन के बाद भी शंकर ने अनेक कहानियां लिखीं, पर १९७६ में

असमय मृत्यु ने मृत्युबोध के इस संवेदनशील कथाकार को अपनी संभावनाओं को उपलब्धि के शिखर तक पहुंचाने न दिया। 'वो' न्य कहंज़ू वा'यं' (अब किसकी वारी है), 'अख पज़्ल त् कें'ह इन्सान" (एक पहेली और कुछ इन्सान) और हो'छ् मूच् या'र (सूखा हुआ चीड़) उनकी श्रेष्ठतम कहानियों में गिनी जाती हैं। 'हापुथ' (रीछ) उनकी एक अन्य उल्लेखनीय कहानी है, जिसमें नारी के माँसल सौंदर्य की कामोद्दीपक उष्ण गन्ध है।

समसामयिक यथार्थ से जुड़े रहने के स्थान पर शंकर प्रायः अस्तित्व के शाश्वत सवालों को उठाते हैं। रोमानियत उन पर इस कदर हावी है कि उनकी भाषा भी वेहद काव्यमय और भावुकतापूर्ण हो गयी है। फूल-पत्तीदर भाषा और बिम्ब-रचना की प्रवृत्ति उनके काव्य-शिल्प के अनिवार्य तत्त्व हैं।

संवेदना और शिल्प के नये धरातल

१९६०-७० के दशक के उत्तरार्द्ध में ही इस बात को लक्षित किया जाने लगा था कि कश्मीरी कहानी का स्वरूप परिवर्तित हो रहा है और वह पुरानी हदों को तोड़कर एक नये धरातल का स्पर्श कर रही है।

लीक तोड़ने की अकुलाहट और जीवन के नये संदर्भों की रचनात्मक खोज १९६७ से कुछ पहले से ही कहानीकारों को प्रेरित कर रही थी। पर एक नयी कथा-प्रवृत्ति का स्पष्ट आभास १९६७ में "शीराज़ा" के कहानी विशेषांक के प्रकाशन के बाद से ही हुआ। इस विशेषांक में प्रकाशित कहानियों ने सबसे पहले यह संकेत दिया कि कश्मीरी कहानीकार की दृष्टि और संवेदना में, कहानी सम्बन्धी उसकी परिकल्पना में एक मौलिक अंतर आया है जो विषयभूमि, एप्रोच, निर्वाह, संवेदना और शिल्प के स्तर पर व्यक्त होने लगा है। नयी और पुरानी कहानी के अलगाव का एक महत्त्वपूर्ण बिन्दु यह था कि व्यक्ति-चरित्र के किसी विलक्षण पक्ष के उद्घाटन के स्थान पर अब परिस्थितियों के गहरे परिप्रेक्ष्य में आज के मनुष्य की समस्याओं और उसकी संवेदनात्मक प्रतिक्रियाओं को प्रस्तुत किया जाने लगा। पहले की कहानी के केन्द्र में, जैसा कि डॉ० रत्नलाल शांत ने 'शीराज़ा' के ही १९७४ में प्रकाशित एक अन्य कहानी विशेषांक में अपने एक महत्त्वपूर्ण लेख "कश्मीरी कहानी का आज और कल" में लिखा है, अन्ततः कोई न कोई चरित्र स्वभाव या आचरण की दृष्टि से तनिक भिन्न, तनिक अजीब या विलक्षण हुआ करता था।[६] इसी चरित्र के इर्द-गिर्द अन्य पात्रों और घटनाओं का संयोजन इस प्रकार से किया जाता था कि धीरे-धीरे कहानी चरम सीमा के किसी नाटकीय बिन्दु पर पहुंचकर अप्रत्याशित रूप से समाप्त हो जाती थी। पुरानी कहानी में संयम की कमी थी और चमत्कार की प्रमुखता, पर अब कश्मीरी कहानी के वयस्क होने के चिह्न प्रकट हो रहे थे और वह व्यक्ति-चरित्र की विलक्षणता के

चित्रों के स्थान पर मानवीय स्थिति के संदर्भों को पूरी प्रामाणिकता से उभारने के लिए आग्रहशील दिखाई देने लगी। अपने जीवनानुभवों से सम्बन्धित जटिल यथार्थ के अनेक स्तरों को उद्घाटित करने के लिए कहानीकार शिल्प की दिशा में भी सार्थक प्रयोग करने को उन्मुख हुए। आधुनिक जीवन की असंगति और असामंजस्य को रूपायित करने के लिए कहानी के कटे-छंटे शिल्प और बंधे-बंधाये ढांचे की अपूर्णता का उन्हें तीव्र अहसास हुआ। एक परिवर्तित कथा-चेतना और शिल्प-दृष्टि का उन्मेष १९६०-७० के दशक के अंतिम वर्षों में कहानीकारों की एक नयी पीढ़ी में प्रकट हुआ जिसमें हृदय कौल भारती, हरिकृष्ण कौल, रत्नलाल शांत और फारूक मसूदी के लेखन को विशेष रूप से उल्लेखनीय माना जा सकता है।

इस पीढ़ी के कहानीकारों ने जिस नवीनता का परिचय दिया उसका एक एतिहासिक संदर्भ तो था ही, पर केवल समय के धरातल पर ही उनकी कहानी नयी न थी। उसमें नयी संवेदनाएं और नयी संभावनाएं थी, जिनका संकेत 'शीराज़ा' के पूर्वोक्त कहानी विशेषांक में प्रकाशित 'ताप' (हरिकृष्ण कौल) 'छायि गित्य' (रत्नलाल शांत) और 'स्यठा मोमूली' (फारूक मसूदी) जैसी कहानियों ने दिया। इससे पहले ही हृदयकौल भारती 'मिलि हुन्द दूह आबनूसुक रूलर तॖ जिगरॖच्य मिश' (मिल का धुंआ) में कथ्य और शिल्प के स्तर पर रचनात्मकता के एक परिवर्तित धरातल का परिचय दे चुके थे। कुछ पुराने कहानीकार भी, जैसे अख्तर मुहीउद्दीन नये बोध के साथ जुड़े और 'गहे ताप गहे शिहुल' (कभी धूप कभी छाया) जैसी कहानियां शिल्प की एक नयी भंगिमा को प्रस्तुत करती हुई रची गयीं। इस कहानी में शब्दों के अर्थ की मृत्यु की अनुभूति स्थिति पर निर्भर न होकर पात्र के वक्तव्य पर निर्भर है। लेकिन कुछ कहानीकारों की संवेदनाएं इतनी जड़ीभूत हो चुकी थी कि वे नये युग में भी पुरानी फार्मूलाबद्ध कहानी से चिपके रहे।

१९७०-८० का दशक : समकालीन कहानी की दिशाएं

१९६७ में सतह पर आयी यह नयी रचना-प्रवृत्ति १९७०-८० के दशक में और भी बलवती और गत्यात्मक होती हुई दिखाई दीं। आज के जीवन को अपनी सम्पूर्ण विविधता में रूपायित करने के लिए इस दशक के कहानीकार ने अभिव्यक्ति के सही कोण की तलाश करते हुए शिल्प के क्षेत्र में नये प्रयोग किये। यह शिल्प-प्रयोग उस नये कथ्य की अभ्यान्तर मांग का परिणाम थे, जिसके संप्रेषण के लिए कहानी के पूर्व-निश्चित चौखटे छोटे पड़ते थे। शिल्पगत नवीनता को अपनाने की इस प्रक्रिया में कथा-तत्त्व अथवा कहानीपन का ही निषेध करके कहानी-इतर साहित्य-रूपों से नये तत्त्व ग्रहण किये गये। कहीं-कहीं इन साहित्य-रूपों ने कहानी की सीमाओं का इतना अतिक्रमण किया कि उन्हें अलगाना मुश्किल हो गया। इस

तरह संवेदनशीलता के विकसित स्तर को वहन करने के लिए कलात्मक विधाओं के विनिमय की एक प्रक्रिया शुरू हुई जिसने कहानी के पूरे रूप को ही बदल डाला। सन् '७०-८० के दशक की कश्मीरी कहानी में, जिसने १९६७ में ही आकार लेना शुरू किया था, कथानक की पारम्परिक धारणा एकदम बदल गयी। काल-क्रम के अनुसार घटनाओं के संकलन के स्थान पर कोई भी एक घटनास्थिति या प्रसंग जो अपने में अर्थपूर्ण हो अब कथानक का पर्याय बन गया। कथानक वस्तुत: इतना सूक्ष्म हो गया कि उसके अस्तित्व पर भी संदेह होने लगा। केवल परस्पर असंबद्ध और उलझे हुए घटना-सूत्रों द्वारा कहानीकार जीवन के टुकड़ों को अथवा अनुभव-खण्डों को नये रूपाकार देकर अपने रचनात्मक लक्ष्य की पूर्ति करता रहा। वास्तविकता के अधिक से अधिक स्तरों को उभारने की कोशिश में समकालीन कश्मीरी कहानी ने सांकेतिकता और प्रतीकात्मकता का विशेष रूप से सहारा लिया। इस दौर की कश्मीरी कहानी वस्तुत: इस बात में विशिष्ट है कि उसका रूपगठन ही सांकेतिक हो गया है। कहानीकार का अभिप्रेत या कथ्य पहले की कहानियों की तरह अन्त में जाकर स्पष्ट नहीं होता, अपितु उसकी बुनावट में ही आद्यांत विद्यमान रहता है। सतह से गहरी वास्तविकता के अन्वेषण के लिए अथवा स्थिति और कथ्य के गहन पक्षों को उजागर करने के प्रयोजन से प्रतीकों का उपयोग नयी कश्मीरी कहानी की एक और रचनात्मक विशेषता मानी जा सकती है। लेकिन प्रतीकों को कुछ कहानीकारों ने माध्यम नहीं साध्य मान लिया और रूढ़ि की सीमा तक खींचा, जिससे उनकी कहानियां कहानियां न रह कर रूपक बन गयीं।

वास्तविकता को उसकी समग्रता में संकेतित करने के स्थान पर अनेक कहानियों में तो प्रतीकों के लिये स्थितियां गढ़ी गयी प्रतीत होती हैं। अत: प्रतीक कहानी की संरचनात्मक अनिवार्यता न होकर आरोपित होने का आभास देने लगे। भाव-संवेदन के लिए प्रतीक के साथ-साथ बिम्ब की चाक्षुष भाषा का प्रयोग भी आज की कश्मीरी कहानी में हुआ, लेकिन यह प्रयोग सब कहीं अर्थपूर्ण है—ऐसा नहीं कहा जा सकता। कभी-कभी तो कहानीकारों ने बिम्ब-विधान के उपयोग द्वारा कथ्य की विशिष्टता को रेखांकित करने के स्थान पर उसे धुंधला ही किया है।

हृदय कौल भारती : नयी शिल्प-चेतना

समकालीन कश्मीरी कहानी की ये कुछ दिशाएं है। इस कहानी की विशिष्टता और नयापन शिल्प और कथ्य दोनों स्तरों पर समान्तर विकसित हुआ है। नये कथ्य के सामने पुराने शिल्प की असमर्थता का तीव्र बोध जिन कहानिकारों को हुआ उनमें हृदय कौल भारती को सबसे पहले लिया जा सकता है। भारती सन् '६०-७० के दशक में ही 'तें̆ह' (ऐंठ) और 'शिकस्त' जैसी कहानियां लिखकर कश्मीरी

कहानी के एक समर्थ रचनाकार के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे। 'आवनूसुक रूलर जिगर्‌च मिश त्‌ मिलि हुन्द द्‌ह' (मिल का धुआं) कहानी में, जैसे पहले कहा जा चुका है, नयी संवेदना-दृष्टि और शिल्प-चेतना का परिचय देते हुए उन्होंने अपनी सृजनात्मकता का ऐसा आयाम प्रस्तुत किया जो आगे चलकर और अधिक स्पष्टता से विकसित हुआ। मिल के भोंपू की आवाज़ को महानगरीय परिवेश की यांत्रिकता का प्रतीक बनाकर उसकी जकड़ में छटपटाते व्यक्ति के दर्द को इस कहानी में हरीश के माध्यम से व्यंजित किया गया है। कहानीकार ने हरीश के दृष्टि-बिन्दु को अपना कर श्यामांगी मद्रासी लड़की की सुन्दरता और मिल के धुएं और भोंपू की आवाज़ के बीच उसकी तनावपूर्ण मनस्थिति को उभारा है, चित्रित नहीं किया—यह बात इस कहानी को पूर्ववर्ती कहानियों से अलग करती है। अपनी कथायात्रा के इस मोड़ से भारती आज बहुत आगे निकल गये हैं और आधुनिक जीवन से सम्बद्ध भय, संशय, अनास्था, संत्रास और निराशा के संदर्भों को शिल्प के नये प्रयोगों में समेटने की कोशिश कर रहे हैं। उनकी कहानियों में घटनाएं और चरित्र अलग अस्तित्व न रखकर क्षण के यथार्थ की अनुभूति में विन्यस्त नज़र आते हैं। वस्तुतः यथार्थ उनके लिए बाहरी घटना मात्र न होकर एक आंतरिक स्थिति है जिसके अनेक बिम्बों में वे व्यक्ति की अपने आप से पहचान कराते हैं।

वस्तु-संघटन भारती की कहानियों में इतना विघटित स्वरूप लिए हुए है कि वह रूढ़ अर्थों में कहानियां न रहकर अनुभूति-चित्र बन जाती हैं। मसलन उनकी कहानी 'हमज़ाद' (सहजात) में खिड़की के शीशे में ठूंगे मारते हुए कबूतर और बस स्टैण्ड पर बस की प्रतीक्षा में खड़े केन्द्रीय पात्र—कहानी के 'मैं'—के माध्यम से व्यक्तित्व को तोड़कर सपाट बनाने वाले परिवेश में आज के आदमी की मन-स्थिति उजागर हुई है। चौरस्ते पर चल रही भीड़ में इस पात्र का खो जाना व्यक्तित्व के विघटन के खौफनाक सत्य को प्रस्तुत करता है।

'अनि्‌ट्‌चि टोपाज़ खंज्य्‌'(अंधेरे के पुखराज के टुकड़े) में बिम्ब-रचना का एक सजग प्रयास दृष्टिगोचर होता है। बिखरे बिम्बों के माध्यम से कथ्य को उभारने का प्रयत्न इस कहानी की एक विशेषता है। लेकिन भारती में कहीं-कहीं बिम्ब और प्रतीक का प्रयोग एक मैनरिज़्म-सा लगता है और कहानी अमूर्तन में उलझ-कर रह जाती है, जैसे 'वक्त्‌किस चौखाटस मंज़' (वक्त के चौखटे में) में जिसमें छोटी कहानी के शिल्प का प्रयोग किया गया है। कथा-तत्त्व का निषेध इस और कुछ अन्य कहानियों में इस हद तक मिलता है कि कोई घटना-सूत्र हाथ नहीं आता और कहानी एक निबन्ध-सी लगती है, जिसमें प्रमुखता वक्तव्य की होती है। "म्ये छुपें डोरायि हुन्द इन्तिज़ार".(मुझे पैंडोरा की प्रतीक्षा है) एक ऐसी ही छोटी कहानी है जिसकी केन्द्रीय भावस्थिति मॉरबिडिटी की है। 'सिरिय रो'स पगाह' (सूर्यविहीन कल) में घटना-स्थितियों और शब्द-संरचना के स्तर पर प्रतीकीकरण

का उपयोग है, जिससे कहानी अन्योक्ति या रूपक-सी हो गयी है। डाकिये का सूरज के न उगने के बारे में तार लेकर आना, उसकी पशु की-सी सख्त चमड़ी, रोयेंदार जिस्म और बन्दर की-सी चीखें तथा अन्ततः केन्द्रीय पात्र की यही स्थिति होना—इस सबके द्वारा लेखक जो संकेत करना चाहता है, वह पहले से ही सुस्पष्ट है। इस कहानी में लेखक ने यह कहने की कोशिश की है कि मानव व्यक्ति की विशिष्टता उसके स्वतंत्र विवेक और विचार-शक्ति में है और इनके छिन जाने पर वह बन्दर-सा चीखने वाले एक रोयेंदार जानवर के अतिरिक्त और कुछ नहीं। 'चक्रव्यूह' भारती की एक और बहुचर्चित कहानी है जो आधुनिक यथार्थ को उस षड्यन्त्र के रूप में प्रस्तुत करती है जिसमें आज का आदमी फंसा है। क्षण की चेतना से बन्धे यथार्थ को उद्घाटित करने का आग्रह भारती को क्षणवाद की हदों तक ले जाता है।

आत्मसाक्षात्कार अथवा व्यक्ति द्वारा स्थितियों और सम्बन्धों के दर्पण में अपने-आपको पहचानने के प्रयत्न को, जिसे कुछ समकालीन कश्मीरी कहानीकार अपनी कहानियों के केन्द्र में रख रहे हैं, भारती भी रेखांकित करते हैं। 'द्वन आ'नन मंज़बाग' (दो आईनों के बीच) उनकी एक ऐसी ही कहानी है जिसमें दर्पण में पड़ रहे प्रतिबिम्बों में नैरेटर को अपने ही प्रतिरूप नजर आते हैं। 'आ'खिरी सवक़' शीर्षक कहानी में भी आत्मसाक्षात्कार की प्रवृत्ति है, लेकिन बिच्छू का प्रतीक अत्यन्त स्पष्ट है जिसके कारण सांकेतिकता फीकी पड़ जाती है। कहानी के अन्त में "बाहर-भीतर का कांच" टूटने और उसकी किरचें चुभने की अनुभूति है, जो कांच के भीतर बन्द बिच्छू के रूप में असलियत को पहचानने का परिणाम है।

मानवीय सम्बन्धों को लेकर भी भारती ने इधर कुछ कहानियां लिखीं हैं जिनमें 'वहशी' और 'द्वन अथन हुन्द अफसान' (दो हाथों की दास्तां) उल्लेखनीय हैं। 'वहशी' में स्त्री-पुरुष के शारीरिक सम्बन्धों की "वास्तविकता" पर फोकस है। 'दो हाथों की दास्तां' भारती की शीर्षस्थ कहानियों में गिनी जा सकती है। इसमें मां और बेटे, और उनके माध्यम से दो पीढ़ियों के रिश्तों का अत्यन्त संवेदनापूर्ण अंकन सांकेतिकता के एक सूक्ष्म स्तर पर हुआ है।

भारती की कहानियां प्रायः मानवीय सम्बन्धों से अधिक मानवीय नियति के सवालों से जुड़ी हैं। लेकिन समकालीन आदमी को संत्रस्त करने वाले जिस संकट की ओर वे इशारा करती हैं वह कभी-कभी आरोपित और अवास्तविक लगता है। ये कहानियां सामाजिक संदर्भ से सामान्यतया असम्पृक्त और कटी-कटी हैं। एक तरह से वे अपने परिवेश का आप निर्माण करती हैं जो मनुष्य की भीतर की दुनिया से ताल्लुक रखता है और भयावह और आतंकपूर्ण होता है।

हरिकृष्ण कौल : विकसित परिवेश-बोध

हरिकृष्ण कौल(१९३४-)'ताप'(धूप)कहानी को लेकर १९६६में हिन्दी से कश्मीरी में आये और एक विशिष्ट कहानीकार के रूप में प्रतिष्ठित हुए। नयी कथा-दृष्टि और कला-चेतना से युक्त उनकी कहानियों में समसामयिक मनुष्य के जीवित यथार्थ को सामाजिक परिस्थितियों के वास्तविक परिदृश्य में देखा जा सकता है। हरिकृष्ण कौल में आधुनिक संवेदना व्यापक और गहरी परिवेश चेतना से सम्बद्ध है। पश्चिमी साहित्य से आयातित संत्रासपूर्ण स्थितियों के स्थान पर व्यक्ति और उसके परिवेश की संगति अथवा तनाव का बोध उनकी कहानियों में अनेक स्तरों पर उभरता है। यह परिवेश आर्थिक वैषम्य और सामाजिक विसंगतियों को झेल रहे उस मध्यवर्ग का परिवेश है जो एक विकट संकट से गुज़र रहा है। एक ज़लील ज़िन्दगी जीने को लाचार और चारों ओर व्याप्त झूठ, भ्रष्टाचार और दायित्व-हीनता के सामने अपने को असमर्थ पाने वाले मध्यवर्गीय व्यक्ति की पीड़ा उनकी कहानियों में मूर्त्त हुई है। कहानीकार वर्तमान व्यवस्था की उन विद्रूपताओं और बेहयाइयों को उघाड़ता है जिसने समकालीन जीवन को घुटन और तल्खियों से भर दिया है। कश्मीरी कहानियों के अपने प्रथम संग्रह 'पत् लारान परबथ' में उन्होंने अपनी कहानी को परिवेश के दबावों और तनावों की निर्मित के रूप में प्रस्तुत करते हुए लिखा है, "मैंने लव-कुश और भरत जैसे बालकों की कथाएं पढ़ी हैं। उन बच्चों की कहानियां भी सुनी है जिन्होंने मां के लिये अपने बाप से लड़ा और उसे पराजित किया। लेकिन जो मुझ पर बीती है उसके लिये मेरी कहानियां मेरे परिवेश से लड़ नहीं सकतीं। वे उसे संभाल या सुधार नहीं सकतीं। उन्हें उसे रास्ते पर लाना या बदलना नहीं आयेगा—मुझे उनसे यह उम्मीद भी नहीं। जिस परिवेश में समय का संक्रमण भी क्रान्ति न ला सका उसमें मेरी मासूम कहानियां क्या क्रान्ति लायेंगी। लेकिन फिर भी मुझे अपनी कहानियां प्रिय हैं क्योंकि मेरे अर्थहीन जीवन को इन्होंने अर्थ दिया और यही क्या कुछ कम है।"[७]

परिवेश-जनित यथार्थ से उत्पन्न कौल की कहानियां केवल उनके व्यक्तिगत जीवन को ही अर्थ नहीं देतीं कश्मीरी कहानी के रचनात्मक अर्थों का भी विस्तार करती हैं। आधुनिक यथार्थ के जटिल और विसंगत रूप को सम्प्रेषित करना कहानी के परम्परागत शिल्प द्वारा संभव न था, अतः हरिकृष्ण कौल ने कथ्य के आभ्यंतर दबावों को महसूस करते हुए कहानी-शिल्प के क्षेत्र में नये और सार्थक प्रयोग किये। इस प्रक्रिया में उन्होंने कहानी को इतना अमूर्त्त अथवा प्रतीक-निर्भर भी न बनाया कि अर्थहीन अस्पष्टता के अलावा कुछ भी हाथ न आये, और न अन्य विधाओं से विभिन्न तत्त्वों का इस सीमा तक विनिमय किया कि कहानी कहानी ही न रहे। वास्तविकता के अनेक स्तरों को उभारने के लिये

उन्होंने कार्य-कारणबद्ध कथानक के रूप को तोड़ा और घटनाओं के कालक्रमानुसार किये गये नियोजन को अस्वीकृत किया। कथानक चरित्रांकन, घटना, निर्वाह परिवेश-चित्रण अपना पृथक् अस्तित्व न रखते हुए कहानीकार के अनुभव से एक आभ्यन्तर सम्बन्ध में बद्ध हो गये और उनकी समवेत अनुगूंज के रूप में कहानी का अन्तःस्वर उभरा।

परिवेश से गुंथे हुए जीवन-खण्डों को प्रस्तुत करते हुए कौल ने कभी चेखव के-से संयम का परिचय देते हुए छोटी-छोटीं अनुभूतियों के माध्यम से वास्तव के व्यापकतर संदर्भों को उजागर किया तो कभी कांफ्का की भांति फंतासी का प्रयोग करके सतह के यथार्थ से गहरी सच्चाइयों का संकेत दिया। "वह" के माध्यम से "मैं" के अनुभव-लोक में उतरने के साथ-साथ "मैं" के आत्मीय दृष्टि-बिन्दु से "वह" की समस्याओं को समझने और प्रस्तुत करने के लिये उन्होंने "ओवर हेयरिंग" की तकनीक का भी खूब प्रयोग किया है।

हरिकृष्ण कौल की 'ताप' कहानी का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है जिसके द्वारा उन्होंने कश्मीरी कहानी के रचना-जगत पर अपनी पहली छाप छोड़ी। इस कहानी में दिल्ली के वातावरण में अपने सम्पन्न बड़े पुत्र के परिवार के बीच एक बुढ़िया के अजनबीपन और असामंजस्य की अनुभूति को संकेतित किया गया है। अजनबीपन के साथ-साथ बुढ़िया मन में आर्थिक अभावों से ग्रस्त अपने दूसरे पुत्र की मजबूरियों की कचोट महसूस करती है। 'दह आन् शें आन्' (बन्दर बांट) कहानी में उन्होंने उस परिवेश की क्षुद्रता और विद्रूपता को उघाड़ा है जिसमें यह स्पष्ट नहीं होता कि चोर कौन है—चोरी करने वाला व्यक्ति या खुद पुलिस? या वह व्यवस्था जो इन्हें बन्दर बांट के लिये पूरा अवसर प्रदान करती है? या फिर वह व्यक्ति जो स्थिति के साथ समझौता करके भी सम्भ्रांत और सम्माननीय बना रहता है? 'कर्फ्यू' शीर्षक कहानी में पीढ़ियों के द्वन्द्व का संदर्भ है। कहानी में पूर्ववर्ती पीढ़ी की गल्तियों के जाल में फंसी युवा पीढ़ी की विवशता अंकित है। जो न बीते कल को बदल सकती है न आने वाले कल को। 'अख सा'ब त् व्याख सा'ब' (यह साहब वह साहब) कहानी में वर्तमान राजनीति के घिनौने रूप को अनावृत किया गया है। इसमें दो तथाकथित प्रतिद्वन्द्वी राजनीतिक नेताओं के चेहरों से सहसा मुखौटे छीनकर उनके वर्गीय स्वभाव और कुत्सित स्वार्थों की वास्तविकता को एक तीखे व्यंग्य द्वारा छीला गया है। 'पगाह' (कल) हरिकृष्ण कौल की एक शीर्षस्थ कथाकृति है जिसमें दो स्कूली लड़कों के लिये समय का प्रवाह रुक जाता है और उनके माध्यम से समूची व्यवस्था की विसंगति और विद्रूपता का परिदृश्य उद्घाटित होता है। फंतासी के शिल्प का सार्थक प्रयोग इस कहानी की एक विशिष्टता है जो 'पत् लारान परबथ' (पीछा करता हुआ पर्वत) में भी उपलब्ध होती है। समय की क्रमबद्धता को तोड़कर इन दोनों

कहानियों में जीवन-वास्तव के अछूते पक्षों को प्रस्तुत किया गया है।

भाषा, संरचना और संवेदना के स्तर पर समकालीन जीवनानुभव को उद्घाटित करने की जिस क्षमता का परिचय कौल की कहानियों में मिलता है वह कश्मीरी कहानी की एक नयी दिशा की ओर संकेत करती है। 'शुमशान वा'राग' (अर्थी) एक ऐसी ही विशिष्ट कथाकृति है जो कहानीकार की रचनाशीलता के उत्कर्ष-बिन्दु का पता देती है। कहानी में मां की अर्थी को ले जाते हुए क्रिकेट कमेंट्री सुनने वाले पेड़्रो की आंतरिक वीरानगी और अकेलेपन को अन्त में जाकर उभारा गया है और उसके माध्यम से मानवीय सम्बन्धों के जुड़ाव और आत्मीयता का संवेदनापूर्ण संकेत है। कौल की कहानियों की विशिष्टता का एक पक्ष है वास्तव को सम्प्रेष्य बनाने के लिये पारदर्शी और कहीं-कहीं नंगी भाषा का प्रयोग जो इस कहानी में हुआ है।

'हालस छु रोतुल' (अभी तो रात है), 'अख उरियाँ कथ' (एक नंगी कहानी), 'राग-वा'राग'; 'सु किकर कुल' (कीकर का पेड़), 'ला'ल मजनूँ क़ स़' (लैला मंजनू का किस्सा), 'स्ऱ'न्य खेल' (सूक्ष्म खेल), आदि कहानियां हरिकृष्ण कौल की कथायात्रा की एक नयी मंज़िल को सूचित करती हैं। इन कहानियों में समाज-संलग्नता का मूल-स्वर तो है ही, रचनात्मकता के नये स्तर भी नज़र आते हैं। 'हालस छु रोतुल' में चट्टानों के खिसक जाने से बानहाल के करीब रुकी हुई एक बस के यात्रियों को सुबह के इंतिज़ार में दिखलाया गया है। स्वामीजी के लिये अन्धेरी रात एक माया है, जिसका सुबह होते ही अस्तित्व नहीं रहेगा, लेकिन नैरेटर के लिए रात और उसका अंधेरा और एक रुकी हुई यात्रा, एक सत्य है। 'अख उरियाँ कथ' में फंतासी की तकनीक का प्रयोग है। बिना पतलून पहने केवल जांघिये में क्लास-रूम में आये लेक्चरर को निमित्त बनाकर कहानीकार समूची व्यवस्था के नंगेपन और बेहयाइयों को उघाड़कर रख देता है। 'राग वा'राग' में पीढ़ियों का द्वन्द्व है। संगीतकार बाप अपने इंजीनियर बेटे की संगीत में गहरी रुचि को बर्दाश्त नहीं करता। दोनों के अहं की टकराहट द्वारा उत्पन्न स्थिति के बीच पूर्ववर्ती पीढ़ी द्वारा युवा पीढ़ी पर अपने आप को थोपने की मनोवृत्ति पर चोट की गयी है। 'सु किकर कुल' एक अत्यन्त सशक्त कहानी है जिसमें कालचेतना के संदर्भ में कुछ बहुमूल्य खो देने का दर्द उभरता है। कीकर का पेड़, जिसे कटवा दिया जाता है, वास्तविक होकर भी प्रतीकात्मक आयाम ग्रहण करता है। 'ला'ल मजनूं क़ स़' में शिक्षा-व्यवस्था पर तो व्यंग्य है ही, सामाजिक आवरण के ढोंग पर चोट है।

रत्नलाल शांत : विसंगत यथार्थ का उद्घाटन

हरिकृष्ण कौल के ही साथ हिन्दी से कश्मीरी में आने वाले कथालेखक हैं रत्नलाल

शांत (१९३८-) जिनकी समकालीन कश्मीरी कहानी के विकास में एक अपनी भूमिका रही है। १९६७ में 'शीराज़ा' के कहानी विशेषांक में 'छ़ायि गित्य' (परछाइयां) के प्रकाशन के बाद उन्होंने शीघ्र ही एक प्रमुख कहानीकार के रूप में अपना विशिष्ट स्थान बना लिया। रतनलाल शांत की कहानियां, जिनका पहला संग्रह 'अ'छिरवालन प्यठ कोँह' (बरौनियों पर पहाड़) १९७२ में प्रकाशित हुआ, विचार के नये धरातलों और जीवन के नये संदर्भों की खोज से प्रेरित हैं।

संश्लिष्ट और जटिल जीवन-स्थितियों को अपनी अनुभूति के माध्यम से पूरी प्रमाणिकता के साथ प्रस्तुत करने के आग्रह के कारण उनकी कहानियों का शिल्प भी संशिलष्ट रूप लिये हुए है। आज की वास्तविकता के आंतरिक स्तरों में पैठने के प्रयास में वस्तु और शिल्प की संश्लिष्टता का यह विकास शांत की रचनाधर्मी प्रवृत्ति का परिचायक है। उनकी संवेदनाओं का क्षेत्र गहन है और इस गहराई को उद्घाटित करने के लिए वे प्रायः साँकेतिकता का सहारा लेते हैं। संकेत उनकी कहानियों में स्थिति के भीतर से उभरता है, बल्कि कभी-कभी उनकी कहानी स्वयं संकेत बन जाती है और पाठक को अपने परिवेश और समस्याओं को एक नयी दृष्टि से देखने का अवसर देती है। 'छ़ायि गित्य' (परछाइयाँ) 'ग्वड्न्युक सबक' (पहला सबक) और 'रोशनदान' इसी प्रकार की कहानियां हैं। साँकेतिकता का विस्तार 'छ़ायि गित्य' को कविता के बहुत समीप ले जाता है। शांत की अन्य कहानियों को भी अर्थपूर्ण सांकेतिकता या कहें तो सांकेतिक अर्थवत्ता ने विशिष्टता प्रदान की है।

अमूर्त अनुभव को संप्रेषित करने अथवा मूर्त बनाने के लिए शांत ने बिम्बों का भी सहारा लिया है। बिम्बों के माध्यम से वे बाह्य घटनाओं के अर्थपूर्ण प्रयोग का भी सहारा लिया है। बिम्बों के माध्यम से वे बाह्य घटनाओं अथवा स्थितियों के पीछे छिपे हुए यथार्थ के अन्वेषण के लिए चेष्टावान रहते हैं। इस दृष्टि से शांत की कहानियों में प्रायः घटना से ज़्यादा घटना के अर्थ का महत्त्व है। उनकी शीर्षस्थ कहानी 'ठो'र' (अवरोध) इसका एक उदाहरण है। यहां आधुनिक जीवन का विसंगत यथार्थ स्वप्न में घटित परस्पर असंबद्ध घटनाओं की तरह उद्घाटित होता चलता है। इन घटनाओं को कहानीकार का अभिप्रेत अथवा कथ्य आभ्यंतर सूत्र से जोड़कर सार्थकता दे जाता है, जैसे काफ्का द्वारा प्रयुक्त फंतासी की तकनीक में। 'ठो'र' (अवरोध) कहानी में घटनाओं को बाह्य-स्थिति के यथातथ्य रूप में न लेकर उनकी आंतरिक संगति में समझा जा सकता है, और उनके माध्यम से आज की बास्तविकता के दूरगामी संदर्भों तक पहुंचा जा सकता है।

शांत की कहानियों में जिस व्यक्ति का बिम्ब उभरता है वह प्रायः लेखक के ही 'मैं' का प्रतिरूप होता है। यह व्यक्ति शहर के मध्य और निम्नमध्य वर्ग का प्रतिनिधि है जो बेवकूफी की हद तक सीधा-सादा है। वह चौराहे पर नंगा हो

जाता है, लेकिन शर्माता नहीं, बल्कि स्वयं तमाशबीनों में शामिल हो जाता है और अपने ऊपर हंसता है। वह किसी सुनहरे भविष्य को अपनी आंखों में नहीं पालता, बल्कि जिन्दगी की तलख हकीकतों को समझता और जीता है। कहीं-कहीं तो वह समाज से भी बेगाना दिखायी देता है और यंत्रणाओं का एक पूरा नरक झेलता हुआ चलता है। इस व्यक्ति के अनुभव का सच शांत की कहानियों का सच है।

परिवेश के तनाव में टूट रहे व्यक्ति ही नहीं परिवार के भीतर व्यक्ति और व्यक्ति की टकराहट को रतनलाल शांत की कहानियां उभारती हैं। 'पनुन-पनुन पगाह' (अपना-अपना कल) में संयुक्त परिवार के चरमराते ढांचे के अन्दर घुटती हुई नारी और आर्थिक दबावों से टूटते हुए पुरुष की व्यथा है। 'त्रिकूंजल' (त्रिकोण) कहानी स्त्री और पुरुष के सम्बन्धों के संक्रमण से उत्पन्न स्थिति को लेकर रची गयी है। इसमें पति और पत्नी के सम्बन्धो में दरार पड़ जाती है; दोनों अलग हो जाते हैं। लेकिन एक दूसरे को नये सिरे से पहचान कर और पारम्परिक सम्बन्धों के रूढ़ सांचे को तोड़कर वे मैत्री और पारस्परिक आदर के एक नये सम्बन्ध में एक दूसरे से जुड़ जाते हैं। इस विषय-भूमि को लेकर शांत ने जो कहानियां लिखी हैं उनकी सबसे बड़ी विशेषता भावुकता के स्थान पर एक नयी संवेदनशीलता है।

"आ'छिरवालन प्यठ कोह' (बरौनियों पर पहाड़) कथा संग्रह के बाद लिखी गयी शांत की कहानियां शिल्प और संरचना के स्तर पर किसी खास बदलाव की सूचना नहीं देतीं, पर समकालीन ज़िन्दगी के नये-नये पहलुओं को उजागर करने का प्रयत्न उन्हें विशिष्टता देता है। इन कहानियों में 'यख', 'वुन्युल' (भूचाल), 'रिपोर्ट छु म्येनिस चन्दस मंज़' (रिपोर्ट मेरी जेब में है), 'अख कागज़ ट्रं' (कागज़ों की ट्रे) 'तमाश॒ (तमाशा) ओर 'टिकट' उल्लेखनीय है। 'यख' में रेल दुर्घटना में कुचले गये नागराजन की मृत्यु द्वारा मानवीय सम्बन्धों के ठंडेपन के बीच केवल अपनी सुरक्षा के लिये चिन्तित लोगों के स्वार्थ और अमानवीयता को उजागर किया गया है। 'बुन्युल' (भूचाल) में भी अपनी सुरक्षा की खोल में दुबके और अपने लिये मामूली सुविधाएं जुटाने के लिये परेशान बुद्धिजीवियों की क्रांति-दोस्त ट्रक के चलने से हिलते मकान को भूचाल समझ बैठता है—जो काफी अर्थपूर्ण संकेत है। 'रिपोर्ट छु म्येनिस चन्दस मंज़' (रिपोर्ट मेरी जेब में है) एक अलग तरह की कहानी है जिससे अस्तित्ववादी जीवन-बोध झलकता है। मृत्यु के करीब पहुंचे कहानी के 'मैं' के लिए कालेज जानेवाली नवयौवना और थूक उगलते बूढ़े खूसट में कोई फर्क नहीं रह जाता। वह तटस्थ भाव से चेहरों के पीछे की वास्तविकता को पढ़ने की कोशिश करता है। 'अख कागज ट्रे' (कागज़ों की ट्रे) हमें लाल-फीतेशाही की काफ्काई दुनिया में ले जाती है जिसमें

फंसे आदमी के सामने सवाल यह है कि "साहब" कब कमरे से बाहर हो और चपरासी को पटाकर काग़ज भ्रष्ट क्लर्क के पास पहुंचाया जाए। 'तमाश॒' (तमाशा) में सिनेमाघर का एक सनकी मालिक कतार में टिकट खरीद रही भीड़ के लिए कभी एक गेट बन्द करवाता है तो कभी दूसरा। इस तरह भीड़ को बेचैन करके, दौड़ा कर और यथास्थिति में गतिशीलता का भ्रम पैदा करके वह उन्हें 'तमाशा' दिखाता है। कहानी में राजनीतिक नेतृत्व के वास्तविक स्वरूप और सामान्य व्यक्ति के प्रतिरोध की व्यर्थता की ओर इशारा है। टिकट' में उदासीन बाज़ार के बीच भाग रही उदासीन सवारियों से भरी बस में एक व्यक्ति को टिकट देने के लिये कंडक्टर से आग्रह करता दिखाया गया है। लेकिन उसके आग्रह और टिकट पाने के निश्चय से न तो स्थिति में कोई फर्क पड़ता है न व्यवस्था के बदलने की कोई संभावना उभरती है।

फारूक मसूदी : शिल्प वैचित्र्य

फारूक मसूदी (१९४७-) को नयी पीढ़ी के लेखकों में आधुनिक बोध का एक प्रतिनिधि कथाकार माना जाता है। आधुनिक जीवन के जटिल यथार्थ को कहानी में पकड़ने की कोशिश करते हुए मसूदी ने शिल्प पर आत्यंतिक बल दिया है, बल्कि कहा जा सकता है कि कहानी में नयेपन की प्रतिष्ठा को संवेदना और जीवन-बोध से अधिक शिल्प के नयेपन तक सीमित किया है। आधुनिक संवेदना बेशक उनकी कहानियों में झलकती हो और, शफी शौक के शब्दों में "आदमी को निरावरण प्रस्तुत करने की कोशिश भी।[८] उनका ध्यान शिल्पगत वैचित्र्य पर इस हद तक केन्द्रित है कि दृश्य उभर नहीं पाता। कथातत्त्व का निषेध तो उनमें है ही, घटना स्थिति, और पात्रों के अस्तित्व को भी वे कहीं-कहीं अनावश्यक समझते नज़र आते हैं। 'कोह काफस प्यठ परी जिन त॒ हीरो' (कोह काफ पर परी, जिन्न और हीरो) शीर्षक उनकी कहानी नायक की मृत्यु को लेकर ही लिखी गयी है। इस कहानी में लोक कथा के तत्त्वों का समावेश करके एक दोहरे शिल्प के प्रयोग द्वारा स्थिति को उभारने के कोशिश की गयी है। आज के जीवन में जो असम्बद्धता और जटिलता है उसको व्यंजित करने के लिये मस॒दी सांकेतिकता का सहारा तो लेते हैं, परन्तु इस प्रक्रिया में कहानी को काफी उलझावपूर्ण या पहेलीनुमा बना देते हैं। 'अलफतह,' 'शीन' (बर्फ), 'नोशलब', 'स्यठा मो'मूली' (बहुत मामूली) आदि उनकी कहानियों में हमारा ध्यान शिल्प की विचित्रता की ओर ही अधिक जाता है। शिल्प के इस उलझाव के कारण कभी-कभी यह लगता है कि मसूदी कोई गहरी बात कहने जा रहे हैं, पर सारी कहानी पढ़ लेने के बाद ऐसा कुछ हाथ नहीं आता। 'मन त॒ पवन' (मन और पवन), जिसे मसूदी की श्रेष्ठतम कहानियों में गिना जाता है, ऐसी ही एक कहानी है। फिल्म का-सा परितोष देनेवाली

इसकी चित्रात्मक तकनीक को सराहा गया है। परन्तु संभोग-सुख पर आधारित स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों की निकटता के अतिरिक्त इसमें कोई खास अनुभूति सम्प्रेषित नहीं होती।

समकालीन अनुभव के सचमुच निकट जाने का प्रयत्न फारूक मसूदी की कहानियों में नहीं। उनके बारे में अख्तर मुहीउद्दीन ने लिखा है कि "उन्हे ज़बान इस्तेमाल करने का सलीका है। उनकी कहानी पढ़ कर अगरचि कुल प्रभावशून्य होता है, लेकिन छोटे-छोटे बिम्ब आंखों के सामने तिर जाते हैं जो अक्सर बड़े घिनौने होते हैं।"[९]

नये कथाकार : आधुनिक लेखन की रूढ़ियां

फारूक मसूदी की ही भांति शिल्प पर आत्यन्तिक आग्रह नयी पीढ़ी के अन्य कहानीकारों का भी रहा है। इनमें बशीर अख्तर (१९४४-), गुलशन मजीद (१९४९-) शम्सुद्दीन शमीम (१९४९-),वगैरह शामिल हैं। कहानी के परम्परागत ढांचे अस्वीकार करते हुए उन्होंने जो प्रयोग किये है वे शिल्प चमत्कार द्वारा चौंकाने की प्रवृत्ति से अधिक प्रेरित लगते हैं। उदाहरण के तौर पर बशीर अख्तर की कहानी 'कें'ह पोज़ कें'ह स्नैप' (कुछ पोज़ कुछ स्नैप) को लिया जा सकता है जिसके फोटो कैमरा तकनीक की प्रायः चर्चा की जाती है।[१०] 'फिल्मी ट्रेलर', 'इरतिका' (विकास) आदि उनकी अन्य चर्चित कहानियों में भी नयेपनको शिल्प के स्तर पर भी ही प्रतिष्ठित करने का प्रयास है। गुलशन मजीद लोक-कथा के तत्त्वों तथा भाषा के कुछ लटकों-झटकों का प्रयोग करते हैं। शफी शौक के अनुसार "इबहाम (दुर्बोधता) गुलशन की कहानी का हुस्न है।"[११] 'सु' (वह), 'अफसान्' (अफसाना) और 'म्यानि खोफ्च्य कथ' (मेरे खौफ की कहानी) उनकी चर्चित कहानियों में से हैं। शम्सुद्दीन शम्स मूलतया अकेलेपन और उदासी से जुड़े रोमांटिक बोध के कहानीकार हैं। उनकी 'वछस तल मज़ार' (वक्ष तले का मज़ार) विशेष रूप से चर्चित हुई हैं। भाषा की काव्यमयता और प्रतीक तथा रूपक का अतिशय प्रयोग उनकी कहानी को उनके अन्य समकालीनों से अलग करता है। 'त्र्हयुम पहाड़'(तीसवां पहाड़) और 'ग्रख' (उबाल) उनकी अन्य चर्चित कहानियां हैं।

नयी पीढ़ी के कुछ और कहानीकार जो अपनी पहचान बनाने में कुछ कामयाब हो सके हैं, बशीर बशर, इकबाल फहीम, बशीर अहमद बशीर और रत्नलाल मुजू हैं। अधिकांश युवा कथाकार कथ्य के स्तर पर पश्चिम से आयातित साहित्य की आधुनिकवादी रूढ़ियों को दोहराते नज़र आते हैं। उनकी आधुनिक संवेदना बहुत हद तक ओढ़ी हुई और कृत्रिम प्रतीत होती हैं। समकालीन जीवन और परिवेश से जुड़े वास्तविक अनुभव के स्थान पर व्यक्तित्व के विघटन और व्यक्ति के "आत्म-साक्षात्कार" की रट इस बात की गवाही देती है।

संदर्भ-संकेत

१. सोन अदब— १९७६ (का'शिर ज़बान त॒ अदब का'शुर अफसान॒), पृ० २६२
२. शीराज़ा (उर्दू): खण्ड ११ — अंकर : मुआसिर कश्मीरी अफसाना और नयां शऊर : पृ० ११७
३. उपरोक्त : पृ० ११८
४. सोन अदब—१९७६ (का'शिर ज़बान त॒ अदब : कोशुर अफसान॒), पृ २८८
५. शीराज़ा (कश्मीरी), १९७४ का'शिर अफसानुक अज़ त॒ पगाह :
६. उपरोक्त
७. 'पत॒लारान परबथ' : म्यान्यन कथन हं॒ज़ कथ
८. का'शिर अदबुक तवारीख : पृ० २३०
९. शीराज़ा (उर्दू) : खण्ड ११, अंक २ : मुआसिर कश्मीर अफसाना और नया शऊर : पृ० १२४
१०. शीराज़ा (कश्मीरी) : खण्ड १९, अंक ६ (नवजवान नम्बर) : अज्युक का'शुर अफसान॒—बरकात निदा : पृ० ६७
११. का'शिर अदबुक तवारीख : पृ० २३२

: १४ :

कश्मीरी उपन्यास : एक परिदृश्य

कश्मीरी उपन्यास : स्थिति और परिस्थिति

गद्य-विधाओं में कश्मीरी साहित्य का सबसे अधिक पिछड़ा रूप शायद उपन्यास में देखा जा सकता है। कश्मीरी उपन्यास-लेखन का प्रथम प्रयास १९२३ में हुआ था, लेकिन तब से आज तक साठाधिक वर्षों की अवधि में एक दर्जन से भी कम उपन्यास इस भाषा में लिखे गये और प्रकाशित केवल सात हुए। इन गिनती के उपन्यासों में भी कुछ ऐसा नहीं कि दृष्टि परिमाण से हटकर प्रतिमान की ओर जाए, संभावना और उपलब्धि का आकलन करे। जीवन-यथार्थ की किसी गहरी समझ का परिचय ये उपन्यास नहीं देते, न मानवीय अनुभव के किसी व्यापक आयाम को उद्घाटित करने की कोई कोशिश इनमें मिलती है। वस्तु या संरचना के स्तर पर भी किसी सार्थक प्रयोग से ये साक्षात्कार नहीं कराते। इनमें से किसी भी कृति का अगर कोई महत्त्व है तो ऐतिहासिक और इसी दृष्टि से हम यहां इनकी चर्चा करने को बाध्य हैं।

उपन्यास के विकास के लिये कश्मीर में भी लगभग वैसी ही परिस्थितियाँ मौजूद थीं, जैसी देश के अन्य भाषा-क्षेत्रों में। अंग्रेज़ों का सीधा शासन न होने पर भी अंग्रेज़ी शिक्षा और पश्चिमी सभ्यता के सम्पर्क से यहां भी आधुनिक जागरण के चिह्न प्रकट हुए और यथार्थवादी दृष्टिकोण का विकास हुआ, लेकिन साहित्य में इसकी व्यंजना बहुत देर से हुई। १९४७ के बाद कश्मीरी कहानी द्रुत गति से विकसित हुई और यथार्थ के अनेक रूप और स्तर उसमें उभरे, लेकिन उपन्यास कश्मीरी लेखक के लिए मानो वर्जित क्षेत्र बना रहा। उपन्यास लेखन की ओर उसकी इस उदासीनता के कारण तलाशते हुए अवतार कृष्ण रहबर की नज़र प्रकाशन के साधनों के अभाव पर जाती है। उनके विचार से कविता-कहानी को तो पत्र-पत्रिकाओं और रेडियो के सहारे आगे आने का अवसर मिला, पर उपन्यास को अपने कलेवर के कारण यह सुविधा भी प्राप्त न हो सकी। कश्मीरी में जो भी पत्रिकाएं प्रकाशित हुईं, वे "आज हैं कल की कौन जाने" की स्थिति में

निकलती रहीं, अतः किस्तों में किसी औपन्यासिक कृति के प्रकाशन का जोखिम न उठा सकीं।[१] पर मूल बात यह नहीं है। कश्मीरी में इतनी कम संख्या में उपन्यास लिखे जाने का वास्तविक कारण, जैसा रहबर ने भी अनुभव किया है, पाठकों का अभाव है। कश्मीरी में पाठक हैं कहां जिनके लिये उपन्यास लिखे जाते? उपन्यास ही क्यों अन्य विधाओं में भी स्थिति इससे बहुत भिन्न नहीं। उनमें पाठकों का दायरा इतना सीमित है कि प्रायः लेखकों को ही एक-दूसरे की कृतियों के पाठक बनने को विवश होना पड़ता है। पर उपन्यास के लिये एक व्यापक पाठक समुदाय का अस्तित्व रचना की एक अनिवार्य शर्त है। कश्मीर का प्रबुद्ध पाठक वर्ग उपन्यास से जो कुछ प्राप्त करना चाहता है उर्दू, हिन्दी अथवा अंग्रेज़ी के माध्यम से पा लेता है।

कश्मीरी में उपन्यास की स्थिति के संदर्भ में दो-एक बातें कह देना प्रासंगिक होगा। उपन्यास की रचनात्मक मांगों के अनुरूप जीवन-यथार्थ के व्यापक और गहन पक्षों को उद्घाटित करने वाली भाषा का विकास कश्मीरी उपन्यास में अभी नहीं हो पाया है। घटना और आचरण का वर्णन-विवरण भर प्रस्तुत करने में समर्थ भाषा को सर्जनात्मक कहना कठिन है। इसी प्रकार शिल्प की दिशा में मौलिक और सार्थक प्रयोग उपन्यास के क्षेत्र की सही पहचान न होने के कारण कश्मीरी में नहीं हुए। कश्मीरी उपन्यास की स्थिति के बारे में यह सब कह देना इसलिये ज़रूरी हो जाता है कि संवेदना अथवा संरचना की दृष्टि से अन्य भारतीय भाषाओं के उपन्यास साहित्य की तुलना में उसकी परख करना सम्भव नहीं।

पहला उपन्यास : 'लीला'—नारी जीवन का चित्र

१९२३ में प्रो० श्रीकंठ तोषखानी (१८९५-१९८१) ने जब 'लीला' अथवा 'च़्रक़्फ्युर' नाम का लघु उपन्यास लिखा तो कश्मीरी में गद्य था ही नहीं। लाहौर से प्रकाशित त्रैमासिक 'बहारे कश्मीर' में इसकी कुल चार ही किस्तें छपी थीं कि पत्रिका का प्रकाशन बन्द हो गया। 'लीला' की रचना एक विशिष्ट उद्देश्य से प्रेरित थी, और यह उद्देश्य था कश्मीरी हिन्दू समाज में नारी की दयनीय स्थिति का उद्घाटन और शिक्षा पर इस स्थिति में परिवर्तन के एक महत्त्वपूर्ण उपाय के रूप में बल। प्रो० तोषखानी स्वयं उन दिनों स्त्रियों का पिछड़ापन दूर करके उन्हें सामाजिक अधिकार दिलाने के लिये एक कश्मीर-व्यापी आंदोलन का संचालन कर रहे थे और इस सिलसिले में स्त्री-शिक्षा के मसले को लेकर विशेष रूप से सक्रिय थे।

उपन्यास की कथा-नायिका लीला के माध्यम से लेखक ने समाज और परिवार के घुटनभरे वातावरण से मुक्ति के लिये कश्मीरी नारी की छटपटाहट को व्यक्त करने का प्रयास किया है। लीला उस युग की बदलती नारी का चित्र प्रस्तुत

करती है जिसके लिये शिक्षा व्यक्तित्व के विकास के लिये आवश्यक थी। पर इस कारण 'लीला' को केवल उपदेशात्मक उपन्यास लिखने का एक ऐतिहासिक प्रयोग भर कहना न्यायपूर्ण प्रतीत नहीं होता। 'लीला' कश्मीरी साहित्य की वह पहली कृति है जिसमें नारी की समस्या को पूरी संवेदना के साथ उभारने का प्रयत्न किया गया है। इस बात को भूलते हुए शफी शौक और नाज़ी मुनव्वर कश्मीरी साहित्य के अपने इतिहास में लिखते हैं : "...विचार का अधिक महत्त्व होने के कारण यह उपन्यास उपन्यास की बुनियादी शर्तों को पूरा नहीं करता। यथार्थवाद इसमें है, पर केवल इस सीमा तक कि इसके पात्र इस दुनिया के हैं, लेकिन उनका उठना-बैठना, जीना-जागना सभी कुछ उपन्यासकार की कल्पना के अधीन है।"[२] हम इससे सहमत होने की स्थिति में नहीं हैं। 'लीला' की एक खंडित पाण्डुलिपि ही आज उपलब्ध है, लेकिन उसके अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि लेखक ने उसमें अपने समय के प्रामाणिक यथार्थ को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। उसे उपन्यास शिल्प से बाहर की कृति मानने का भी हम कोई कारण नहीं देखते। 'लीला' में अनेक सीमाएं हैं, कमज़ोरियां हैं जो एक प्रारंभिक प्रयास में स्वाभाविक हैं, पर इसी नाते उसका विशेष ऐतिहासिक महत्त्व भी है।

ज़ात बुतराथ : एक अधूरा प्रयास

कश्मीरी में उपन्यास लेखन के दूसरे प्रयोग के लिए हमें १९४७ तक ठहरना पड़ता है, जब 'क्वंग पोश' पत्रिका में हबीब कामरान के उपन्यास 'ज़ात बुतराथ' (आदमी और धरती) की दो किस्तें प्रकाशित हुईं। कहा जाता है कि इसके बाद हबीब कामरान ने लिखना ही छोड़ दिया और उपन्यास के शेष भाग को नष्ट कर दिया। बहुत संभव है कि पूरा उपन्यास कभी लिखा ही न गया हो।

दोद-दग : सेक्स पर आत्यंतिक आग्रह

इसके दस वर्ष बाद १९५७ में अख्तर मुहीउद्दीन (जन्म १९२७) का लघु उपन्यास 'दोद-दग' (दुःख-दर्द) प्रकाशित हुआ। पुस्तकाकार छपने वाला यह कश्मीरी का पहला उपन्यास है। उन्हीं दिनों अख्तर मुहीउद्दीन एक कहानीकार के रूप में प्रतिष्ठित हुए थे और अपने कहानी-संग्रह 'सत संगर' पर साहित्य अकादेमी पुरस्कार प्राप्त कर चुके थे। संभवतः 'सत संगर' की सफलता ने ही उन्हें उपन्यास के क्षेत्र में भी प्रयोग करने को प्रेरित किया हो, पर 'दोद-दग', 'सत संगर' के-से रचनात्मक उत्कर्ष का परिचय नहीं देता।

'दोद-दग' फातिमा और राजा दो बहनों के "दुःख-दर्द" की कहानी है जो मां-बाप के बचपन में ही मर जाने के कारण मामा के यहां पली-बढ़ी हैं। पर इससे अधिक वह अब्दुल ग़नी की अतृप्त यौन-तृषा की कहानी है जो एक नम्दा व्यापारी

शम्सुद्दीन के यहां मुन्शी का काम करता है। फातिमा गुमसुम, उदास और अक्सर बीमार रहने वाली युवती है, जबकि उसकी छोटी बहन राजा इसके ठीक विपरीत चंचल, हंसमुख, चुलबुली और मिलनसार है। जीवन का रस लेने में उसका विश्वास है। फातिमा का विवाह शम्सुद्दीन के साथ होता है, जबकि राजा का चंचल सौन्दर्य और उन्मुक्त यौवन एक अधेड़ उम्र के व्यक्ति के साथ विवाह कर दिये जाने से व्यर्थ हो जाता है। उसकी आकर्षक और लुभावनी देह पर अब्दुल ग़नी, और स्वयं उपन्यासकार की, दृष्टि गड़ी है। सारा उपन्यास अब्दुल ग़नी की रंगीन आकांक्षाओं और राजा के प्रति उसके जैविक आकर्षण के गिर्द बुना गया है।

प्रो० जियालाल कौल के विचार में " 'दोद-दग' हमारी समाज-चेतना को गहराने वाला उपन्यास है जिसे पढ़ना एक सुखद यद्यपि उदास कर देने वाली अनुभूति है।"[3] यह ठीक है कि अख़्तर मुहीउद्दीन की कहानी कह देने की कला इस उपन्यास को किसी हद तक पठनीय बनाती है, पर सामाजिक यथार्थ किसी भी तरह उसका सम्प्रेष्य नहीं, न परिवेश और व्यक्ति की टकराहट का कोई बिन्दु उसमें प्रक्षेपित है। फातिमा और राजा की आर्थिक, सामाजिक विवशताएं उसका विषय हो सकती थीं, लेकिन लेखक उस ओर प्रवृत्त नहीं हुआ है। उसका आग्रह विशेष रूप से सेक्स पर है, जिसे भुनाने की उसने पूरी कोशिश है। सेक्स को नैतिकतावादी झिझक से मुक्त होकर देखने और प्रस्तुत करने की कोशिश कश्मीरी साहित्य में यद्यपि एक नयी चीज़ थी, पर लेखक उसके अंकन में सहज नहीं रह पाया है। उपन्यास में चटखारा ले-लेकर अख़्तर मुहीउद्दीन ने जिस तरह अब्दुल ग़नी की यौन-तृषा का वर्णन किया है, उससे स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के प्रति उनकी दृष्टि का परिचय मिलता है। अब्दुल ग़नी के लिये औरत महज़ एक जिस्म है और वह एक जिस्म को पाने के बाद दूसरे की ओर लार टपकाता हुआ लपकता है। एक लुहार की लड़की से शादी कर लेने के बाद उसे फातिमा को पा लेने की हवस होती है और फातिमा से उसका विवाह राजा के और निकट आकर उसके जिस्म पर पूरा अधिकार कर लेने की एक युक्ति है। राजा का अब्दुल ग़नी के प्रति आकर्षण भी जैविक स्तर से ऊपर नहीं उठता। इस तरह उपन्यास में डॉ० रत्नलाल शान्त के शब्दों में कहें तो "सेक्स की ओर एक दिशाहीन भटकाव" ही लक्षित होता है।

उपन्यास के अन्त में लेखक को उसके "दु:ख-दर्द" वाले शीर्षक का फिर ख्याल आता है। और वह अब्दुल गनी, जिसने राजा से जैसे-तैसे विवाह कर लेने के बाद उसका गर्भपात इसलिए कर गया था कि सहवास के सुख में वाधा न आये, अब कुछ बदले हुए रूप में हमारे सामने आता है। शायद इसलिए कि राजा को क्षय हो गया है और वह अपना शारीरिक आकर्षण खो बैठी है। लगता है लेखक ने यहां यह संकेत देने की कोशिश की है कि स्त्री और पुरुष के बीच का आकर्षण केवल

शारीरिक उत्तेजना पर आधारित नहीं, बल्कि उसका अतिक्रमण कर मन के गहरे स्तरों से सम्बन्ध रखता है। लेकिन यह संकेत बहुत क्षीण है और काफी देर बाद आया है। इस बीच विवाहों और तलाकों का एक पूरा सिलसिला अब्दुल ग़नी की यौन-भूख के गिर्द घूम जाता है। फातिमा अपनी ही बहन को सौत के रूप में बर्दाश्त करके मर चुकी होती है।

वस्तुतः घटनाओं और पात्रों का संयोजन उपन्यास में इसी दृष्टि से किया गया प्रतीत होता है कि प्रकाश अब्दुल ग़नी और राजा पर पड़ता रहे। कथा सूत्र अधिकतर राजा की स्मृति के सहारे ही आगे चलता है। शम्सुद्दीन के नम्दा व्यापार का अचानक ठप हो जाना; फातिमा का बिना किसी विश्वसनीय कारण के शम्सुद्दीन को तलाक दे देना और शम्सुद्दीन का इस बारे में बिरादरी के निर्णय के आगे चुपचाप समर्पण कर देना—ये सब घटनाएं नियोजित और गढ़ी हुई प्रतीत होती हैं और चरित्र राजा और अब्दुल ग़नी को छोड़कर, एकदम सपाट और निर्जीव। शम्सुद्दीन को शुरू-शुरू में तो उभारा गया है, पर फिर अचानक उसे वैसा ही छोड़ दिया गया है। यथार्थ के एक अत्यन्त सीमित दायरे में सिकुड़ा हुआ 'दोद-दग' उपन्यास अपने शीर्षक को सार्थक करता यदि जीवन की पीड़ा से उत्पन्न बोध का कोई धरातल उसमें उभरता दिखाई देता। शिल्प की दृष्टि से यह सवाल उठ सकता है कि उसे एक लम्बी कहानी ही क्यों न कहा जाए, क्योंकि औपन्यासिक संरचना का बहु-आयामी, बहु-स्तरीय रूप उसमें मिलता नहीं।

ज़ुव त॒ ज़ोलान॒ :

अख्तर मुहीउद्दीन के एक और उपन्यास 'ज़ुव॒ त॒ ज़ोलान॒' (जीव और जंजाल) की कुछ किस्तें 'चमन' नाम के एक साप्ताहिक पत्र में प्रकाशित हुई हैं। अवतार कृष्ण रहबर को यह उपन्यास "अधिक ज़ोरदार और मुकम्मल" लगता है।[४]

गटि मंज़ गाश : "रोशनी की किरण"

'दोद-दग' के बाद अमीन कामिल (ज० १९२४) का लघु उपन्यास 'गटि मंज़ गाश' (अन्धकार में एक प्रकाश) प्रकाशित हुआ जो कश्मीर पर पाकिस्तानी कबायलियों के आक्रमण की पृष्ठ-भूमि में लिखा गया है। साम्प्रदायिक विद्वेष और हिंसा के देशव्यापी अन्धेरे में गांधी जी को कश्मीर में जो "रोशनी की किरण" दिखाई दी थी, उपन्यास में उसे एक नारे के स्तर पर प्रतिष्ठित किया गया है। यह किरण एक मुसलमान अध्यापिका फातिमा में उजागर दिखायी गयी है, जिसके माध्यम से लेखक ने हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्धों का आदर्श रूप प्रस्तुत करने की कोशिश की है। कबायली हमले के दौरान फातिमा बारामुल्ला के एक हिन्दू व्यापारी रामकृष्ण को आधीरात को अपने यहां शरण देती है, और रामकृष्ण

फातिमा की रक्षा करते हुए कवायलियों की गोली से मारा जाता है। लेकिन कवायली आक्रमण की भयंकर अमानवीयता, बर्बरता और आतंक का सर्जनात्मक क्षमता के साथ संवेदनापूर्ण अंकन करने में अमीन कामिल सफल नहीं हो सके हैं। कश्मीर में इस विषय का केवल प्रचारात्मक उपयोग किया गया है और कामिल भी इससे बहुत आगे नहीं जा सके हैं। 'गटि मंज़ गाश' में सतह पर के यथार्थ के अतिसरलीकृत रूप से ऊपर उठने की क्षमता उन्होंने प्रदर्शित नहीं की है। कवा-यलियों का हमला एक गहन ऐतिहासिक अनुभव के रूप में कृति में प्रस्तुत नहीं हुआ है।

ताकि पाठकों को मुग़ालता न रहे, उपन्यासकार ने साफ दिखलाया है कि फातिमा रामकृष्ण से कोई प्रेम-वेम नहीं करती, बल्कि घृणा करती है (क्यों ? उसके बारे में कुछ बताया नहीं गया), रामकृष्ण भले ही उस पर जान छिड़कता हो। जान तो उस पर हसन भी छिड़कता है, (रामकृष्ण से उसके रूप की प्रशंसा सुनकर), लेकिन ना बाबा ना, प्रेम वगैरह के चक्कर में वह नहीं पड़ती। हां, हसन यदि परम्परागत रीति से अपने पिता द्वारा उसके पिता के पास प्रस्ताव रखे तो वह विवाह के लिये तैयार है। प्रेम-पत्र आदि द्वारा प्रेम प्रकट करने का तरीका उसे पसन्द नहीं। हसन पिता द्वारा विवाह का प्रस्ताव पेश करवाता भी है। पर तभी कबायली कश्मीर पर हमला कर बैठते हैं और लेखक को चूंकि फातिमा को मानवता और धार्मिक सौहार्द का एक प्रतीक तथा आदर्श पात्र बनाना है, इसलिए वह अन्त में हसन को ठुकरा देती है, क्योंकि उसके पिता ने कवायलियों का साथ दिया होता है। रामकृष्ण को बचाने के लिये वह कवायलियों को उसका परिचय अपने पति के रूप में देती है। लेकिन इसमें कोई सूक्ष्म संकेत पढ़ने की जरूरत नहीं। यह तो मात्र एक युक्ति है, जिसका प्रयोग वह मानवीय कर्तव्य के नाते शरणागत की रक्षा के लिये करती है। रामकृष्ण की मृत्यु पर वह बारामुल्ला से, जहां वह अध्यापिका के रूप में नियुक्त है, वापस अपने गांव बांडीपुर लौट जाती है, और हसन के पिता की कवायलियों से सांठ-गांठ के बारे में पता चलने पर जीवन भर अविवाहित रहने का निश्चय करती है।

फातिमा की कहानी उपन्यास के प्रारम्भ में ही एकदम शुरू नहीं होती। पहले लेखक को, जो स्वयं एक पात्र के रूप में उपस्थित है, बांडीपुर जानेवाली एक बस में सवार दिखलाया गया है। बस के रास्ते में खराब हो जाने पर वह वक्त बिताने के लिये पास के एक गांव में मास्टर अब्दुल सलाम के घर चला जाता है, जो फातिमा का किस्सा शुरू करता है। इस बीच दो सौ पृष्ठों के इस लघु उपन्यास के पचास पृष्ठ निकल जाते हैं। लेकिन फातिमा की सारी कहानी लेखक को अब्दुल सलाम की ज़बानी सुनने को नहीं मिलती। वली बुड्ढा, जिसके यहां बारा-मुल्ला में फातिमा रहती थी, और नाज़की साहब आदि पात्र भी उसके कुछ हिस्से

प्रस्तुत करते हैं। इन अलग-अलग हिस्सों को जोड़ कर ही कथा का पूरा रूप उभरता है, यद्यपि सीवन स्पष्ट नज़र आती है।

'गटि मंज़ गाश' में लेखक किस्सागोई की शैली अपनाकर घटनास्थितियों और व्यवहारों को वर्णन और विवरण के ज़रिए उद्घाटित करता चलता है। इसका कारण प्रस्तुत करते हुए उपन्यास की भूमिका में वह लिखता है : "उपन्यास कश्मीरी साहित्य के लिये एक नयी चीज़ है। इसलिए मुझे एक ऐसे रूप-शिल्प की तलाश करनी पड़ी जो लोगों को एकदम पराया प्रतीत न हो। मैंने किस्सागोई की शैली अपनायी जो यहां के लोगों की पुरानी पैतृक विरासत है।" और इस पैतृक विरासत को हाथ से न जाने देने की कोशिश में (या फिर अपनी रचनात्मक क्षमता की सीमाओं के कारण ?) लेखक ने इस उपन्यास को ऐसा सपाट बना दिया है कि तनाव, संघर्ष, द्वन्द्व की संवेदनात्मक स्थितियों से गुज़रे बिना ही कथा पिन-मिनाती हुई अन्त की ओर सरक जाती है, पात्र अपना व्यक्तित्व खो बैठते हैं और बिलकुल बनावटी और अस्वाभाविक लगते हैं। सबसे अधिक अविश्वसनीय और कृत्रिम चरित्र कथानायिका फातिमा का है। वह सहज स्वाभाविक यौवनोचित संवेगों से शून्य आदर्श और कर्तव्य की निर्जीव पुतली भर है—लेखक की एक ऐसी मानसिक सृष्टि जिसे वह हाड़-मांस प्रदान करने में असमर्थ रहा है। लेखक ने अगर विचारधारा अथवा आदर्श की स्थापना की दृष्टि से चरित्रों और घटनाओं को नियोजित करने के स्थान पर कथास्थिति की वास्तविकता में उन्हें उभरने दिया होता और उस व्यंग का अधिक सहारा लिया होता जिसकी कौंध कुछेक स्थलों में दृष्टिगोचर होती है, तो शायद उपन्यास में अधिक जान आ जाती।

अ'स्य ति छि इन्सान : उपन्यास या यात्रा-वृतान्त ?

कश्मीरी-साहित्य में एक और असफल उपन्यास की वृद्धि अली मुहम्मद लोन (ज० १९२६) ने 'अ'स्य ति छि इन्सान' (हम भी इन्सान हैं) लिखकर की। इस बात को लेकर बहस की गुंजाइश है कि 'अ'स्य ति छि इन्सान' को उपन्यास माना भी जा सकता है या नहीं, क्योंकि उपन्यास के मूल क्षेत्र, संरचना अथवा स्वरूप की पहचान इसमें मुश्किल से मिलती है। स्वयं लेखक ने भूमिका में इसका परिचय देते हुए लिखा है कि यह "सच्ची घटनाओं पर आधारित एक कृति है जिसमें साहित्यिक रंग पैदा करने के लिये पात्रों का मनोवैज्ञानिक अनुभव प्रस्तुत किया गया है और घटनाओं पर एक जागरूक आदमी की तरह टिप्पणी की गयी है।" वस्तुतः अली मुहम्मद लोन की यह कृति उपन्यास और यात्रा-वृतान्त अथवा रिपोर्ताज के बीच की चीज़ बन कर रह गयी है। उसे केवल सुविधा के लिये उपन्यास विधा के अन्तर्गत लिया जा सकता है।

'अ'स्य तिं छि इन्सान' अमरनाथ यात्रा में यात्रियों का सामान उठाने वाले और डाण्डियां और पालकियां ढोने वाले मज़दूरों को लेकर लिखा गया "उपन्यास" है। कौन बड़ा है—अमरनाथ के पवित्र हिमलिंग के दर्शनार्थ आनेवाले यात्री या ये फटेहाल मज़दूर जो उन्हें और उनके सामान को ढोते हुए उन्हें पवित्र गुफा तक पहुंचाते हैं ? उनकी श्रद्धा या इनका श्रम—किसे अधिक महत्वपूर्ण माना जाए ? शायद लोन साहब ने इन सवालों को उठाने का प्रयत्न किया है उपन्यास के केन्द्रीय पात्र लतीफ के माध्यम से। लतीफ वस्तुतः स्वयं लेखक का ही प्रतिरूप है। वह एक कलाकार है और केदार और प्राण—इन दो, मित्रों के साथ यात्रियों के दल के साथ चल पड़ा है। यात्रा के साथ जानेवाले मज़दूरों की स्थिति से वह काफी द्रवित होता है। एक बूढ़े डाण्डी मज़दूर साम चाचा से तो उसकी विशेष सहानुभूति हो जाती है, जिसका जवान बेटा कश्मीर के राजनीतिक आंदोलन में मारा गया है और पीछे एक लड़की छोड़ गया है। इसी लड़की को कहीं ठौर-ठिकाने लगाने के लिये घोर बुढ़ापे में भी साम चाचा इस कठिन बर्फीली डगर पर भार उठाने और पालकियां ढोने को विवश है। लतीफ देखता है कि एक मोटे काले-कलूटे सेठ को साम चाचा सहित बारह कहार डाण्डी में बिठाकर ढो रहे हैं। साम चाचा के पैरों में छाले पड़ गये हैं जिनसे खून और पीप बह रही है। हांफता-कांपता, गिरता-पड़ता वह जैसे-तैसे डाण्डी को कन्धे पर उठाये चला जा रहा है। उसे देखकर लतीफ सोचता है : "पूछ इससे—इसके विचारों में पैठ, इसके दिल में उतर, इसके भीतर से कुरेद कर ढूंढ़ निकाल इसका रहस्य। यह है पात्र—एक जीवित पात्र। इसकी कहानी लिखकर तू बड़ा कलाकार बन सकता है। तेरे कलम को ज़बान मिल सकती है। तेरे विचारों के पंख आ सकते हैं। तू उड़ सकता है। ऊंचाई की ओर जा सकता है।"

अपनी इस प्रकार की प्रतिक्रियाओं द्वारा लतीफ़ (और उसके माध्यम से स्वयं लेखक) यात्रियों, मज़दूरों और अपने मित्रों के रेखाचित्र प्रस्तुत करता है। उसकी ये टिप्पणियां घटना के विरल सूत्रों को जोड़ती हुई लेखक की तकनीक का एक हिस्सा बन जाती है। लतीफ बेहद भावुक है और उसकी यह भावुकता कृति पर आद्यान्त छायी है। इसी रौ में वह एकाएक शायरी करने लग जाता है—

"ऊंचाई—जिसे मनुष्य ने रोज़ चाहा
ऊंचाई—जिसने मनुष्य को पंख दिये
ऊंचाई—जो मनुष्य को चांद तक पहुंचा सकती है
ऊंचाई—जो मनुष्य को प्रेरित कर सकती है कि वह तारों को अपना लक्ष्य बनाये !"

शायद उसका यह ख्याल है कि इस प्रकार के सूत्रों द्वारा वह किसी ऊंचे दर्शन को प्रस्तुत कर रहा है।

कथास्थिति को उभारने से अधिक ध्यान लेखक का यात्रा-वर्णन पर गया है, मानो वह कोई यात्रा पथ-प्रदर्शिका लिख रहा हो। यात्रियों का श्रद्धा-विश्वास, अमरनाथ गुफा की गरिमा, यात्रा में पड़ने वाले प्राकृतिक दृश्य, तम्बुओं, डाण्डियों, पालकियों का वर्णन, मज़दूरों की भाग-दौड़, पहलगाम में यात्रा की चहल-पहल और उसके बाद के डगर की कठिनाइयां—इन सबका विवरण "अ'स्य ति छि इन्सान" में अधिक (और अनावश्यक) विस्तार पाता है। कथा की क्षीण धारा इस सब के बीच भटकती, मुड़ती, रुकती, बेहद धीमी गति से अन्त की ओर जाती है।

उपन्यास ओ'हेनरी की कहानियों के अन्दाज़ में एक चौंका देने वाली परिणति पर समाप्त होता है। अमरनाथ गुफा के निकट पहुंचने पर मोटे सेठ को अचानक जाने क्या हो जाता है कि वह डाण्डी रोककर मज़दूरों को आगे से जाने मना कर देता है। उसे अब पवित्र हिमलिंग के दर्शन नहीं करने। एक बूढ़े आदमी (साम चाचा) को डाण्डी उठवा और दौड़ा-थका कर उसने जो तकलीफ पहुंचाई है, जो ज़ुल्म किया है उसका पश्चात्ताप उसे सालता है। पाप-बोध उसके मन पर अकस्मात ऐसा सवार हो जाता है कि साम चाचा को वह डाण्डी में बिठाकर एक कीमती शॉल ओढ़ाता है और कहारों से कहता है कि उसे वापस पहलगाम ले चलें! तभी उसके काले-कलूटे अपरूप मुख पर भी कुछ वैसा ही तेज चमक उठता है जैसा "मुक्ति प्राप्त करने पर आदमी के चेहरे पर प्रकट होता होगा!" लेकिन इस हृदय-परिवर्तनवादी अन्त ने स्वयं उपन्यास को एकदम निस्तेज बना दिया है, उसमें अगर कहीं कुछ जीवन-ताप था, उसे भी सोख लिया है।

जहां तक सेठ का चरित्र है इस आकस्मिक और अस्वाभाविक अन्त तक उसका बिल्कुल विकास नहीं हुआ है। सेठ ही क्या अन्य किसी पात्र में भी व्यक्तित्व नज़र नहीं आता—लतीफ़ में भी नहीं, जिसमें भावुकता का अतिरेक है। साम चाचा को बेहद दयनीय बनाने की कोशिश में सपाट बना दिया गया है। जैसा पहले संकेत करने की कोशिश की गयी है, चरित्र लतीफ़ की दृष्टि से प्रस्तुत किये जाने के कारण बस रेखाचित्र होकर रह गये हैं। कम से कम एक नाटककार होने के नाते अली मुहम्मद लोन से यह उम्मीद तो की जा सकती थी कि उपन्यास के पात्रों को द्वन्द्व, संघर्ष और घात-प्रतिघात की स्थिति से गुज़रने देते। बहरहाल, उपन्यास के मौलिक शिल्प से अलग शिल्प के प्रयोग की अगर उन्होंने कोशिश की है तो उसमें वे सफल नहीं हुए हैं।

प्रगतिवादोत्तर काल के उपन्यास

'दोद-दग', 'गटि मंज़ गाथ' और 'अ'स्य ति छि इन्सान' तीनों प्रगतिवादी दौर की रचनाएं हैं, जब कश्मीरी साहित्य में यथार्थवाद की नींव पड़ रही थी। तीनों रचनाएं असफल हैं क्योंकि जीवन यथार्थ की सही पकड़ और उसके अनुरूप शिल्प

का सार्थक प्रयोग उनमें नहीं। उनके बाद भी कश्मीरी उपन्यास संवेदना और शिल्प बोध के क्षेत्र में किसी सार्थक परिवर्तन का पता नहीं देता। 'अ'स्य ति छि इन्सान' कश्मीरी उपन्यास के एक दौर की समाप्ति की सूचना बस इसलिए देता प्रतीत होता है कि उसके बाद प्रगतिवादी आग्रह लुप्त हो जाता है। आदमी की स्थिति को उसके वास्तविक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने की कोशिश प्रगतिवादोत्तर कश्मीरी उपन्यास—यदि ऐसा विभाजन किया जा सकता है—में नहीं मिलती। इसका प्रमाण उन चार (मात्र चार) उपन्यासों में देखा जा सकता है जो समकालीन कश्मीरी उपन्यास का कुल परिदृश्य उपस्थित करते हैं। ये उपन्यास हैं गुलाम नबी गौहर द्वारा लिखित 'मुजरिम' और 'म्युल', बंसी निर्दोष द्वारा रचित 'अख'दोर' और अमर मालमोही का 'त्रेश त ़ तर्पण'।

'मुजरिम' और 'म्युल' : फ़िल्मी नुस्खे

गुलाम नबी गौहर (जन्म १९३८) पेशे से जज हैं और उनके दोनों उपन्यास 'मुजरिम' और 'म्युल' अदालती तथ्यों को रोमांस के सस्ते फिल्मी मसाले के साथ प्रस्तुत करते हैं। 'मुजरिम', जिसका प्रकाशन १९६९ में हुआ, इस मसाले में एक और तत्त्व—क़त्ल को जोड़ देता है। अहमदुल्ला पर अभियोग है कि उसने अपनी लड़की हाजरा को ज़हर देकर हत्या की है। लोअर कोर्ट ने उसे मुजरिम करार दिया है, लेकिन हाई कोर्ट का आदेश है कि सुल जू और बशीर अहमद से भी दोनों पक्षों को जिरह करने की इजाज़त दी जाए और आखिर यह बात खुलती है कि हाजरा की हत्या नहीं हुई; उसने प्रेम में असफलता के कारण आत्महत्या की है। पड़ोस के एक लड़के बशीर अहमद से उसका प्रेम था, लेकिन बशीर बहुत बड़े घर का है जबकि वह ग़रीब। दोनों घरों की हैसियत में काफी अन्तर होने के कारण हाजरा और बशीर की शादी नहीं हो पाती। बशीर समाज की "सड़ी-गली रीतियों" के विरुद्ध है, लेकिन उसका यह विरोध विद्रोह का रूप नहीं धारण कर पाता और हाजरा मजबूर होकर ज़हर खा लेती है। मरने से पहले वह बशीर को एक पत्र लिखती है, जिसमें वह स्थिति को स्पष्ट करने की कोशिश करती है। कहना न होगा कि अहमदुल्ला "बाइज़्ज़त बरी" हो जाता है।

इस घिसी-पिटी कहानी में अदालत के दृश्य ही कुछ वास्तविक और प्रभावपूर्ण लगते हैं, शायद इसलिये कि इनके वर्णन में उपन्यासकार ने अपने पेशे के अनुभव से फायदा उठाया है। मुकदमे की सुनवाई तथा वकीलों की बहस के दौरान ही पात्रों के चरित्र खुलते हैं और बीती घटनाओं पर प्रकाश पड़ता है। चार वर्ष के लम्बे मुकदमे की अवधि में अहमदुल्लाह की हालत कितनी खस्ता हो जाती है, इसका वर्णन करके लेखक ने न्याय-प्राप्ति में देरी के कारणों को दूर करने की ज़रूरत की ओर इशारा दिया है।

कश्मीरी में लिखे गये उपन्यासों की संख्या में वृद्धि करने के अतिरिक्त 'मुजरिम' में कोई बात नहीं। बस सीधी-सपाट शैली में उपन्यासकार ने कहानी कह भर डाली है। जीवन की जटिल वास्तविसताओं से उसे सरोकार नहीं। घटनाओं को अनावश्यक तूल देकर कथा को ज़बर्दस्ती घसीटा गया है। फिर भी शुरू में ही पता चलता है कि अहमदुल्ला निर्दोष हैं और बरी हो जायेगा।

उपन्यास के पात्र सामाजिक संदर्भों से कटे, निर्जीव और ठस हैं। हाजरा और बशीर अहमद का रोमांस एकदम सतही और बनावटी है। बशीर को लिखा हाजरा का अंतिम पत्र कोरी लफ्फाज़ी है। 'मुजरिम' पढ़कर लगता है कि गौहर के पास उपन्यास लिखने के योग्य भाषा नहीं। वास्तविक जीवन में प्रयुक्त भाषा के स्थान पर अत्यन्त अलंकृत और अस्वाभाविक किताबी भाषा के व्यवहार से उपन्यास में एक कृत्रिमता आ गयी है जो लेखक की मौके-बेमौके शेर कह डालने की प्रवृत्ति के कारण बहुत उबाऊ हो गयी है।

गौहर ने अपने दूसरे उपन्यास 'म्युल' (मेल) में फिल्मी नुस्खे को और अधिक आज़माया है। यह उपन्यास १९७३ में प्रकाशित हुआ। इसमें रोमांस और अदालती दृश्य—ये दोनों मौजूद हैं ही, "मनोविज्ञान" का एक नया तत्त्व भी आ जुड़ा है। शायद लेखक की कोशिश रही है कि वह स्त्री-पुरुष सम्बन्धों को लेकर कश्मीरी को एक अदद "मनोवैज्ञानिक उपन्यास" दे डाले। पर इन सम्बन्धों के जटिल और उलझे हुए स्वरूप का कोई नया पहलू प्रस्तुत करने के स्थान पर उसने समस्या को अतिसरलीकृत रूप में रखा है।

उपन्यास की मुख्य कथास्थिति इस प्रकार है—शहर के एक नामी रईस ख्वाजा अज़ीज़ुद्दीन शाह की लड़की महमूदा और एक बड़े "आई० ए० एस० अफसर" अमीन साहब के लड़के जलील का आपस में प्रेम है। विवाह के बाद महमूदा यह महसूस करती है कि जलील नपुंसक है। मामला तलाक के लिये अदालत तक जा पहुंचता है। लेकिन जलील का मित्र प्रोफेसर मोतीलाल और उसकी पत्नी मीना, जो महमूदा की सहेली है, दोनों के बीच सम्बन्धों को टूटने से बचाते हैं। वे पाते हैं कि सारी गुत्थी मनोवैज्ञानिक है और प्रेम के प्रति दोनों के परस्पर विरोधी दृष्टिकोण से पैदा हुई है। महमूदा के लिये प्रेम की सार्थकता सेक्स की परितृप्ति में है, जबकि जलील के लिये प्रेम एक रूमानी मस्ती का नाम हैं। मोतीलाल और मीना एक पूर्व-नियोजित नाटक द्वारा जलील के पौरुष को जाग्रत करगे में सफल हो जाते हैं और जलील और महमूदा का फिर से मेल हो जाता है। इस तरह सारी समस्या (जो सरासर बनावटी है) एक चुटकी में सुलझ जाती है।

उपन्यास में कथा कहीं धीमी गति से आगे चलती है तो कहीं छलांगें मारती हुई नज़र आती है। महमूदा और जलील के बीच रोमांस ठीक फिल्मी अथवा गुलशन नन्दाई अंदाज़ से चलता है। दोनों का शायर होना और कालेज की मह-

फिलों पर छा जाना और इस तरह एक-दूसरे के निकट आना, बारिश के एक दिन महमूदा का जलील को अपनी कार में लिफ्ट देना और ड्राइवर के मोड़ काटने पर दोनों का एक-दूसरे पर लुढ़क जाना—सभी कुछ परिचित फिल्मी नुस्खों के अनुसार है।

लेखक पात्रों के चरित्र का विकास नहीं वर्णन करता है। उनके व्यक्तित्व की विशेषताएं उपन्यास में उभरती नहीं, जिससे वे अस्वाभाविक और अवास्तविक लगते हैं। विशेषकर जलील। लेखक उसके व्यक्तित्व का चित्र प्रस्तुत नहीं करता, उसके रूप का वर्णन करता है—उसकी भौंहें मेहराब हैं, उसका कद अलफ-सा है, कमर छरहरी है, नाक खंजर जैसी, चेहरा गुलाब की कली है और नयन नर्गिस के दो मदभरे फूल! लगता है जैसे हम आज का उपन्यास नहीं परम्परागत फारसी शायरी में किसी नायिका का नख-शिख वर्णन पढ़ रहे हों।

'मुजरिम' की तरह 'म्युल' की भाषा भी फूल-पत्तीदार और कृत्रिम है। जगह-जगह शेर उद्धृत किये गये हैं और जहां ऐसा नहीं है, वहां खुद लेखक शायरी की बनाबटी भाषा में बोलता है। इस दृष्टि से गौहर के दोनों उपन्यासों का पैटर्न एक-सा है। जो हो, इन दो उपन्यासों के आधार पर वे कश्मीरी के एकमात्र ऐसे लेखक हैं जिन्हें मूलतया उपन्यासकार माना जा सकता है।

अख दोर : सामन्ती व्यवस्था और नारी शरीर का व्यापार

१९७४ में कश्मीरी में एक और उपन्यास प्रकाशित हुआ—बंसी निर्दोष द्वारा लिखित 'अख दोर' (एक दौर)। निर्दोष प्रतिष्ठित कहानीकार हैं और कहानी कहने की कला को खूब जानते हैं। 'अख दोर' में भी उनका कथावाचक रूप ही उभरा है। जिस काल-खण्ड को उन्होंने इस उपन्यास में लिया है वह कश्मीर पर डोगरा शासन से सम्बन्ध रखता है। लेकिन उस युग के जीवन का प्रामाणिक परिदृश्य प्रस्तुत करने के स्थान पर उन्होंने अपने आप को केवल वेश्या समस्या तक सीमित रखा है। इस समस्या को उन्होंने कश्मीर के तत्कालीन सामाजिक परिवेश में नारी की स्थिति के एक पहलू के रूप में उपस्थित नहीं किया है, न उन कारणों पर प्रकाश डाला है जो इसके मूल में हैं। डोगरा शासन के उस दौर में ऐसे बदनाम 'अड्डों' की संख्या बहुत थी जहां नारी शरीर का व्यापार होता था। बंसी निर्दोष ने इनमें से कुछ एक का चित्र खींचा है, लेकिन सामन्तवादी समाज व्यवस्था, जिसमें इस प्रवृत्ति ने व्यापक रूप धारण कर लिया था, को नंगा करने की कोई कोशिश नहीं की है। 'अख दोर' में समाज के इस पीड़ित वर्ग के प्रति संवेदना जरूर व्यक्त हुई है, पर यह उपन्यास हमें झकझोरता नही।

उपन्यास में एक किसान लड़की नगीना की कहानी कही गयी है जो एक

बिचौलिये के बहकावे में आकर वेश्याओं के एक कोठे में पहुंच जाती है। नगीना बांडीपुर की रहने वाली है और उसका पिता इलाज के लिये श्रीनगर में क्षयरोग के अस्पताल में भर्ती है। बहुत दिनों तक पिता का कोई समाचार न मिलने पर नगीना उसे देखने श्रीनगर चली आती है। पर संयोगवश वह शाम को देर से पहुंचती है। तब तक अस्पताल में रोगियों से मिलने का समय बीत चुका होता है। वह किसी मस्जिद में रात गुजारने की सोचती है कि तभी उसे सिद्दीक जू नाम का एक दलाल मिलता है जो उसे फुसला कर तोता नाम की कुट्टिनी के अड्डे पर पहुंचाता है। तोता बहुत "तजरुबेकार" है और संगीत का अच्छा ज्ञान रखती है। उसके अड्डे पर शादा, सारा वगैरह अनेक सुन्दर और जवान वेश्याएं नगीना से मिलती हैं और अपनी कहानी कहती हैं। नगीना भाग निकलने की कोशिश करती है, पर सफल नहीं होती। श्रीनगर का एक व्यापारी बलभद्र, जो संगीत से प्रेम के कारण तोता के पास आया करता है, नगीना को देखते ही मुग्ध हो जाता है। उसके प्रेम में वह अपना घर-परिवार, काम-धन्धा सब कुछ भूल जाता है। सिद्दीक जू को वह प्रति मास तीन सौ रुपये देता है ताकि नगीना के पास कोई और ग्राहक न जाने पाये। नगीना को गर्भवती बनाने पर बलभद्र विकट अंतर्द्वंद्व में पड़ जाता है। अपनी पत्नी और नगीना के बीच वह किसे चुने? आखिर निर्णय के एक क्षण में वह इस्लाम स्वीकार करके नगीना से विवाह कर लेता है।

उपन्यास में और भी कई पात्र हैं जो कथा को गति देते हैं—दीन मुहम्मद, बलभद्र का नौकर गनी जू, विधवा धनवती, गनजू वगैरह। लेकिन ये, और नगीना और बलभद्र सहित अन्य पात्र, अपने चारित्रिक आयामों को विकसित नहीं कर पाये हैं। उपन्यासकार का कथावाचक रूप कृति पर कुछ ऐसा छाया है कि चरित्रांकन तो क्या, शिल्प का कोई भी अन्य धरातल उसमें उभर नहीं पाया है।

अवतार कृष्ण रहबर के विचार में एक उपन्यासकार के रूप में बंसी निर्दोष की विशेषता उनकी निस्संगता है।[1] लेकिन 'अख दोर' से कम से कम यह बात कहीं प्रकट नहीं होती। उसे पढ़कर यही लगता है कि पात्रों के सुख-दुःख में वे भावात्मक स्तर पर स्वयं सम्मिलित हुए है।

त्रेश त् तर्पण . रोमाण्टिक दुनिया की सृष्टि

१९७६ में कश्मीर के एक उर्दू कहानीकार अमर 'मालमोही' ने कश्मीरी में 'त्रेश त् तर्पण' (तृष्णा और तर्पण) शीर्षक से एक उपन्यास प्रकाशित किया। असफल प्रेम को लेकर लिखे गये इस सतही उपन्यास में रोमाण्टिक कल्पना की जिस दुनिया की सृष्टि गयी है उसका जीवन की वास्तविकताओं से कोई सम्बन्ध नहीं। उपन्यास

का नायक है रवीन्द्र जिसका आशा नाम की एक युवती से प्रेम है, लेकिन परिस्थितियां उसका साथ नहीं देतीं और आशा को प्राप्त करने में वह सफल नहीं होता। उसका विवाह आशा की बहन विनती से होता है, पर आशा उसकी स्वप्न-सुन्दरी बनी रहती है। आशा के लिये उसके विफल प्रेम की परिणति उसकी आत्महत्या में होती है। मृत्यु में वह आशा तक पहुंचने के लिये अपनी स्वतंत्रता को खोजता है। रवीन्द्र और आशा के इस वायवी रोमांस के अतिरिक्त उपन्यास में अनेक स्त्री-पात्रों के भ्रष्ट होने की कहानी भी है।

अनावश्यक घटनात्मकता के अतिरिक्त उपन्यास में पात्रों की इतनी अधिक भीड़ है कि लेखक उन्हें बिल्कुल संभाल नहीं पाया है। कथा के सूत्र यहां-वहां बिखर जाते हैं और लेखक उहें समेट नहीं पाता क्योंकि उपन्यास का रचना-विधान उसकी क्षमता के बाहर की चीज है। पात्र अपनी यात्रा आप नहीं करते, उपन्यासकार उनके बारे में जगह-जगह पर वक्तव्य देता है। निरर्थक वर्णनों और विवरणों के बीच निष्प्रयोजन यहां-वहां शेर टांक देने की आदत से ऐसी रूमानी कैफियत पैदा की गयी है जैसी सस्ती बम्बइया फिल्मों में मिलती है।

अन्य भाषाओं से अनुवाद

अन्य भाषाओं के कुछेक उपान्यसों के अनुवाद भी कश्मीरी में प्रकाशित हुए हैं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के उपन्यास 'चोखेर बाली' का प्रो० पृथ्वीनाथ पुष्प ने 'अ'छि किटुर' शीर्षक से अनुवाद किया, जिसे साहित्य अकदिमी ने १९६२ में प्रकाशित किया। इसके अतिरिक्त टाल्स्टाय के 'वार एण्ड पीस' का अनुवाद मुज्जफर आज़िम ने चार भागों में किया और गोर्की के उपन्यास 'मदर' का अनुवाद अली मुहम्मद लोन ने। इन अनुवादों से कश्मीरी उपन्यास के विकास को गति मिली या नहीं, यह कहना कठिन है। जेम्स जस्टिन फेरियर के अंग्रेजी उपन्यास के फारसी अनुवाद का कश्मीरी अनुवाद डॉ० शम्सउद्दीन अहमद ने 'हा'ज बाब॒' नाम से किया।

यह है कश्मीरी उपन्यास का सम्पूर्ण परिदृश्य, जो कश्मीरी उपन्यासकार की रचनात्मक क्षमता के बारे में किसी प्रकार से आश्वस्त नहीं करता। रचनाशीलता की किसी विशिष्ट दिशा का परिचय इससे नहीं मिलता, न संभावनाओं का कोई क्षितिज उभरता नज़र आता है।

संदर्भ संकेत

१. का'शुर नावल : सोन अदब (कोशुर ज़बान त़ अदब) : पृ० ३०९—१०
२. का'शरि अदबुक तवारीख : पृ० २४४
३. स्टडीज़ इन कश्मीरी : पृ० ३०३
४. नसऱच किताब : सं० डॉ० रतनलाल शान्त : पृ० ३५ (भूमिका)
५. का'शुर नावल : सोन अदब (का'शिर ज़बान त़ अदब) : पृ० ३२२
६. उपरोक्त : पृ ३३६

: १५ :

आलोचना की दशा-दिशा

प्रारम्भिक स्थिति

कश्मीरी में आलोचना के क्षेत्र में पहला प्रयास नन्दलाल अम्बरदार के द्वारा महजूर पर लिखे गये एक लेख को माना जा सकता है जो १९३६ में श्रीनगर के श्रीप्रताप कालेज की वार्षिक पत्रिका 'प्रताप' में प्रकाशित हुआ था। इस छोटे-से लेख में लेखक ने, जो उस समय एक छात्र था, महजूर पर फारसी भाषा के प्रभाव की ओर इशारा किया था। इसके बाद १९४७ तक कश्मीरी साहित्य के मूल्यांकन की दिशा में कुछ कार्य अंग्रेजी अथवा उर्दू में हुआ। १९४०-४१ में मास्टर जिन्दा कौल ने परमानंद की रचनाओं का सम्पादन करते हुए एक महत्त्वपूर्ण परिचयात्मक भूमिका लिखी जिसमें परमानंद के व्यक्तित्व और उनके काव्य की विशेषताओं पर पहली बार प्रकाश डाला गया था। साथ ही इस भूमिका में १९वीं शती के कश्मीरी काव्य की रूढ़िगत प्रकृति पर भी दृष्टिपात किया गया था। इसके बाद अब्दुल अहद आज़ाद ने उर्दू में कश्मीरी भाषा और काव्य का इतिहास लिखकर न केवल कठोर परिश्रम और गम्भीर शोध-भावना का परिचय दिया, बल्कि एक संतुलित आलोचना दृष्टि का पता भी, जिस पर तत्कालीन उर्दू समीक्षा-सिद्धांतों का प्रभाव था। आज़ाद की 'कश्मीरी ज़बान और शायरी' का प्रकाशन उनकी मृत्यु के ग्यारह वर्ष बाद १९५९ में तीन भागों में राज्य की कल्चरल अकादमी ने किया। आज इस बृहत् संदर्भ ग्रंथ का कश्मीरी काव्य के अध्येताओं और शोधार्थियों के लिये महत्त्व बना हुआ है।

प्रगतिवादी आलोचना

कश्मीरी में समीक्षा-चेतना के उदय के लिये रास्ता तैयार करने में अन्य भाषाओं में किये गये मूल्यांकन के प्रयासों की चाहे जो भूमिका रही हो, १९४७ के बाद ही कश्मीरी आलोचना का वास्तविक इतिहास शुरू होता है जब एक जन-भाषा के रूप में पहली बार कश्मीरी के विकास की ओर बुद्धिजीवियों का ध्यान गया। यह

युग साहित्य में प्रगतिवादी उन्मेष का था। अतः कश्मीरी आलोचना में भी प्रगतिवादी मानदण्डों के आधार पर कृतियों को मूल्यांकित करने की प्रवृत्ति अपनायी गयी। प्रगतिवादी आलोचना की अपनी सीमाएं थीं—उसकी दृष्टि संकुचित थी जो .जीवन को उसकी समग्रता में न लेकर वर्ग-चेतना और उत्पादन के आर्थिक आधारों के चौखटे में ही देखने-परखने की आग्रही थी। पर इससे एक बड़ा फ़ायदा यह हुआ कि साहित्य और समाज के सम्बन्धों के सवालों को उठाकर मूल्यांकन को एक यथार्थवादी आधार प्रदान किया गया। साहित्य के बारे में मार्क्सवादी प्रतिपत्तियों और सिद्धांतों को कसौटी बनाकर इस दौर में जो आलोचनात्मक निबन्ध लिखे गये उनमें से अधिकांश क्वंग़पोश' पत्रिका में प्रकाशित हुए। उनकी सीमाएं चाहे जो रही हों, कश्मीरी में आहिस्ता-आहिस्ता समीक्षा-चेतना को विकसित करने की दिशा में उनकी भूमिका के महत्त्व से इनकार नहीं किया जा सकता। इन निबन्धों में रहमान राही द्वारा लिखित 'मार्क्सवादी आलोचना क्या हैं', प्रो० पुष्प के 'का'शरि शायिरी हुन्द ग्वड़ काल' (कश्मीरी कविता का प्रारंभिक काल) और लल्लेश्वरी, शेख नूरुद्दीन, शम्स फकीर तथा महजूर पर लिखे आलोचनात्मक निबन्ध तथा मुहम्मद अमीन कामिल के लल्लेश्वरी आदि पर लिखे गये लेख विशेष रूप से उल्लेनीय हैं। रहमान राही के लेख में मार्क्सवादी आलोचना के बारे में कुछ भ्रांतियों को दूर करने की कोशिश की गयी थी, जबकि प्रो० पुष्प और कामिल के लेखों में पुराने कश्मीरी कवियों के बारे में कुछ नये पहलू सामने रखे गये थे। प्रो० पुष्प के दो लेख 'का'शिरि शायिरी हुन्द ग्वड़ काल' और 'शम्स फकीरुन सोज़' पहले रेडियो वार्ताओं के रूप में प्रसारित हुए थे और बाद में 'क्वंग़पोश" में छपे। इस दौर के आलोचना प्रयासों को संकुचित मताग्रही दृष्टि का परिचय अख़्तर मुहीउद्दीन के 'अफसानस मुतलिक़ केंहँ बुनिया'दी कथ़" (कहानी के विषय में कुछ बुनियादी बातें) में मिलता है। नूर मुहम्मद भट के कविता सम्बन्धी लेखों के बारे में भी यही बात कही जा सकती है।

विकास का दूसरा चरण

१९५६ के आस-पास कश्मीर में प्रगतिवादी आंदोलन विच्छिन्न हो गया और इसके साथ ही आलोचना ने भी नया मोड़ लिया। कालबोध का स्थान अब कला बोध ने ले लिया और वर्ग-चेतना का आत्मनिष्ठा और व्यक्ति-केन्द्रिता ने। वैयक्तिक अनुभव को रेखांकित करने वाले कला-नियमों के आधार पर आलोचना की एक नयी पद्धति की तलाश की गयी। दिलचस्प बात यह है कि इस तलाश में वे ही लोग आगे रहे जिन्होंने पहले आलोचना को मताग्रह के प्रचार का एक माध्यम बनाया था। कश्मीरी आलोचना का यह दूसरा चरण राज्य की कल्चरल अकादमी द्वारा प्रकाशित कश्मीरी पत्रिका 'शीराज़ा' तथा वार्षिक संकलन

'सोन अदब' (हमारा साहित्य) में लिखे गये आलोचनात्मक निवंधों तथा अकादमी द्वारा ही संकलित विशिष्ट कवियों की काव्य-कृतियों की भूमिका और आमुख के रूप में लिखी गयी समीक्षात्मक टिप्पणियों से शुरू होता है। इन निबंधों में केवल विशिष्ट रचनाकारों के कृतित्व का परिचय अथवा विशिष्ट रचनाओं की समीक्षा ही नहीं उनसे उठने वाले मुद्दों और सवालों पर भी बहस की गयी है। जैसे प्रो० जियालाल कौल का जब १९५९ में 'सोन अदब' में समद मीर पर लिखा आलोचनात्मक निबन्ध छपा तो परिचयात्मक होते हुए भी इसने आज के युग में सूफी तर्ज़ के काव्य-लेखन की सार्थकता की ओर ध्यान आकृष्ट किया। अख़्तर मुहीउद्दीन ने अपने लेख "दुनिया तॖ अफसानॖ" (दुनिया और कहानी) में अपनी एक नयी कथादृष्टि का परिचय दिया जो इससे पूर्व लिखे गये 'अफसानस मुतलिक केंहँ बॖनियादी कथॖ' (कहानी के बारे में कुछ बुनियादी बातें) में प्रस्तुत कहानी सम्बन्धी अवधारणाओं से एक मौलिक अन्तर रखती है। अवतार कृष्ण रहबर ने मक़बूलशाह क्रालवारी की मसनवी "गुलरेज़" का १९६० के 'सोन अदब' में मूल्यांकन प्रस्तुत करते हुए अभी तक अनुछुए कुछ नुक्तों पर अपनी शोध-दृष्टि को केन्द्रित दिया। गुलाम नबी फिराक ने १९६३ के 'सोन अदब' में प्रकाशित अपने एक लेख 'का'शिरि शा'यिरी मंज़ फनुक अहसास' (कश्मीरी कविता में कला-चेतना) में कश्मीरी कविता पर बहस करते हुए विषय अथवा कथ्य की अपेक्षा रूप-विधान के महत्त्व पर ज़ोर दिया और इस प्रकार उस समीक्षा-दृष्टि के विकास की ओर इंगित किता जो कविता को बाह्य-अनुभव-निरपेक्ष एक स्वायत्त कलात्मक सत्ता के रूप में देखती हैं। 'शीराज़ा' और 'सोन अदब' में प्रकाशित आलोचनात्मक निबन्धों और समीक्षात्मक टिप्पणियों ने, जिनका सिल-सिला आज भी जारी है, कश्मीरी आलोचना के क्षेत्र में प्रौढ़ता के विकास और प्रतिमानों की स्थापना में (चाहे वे आयातित ही क्यों न हों) महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। इस सम्बन्ध में कश्मीरी नज़्म, मसनवी; गज़ल, कहानी, नाटक, भाषा और साहित्य, लोक-साहित्य, लल्लेश्वरी, शेख नूरूद्दीन आदि पर प्रकाशित विशेषांक विशेष रूप से उस्लेखनीय हैं। 'सोन अदब' के समीक्षा विशेषांक (१९८०) में साहित्यिक विधाओं को पहचानने-परखने की नयी-पुरानी पद्धतियों के बारे में कुछ ठोस सामग्री प्रस्तुत की गयी है और कश्मीरी आलोचना के बदलते रूप का परिचय प्रस्तुत किया गया है। कश्मीरी विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित 'अनॖहार' का 'अदबी तनकीद' विशेषांक भी इस संदर्भ में उल्लेखनीय है।

मुहम्मद युसुफ टेंग

जहां तक आमुख और भूमिकाओं का सम्बन्ध है, इनमें विशिष्ट कवियों के कृतित्व अथवा काव्यधाराओं के बारे में जो परिचयात्मक दृष्टि प्रस्तुत की गयी है उसने

कश्मीरी में समीक्षा बोध को जगाने में अच्छी मदद की है। इस प्रकार की भूमिकाओं में मुहम्मद यूसुफ टेंग द्वारा 'हीमाल ना'ग्यराय' और 'गुलरेज़' तथा 'वली उल्लाह मत्तू', अमीन कामिल द्वारा 'सूफी शा'यर' (३ भाग) तथा 'नूरनामा', मुहीउद्दीन हाजिनी द्वारा 'कुलियाते वहाब हाजिनी' तथा प्रो० बलजिन्नाथ पंडित द्वारा 'कश्मीरी रामायण' तथा जियालाल कौल द्वारा 'लल्लेश्वरी' के काव्य-संकलन पर लिखी गयी भूमिकाएं विशेष रूप से चर्चित रही हैं। टेंग साहब द्वारा लिखी भूमिकाओं से उनके अध्ययन और शोध की दिशा का पता तो मिलता है, पर उनकी आलोचना-भाषा बहुत रंगीन और काव्यमय है जिससे कभी-कभी यह आभासित होता है कि वे कृति अथवा कवि के बारे मे कोई गहरी बात कहने की स्थिति में न होकर काव्यमय भाषा द्वारा पाठक पर हावी होना चाहते हैं। यही बात उनके अन्य आलोचनात्मक निबन्धों के बारे में भी कही जा सकती है। फिर भी टेंग साहब नये नुक्ते और नये मुद्दे उभारकर बहस को गर्म रखने की क्षमता का परिचय देते हैं।

अमीन कामिल

अमीन कामिल ने स्वसम्पादित 'सूफी शा'यिर' के तीनों भागों की भूमिकाओं में सूफीवाद, वेदान्त और कश्मीरी शैवमत के सिद्धान्तों, दार्शनिक अवधारणाओं, साधना-पद्धतियों आदि की विस्तृत चर्चा की है। सूफी काव्य की दार्शनिक-धार्मिक पृष्ठभूमि को स्पष्ट करने दिशा में इस विवेचना से काफी मदद मिल सकती थी अगर कामिल भारतीय-हिन्दू दर्शनों के बारे में कई स्थलों पर अपने अज्ञान और पूर्वाग्रहों का परिचय न देते। दूसरों के विचारों को अपने शब्दों में प्रस्तुत करने के प्रयास में वे बहुत चूक गये हैं। इनमें से कुछ भूलें काफी भद्दी हैं। फिर भी कश्मीरी कवियों के जीवन और काव्य के बारे में कामिल की कुछ टिप्पणियां महत्वपूर्ण हैं। 'नूरनामा' में उन्होंने पाठालोचन का प्रयास भी किया है, पर यहां भी वे बुरी तरह से चूके हैं और उन्होंने शब्दों के मनमाने रूप या अर्थ दिये हैं।

मुहीउद्दीन हाजिनी

कश्मीरी में स्वतंत्र रूप से कुछ आलोचना पुस्तकें भी प्रकाशित हुई हैं, यद्यपि उनकी संख्या आधे दर्जन से अधिक नहीं। १९६१ में प्रो० मुहीउद्दीन हाजिनी की 'का'शिरि नसर् च्य किताब' (कश्मीरी गद्य) प्रकाशित हुई जिसमें कुछ लम्बे आलोचनात्मक निबन्ध, जैसे 'का'शुर नसर अखस रसरी जायज़' (कश्मीरी गद्य—एक सरसरी जायज़ा), 'सानि अदब् च ज़ान' (हमारे साहित्य का परिचय) आदि संग्रहीत हैं। इसके बाद प्रो० हाजिनी के भाषा-विज्ञान और साहित्य सम्बन्धी कुछ निबन्धों का एक संग्रह 'मकालात' शीर्षक से प्रकाशित हुआ। जिस पर उन्हें

साहित्य अकादमी पुरस्कार प्राप्त हुआ है। इन दोनों पुस्तकों में हाजिनी साहब रास्ते पर दवा बेच रहे मजमेबाज़ हकीमों के-से स्वर में बोलते हुए नज़र आते हैं और भाषा-विज्ञान, समाज शास्त्र, मानव-विज्ञान सबके अधकचरे और ऊलजुलूल ज्ञान को गड्ड-मड्ड करके ऐसे-ऐसे "रहस्योद्घाटन" करते हैं कि सिवाय हैरत के और कुछ किया नहीं जा सकता। मसलन् यह कि नगालैण्ड के नगा और कश्मीर के नाग एक ही जाति के जीव हैं, इसलिये कश्मीरी भाषा और नगा भाषा परस्पर सम्बन्धित हैं, या यह कि गुणाड्य की बृहत्कथा "ब्राह्मणवाद" के विरोध में बौद्ध-चिन्तन की स्थापना के लिये रची गयी थी, लेकिन ब्राह्मणों ने हो-हल्ला करके उसे हड़प लिया, या फिर यह कि आदरसूचक 'जू' प्रत्यय लगाने के कारण कश्मीरी मूलतया यहूदी नसल के साबित होते हैं और यह भी कि नागसेन ने 'मिलिन्दपन्ह' तत्कालीन कश्मीरी की कष्टवारी बोली में लिखी थी और यह कश्मीरी की पहली गद्य-कृति है। कलम के एक झटके से हाजिनी साहब जातक कथाओं को "जटका टेल्स" और विनय पिट्टक को "विनायापताका" बना देते हैं। बहराल, हाजिनी साहब ने ने दो और लघु पुस्तिकाएं—'गामन मं'ज्य फीर्य फीर्य" (गांव-गांव घूम-घूमकर और 'लुक्‌रस' (लोकरस) लिखीं, जिनमें उनके कुछ शोधात्मक निबन्ध संकलित हैं।

अवतार कृष्ण रहबर

१९६६ में अवतार कृष्ण रहबर ने कश्मीरी भाषा में कश्मीरी साहित्य का पहला इतिहास 'का'शिर अदब्‌च ता'रीख' शीर्षक से लिखा। इसका एक ही भाग प्रकाशित हुआ है जिसमें कश्मीरी साहित्य के प्रारम्भिक काल के बारे में ठोस शोधात्मक सामग्री प्रस्तुत की गयी है। इस महत्त्वपूर्ण कृति में रहबर ने जहां तक उनसे हुआ, एक समन्वित दृष्टिकोण को अपनाकर भाषा और साहित्यिक कृतियों तथा काव्य धाराओं का परिचय देते हुए उन्हें सामाजिक तथा ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि में देखने-परखने की कोशिश की है। लल्लेश्वरी, शेख नूरुद्दीन, सूफी कवियों तथा "वच्‌न गीतों" के लेखकों पर उन्होंने व्यापक प्रकाश डाला है। अपने ढंग का पहला मौलिक प्रयास होने के नाते कश्मीरी साहित्य के उनके इतिहास का विशेष महत्त्व है।

रहबर ने गुलाम नबी ख्याल के साथ कश्मीरी गद्य का एक संकलन 'का'शुर नसर' संपादित किया। कल्चरल अकादमी द्वारा प्रकाशित इस संकलन की भूमिका में रहबर ने कश्मीरी गद्य की विभिन्न विधाओं का परिचयात्मक इतिहास दिया है। इसके अतिरिक्त कश्मीरी गद्य और उपन्यास पर उनके लेख 'शीराज़ा' तथा 'सोन अदब' के विशेषांकों में प्रकाशित हुए हैं। इन लेखों में, जो काफी चर्चित रहे हैं, कश्मीरी गद्य की प्रवृत्तियों और औपन्यासिक कृतियों का संतुलित मूल्यांकन

प्रस्तुत करने की कोशिश नज़र आती है।

रहमान राही

मूल्यांकन की पुरानी पद्धति को अस्वीकार करते हुए राही ने कश्मीरी आलोचना को एक नयी दिशा देने का प्रयत्न किया। उनके इस प्रयत्न के मूल में उनका आधुनिक बोध है जिसके माध्यम से वे साहित्य के बारे में अनेक तरह के सवाल उठाते हैं—काव्यगत संप्रेषणीयता का सवाल, साहित्य के उद्देश्य और रचनात्मक साहित्य की भूमिका से सम्बन्धित सवाल और भाषा तथा अभिव्यक्ति के मुद्दों से सम्बन्ध रखने वाली समस्याएं। इन सभी सवालों पर राही पश्चिमी आलोचकों की धारणाओं और सिद्धान्तों के प्रकाश में नये ढंग से विचार करते हुए नज़र आते हैं। ईलियट के आलोचना सिद्धान्त और रिचड्र्स की मनोवैज्ञानिक समीक्षा पद्धति को मूल्यांकन का आधार बनाकर वे कविता को बाहरी संदर्भों से निरपेक्ष शुद्ध कलात्मक इकाई के रूप में स्थापित करते हुए आलोचना को कलावाद और अनुभववाद के धरातलों पर उतारते हैं। राही जब 'वातनाव्यरुक मसल' (सम्प्रेषण की समस्या), 'शारुत क्या गव' (कवित्व क्या है), और ''ज़बान त बावथ' (भाषा और अभिव्यक्ति) जैसे आलोचनात्मक निबन्ध लिखते हैं तो पश्चिम से ग्रहीत प्रतिमानों का प्रयोग स्थानीय साहित्य की परख और पहचान के लिए करते हुए शुद्ध कलागत प्रक्रिया के रूप में आधुनिकता की चुनौती से आंख मिलाते हैं। 'जदीदियथ' (आधुनिकता) शीर्षक अपने निबन्ध में वे आज मनुष्य की स्थिति और समस्याओं को उजागर करते हैं और साथ ही आधुनिक साहित्य सम्बन्धी अपनी आलोचना-दृष्टि की ओर संकेत भी। एक आलोचक के रूप में राही की सबसे बड़ी विशेषता उसका यह आग्रह है कि मूल्यांकन के लिये "कृति की राह से गुज़रना" ज़रूरी है। कृति की सही परख के लिये सीधे पाठक से सम्बोधन में उनका विश्वास है। इसी आधार पर उन्होंने 'सोहिनी महिवाल' मसनवी और रहमान डार के 'शशरंग' काव्य की समीक्षा की है। राही के विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित आलोचनात्मक निबन्ध १९६९ में 'कहव'ट' (कसौटी) शीर्षक से पुस्तकाकार प्रकाशित हुए हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि इन निबन्धों ने कश्मीरी साहित्य के आस्वादन के धरातल को बहुत कुछ बदल दिया है।

मोती लाल साकी ने कश्मीर के प्रसिद्ध सूफी कवि समदमीर की रचनाओं का संपादन किया ओर उनके काव्य की विशेषताओं को सूफी दर्शन की पृष्ठभूमि में प्रस्तुत किया। १९६६ में प्रकाशित 'गाशिर' शीर्षक पुस्तक में उन्होंने साठ कवियों की संक्षिप्त जीवनी और कृतित्व का परिचय दिया है। साकी अपनी समीक्षा में सम्यक् आलोचना दृष्टि के स्थान पर विभोर होकर तमाम प्रशंसात्मक विशेषणों

का प्रयोग करते हुए नज़र आते हैं। उनकी भाषा में भी तथ्यपरकता से अधिक भावात्मकता मिलती है जो इसी दृष्टि का परिणाम है।

ख़्याल, अब्दुल अहद हाजिनी और नाज़िर

१९७२ में गुलाम नबी ख़्याल ने 'गाशिर मुनार' (प्रकाश स्तम्भ) शीर्षक से एक एक पुस्तक में होमर, वर्जिल, कालिदास, दान्ते, गेटे आदि विश्व के ग्यारह महान साहित्यकारों के जीवन और कृतित्व का परिचय दिया है। इससे पहले उन्होंने अरिस्तू की 'पोएटिक्स' का कश्मीरी अनुवाद किया था। १९७३ में अब्दुल अहद हाजिनी के आलोचनात्मक निबन्धों की एक पुस्तक "का'शरिस अदबस प्यठ अख नज़र" (कश्मीरी साहित्य पर एक दृष्टि) प्रकाशित हुई। इन निबन्धों में लेखक की आलोचना दृष्टि परिपक्व नहीं। इसके एक वर्ष बाद १९७४ में गुलाम नबी नाज़िर की किताब 'का'शिर शा'यरी' (कश्मीर की कविता) प्रकाशित हुई जिसमें कश्मीरी काव्य के कुछ रूपों तथा आलोचनात्मक शब्दावली की व्याख्या की गयी है, और साथ ही कुछ कश्मीरी कवियों का परिचय भी दिया गया है। इस पुस्तक में कविताओं को परम्परागत दृष्टिकोण से देखा और मूल्यांकित किया गया है।

नयी समीक्षा-चेतना

पुरानी आलोचना पद्धति की सीमाओं को पहचान कर जिन आलोचकों ने कश्मीरी में नई दृष्टि पर आधारित सृजनात्मक आलोचना का विकास किया उनमें डॉ० रतनलाल शांत, शफी शौक और गुलशन मजीद का नाम सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। डॉ० शांत ने 'का'शुर अफसान॒ अज़ त॒ पगाह' (कश्मीरी कहानी आज और कल) तथा 'का'शिरि ड्रामहुक इरतिका' (कश्मीरी नाटक का विकास) जैसे निबन्धों द्वारा एक नयी समीक्षा-चेतना पैदा की जो जो समसामयिक तकाज़ों को केन्द्र में रखती है। उन्होंने वागाडम्बर के जाल को फाड़कर साफ नज़र से साहित्यिक कृतियों की परख और पहचान प्रस्तुत की और अनेक नये पक्षों को उद्घाटित किया। शांत ने कश्मीर विश्वविद्यालय के कश्मीरी विभाग द्वारा प्रकाशित 'नसर॒च किताब' (गद्य की पुस्तक) शीर्षक से एक पाठ्य पुस्तक का संपादन भी किया, जिसमें उन्होंने कश्मीरी में विभिन्न गद्य-विधाओं के उद्भव और विकास को सही परिप्रेक्ष्य में देखा-परखा है। शफी शौक ने नाजी मुनव्वर के साथ मिलकर कश्मीरी साहित्य के इतिहास की रचना की जिसे कश्मीर विश्वविद्यालय के कश्मीरी विभाग ने प्रकाशित किया। इस पुस्तक में प्राचीन ओर आधुनातन कश्मीरी साहित्य का परिचय प्रस्तुत किया गया है। इसके अतिरिक्त शफी शौक ने 'ज़बान त॒ अदब' (भाषा और साहित्य) नाम की अपनी पुस्तक में कश्मीरी साहित्य-विधाओं को आधुनिक दृष्टि से परखने की कोशिश की है। इस पुस्तक में

आलोचना की समस्याओं और सिद्धांतों तथा रचनात्मक भाषा के बारे में भी बहस है। शफी शौक ने राही की कविताओं को लेकर भी एक आलोचनात्मक निबन्ध लिखा है। गुलशन मजीद ने यद्यपि किसी अलग समीक्षा पुस्तक की रचना नहीं की, शीराज़ा तथा अन्य पत्रिकाओं में कश्मीरी गज़ल, राही की कविता, गुलाम नबी फिराक की कविता और 'शाहनामा' पर लिखे गये अपने निबन्धों में उन्होंने एक ठोस आलोचनात्मक समझ का परिचय दिया है।

कश्मीरी आलोचना अभी साहित्य के प्रतिमानों की खोज में है। उसके अपने मौलिक सिद्धांत अभी विकसित नहीं हुए और वह मूल्यांकन के उधार लिये गये आधारों पर खड़े होने को विवश है। उसकी दृष्टि आयातित और आरोपित है और वह जिन सवालों को उठाती है, ज़रूरी नहीं कि वे स्थानीय साहित्य के रचनात्मक संदर्भों से अनिवार्यतया जुड़े हैं। आधुनिकता का उसका दावा एक सीमा तक ही सही है क्योंकि उसकी मूल प्रकृति अभी भी सौंदर्यवादी जीवन बोध से सम्बद्ध है। कश्मीरी आलोचना की यह सीमा भाषा के स्तर पर भी देखने को मिलती है। अधिकांश कश्मीरी आलोचक किसी कृति की पहचान प्रस्तुत करते हुए सुन्दर और उसके पर्यायवाची शब्दों के प्रयोग से बहुत ज़्यादा आगे नहीं जाते। यही नहीं कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि कश्मीरी आलोचना में प्रशंसा और मूल्यांकन दो भिन्न वस्तुएं नहीं। फिर भी इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि एक नयी आलोचना-भाषा और दृष्टि का कश्मीरी में विकास हो रहा है—और यह स्थिति अपने में अमित संभावना लिए हुए है।

□□



आलोचना की समस्याओं और सिद्धांतों तथा रचनात्मक भाषा के बारे में भी बहस है। शफी शौक ने राही की कविताओं को लेकर भी एक आलोचनात्मक निबन्ध लिखा है। गुलशन मजीद ने यद्यपि किसी अलग समीक्षा पुस्तक की रचना नहीं की, शीराज़ा तथा अन्य पत्रिकाओं में कश्मीरी गज़ल, राही की कविता, गुलाम नबी फिराक की कविता और 'शाहनामा' पर लिखे गये अपने निबन्धों में उन्होंने एक ठोस आलोचनात्मक समझ का परिचय दिया है।

कश्मीरी आलोचना अभी साहित्य के प्रतिमानों की खोज में है। [illegible]
मौलिक सिद्धांत अ[illegible]
आधा[illegible]

